अथ

श्रीधनञ्जयविरचित

दशरूपकम्

धनिककृतयाऽवलोकव्याख्यया समेतम्

[समीक्षात्मकभूमिका-भाषानुवाद व्याख्यात्मकटिप्पणीसहितम्]

कुरुक्षेत्रविश्वविद्यालयप्राध्यापकेन

डॉ० श्रीनिवासशास्त्रिणा

सम्पादितम्



प्रकाशक —

रतिराम शास्त्री,

साहित्य भण्डार,

सुभाष बाजार, मेरठ।

द्वितीय संशोधित सस्करण }
१९७३ ई०

[मूल्य १०.०० रुपये

प्रकाशक
रतिराम शास्त्री
अध्यक्ष—
साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ।

प्रथम सस्करण १९६९ ई०
द्वितीय सस्करण १९७३ ई०

मूल्य १० ०० रुपये मात्र

मुद्रक
राजकिशोर शर्मा
सर्वोदय प्रेस मेरठ।
दूरभाष ४३५२

पूज्य माता-पिता

को

जिनकी प्रेरणा एव प्रयास से

विविध शास्त्रो के अध्ययन का सौभाग्य प्राप्त हुआ

तथा

स्मरणीय गुरुजनों

को

जिनके चरणो मे बैठकर

शास्त्रो का अध्ययन एव विवेचन किया

वसन्त पञ्चमी स० २०२५ की

यह विनम्र भेट

सादर समर्पित

प्राक्कथन

दशरूपक की यह हिन्दी व्याख्या पाठको की सेवा मे प्रस्तुत की जा रही है। यहाँ भूमिका मे नाट्यशास्त्र का सक्षिप्त परिचय देते हुए धनञ्जय एव धनिक का समय–निर्धारण, दशरूपक के प्रतिपाद्य विषय, महत्त्व तथा रस-सिद्धान्त आदि पर विचार किया गया हे। विस्तार-भय से कई अश छोड दिये गये हे। हिन्दी व्याख्या का क्रम यह रक्खा गया है —पथमत कारिका, वृत्ति तथा उदाहरणो का हिन्दी मे अनुवाद किया गया हे। अनुवाद मे स्पष्टता के लिये कही-कही आवश्यक शब्द या किसी शब्द की व्युत्पत्ति तथा विग्रह आदि कोष्ठक मे रख दिये गये है, कही किसी अश का भावानुवाद भी कर दिया गया है। सस्कृत के जो शब्द हिन्दी मे उसी रूप मे प्रचलित हे, उनका ज्यो का त्यो प्रयोग किया गया है, किन्तु जो शब्द अपने रूप मे प्रचलित नही है, उनका प्रचलित शब्दो द्वारा अनुवाद किया गया है। फलत, कही अविकलता की दृष्टि से अथवा कही स्पष्टता की दृष्टि से कमी भी दिखाई दे सकती है।

कारिका, वृत्ति तथा उदाहरणो को स्पष्ट करने के लिये आवश्यकतानुसार व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ दी गई है। इनमे कठिन शब्दो, समासो आदि के अर्थ तथा व्याख्या दिखलाई गई है, गहन विषय के स्पष्टीकरण का प्रयास किया गया है, विवादास्पद विषयो के पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष को सरल शब्दो मे प्रस्तुत किया गया है और यथासम्भव किसी लक्षण को उसके उदाहरणो मे घटित करके दिखलाया गया है। साथ ही यथावसर अन्य ग्रन्थो के साथ तुलनात्मक अनुशीलन भी किया गया है। अधिकाश प्रसङ्गो मे यह दिखलाया गया है कि दशरूपक का कोई विषय अन्य प्रमुख नाट्य सम्बन्धी ग्रन्थो मे कहाँ मिलता है। इसके सन्दर्भ मात्र दे दिये गये है, जहाँ विशेष अन्तर है उसे स्पष्ट कर दिया गया है। सक्षेपत अनुवाद तथा टिप्पणी के द्वारा मूल ग्रन्थ के अभिप्राय को स्पष्ट करने एव इसकी विषय-वस्तु का तुलनात्मक अनुशीलन करने का प्रयास किया गया है।

प्रश्न उठ सकता है कि दशरूपक के कई एक अनुवाद तथा व्याख्याओ के होते हुए इस नवीन व्याख्या की क्या आवश्यकता है। इस विषय मे यही नम्र निवेदन है कि सरस्वती की पूजा विविध जन अपने २ भाव से किया करते है, उनकी दृष्टि तथा शैली मे भी भेद हुआ करता है। अत यह सम्भावना है कि यह नवीन व्याख्या दशरूपक के लिये अवश्य उपोगी सिद्ध हो सकेगी।

इस व्याख्या मे आवश्यकतानुसार साहित्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र, काव्य एव नाटक आदि के अनेक मूल ग्रन्थो का आधार लिया गया है। विविध ग्रन्थो की

भूमिकाओ, अग्रेजी तथा हिन्दी मे लिखे गये सस्कृत साहित्य के इतिहास एव समा-लोचना सम्बन्धी ग्रन्थो से भी पर्याप्त सहायता ली गई है। उनमे से अधिकाश का यथास्थान उल्लेख किया गया है, जिनका उल्लेख नही किया गया उनका भी यह लेखक ऋणी तो है ही। इसलिये उन सभी ग्रन्थो के प्रणेता विद्वानो का यह लेखक हृदय से आभार स्वीकार करता है। वस्तुत दशरूपक के तथ्यो की अभिव्यञ्जना मे उन सभी विद्वानो की कृतियो ने प्रकाश स्तम्भ का काय किया है। उनके कृपा-प्रसाद से ही यह ग्रन्थ पूर्ण किया जा सका है, इसमे जो भी ग्राह्य है वह उनका ही है जो अग्राह्य है वह लेखक का असफल प्रयास मात्र है।

अन्त मे साहित्य भण्डार के अध्यक्ष रतिराम शास्त्री जी को भी धन्यवाद एव साधुवाद देना लेखक अपना परम कर्त्तव्य समझता है जिनके अनुरोध से ही इस काय का समापन हो सका है। साथ ही प्रिय वत्स राजकिशोर शर्मा को भी साधुवाद देना आवश्यक है, जिन्होने मुद्रण के काय मे अथक परिश्रम किया है।

ग्रन्थ को शुद्ध एव उपयोगी बनाने का पूर्ण ध्यान रक्खा गया है तथापि साधनाभाव अथवा दृष्टि दोष के कारण कुछ कमियाँ रह जाना सम्भव हो है। स्नेहशील विद्वज्जनो के सत्परामर्श से उन कमियो को दूर करने का प्रयत्न किया जायेगा। यदि इससे पाठक जन का कुछ भी उपकार हो सका तो लेखक अपने प्रयास को सफल समझेगा।

—लेखक

विषय-सूचि

तृतीय प्रकाश—रूपको के प्रकार

चतुर्थ प्रकाश—रस-विवेचन

प्रमुख सहायक ग्रन्थो के सकेत तथा विवरण

अभिज्ञानशाकुन्तलम् (अभि० शा०), कालिदास , साहित्य भण्डार, मेरठ
अभिनयदर्पण, नन्दिकेश्वर, के०एल० मुखोपाध्याय, कलकत्ता १६५७
अभिनव भारती (अभि० भा०), अभिनवगुप्त, गायकवाड ओरियन्टल सीरिज, बडौदा
अमरुशतक (अमरु०), अमरु, मित्र प्रकाशन, इलाहाबाद १६६१
उत्तररामचरित (उत्तर०), भवभूति, चौखम्बा सस्कृत सीरीज बनारस १६५३
कर्पूरमञ्जरी, राजशेखर, रूपरेल कालेज, बम्बई १६
कादम्बरी, बाणभट्ट, साहित्य भण्डार, मेरठ
कामसूत्र, वात्स्यायन, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १८६१
काव्यप्रकाश (का० प्र०), मम्मट, साहित्य भण्डार, मेरठ १६६७
काव्यादर्श, दण्डी, जीवानन्दविद्यासागरव्याख्यासहित, चेन्नपुरी १६५२
काव्यानुशासन (काव्यानु०), हेमचन्द्र, महावीर जैनविद्यालय, बम्बई १६३८
काव्यालङ्कार, भामह, विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
काव्यालङ्कार, रुद्रट, वासुदेव प्रकाशन दिल्ली, १६६५
काव्यालङ्कारसग्रह, उद्भट, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १६२८
काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, वामन, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली १६५४
किरातार्जुनीय (किरात०), भारवि, चौखम्बा सस्कृत पुस्तकालय, बनारस, १६५२
कुमारसम्भव (कुमार०), कालिदास, निर्णयसागर० १६५५
गाथासप्तशती (गाथा०), हाल, प्रसाद प्रकाशन, पूना १६५६
दशरूपक (दश०), धनञ्जय तथा धनिक, (i) निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १६४१ (अवलोकसहित)
,, (ii) प्रभा (स०) व्याख्यासहित, गुजराती प्रेस, बम्बई १६२७
,, (iii) अग्रेजी अनुवाद (हॉस), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १६६२
,, (iv) हिन्दी दशरूपक, साहित्य निकेतन, कानपुर १६६६
,, (v) चन्द्रकला हिन्दी व्याख्या, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, १६६७
,, (vi) भारतीय नाट्यशास्त्र की परम्परा और दशरूपक, राजकमल प्रकाशन दिल्ली
दी टाइपस् ऑफ सस्कृत ड्रामा, मनकड,
ध्वन्यालोक (ध्वन्या०), आनन्दवर्द्धन, गौतम बुक डिपो, दिल्ली १६५२
ध्वन्यालोकलोचन (लोचन), अभिनवगुप्त, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १६६३
नागानन्द, हर्ष, चौखम्बा सस्कृत सीरीज, बनारस १६५६
नाट्यदर्पण (ना० द०), रामचन्द्र गुणचन्द्र, (हिन्दी व्याख्या) दिल्ली विश्वविद्यालय, १६६१.

नाट्यशास्त्र (ना० शा०), भरतमुनि, गायकवाड ऑरियन्टल सीरीज, बडौदा
नाट्यशास्त्र, भाग १ (अनुवाद तथा व्याख्या सहित), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १९६३
प्रतापरुद्रयशोभूषण (प्रता०), विश्वनाथ, बालमनोरमा प्रेस, मद्रास १९५०
भर्तृहरिशतक, भतृहरि,
भावप्रकाशन (भा० प्र०), शारदातनय, ऑरियन्टल इन्स्टीटयूट, बडौदा १९३०
भोजप्रबन्ध, बल्लाल, साहित्य भण्डार, मेरठ
महावीरचरित (वीरचरित), भवभूति, चौखम्बा विद्याभवन, बनारस १९५५
माघकाव्य (माघ), माघ, निर्णयसागर० १९५७
मालतीमाधव (मालती०), भवभूति, निर्णयसागर० १९३६
मालविकाग्निमित्र, कालिदास, निर्णयसागर० १९५०
मुद्राराक्षस, विशाखदत्त, साहित्य भण्डार, मेरठ
मृच्छकटिक, शूद्रक, साहित्य भण्डार, मेरठ १९६८
मेघदूत (मेघ०), कालिदास, साहित्य भण्डार, मेरठ
रघुवश (रघु०), कालिदास, निर्णयसागर० १९४८
रत्नावली, हृष, साहित्य भण्डार, मेरठ
रसगङ्गाधर, पण्डितराज जगन्नाथ, चौखम्बा विद्याभवन, बनारस १९५५
रसतरङ्गिणी, भानुदत्त, वेङ्कटेश्वर प्रेस प्रकाशन
रसार्णवसुधाकर, शिङ्गभूपाल,
वक्रोक्तिजीवित, (वक्रोक्ति०), कुन्तक, के०एल० मुखोपाध्याय, कलकत्ता १९६१
विक्रमोर्वशीय (विक्रमोर्वशी), कालिदास, चौखम्बा सस्कृत सीरीज १९५३
वेणीसहार (वेणी०), भट्टनारायण, साहित्य भण्डार, मेरठ १९६०
व्यक्तिविवेक, महिमभट्ट, चौखम्बा सस्कृत सीरीज, बनारस
सरस्वतीकण्ठाभरण (सर० क०), भोजराज, निर्णयसागर प्रेस बम्बई
साहित्यदर्पण (सा० द०), विश्वनाथ, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी १९५७
सगीतरत्नाकर, शार्ङ्गदेव, अड्यार लाइब्रेरी १९४४
सस्कृत नाटक, ए० बी० कीथ, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १९६५
सस्कृप पोयटिक्स, एस० के० डे०, के० एल० मुखोपाध्याय, कलकत्ता १९६०
हनुमन्नाटक (महानाटक), (दामोदर मिश्र ?), जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता १८९०
हिस्ट्री आफ सस्कृत पोयटिक्स (HSP), पी० वी० काणे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली.

भूमिका

१ सस्कृत नाट्यविद्या का परिचय

लक्ष्यग्रन्थो की श्रीवृद्धि के उपरान्त ही लक्षण-ग्रन्थो की रचना हुआ करती है । उन लक्षण ग्रन्थो मे लक्ष्य ग्रन्थो का आश्रय लिया जाता है और उनकी विशेषताओ को ध्यान मे रखकर कुछ ऐसे नियमो का अन्वेषण किया जाता है, जो भावी कलाकृतियो के लिये मानदण्ड निर्धारित किया करते हैं । फलत जिस प्रकार रामायण, महाभारत तथा कालिदास आदि के काव्यो का आश्रय लेकर अलङ्कार शास्त्र का उद्भव तथा विकास हुआ होगा, उसी प्रकार किसी समृद्ध रूपक-परम्परा के आधार पर ही प्रथमत नाट्यशास्त्र-विषयक ग्रन्थो की रचना हुई होगी । यह कहना कठिन है कि भारतीय रूपक की प्राचीनतम रचनाएँ कौन सी थी और उनके आधार पर सर्वप्रथम कौन सा नाट्य सम्बन्धी ग्रन्थ लिखा गया । भारतीय परम्परा के अनुसार त्रेता युग मे ब्रह्मा द्वारा नाटक की उत्पत्ति हुई । ब्रह्मा ने ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद तथा अथववेद के आधार पर नाट्यवेद की रचना की । यह नाट्यवेद पञ्चम वेद है, जिसमे पाठ्य, गीत, अभिनय तथा रस चारो तत्त्वो को क्रमश ऋक, साम, यजुष् तथा अथर्ववेद से लिया गया है । ब्रह्मा की प्रेरणा से विश्वकर्मा ने नाट्यगृह की रचना की और भरतमुनि ने अभिनय की व्यवस्था की । भरत ने अपने सौ शिष्यो तथा अप्सराओ को नाट्यकला की शिक्षा दी । नाट्यकला को पूर्ण बनाने के लिये शिव ने नाट्य के साथ ताण्डव का और पार्वती ने लास्य का समावेश कर दिया ।

आधुनिक दृष्टि से यह समझा जाता है कि सम्भवत भरत के नाट्यशास्त्र की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये एव इसके माहात्म्य की बृद्धि के लिये ही इस आख्यान की कल्पना की गई होगी । फिर भी इससे कतिपय तथ्यो पर अवश्य प्रकाश पडता है । इससे प्रकट होता है कि भारत मे अति प्राचीन काल मे नाट्य काव्यो का विकास हो चुका था, जिनके आधार पर नाट्यकाव्य का शास्त्रीय विवेचन करने की आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा था । किन्तु प्रश्न यह है, इस आवश्यकता का सवप्रथम किस आचाय ने अनुभव किया, क्या भरतमुनि का नाट्यशास्त्र ही नाट्यविद्या का प्रथम शास्त्रीय विवेचन है अथवा इससे पूव भी कोई नाट्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ रहे होगे ? इस प्रश्न का उत्तर निश्चित रूप से तो देना कठिन है, क्योकि भारत के प्राचीन राजनैतिक और सामाजिक इतिहास के समान साहित्यिक इतिहास का भी बहुत धुधला सा आभास ही मिलता है । फिर भी नाट्य-साहित्य के विवेचन मे इसके कुछ सकेत उपलब्ध हो सकते है ।

नाट्य सम्बन्धी साहित्य के आचार्यो का निम्न प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है (मि०, ना० द० भूमिका पृ० ८८) —

(१) भरत के पूववर्ती आचार्य जिनके यत्र-तत्र उल्लेख मिलते है, किन्तु रचनाएँ अप्राप्य है।

(२) भरत का नाट्यशास्त्र।

(३) भरत के पूर्ववर्ती या परवर्ती आचार्य जिनकी सम्पूर्ण रचनाएँ अनुपलब्ध है, किन्तु अन्य आचार्यो ने उनका उल्लेख किया है अथवा कही-कही उनके उद्धरण भी दिये है, जैसे कोहल आदि।

(४) नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार कीर्तिधर, भट्टोद्भट, भट्टलोल्लट तथा अभिनवगुप्त आदि।

(५) नाट्यशास्त्र के आधार पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने वाले धनञ्जय आदि।

(६) काव्यशास्त्र पर ग्रन्थ लिखने वाले आचार्य, जिन्होंने कुछ अध्यायो मे नाट्यशास्त्र का भी विवेचन किया है, जैसे भोजराज, विश्वनाथ इत्यादि।

(१) **भरत मुनि के पूर्ववर्ती आचार्य**—पाणिनि (४ ३ ११०–१११) ने शिलालिन् और कृशाश्व के नटसूत्रो का उल्लेख किया हे। प्रो० हिलब्रान्ट का सुझाव है कि ये कृतियाँ भारतीय नाट्य की प्राचीनतम पुस्तके मानी जानी चाहिए। किन्तु वेबर तथा कोनो के अनुसार ये नतको तथा नट का काम करने वालो के लिये लिखे गये ग्रन्थ थे। कीथ का भी यही मत हे (स० नाटक पृ० ३०६)। दूसरी ओर मनमोहन घोष (ना० शा० भूमिका पृ० LXIV) का विचार है कि यहाँ 'नट' का अथ अभिनेता ही हे। इस प्रकार पाणिनि के समय (चौथी शताब्दी ई० पू०) मे नाट्य सम्बन्धी ग्रन्थो का होना विवादास्पद ही है। पतञ्जलिकृत महाभाष्य (लगभग १५० ई० पू०) मे नाट्य कला के अधिक विकसित रूप के सकेत अवश्य मिलते हैं। फिर भी उनके आधार पर यह नही कहा जा सकता कि उस समय कोई नाट्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ रचा जा चुका था। अभिनवगुप्त ने एक स्थान पर सग्रह और दूसरे स्थान पर सग्रहकार का उल्लेख किया है। भरत ने भी सग्रह श्लोको के नाम से कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं (६, ३, १०)। ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्यविषयक सग्रह ग्रन्थ भरत से पूर्व ही प्रचलित रहा होगा और अभिनव गुप्त भी उससे परिचित रहे होगे। भरत ने पूर्वाचार्यों की अन्य कारिकाएँ भी 'भवन्ति चात्र श्लोक' अथवा 'अत्रार्ये भवत' इत्यादि प्रकार से उद्धृत की हैं। ऐसे लगभग १०० पद्य नाट्यशास्त्र मे हैं। इनसे भी यह प्रकट होता है कि भरत से पहिले भी नाट्यविषयक ग्रन्थ लिखे गये थे। यद्यपि कुछ उल्लेखो से यह विदित होता है कि भरत ने अग्निपुराण के आधार पर नाट्यशास्त्र की रचना की थी तथापि युक्ति और प्रमाणो के आधार पर यह सिद्ध किया जा

चुका है कि अग्निपुराण का सहित्यशास्त्र सम्बन्धी विवेचन बहुत बाद का है वह नाट्यशास्त्र का आधार नही हो सकता (HSP पृ० ३—६)। इस प्रकार वर्तमान काल मे उपलब्ध नाट्य-विषयक ग्रन्थो मे भरत का नाट्यशास्त्र ही सबसे प्राचीन माना जाता है।

(२) **भरत का नाट्यशास्त्र**—यह सस्कृत काव्यशास्त्र एव नाट्यशास्त्र का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ है। इसमे नाट्य, नृत्य, सगीत तथा अलङ्कार आदि सभी विपयो का विवेचन किया गया है, नाट्य तथा रस का अत्यन्त विस्तृत विवेचन है। इसमे ३७ अध्याय हैं। विद्वानो का विचार है कि ३६ अध्याय प्राचीन हैं और ३७ वा अध्याय बाद मे जोडा गया है। यहाँ प्रथम अध्याय मे नाटक तथा नाट्यवेद की उत्पत्ति का वरणन है। द्वितीय अध्याय मे नाट्यगृह की रचना आदि का वरणन है, तृतीय अध्याय मे महादेव, ब्रह्मा, विष्णु, बृहस्पति, गुह को पूजा का वरणन है। चतुथ अध्याय मे देवो के समक्ष अमृत-मन्थन और महादेव के समक्ष त्रिपुरदाह नामक रूपको के अभिनय की कथा है तथा ताण्डव नृत्य के उद्भव एव शिक्षरण का निरूपरण है। पञ्चम अध्याय मे पूर्वरङ्ग, नान्दी, प्रस्तावना आदि का वर्णन है। षष्ठ अध्याय मे स्थायी भाव, रस आदि का विशद वर्णन है तथा सप्तम मे भाव, विभाव, अनुभाव सात्त्विक भाव और व्यभिचारी भावो का निरूपरण किया गया है। अष्टम मे सात्त्विक, आङ्गिक, वाचिक और आहार्य चार प्रकार के अभिनयो का स्वरूप दिखलाया गया है। आगे ९ से १२ तक के अध्यायो मे आङ्गिक अभिनय का विस्तृत वर्णन है। अग्रिम अध्यायो के विषय निम्न प्रकार है —१३ भारती आदि वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो का निरूपरण। १४-१५ वाचिक अभिनय। १६ छन्द, नाट्यलक्षरण, अलङ्कार, काव्य के दोष तथा गुरण आदि। १७ भाषाओ के लक्षरण। १८ दशरूपको के लक्षरण। १९ २०-वस्तु, सन्धि, सन्ध्यङ्ग, भारती आदि वृत्तियो के अङ्ग। २१ आहाय अभिनय। २२ युवतियो के अलङ्कार, नायिका की अवस्थाएँ। २३ नारी की प्रकृति। २४ नायक-नायिका के प्रकार। २५ अभिनय सम्बन्धी निर्देश, नाटयोक्ति। २६-२७. नाटच प्रयोग। २८ आतोद्य-प्रयोग। २९ आतोद्य विधान। ३० सुषिर आतोद्य का स्वरूप। ३१-३२ ताल लय आदि ३३ गायक, वादक का गुरणदोष विचार। ३४. मृदङ्गो का वर्णन। ३५ पात्रो की भूमिका की व्यवस्था। ३६ पूर्वरङ्गविधानकथा। ३७ नाट्यावतार, नाट्य-माहात्म्य।

गायकवाड ऑरियन्टल सीरीज बडौदा के सस्करणो के अनुसार उपर्युक्त विषय-सूची दी गई है। भिन्न भिन्न सस्करणो मे अध्यायो की श्लोक सख्या तथा विषय-प्रतिपादन मे अन्तर है।

नाट्यशास्त्र के कर्त्ता तथा समय—नाट्यशास्त्र के उपलब्ध स्वरूप मे कई पाठ भेद मिलते है। अत यह कहना कठिन है कि नाट्यशास्त्र का असल रूप क्या था, क्या यह समस्त नाट्यशास्त्र एक ही भरत नामक आचार्य की रचना है तथा

इसकी रचना का कोई एक निश्चित समय भी है। विद्वानो का विचार है कि वर्तमान नाट्यशास्त्र एक काल की रचना नहीं अपितु शताब्दियों के साहित्यक प्रयास का फल है। नाट्यशास्त्र मे तीन अंश है—(१) **गद्य भाग**—यह सूत्र तथा भाष्य के रूप मे है। इसकी शैली यास्क के निरुक्त की शैली से मिलती है। जैसे—**विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद् रसनिष्पत्ति । को वा दृष्टान्त इति चेद् उच्यते ।** रस इति क पदार्थ ? उच्यते—आस्वाद्यत्वात् (ना० शा० ६ श्लो० ३१ से आगे गद्य)। कुछ विद्वानो का विचार है यही अंश इस ग्रन्थ का मूल भाग है अन्य अंश कालान्तर मे जोडे गए है। (२) **सूत्रविवरणस्वभावा कारिकायें**—सूत्र तथा भाष्य के अभिप्राय को विस्तारपूर्वक समझाने के लिये ५००० से ऊपर कारिकाये है, जिनमे विविध शङ्काओ का समाधान भी किया गया है। (३) **अन्य श्लोक,** जो तीन प्रकार के हैं (क) **आनुवश्य**—भरत के नाट्यशास्त्र मे १५ अनुष्टुभ् और १६ आर्या 'छन्द ऐसे हैं जिनका इस नाम से निर्देश किय गया है। अभिनव भारती (६ ३५) से ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्य-विषयक कुछ मन्तव्य गुरुशिष्यपरम्परा से प्रचलित थे, 'उनका ही '**अत्रानुवश्यौ भवत**' इत्यादि रूप से नाट्यशास्त्र मे सग्रह कर दिया गया है (ख) **सूत्रानुविद्ध (अनुबद्ध) श्लोक**—अनेक पद्यो को '**सूत्रानुविद्धे आर्ये भवत**' इत्यादि प्रकार से उद्घृत किया गया है। इनमे सूत्र का भाव सरल रूप से प्रकट किया गया है। अभिनव भारती के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि ये पद्य भरत-रचित ही है। (ग) **पूर्वाचार्यों की कारिकायें**—'**भवन्ति चात्र श्लोका**' **अथवा** '**अत्रार्ये भवत**' इत्यादि कहकर भी लगभग १०० पद्य उद्धृत किये गए है। अभिनवभारती के अनुसार ये पद्य प्राचीन आचार्यो के है जिन्हे भरत मुनि ने यथास्थान रख दिया है—'**ता एता ह्यार्या एकप्रघट्टकतया पूर्वाचार्यैर्लक्षणत्वेन पठिता मुनिना तु सुखसग्रहाय यथास्थान निवेशिता**'। (ना० शा० पृ० ३२७–३२८)।

इस विवेचन से यह प्रकट होता है कि नाट्यशास्त्र का वतमान रूप अनेक परम्पराप्राप्त विद्याओ का समन्वित रूप है तथा इसका मूल रूप भरत मुनि द्वारा रचा गया है। किन्तु अभिनवगुप्त के समय से ही यह शङ्का की जाने लगी थी (जो आज भी की जाती है) कि भरत के किसी शिष्य ने नाट्यशास्त्र की रचना की थी। अभिनवगुप्त ने इस शङ्का का निराकरण किया है (अ० १७ पृ० ६)। भावप्रकाशन (दशम अधिकार पृ० २८७) मे यह भी बतलाया गया है कि नाट्यशास्त्र के दो रूप थे। एक द्वादश सहस्र (१२०००) श्लोको का था जो 'द्वादशसहस्री' कहलाता है और दूसरा षट् सहस्र (६०००) श्लोको मे सगृहीत किया गया था जो 'षट्सहस्री' कहलाता है। धनिक ने 'षट्सहस्रीकृत्' के नाम से भरत का एक उद्धरण दिया है (अवलोक ४·२)।

नाट्यशास्त्र के समय के विषय मे विविध मत हे। म० हरप्रसाद शास्त्री ने इसका समय ई० पू० द्वितीय शती माना हे। प्रो० लेवी के अनुसार नाट्यशास्त्र का रचना-काल क्षत्रपो के शासन का समय हे। पी० वी० काणे ने लेवी के मत का खण्डन किया हे (HSP, पृ० ४०-४१)। कीथ का विचार है कि इसका रचनाकाल तीसरी शताब्दी से पूर्व नही हो सकता। उनके अनुसार बाह्य तथा आभ्यन्तर प्रमाणो के आधार पर भी इसी मत की पुष्टि होती हे-(१) 'सस्कृत के रूपको मे पूर्वरङ्ग का एक प्रकार से अस्तित्व ही नहीं हे, किन्तु नाट्यशास्त्र मे उसका विस्तृत विवरण दिया गया हे, इस तथ्य से कम परिष्कृत रुचि वाले युग का सकेत मिलता है। (२) 'जिन प्राकृतो से नाट्यशास्त्र परिचित हे, वे स्पष्टतया अश्वघोष की प्राकृतो के बाद की है और भास के नाटको मे उपलब्ध प्राकृतो के साथ उनका अधिक सादृश्य है। किञ्च, नाट्यशास्त्र ने अर्धमागधी को मान्यता दी है जो इन दोनो नाटककारो की रचनाओ मे पायी जाती हे, किन्तु पश्चात्कालीन नाटककारो मे नही' (३) भास ने एक नाट्यशास्त्र का स्पष्ट रूप मे निर्देश किया है, और बहुत सम्भाव्य है कि वे और कालिदास दोनो वतमान ग्रन्थ के किसी पूर्व रूप से परिचित थे'। (४) 'भास ने अपने नाटको के उपसहार के आकार-प्रकार मे अथवा रङ्गमञ्च से मृत्यु के दृश्यो के बहिष्कार मे नाट्यशास्त्र के नियमो का आँख मूद कर पालन नही किया है, इससे इतना ही सूचित होता है कि जिस समय उन्होने अपने नाटको की रचना की थी उस समय तक शास्त्र की नियामक शक्ति प्रतिष्ठित नही हुई थी (सस्कृत नाटक पृ० ३११)।

डा० डी० सी० सरकार ने वर्तमान नाट्यशास्त्र मे महाराष्ट्र और नैपाल के उल्लेख के आधार पर इसका समय दूसरी शती के बाद माना हे, क्योकि नैपाल का प्रथम उल्लेख समुद्रगुप्त-प्रशस्ति मे चतुर्थ शताब्दो के पूवार्द्ध मे हुआ है और महाराष्ट्र का प्रथम उल्लेख 'महावश' (पञ्चम शताब्दी) तथा ऐहोल अभिलेख (६३४ ई०) मे हुआ है। काणे महोदय ने इस मत के आधार को युक्ति-युक्त नही स्वीकार किया (HSP पृ० ४२)। मनमोहन घोष ने भरत के भाषावैज्ञानिक तथा छन्द सम्बन्धी विवेचन, केवल चार अलङ्कारो का वर्णन, उपाख्यान और भौगोलिक विवरण के आधार पर नाट्यशास्त्र का समय १०० ई०पू० तथा २०० ई० के मध्य निर्धारित किया है (वही पृ० ४१)। पी० वी० काणे ने इन सभी मतो की परीक्षा करके अनक युक्तियो तथा प्रमाणो के आधार पर यह सिद्ध किया है कि नाट्यशास्त्र का समय तीसरी शताब्दी से बाद का नही हो सकता (वहो पृ० ४७)। उनका विचार हे कि वर्तमान नाट्यशास्त्र के पष्ठ सप्तम अध्याय, अभिनय-विषयक ८ से १४ तक के अध्याय तथा १७ से ३५ तक के अध्याय किसी एक समय ग्रथित किये गये होगे। षष्ठ और सप्तम अध्याय के गद्य-अश और आर्याएँ, जिन्हे अभिनव गुप्त ने प्राचीन आचार्यों से लिया गया बतलाया है, लगभग २०० ई० पू० मे

लिखी गई होगी और जब अन्य अध्याय लिखे गये तब उसमे जोडी गई होगी। (वही पृ० १८)।

(३) **भरत के पूर्ववर्ती या परवर्ती आचार्य**—(जिनके उल्लेख या उद्धरण तो मिलते है किन्तु रचनाएँ उपलब्ध नही)। इस युग मे अनेक आचार्य हुए है, उदाहरणार्थ कोहल, दत्तिल शालिकर्ण (शातकर्ण), बादरायण (बादरि), नखकुट्ट और अश्मकुट्ट आदि का नाम बाद के नाट्य विषयक ग्रन्थो मे नाट्यशास्त्र के प्रामाणिक आचार्यो के रूप मे आता है। पी० वी० काणे ने वामन की काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति (१ ३ ७) कुट्टनीमत (५ १२३), तथा अभि० भा० (अ० ४) के साक्ष्य पर विशाखिल नामक एक पूर्ववर्ती नाट्याचार्य का भी उल्लेख किया है। उनका कथन है कि सम्भवत अभिनव के विचार मे भरत भी विशाखिल से परिचित थे (HSP पृ० ५६)। निश्चित रूप से कहना कठिन है कि विशाखिल भरत के पूर्ववर्ती है, समकालीन है अथवा परवर्ती। ना० शा० (३६ ६३) मे कोहल का उल्लेख भी मिलता है। अभिनव गुप्त ने भी अनेकश कोहल का उल्लेख किया है और कोहल को उद्धृत भी किया है। भावप्रकाश मे अनेक बार कोहल के मत उद्धृत किये गये है। अभि० भा०, रसार्णव सुधाकर, कामशास्त्र और कुट्टनीमत मे दत्तिल या दत्तकाचार्य का उल्लेख मिलता है। रामकृष्ण कवि (J Andhia H R S Vol iii p 24) ने उनके ग्रन्थ 'गन्धववेद-सार' का भी उल्लेख किया है (मि० HSP पृ० ५७)। सागरनन्दी तथा विश्वनाथ ने अश्मकट्ट एव नखकुट्ट का भी नाट्याचाय के रूप मे उल्लेख किया है। सागरनन्दी के अनुसार बादरायण या बादरि भी कोई नाट्याचार्य है (वही पृ० ६२)। इसी प्रकार अन्य भी कुछ आचार्यों का उल्लेख मिलता है। उनकी कृतिया कौनसी थी तथा उनका समय क्या था ? यह कहना कठिन है।

(४) **नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार**—समय-समय पर नाट्यशास्त्र की अनेक व्याख्याएँ की गई, जिनमे आज किन्ही के केवल नाम या सकेत ही मिलते है। ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्र पर कोई वार्त्तिक था, जिसके कर्त्ता श्रीहृष या हर्ष थे। उनका वार्तिककृत् या श्रीहृष के नाम से अनेक बार उल्लेख मिलता है (HSP पृ० ५६)। भावप्रकाशन (पृ० २३८) मे सुबन्धु का भी नाट्य विषय के आचार्य के रूप मे उल्लेख है (सुबन्धुर्नाटकस्यापि लक्षण प्राह पञ्चधा)। नान्यपति ? या नान्यदेव को भरत भाष्य के कर्त्ता के रूप मे स्मरण किया जाता है। शार्ङ्गदेव के सङ्गीतरत्नाकर मे नाट्यशास्त्र के व्याख्याकारो मे लोल्लट, उद्भट, शङ्कुक, अभिनवगुप्त और कीर्तिधर का उल्लेख है। अभिनवगुप्त ने भट्टयन्त्र तथा भट्टनायक का भी उल्लेख किया है। म० मो० घोष के अनुसार अभिनवगुप्त ने भट्ट उद्भट के मत को तीन बार, भट्ट लोल्लट को ग्यारह बार और शङ्कुक को पन्द्रह बार उद्धृत किया है। उद्भट के मत को

भट्टलोल्लट ने आलोचना की है अत उनका समय सप्तम-अष्टम शताब्दी मानना होगा, क्योकि भट्टलोल्लट का समय अष्टम शती माना जाता है। शङ्कुक का समय नवम शताब्दी का प्रारम्भ माना जाता है । भट्टनायक का अभिनवभारती मे कई बार (म० मो० घोष के अनुसार ६ बार) उल्लेख किया गया है, विशेष रूप से रस के प्रसङ्ग मे। इनका समय नवम दशम शताब्दी माना जाता है। इनका 'हृदयदर्पण' नामक ग्रन्थ था जो उपलब्ध नही है । परवर्ती ग्रन्थो के उल्लेखो से यह प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्र के अन्य भी टीकाकार हुए होगे । आज तो अभिनवगुप्त की 'अभिनव भारती' नामक टीका ही उपलब्ध है। इसे 'नाट्यवेदविवृति' भी कहा जाता है । इसका समय दशम शताब्दी का अन्तिम तथा एकादश शताब्दी का प्रारम्भिक काल माना जाता है। (मि० HSP पृ० ४७ तथा आगे, डा० रघुवश ना० शा० भू०, पृ० XVII)। अभिनव भारती मे नाट्यशास्त्र के अन्य सभी विषयो के साथ साथ रूपक एव नाट्य सम्बन्धी मन्तव्यो का भी विशद विवेचत है। भारतीय काव्यशास्त्र एव नाट्यशास्त्र के अध्ययन मे अभिनव भारती का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(५) नाट्यशास्त्र के आधार पर लिखे गये स्वतन्त्र ग्रन्थ—भरत के नाट्य-शास्त्र की जटिल एव विस्तृत सामग्री के सरल सक्षिप्त विवेचन के लिये कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना भी की गई। धनञ्जय का दशरूपक उनमे से ही अन्यतम है जिसका विशद विवेचन आगे किया जा रहा है। यहाँ इस प्रकार के अन्य ग्रन्थो का सक्षिप्त परिचय देना आवश्यक प्रतीत होता है।

नन्दिकेश्वर का अभिनयदर्पण—सगीतरत्नाकर (१ ४ ६) मे मतङ्ग के साथ नन्दिकेश्वर के मत का भी उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार नन्दिमत या नन्दि-केश्वर के अन्य भी उल्लेख मिलते है (H S P, पृ० ५८, ६१)। नन्दिकेश्वर के समय आदि के विषय मे विवाद है। रामकृष्ण कवि के अनुसार नन्दीश्वरसहिता के लेखक और अभिनयदपरण के कर्त्ता नन्दिकेश्वर एक ही व्यक्ति है । नन्दिकेश्वर को सगीत के विषय मे आचाय मतङ्ग ने उद्धृत किया है। मतङ्ग का समय चतुथ शताब्दी के लगभग है । इस प्रकार नन्दिकेश्वर का समय तृतीय शताब्दी के लगभग हो सकता है। दूसरे विद्वान् नन्दीश्वरसहिता के कर्त्ता को अभिनयदर्पण के कर्त्ता नन्दि-केश्वर से भिन्न मानते है। म० मो० घोष ने अभिनयदर्पण के समय की परीक्षा करते हुए युक्ति तथा प्रमाणो के आधार पर यह निर्धारित किया है कि अभिनय दर्पण १३ वी शती के आरम्भ मे विद्यमान था, यह तो निश्चित है, किन्तु ५ वी शती से पूर्व इसकी विद्यमानता मे सन्देह है। (अभि० द० इन्ट्रोडक्शन)

डा० मनमोहन घोष ने अभिनयदर्पण (प्रथम सस्करण १९३४, द्वितीय सस्करण १९५७, प्रकाशक के० एल० मुखोपाध्याय, कलकत्ता) का सम्पादन किया है। कुछ समय पूर्व (१९५७) नन्दिकेश्वर का एक अन्य ग्रन्थ 'भरतार्णव' भी अग्रेजी

एव तामिल के अनुवाद सहित तन्जोर सरस्वती महल सीरीज से प्रकाशित हुआ है जिसमे नर्तन (नृत्य) का विवेचन है। (H S P पृ० ५८) अभिनयदर्पण मे कुल ३८४ श्लोक है। ग्रन्थ का विभाजन अध्यायो आदि मे नही किया गया। आरम्भ मे शिव को नमस्कार करके नाट्य की उत्पत्ति का वर्णन है, फिर नाट्य प्रशसा की गई है। तदन्तर नाट्य, नृत्य, नृत्त, सभा, पात्र आदि का लक्षण करके पूर्वरङ्ग का सक्षिप्त निरूपण किया गया है। फिर आङ्गिक अभिनय का विशद विवेचन है। यही अभिनयदर्पण का मुख्य विषय है। इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय ना० शा० के अष्टम तथा नवम अध्याय के समान हे। यह निश्चित रूप से कहना कठिन हे कि नाट्यशास्त्र के इस विवेचन पर अभिनयदपरण का प्रभाव हे गथवा अभिनयदपरण का विवेचन नाट्यशास्त्र से प्रभावित है (विशेष द्र० अभि० द० इन्ट्रोडक्शन)।

(ii) **सागरनन्दी का नाटकलक्षणरत्नकोश**—इसका समय क्या है ? यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। सम्भवत इसका समय धनञ्जय के आस-पास हा है। इस ग्रन्थ मे दशरूपक के समान ही नाट्यसम्बन्धी विवेचन हे कही-कही अभिनय-सम्बन्धी चर्चा भी हे। अनेक स्थलो पर नाट्यशास्त्र की सामग्री को ज्यो का त्यो प्रस्तुत कर दिया गया हे। इस ग्रन्थ का विशेष महत्त्व यह है कि इसमे हर्षवार्तिक, मातृगुप्त, गर्ग, अश्मकुट्ट, नखकुट्ट तथा बादरि नामक नाट्यकारो का उल्लेख किया गया है (म० मो० घोष नाट्यशास्त्र का अनुवाद, भू० पृ० LXV III, मि०, रघुवश, ना० शा० भू० पृ० XV)। आचार्य विश्वेश्वर का अनुमान है कि रामचन्द्र गुणचन्द्र के नाट्यदर्पण मे नाटकलक्षणरत्नकोश के कुछ मतो की ओर सकेत किया गया है। नाटकलक्षणरत्नकोश को सवप्रथम सिलवॉ लेवी ने (१६२२) प्रकाशित कराया था।

(iii) **रामचन्द्र-गुणचन्द्र का नाट्यदपरण**—रामचन्द्र गुणचन्द्र दोनो हेमचन्द्र के शिष्य माने जाते है। इनका समय १३ वी शताब्दी है। नाट्यदर्पण मे मुख्यत नाट्यशास्त्र के १८ वे अध्याय के आधार पर रूपको का वर्णन किया गया है। यह भी कहा जाता है कि धनञ्जय के दशरूपक की प्रतिद्वन्द्विता मे यह ग्रन्थ लिखा गया है। यह ग्रन्थ कारिका तथा वृत्ति के रूप मे है। समस्त ग्रन्थ चार विवेको मे विभक्त किया गया है। इसमे नाट्यसम्बन्धी विषयो का विशद वर्णन हे। नाट्यशास्त्र के साथ साथ अभिनवभारती का भी पूरा उपयोग किया गया है। नाट्य-विषय के अन्य लेखको के मतो की आलोचना भी की गई है। विशेषकर दशरूपकार के मतो की अनेक स्थलो पर आलोचना की गई है। आचार्य विश्वेश्वर के अनुसार यहाँ १३ बार 'अन्ये' 'केचित्' आदि शब्दो से धनञ्जय के मतो का उल्लेख किया गया है। 'इनमे से दो स्थानो पर तो उनके मत की आलोचना करते हुए उन्हे 'न मुनिसमया-ध्यवसायिन' और वृद्धसम्प्रदायबन्ध्य' अर्थात् भरत मुनि के अभिप्राय को न समझने वाला' कहा है (ना० द० भूमिका पृ० २१)। यत्र तत्र भरत मुनि के मतो का भी परिष्कार किया गया है, उदाहरणार्थ भारती वृत्ति के विवेचन मे उनका मत भरत

से भिन्न है। सक्षेप मे सस्कृत नाट्यशास्त्र को उनकी विशेष देन इस प्रकार है — (क) नाटिका तथा प्रकरणिका का जोडकर १२ रूपक मानना। (ख) कैशिकी आदि वृत्तियो के आधार पर रूपको को वर्गीकरण। (ग) रसो का सुखात्मक तथा दु खात्मक दो वर्गों मे विभाजन, शृङ्गार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त सुखात्मक है, किन्तु करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक दु खात्मक है। (घ) नौ रसो के अतिरिक्त स्नेह रस, व्यसन रस आदि की कल्पना। (ङ) नाट्य-सम्बन्धी लक्षणो मे नवीन दृष्टि, जैसे उनका 'अङ्क' का लक्षण भरत तथा धनञ्जय आदि से अधिक परिष्कृत है। (च) 'देवीचन्द्रगुप्त' इत्यादि के उद्धरण ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

वस्तुत रामचन्द्र गुणचन्द्र की सस्कृत नाट्यशास्त्र को अपूर्व देन है। उन्होने अनेक अलभ्य रूपको के उद्धरण दिये है। नाट्य-सम्बन्धी विषय का नवीन ढग से चिन्तन किया है। विरक्ति-प्रधान जैन समाज मे शृङ्गार-प्रधान नाट्य साहित्य का आदर बढाया है। पूर्वाचार्यो द्वारा निर्णीत लक्षणो की आलोचना तथा उनमे सशोधन करके नाट्यशास्त्र मे स्वतन्त्र विचार का मार्ग प्रशस्त किया है (मि० ना० द० भूमिका)। सम्भवत इसीलिये वे गव के साथ अपनी रचना को सवथा मौलिक मानते है।

महाकविनिबद्धानि दृष्ट्वा रूपाणि भूरिश ।
स्वय च कृत्वा, स्वोपज्ञ नाट्यलक्ष्म प्रचक्ष्महे ।। (१ २)

(IV) **शारदातनय का भावप्रकाशन**—पी० वी० काणे (पृ० ४२७) के अनुसार इसका समय ११७५ तथा १२५० के मध्य है। यह अलङ्कार शास्त्र और नाट्यशास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमे दशरूपक की अपेक्षा अधिक विस्तार से नाट्य सम्बन्धी विषयो का निरूपण किया गया है। शारदातनय ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यो का आधार लिया है और अपनी मौलिक दृष्टि भी रक्खी है। यहाँ भरत के अतिरिक्त कोहल, मातृगुप्त, हर्ष, सुबन्धु आदि के मतो का भी उल्लेख किया गया है। साथ ही ध्वनिकार, रुद्रट, धनञ्जय-धनिक, अभिनवगुप्त, भोज और मम्मट आदि के मत भी दिये गये है। यहाँ दशरूपक कारिका तथा अवलोक टीका के अनेक उद्धरण दिये गये है, कही कही उन्हे स्पष्ट करने का भी प्रयास परिलक्षित होता है। एक स्थल पर सदाशिव का नामोल्लेख करके धनञ्जय की कारिका उद्धृत की गई है (पृ० १५२), जो चिन्तनीय है।

भावप्रकाशन मे नाट्य की रचना, नायक नायिका तथा रसो का ही विशेष रूप से विवेचन किया गया है। अभिनय आदि का भी सक्षिप्त वर्णन है। यहाँ रूपको तथा उपरूपको का विस्तार पूर्वक वर्णन है। यत्र तत्र दार्शनिक विषयो की झलक भी दृष्टिगोचर होती है (जैसे सप्तम अधिकार पृ० १८१)। भारत के विविध प्रदेशो का भी वर्णन किया गया है। यह एक विशाल ग्रन्थ है जिसका

दस अधिकारो (अध्यायो) मे विभाजन किया गया है। इन अधिकारो मे क्रमश निम्न विषयो का निरूपण हे –(१) भावनिर्णय (२) रस स्वरूप, रस का आश्रय, सक्षिप्त रस-प्रक्रिया (३) रस के प्रकार तथा रसो का स्वरूप। (४) शृङ्गार के आलम्बन नायक-नायिका का स्वरूप निर्णय। (५) नायिका की अवस्थाएँ, नायिकाओ के अवान्तर भेद आदि। (६) शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध, शब्द-वृत्तियो के भेद, वाच्य आदि अर्थ का स्वरूप, सकेतित अथ के भेद, दशरूपक की रस-प्रक्रिया (पृ० १५२-१५४) इत्यादि। (७) नाट्य का लक्षण, नाट्य, नृत्य तथा नृत्त का भेद, रङ्ग पूवरङ्ग तथा सङ्गीत का सक्षिप्त तथा परिचय, कथावस्तु वस्तुविभाजन आदि। (८) रूपको के प्रकार, उनके लक्षण उदाहरण आदि (दशरूपकलक्षण)। (९) बीस उपरूपको का वर्णन, पात्रो की भाषा-सम्बोधन के प्रकार तथा कतिपय काव्य परम्पराओ (कवि-समयो) का निर्देश। (१०) नाटक की उत्पत्ति तथा भरत के नाट्यशास्त्र की रचना का सक्षिप्त निरूपण, अभिनय की सक्षिप्त प्रक्रिया, नृत्त के मार्ग तथा देशी भेदो का प्रयोग, विविध प्रदेशो के आकार वेष आदि का निरूपण। (विशेष द्र० भावप्रकाशन Preface)

(V) **शिङ्गभूपाल की नाटकपरिभाषा**—इसका समय १३३० ई० के लगभग है (HSP पृ० ४२३)। शिङ्गभूपाल के रसार्णव सुधाकर तथा नाटक-परिभाषा दो ग्रन्थ है। नाटकपरिभाषा मे केवल नाट्य विषय का वर्णन किया गया है तथा रसार्णव-सुधाकर मे काव्य के अन्य विषयो के साथ साथ नाट्य का भी सक्षिप्त वर्णन है।

(VI) **रूपगोस्वामी की नाटकचन्द्रिका**—इसका समय १६ वी शताब्दी है। रूपगोस्वामी चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी थे। उन्होने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' तथा उज्ज्वलनीलमणि' नामक दो काव्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थो की रचना की है और नाटक चन्द्रिका नामक नाट्य सम्बन्धी ग्रन्थ की भी। इस ग्रन्थ के आरम्भ मे रूपगोस्वामी ने बतलाया है कि उन्होने भरत तथा 'रसासुधाकर' का अनुसरण किया है और साहित्यदर्पण के मतो का निराकरण किया है, क्योकि उसमे भरत के मन्तव्यो के विपरीत मत है। इसमे नाटय सम्बन्धी प्राय सभी विषयो का विवेचन किया गया है, जैसे नायक-नायिका, नान्दी, सन्धि, पताका, विष्कम्भक, भाषा इत्यादि। यहाँ भारती आदि वृत्तियो और रसो के साथ उनके सम्बन्ध का भी विवेचन है। अधिकाश उदाहरण वैष्णव ग्रन्थो से लिये गये है (HSP पृ० ३१३)। इसमे साहित्यदर्पण से भी बहुत सी सामग्री ली गई है और उसकी आलोचना भी की गई है। परन्तु, जैसा कि कीथ का विचार है, नाटकचन्द्रिका साहित्यदर्पण की अपेक्षा कुछ सुधरी हुई या उत्कृष्ट नही है (मि०, स० नाटक पृ० ३४१)।

(VII) **सुन्दरमिश्र का नाट्यप्रदीप**—सुन्दरमिश्र का समय १७ वी शताब्दी का आरम्भ है। नाट्यप्रदीप का रचना काल १६१३ ई० है (स० नाटक पृ० ३१४

तथा HSP पृ० ४२३) । यह ग्रन्थ दशरूपक तथा साहित्यदर्पण के आधार पर लिखा गया है ।

उपर्युक्त नाट्य-सम्बन्धी ग्रन्थो के अतिरिक्त त्र्यम्बक के नाटकदीप, रुय्यक की नाटकमीमासा, पुण्डरीक का नाटकलक्षण, त्रिलोचनादित्य का नाट्यालोचन तथा नन्दिकेश्वर का नाट्यार्णव इत्यादि ग्रन्थो के भी उल्लेख मिलते है (H S P, पृ० ४२३-४२४) ।

(६) **काव्यशास्त्र के ग्रन्थ, जिनमे नाट्य सम्बन्धी विवेचन है**—जिन ग्रन्थो मे काव्यशास्त्र के सर्वाङ्गीण विवेचन के साथ साथ नाट्य-विषयो का भी विवेचन किया गया है, उनमे भोजराज के ग्रन्थ पाचीन कहे जा सकते है ।

(i) **भोजराज का शृङ्गारप्रकाश तथा सरस्वतीकण्ठाभरण**—भोजराज का समय ११ वी शताब्दी है । शृङ्गारप्रकाश काव्यशास्त्र का एक सुविशाल ग्रन्थ है । इसमे ३६ प्रकाश है । इनमे ११ वे प्रकाश से अन्त तक रस तथा भावो का विस्तार पूर्वक वणन किया है । इसी बीच १२ वे प्रकाश मे रूपको का निरूपण है तथा २१ वे मे नायक-नायिका का । डा० राघवन् ने शृङ्गारप्रकाश का विशद अध्ययन प्रस्तुत किया है । **सरस्वतीकण्ठाभरण** मे ५ परिच्छेद है । इसके पञ्चम परिच्छेद मे रस, भाव, नायक-नायिका और उनके भेद तथा विशेषताओ, मुख आदि सन्धियो तथा भारती आदि चार वृत्तियो का निरूपण किया गया है । सरस्वतीकण्ठाभरण मे ऐसे अनेक पद्य उद्धृत किये गये है जो धनिक की वृत्ति मे है । यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि वहाँ वे सभी पद्य धनिक की वृत्ति से ही लिये गये है । किन्तु उनमे एक पद्य ऐसा भी है (लक्ष्मीपयोधरो० दश० ४ ७२) । जिसे धनिक ने अपना कहकर (ममैव) उद्धृत किया था । इससे प्रतीत होता है कि सरस्वतीकण्ठाभरण का लेखक किसी अश मे दशरूपक का ऋणी है ।

(ii) **हेमचन्द्रसूरि का काव्यानुशासन**—हेमचन्द्र विवध विषयो के अनेक ग्रन्थो के कर्त्ता के रूप मे प्रसिद्ध है । उनका समय १२ वी शताब्दी है । काव्यानुशासन का रचना-काल ११३६-११४३ ई० माना जाता है । यह ग्रन्थ सकलन मात्र है । ग्रन्थ के तीन अश हे–सूत्र, वृत्ति तथा उदाहरण । समस्त ग्रन्थ आठ अध्यायो मे विभक्त है, जिनमे काव्य के सभी अङ्गो का वर्णन किया गया है । नाट्य सम्बन्धी विवेचन केवल तीन अध्यायो मे हे । द्वितीय अध्याय मे रस, स्थायी भाव, व्यभिचारी भाव तथा सात्त्विक भावो का विवेचन है । सप्तम मे नायक-नायिका का तथा अष्टम मे दृश्य (प्रेक्ष्य) और श्रव्य काव्य और उनके भेद एव लक्षण आदि का निरूपण किया गया है । काव्यानुशासन मे अनेक आचार्यों तथा ग्रन्थो का उल्लेख किया गया है किन्तु दशरूपक अथवा धनञ्जय या धनिक का कोई उल्लेख नही ।

(iii) **विद्यानाथ का प्रतापरुद्रयशोभूषण**—इसका समय चतुर्दश शताब्दी माना जाता है । ग्रन्थ के तीन अश है कारिका, वृत्ति और उदाहरण । उदाहरणो

की लेखक ने स्वय रचना की है, जिनमे तैलगाना के राजा प्रतापरुद्रदेव की प्रशसा की गई है। इस ग्रन्थ मे नौ प्रकरण है, जिनमे से प्रथम प्रकरण मे नायक, तृतीय मे नाटक तथा चतुर्थ मे रस का विवेचन है। इस भाग मे दशरूपक का पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है। लगभग १० उद्धरण दशरूपक से लिये गये है (Haas Intro. p xxviii) इसके अतिरिक्त दशरूपक के मन्तव्यो की छाया भी कतिपय स्थलो पर दृष्टिगोचर होती है।

(iv) **विश्वनाथ का साहित्यदर्पण**—विश्वनाथ का समय चतुर्दश शताब्दी है। १३००–१३८४ ई० के मध्य साहित्यदर्पण की रचना की गई होगी। अन्त साक्ष्य तथा बाह्य साक्ष्य के आधार पर भी इसी समय की पुष्टि होती है (HSP पृ० २९९–३०२)। साहित्यदर्पण मे काव्यशास्त्र के सभी विषयो का सरल सुबोध भाषा शैली मे विवेचन किया गया है। यह काव्यप्रकाश की शैली पर लिखा गया ग्रन्थ है। इसमे काव्यप्रकाश की अपेक्षा नायक-नायिका वर्णन तथा नाट्य-विषय का विवेचन अधिक है। इसमे दस परिच्छेद है। नाट्य विषय की दृष्टि से तृतीय तथा षष्ठ परिच्छेद का ही महत्त्व है। तृतीय परिच्छेद मे नायक-नायिका तथा रस का विवेचन है तथा षष्ठ परिच्छेद मे रूपक, उपरूपक एव उनके विविध अङ्गो का विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है। इसके नाटय सम्बन्धी विवेचन मे भरत के नाट्यशास्त्र की सामग्री का उपयोग करते हुए दशरूपक और इसकी टीका का पर्याप्त आधार लिया गया है। कही कही दशरूपक की पदावली को ज्यो का त्यो और कही कुछ परिवर्तन के साथ ले लिया गया है। धनिक के नाम से दशरूपक को उद्धृत भी किया गया है (६.६४)।

करुण विप्रलम्भ रस के विवेचन मे (३ २०९) 'अभियुक्ता' (=विद्वान् शब्द का प्रयोग करके दशरूपक के मत का उल्लेख किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि दशरूपककार के प्रति विश्वनाथ का समादर भाव था। यह दूसरी बात है कि विश्वनाथ ने यत्र तत्र दशरूपक के मन्तव्यो की आलोचना भी की है। (उदाहरणार्थ दश० २ ४३ की सा० द० ३.४३ मे आलोचना की गई है)। इसके अतिरिक्त साहित्यदर्पण मे दशरूपक की अपेक्षा कुछ अधिक नाट्य विषया का निरूपण किया गया है, जैसे वहाँ नाट्यलक्षण और नाट्यालङ्कार का विवेचन किया गया है, जिसे दशरूपक मे छोड दिया गया है।

इसी प्रकार कतिपय अन्य ग्रन्थो मे भी काव्य के विविध अङ्गो का विवेचन करते हुए नाट्य-विषय का निरूपण किया गया है। प्राय. सर्वत्र ही नाट्यविषयक विवेचन का मुख्य आधार भरत का नाट्यशास्त्र रहा है। अन्य नाटय-ग्रन्थो का भी आश्रय लिया गया है, जिनमे से अधिकाश अप्राप्य हैं। कही कही नवीन मार्ग का भी ग्रहण किया गया है। फलत नाट्य सम्बन्धी परवर्ती ग्रन्थो मे पर्याप्त मात्रा मे मतभेद मिलता है। अपने पूववर्ती लेखको से सामग्री ग्रहण करना, यत्र तत्र उनकी

आलोचना करना तथा नवीन स्थापना करना—इसी मार्ग से सस्कृत नाट्यशास्त्र का विकास होता रहा है । इस विकास परम्परा मे धनञ्जय के दशरूपक का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है ।

२ धनञ्जय और उनका दशरूपक

(१) **धनञ्जय का समय**—धनञ्जय का समय निश्चित सा ही है । उन्होने ग्रन्थ के अन्त मे स्वय ही लिखा है कि उन्होने राजा मुञ्ज की सभा मे वैदग्ध्य प्राप्त किया था, मुञ्जराज की पण्डित परिषद् मे उनकी धाक थी । इतिहासकारो ने राजा मुञ्ज का समय निश्चित करने का प्रयास किया है । यह भी माना गया है कि 'गौडवहो' के लेखक मुञ्ज से ये मुञ्जराज भिन्न है । 'गौडवहो' के लेखक मुञ्ज तो महाराज यशोवर्मन् की सभा के पण्डित थे । उनका समय अष्टम शताब्दी माना जाता है (द्र० Haas Introduction to Dasarupa, p xxii) । दूसरी ओर मुञ्जराज का समय दशम शताब्दी माना जाता है । एपिग्राफिका इण्डिका (१ २२६) से विदित होता है कि मुञ्जराज के लिए विविध अभिलेखो मे अनेक नामो तथा उपाधियो का प्रयोग किया गया है, जैसे वाक्पति, वाक्पतिराज, उत्पलराज, अमोघवर्ष, पृथिवीवल्लभ, इत्यादि । धनिक ने भी 'प्रणयकुपिताम्' इत्यादि पद्य को एक स्थल पर (४ ५८) वाक्पतिराज के नाम से तथा दूसरे स्थल पर (४ ६०) मुञ्ज के नाम से उद्धृत किया है । बाद मे परमार राजा अर्जुनदेव (१३ वी शती, ने भी अमरुशतक की टीका मे एक पद्य उद्धृत करते हुए यह स्पष्ट ही लिखा है कि यह पद्य हमारे पूर्वज महाराज मुञ्ज जिनका दूसरा नाम वाक्पतिराज था, का रचा हुआ है (अस्मत्पूर्वजस्य वाक्पतिराजापरनाम्नो मुञ्जदेवस्य) ।

वाक्पतिराज मुञ्जदेव मालवा के परमारवशी राजा थे । बुह्लर के अनुसार वे अपने पिता (सीयक) के बाद ९७४ ई० मे सिंहासनारुढ हुए और ९९५ तक राज्य करते रहे । ९९५ मे चालुक्य राजा तैलप द्वितीय ने उन्हे पराजित कर दिया और उनकी हत्या कर दी (कील्होर्न एपिग्राफिका इण्डिका २ २१४—२१५) ।[१]

---

१ इस समय की पुष्टि निम्न आधार पर भी होती है—(१) इण्डियन एन्टीक्वेरी भाग ६ पृ० ५१ ५२, वाक्पतिराज का एक अभिलेख ९७४ ई० (स० १०३१) का है । इसमे लिखा है कि अहिच्छत्र देश से आये धनिक पण्डित के पुत्र वसन्ताचार्य को वाक्पतिराज ने भूमि दान मे दी थी । (ii) इण्डियन एन्टीक्वेरी भाग १४, पृ० १५९—१६१ के अनुसार वाक्पतिराज ने सन् ९७९ ई० (स १०३६) मे उज्जयिनी मे भट्टेश्वरी को एक ग्राम पुरस्कार मे दिया था । (iii) इण्डियन एन्टीक्वेरी भाग ३६ पृ० १७० के अनुसार तैलप द्वितीय ने मुञ्ज को हराया था । तैलप द्वितीय का मृत्युकाल शक सम्वत् ९१९ (९९७—९८ ई०) है (iv) अमितगति नामक विद्वान् ने 'सुभाषितरत्नसन्दोह' नामक ग्रन्थ की सम्वत् १०५० (९९३-९४) मे मुञ्ज के शासनकाल मे रचना की थी । इस प्रकार मुञ्ज ९९३ तथा ९९७ के बीच मारा गया (मि०, HSP पृ० २४६) ।

वाक्पतिराज मुञ्ज विख्यात योद्धा थे। वे अच्छे कवि थे और कवियो का आदर भी करते थे। यद्यपि आज उनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नही है तथापि अनेक प्रमाणो के द्वारा उनका कवि होना सिद्ध होता हे, जैसा कि अभी ऊपर कहा गया है, धनिक ने उसका एक पद्य दो बार दो नामो से उद्धृत किया है। क्षेमेन्द्र (१०३७-१०६६) ने तीन पद्य उत्पलराज के नाम से उद्धृत किये है। धनञ्जय और धनिक के अतिरिक्त उनकी सभा को अनेक विद्वान् सुशोभित करते थे। तिलकमञ्जरी के लेखक धनपाल उनकी सभा के पण्डित थे। प्रसिद्ध कोषकार हलायुध ने भी अपना अन्तिम समय उनकी सभा मे बिताया था। नवसाहसाङ्क चरित के रचयिता पद्मगुप्त ने भी उनका अनुग्रह प्राप्त किया था। फलत अनेक विद्वानो ने उनकी काव्य-रुचि तथा गुणग्राहिता का वर्णन किया है। पद्मगुप्त ने उन्हे सरस्वती कल्पलता का कन्द, कविबान्धव (१ ७,८) तथा कविमित्र (११ ९३) बतलाया है। हलायुध ने पिङ्गल की टीका मे उनकी भूरि-भूरि प्रशसा की है। बल्लाल के भोजप्रबन्ध तथा मेरुतुङ्ग की प्रबन्धचिन्तामणि से भी उनके स्वय कवि होने तथा कवियो को प्रोत्साहन देने के प्रमाण मिलते है।

विद्या तथा विद्वानो के प्रति मुञ्ज का यह अनुराग इस वश मे बाद मे भी चलता रहा। उनके भतीजे भोजराज, शृङ्गार-प्रकाश तथा सरस्वतीकण्ठाभरण आदि अनेक ग्रन्थो के कर्त्ता के रूप मे विख्यात है, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है। इस वश के एक राजा अर्जुनदेव ने अमरुशतक पर टीका लिखी है।

ऐसे विद्यानुरागी महाराज मुञ्ज के राज्यकाल मे ही धनञ्जय ने दशरूपक की रचना की। इस प्रकार यह स्पष्ट ही है कि दशरूपक का रचना काल ९७३ और ९९४ के मध्य रहा होगा।

अन्य प्रमाणो के आधार पर भी इसी समय की पुष्टि होती है। दशरूपावलोक टीका मे रुद्रट की एक कारिका ('रसनाद्रसत्वम्' काव्यालङ्कार १२ ४ तथा दश० ४ ३५) उद्धृत की गई है तथा दश० की कारिका (४ ३६) मे भी रुद्रट के मन्तव्य की ओर सकेत है। इसी प्रकार ध्वन्यालोक की कारिका भी धनिक ने उद्धृत की है। पी० वी० काणे के अनुसार रुद्रट का समय ८५० ई० से पूर्व है तथा ध्वन्यालोक का समय ८६० तथा ८९० ई० के मध्य है। इस प्रकार दशरूपक (कारिका तथा वृत्ति) की रचना का समय इनके पश्चात् ही हो सकता है। दूसरी ओर दशरूपक मे अभिनवगुप्त के मतो का उल्लेख नही मिलता, न ही अभिनवगुप्त के ग्रन्थो मे दशरूपक के मन्तव्यो का कोई सकेत है। इससे विदित होता है कि अभिनवगुप्त और धनञ्जय के समय मे बहुत अन्तर नही होगा (मि० HSP पृ० २४७-२४८)।

इस प्रकार दशरूपक का रचना-काल प्राय निश्चित सा ही है। यह भी सुनिश्चित है कि धनञ्जय के पिता का नाम विष्णु था, जैसा कि उन्होने स्वय ही दशरूपक के अन्तिम श्लोक मे उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त धनञ्जय की जीवनी आदि के विषय मे कोई तथ्य उपलब्ध नही होता, न ही यह विदित होता है कि दशरूपक के अतिरिक्त धनञ्जय ने किसी और ग्रन्थ की भी रचना की थी या नही।

(२) **दशरूपक का आधार**—दशरूपक नाट्यशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, (नाट्य=रूप=रूपक)। इस ग्रन्थ मे दश मुख्य रूपो या रूपको का वर्णन है। अत यह दशरूपक कहलाता है। हॉस (Haas) का सुझाव है कि इसका नाम दशरूप रहा होगा, क्योकि धनञ्जय ने अन्तिम श्लोक मे दशरूप नाम ही दिया है (दशरूपम् एतत्), धनिक ने भी टीका का नाम दशरूपावलोक ही रक्खा है (Introduction, p XXVII)। किन्तु आज यह ग्रन्थ 'दशरूपक' नाम से प्रसिद्ध है। नाट्यशास्त्र मे अत्यन्त विस्तार से वर्णित नाट्य सम्बन्धी सामग्री को सक्षेप मे किन्तु विशद रूप से प्रस्तुत करना ही धनञ्जय का लक्ष्य है। नाट्यशास्त्र मे नाट्यविषयक मन्तव्य इधर-उधर बिखरे है, विविध विषयो के विवेचन मे यत्र तत्र उलझे है तथा अत्यधिक विस्तार से प्रस्तुत किये गये है। इसलिये भले ही विद्वज्जन नाट्यशास्त्र के द्वारा नाट्यविद्या का ज्ञान प्राप्त कर सके, अल्पबुद्धि जनो के लिये तो वह दुरूह ही है। नाट्यविद्या को बोधगम्य बनाने के लिये ही धनञ्जय ने नाट्यशास्त्र के मन्तव्यो को प्राय नाट्यशास्त्र के शब्दो मे ही सक्षेप मे ग्रथित किया है—तस्याथस्तत्पदैस्तेन सक्षिप्य क्रियतेऽञ्जसा' (दश० १ ५)। नाट्यशास्त्र का आधार लेते हुए भी धनञ्जय ने यथासम्भव नवीन उद्भावनाएं की है, जैसा कि उन्होने स्वय ही बतलाया है—'नाट्याना किन्तु किञ्चित् प्रगुणरचनया लक्षण सक्षिपामि' (दश० १ ४)।

वस्तुत धनञ्जय ने उस समय उपलब्ध समस्त नाट्य सम्बन्धी सामग्री का भली भाँति उपयोग किया है, पूववर्ती आचार्यो के मन्तव्यो का परिष्कार किया है और यथावसर आलोचना भी की है। उदाहरणार्थ दशरूपक मे उदभट के वृत्तिविषयक मत की (३ ६१) तथा रुद्रट (४ ३६) एव ध्वनिकार (४ ३७) के रसविषयक मत की आलोचना की गई है। अनेक स्थलो पर नाट्यशास्त्र मे प्रयुक्त नाम, लक्षण तथा विभाजन को परिष्कृत किया गया है। भरत ने चार प्रकार की नायिका (दिव्या, नृपपत्नी, कुलस्त्री तथा गणिका) का निरूपण किया था, किन्तु धनञ्जय ने नायिका के तीन प्रकार बतलाये है—स्वकीया, अन्या (परकीया) और साधारणी। इसी प्रकार भरत ने शृङ्गार रस के दो भेद किये थे-सम्भोग तथा विप्रलम्भ, किन्तु धनञ्जय ने अयोग, विप्रयोग तथा सम्भोग नाम से तीन भेद किये है। धनञ्जय ने कही पारिभाषिक शब्दो के प्रयोग मे परिवर्तन किया है (द्र० प्रकाश १ सूत्र ३१,७६ ८०, ६६, १०७, १२०, तथा प्र० २ सूत्र ८०, ८६ आदि), कही लक्षण मे परिष्कार किया है (द्र० प्र० ० सूत्र ४१, ४८, ५०, ८५, ६२, १०२)। सम्भवत इन परि-

वर्तनो और सशोधनो मे उन नाट्याचार्यों के मन्तव्यो का भी प्रभाव पडा होगा, जो भरत तथा धनञ्जय के मध्य के युग मे रहे होगे ।

(३) **दशरूपक की शैली**—इसकी शैली भरत के नाट्यशास्त्र से नितान्त भिन्न है । नाट्यशास्त्र मे कोई बात अनेक वाक्यो मे विस्तार से कही गई है, श्लोक पूर्ति के लिये बहुत से शब्दो और वाक्याशो का प्रयोग किया गया है । इसके विपरीत दशरूपक मे गिने चुने शब्दो मे नाट्य के मन्तव्यो को कह दिया गया है । इसकी कारिकाये सूत्र रूप मे ही तथ्य को प्रकट कर देती है । कही विवश होकर ही भर्ती के शब्दो या वाक्याशो का प्रयोग किया गया है । यह अवश्य है कि कही कही अत्यन्त सक्षेप के कारण अर्थ की स्पष्टता मे बाधा पडती है । फलत वृत्ति की सहायता के बिना अनेक लक्षण स्पष्ट नही होते । जहाँ कही नाट्यशास्त्र के विस्तृत विषय को प्रकट करने के लिये केवल एक शब्द का प्रयोग कर दिया है, वहाँ तो नाट्यशास्त्र अथवा अन्य किसी व्याख्या की सहायता से ही अर्थ समझा जा सकता है ।

पारिभाषिक शब्दो के लक्षण करते समय धनञ्जय ने कही कही निर्वचन शैली का भी प्रयोग किया है । सम्भवत नाट्यशास्त्र से प्रभावित होकर ही उन्होने इस शैली को अपनाया है । उदाहरणार्थ 'अधिकार फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभु' (१ १२) 'विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिण' (४ ७) । किसी विषय के भेद-प्रभेद दिखलाकर उनकी व्याख्या करना, यह भारतीय प्रतिपादन शैली की प्रमुख विशेषता है जो दशरूपक मे आरम्भ से अन्त तक दृष्टिगोचर होती है । नायक नायिका तथा रस आदि के जो भेद-प्रभेद धनञ्जय को सम्भव प्रतीत हुए है, विस्तारपूर्वक बतलाये गये है । फिर भी धनञ्जय ने परवर्ती लेखको की अपेक्षा सयम से काम लिया है ।

दशरूपक पद्यमय रचना है । इस मे अधिकतर अनुष्टुभ छन्द (श्लोक) का प्रयोग है । चारो प्रकाशो के अन्तिम पद्यो मे तथा अन्यत्र भी १८ बार अन्य छन्दो का प्रयोग किया गया है, जैसे—५ आर्या वृत्त (१ ३, ४ १३, ४ ३५, ४ ७६—७७) +३ स्रग्धरा (१ ४, ४ ८, ४ २८)+३ इन्द्रवज्रा (१ ६, ४ ४६—६ चरण, ४ ८६) +४ वसन्ततिलका (१ ६८, ३ ७६ ४ ७२, ४ ८५)+१ उपजाति (२ ७२)+२ शार्दूलविक्रीडित (४ ७३, ४ ७४) ।

छन्दो के निर्वाह के लिये भाषा मे भी परिवर्तन करना पडा है । कही छोटे शब्दो का तथा कही बडे शब्दो का प्रयोग किया गया है, कही छोटे-छोटे समास है तो कही दीर्घ समास भी । समासो की विविधता छन्द-निर्वाह मे बहुत सहायक हुई है । कभी कभी छन्द की पूर्ति के लिए 'आख्य' (१ १८) तथा 'अथ' इत्यादि शब्दो का भी प्रयोग करना पडा है । धनञ्जय ने 'स्यात, भवेत, इष्यते, स्मृत' इत्यादि शब्दो का प्रयोग करके भी भर्ती के शब्दो को बचा दिया है । इसके अतिरिक्त छन्द-निर्वाह

के लिये (i) कही प्रसिद्ध शब्द के अर्थ मे कोई अप्रसिद्ध शब्द रख दिया गया है, जैसे सूत्रधार के लिये सूत्रधृत् या सूत्रिन्, निद्रा के स्थान मे स्वाप (४ ८२) व्याधि के लिये आर्ति (४ ७३) (ii) कही समस्त पद के लिये केवल पद का, जैसे विरहोत्कण्ठिता के लिसे उत्का (४ ६८), कही केवल पद के लिये समस्त पद का, जैसे शान्त के लिये शम-प्रकर्ष (४ ४५) का प्रयोग किया गया है। (iii) कही उपसर्ग जोड दिया गया है, जैसे हृष के स्थान पर प्रहर्ष (४ ७२), कही उपसर्ग पृथक् कर दिया गया है, जैसे आवेग के स्थान पर वेग (४ ७४), कही उपसर्ग बदल दिया गया है, जैसे अवमर्श के स्थान पर विमर्श (३ ६०-६१), (iv) कही एक अर्थ के भिन्न भिन्न प्रत्ययो से निष्पन्न शब्दो का प्रयोग किया गया है, जैसे आलस्य के लिये अलसता (४ ८), भाषण के लिये भाषा (१ ५०) अनुमान के लिये अनुमा (१ ४०) और (v) कही शब्द के अन्त से 'क' को पृथक् कर दिया गया है जैसे उद्घात्यक के स्थान पर उद्घात्य (३ १४) जनान्तिक के स्थान पर जनान्त (१ ६५) (मि० Haas Intro)। इसी प्रकार के कुछ अन्य परिवर्तन भी करने पडे है। वस्तुत पद्य-बद्ध जो शास्त्रीय ग्रन्थ लिखे जाते ह उनमे इस प्रकार के भाषागत परिवर्तन अनिवाय ही हो जाया करते हैं। फिर भी कही कही ऐसा अवश्य प्रतीत होता है कि यदि सावधानी रक्खी जाती तो भाषा को और अधिक सरल बनाया जा सकता था।

कुछ दोषो के होते हुए भी अपने अपूव गुणो के कारण यह दशरूपक नाट्यविद्या के जिज्ञासुओ के लिये उपादेय बन गया। पठन-पाठन की दृष्टि से ही यह लोक-प्रिय नही हुआ, प्रत्युत परवर्ती नाट्य-विषयक कृतियो मे इसका अनुसरण किया गया तथा कही कही प्रतिद्वन्द्विता के भाव से इसकी आलोचना भी की गई। जैसा कि ऊपर दिखलाया गया है, भावप्रकाशन, प्रताप-रुद्रयशोभूषण तथा साहित्य-दर्पण के नाटक सम्बन्धी विवेचन पर इस का अत्यधिक प्रभाव परिलक्षित होता है, दूसरी ओर नाट्यदर्पण मे इसके लिए प्रतिद्वन्द्विता की भावना दृष्टिगोचर होती है। (भा० प्र०, ना० द०, प्रता० तथा सा० द० मे दशरूपक की अपेक्षा जो विशेष अन्तर है उनमे से अधिकाश का टिप्पणी मे यथावसर उल्लेख किया गया है)।

(४) **दशरूपक की टीकाए और धनिक का दशरूपावलोक**—भरत के नाट्यशास्त्र के पश्चात् धनञ्जय का दशरूपक ही भारतीय नाट्यविद्या का प्रसिद्ध ग्रन्थ रहा है। यह अत्यन्त सक्षिप्त है। इस लिये इस पर अनेक टीकाए लिखी गई होगी, ऐसी सम्भावना है। किन्तु वे सभी टीकाए आज उपलब्ध नही, न ही उन सभी के कोई सकेत ही मिलते हैं। आज तो नृसिह भट्ट, देवपाणि कुरविराम तथा बहुरूपमिश्र की टीकाए हस्तलिपि मे मिलती है। इनमे बहुरूपमिश्र की टीका बहुत उपादेय तथा प्रमेयबहुल है। (बलदेव उपाध्याय भा० सा० शा० पृ० ८३, डा० राघवन्, J O R, vol viii, pp 321–334)। हॉल (Preface, पृ० ४ नोटस्) ने क्षोणीधर मिश्र की टीका का भी उल्लेख किया है। उपरिलिखित

टीकाओ मे से नृसिंह की टीका धनिक की अवलोक टीका पर है (Bulletin of London School of O Studies vol IV p २८०—मि०, पी० वी० काणे HSP पृ० २४७ । ऐसा प्रतीत होता है कि ये सभी टीकाए अभी तक अप्रकाशित ही पडी है, सम्भवत, बहुरूप मिश्र की टीका प्रकाशित हो रही है (द्र० HSp पृ० २४७)। इस समय केवल धनिक की दशरूपावलोक (अवलोक) वृत्ति ही उपलब्ध है, जो अनेक बार प्रकाशित हो चुकी है। वस्तुत आज इस वृत्ति के कारण ही दशरूपक के महत्त्व को समझा जा सकता है। दशरूपक के मन्तव्यो को स्पष्ट करने का काय इस वृत्ति ने ही किया है। कारिका और वृत्ति दोनो मिलकर ही दशरूपककार धनञ्जय के उद्देश्य को सिद्ध करती है।

(५) **धनिक का समय तथा कृतिया आदि**—धनिक भी विष्णु के पुत्र थे। अवलोक टीका के अन्त मे यह लिखा मिलता है 'इति विष्णु- सूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके रसविचारो नाम चतुथ प्रकाश ।' इससे विदित होता है कि धनिक विष्णु के पुत्र थे, वे धनञ्जय के अनुज रहे होगे। किन्तु कुछ उल्लेखो के आधार पर यह प्रकट होता है कि धनञ्जय और धनिक दोनो एक ही व्यक्ति के नाम है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ, विद्यानाथ आदि ने दशरूपक की कारिकाओ को धनिक के नाम से उद्धृत किया है —यदुक्त धनिकेन 'न चातिरसतो लक्षणै ,' [दश ३ ३२–३३ तथा सा० द० ६ ६४]

सम्भवत इन विद्वानो की दृष्टि मे धनञ्जय तथा धनिक एक ही व्यक्ति थे। इस मत का समर्थन इन युक्तियो से किया जा सकता है —(i) दशरूपक की कारिकाओ से पृथक वृत्ति मे कोई मङ्गलाचरण नही किया गया। प्राय यह देखा जाता है कि यदि वृत्ति, भाष्य या टीका का लेखक कोई भिन्न व्यक्ति होता है, तो वह पृथक् मङ्गल किया करता है। (ii) परवर्ती आचार्यो ने धनिक की कृति के रूप मे दशरूपक के उद्धरण दिये है जैसा अभी विश्वनाथ और विद्यानाथ के विषय मे कहा गया है। (iii) यह वृत्ति दशरूपक की कारिकाओ का अभिन्न अङ्ग सा प्रतीत होती है इसके बिना दशरूपक अधूरा सा है।

दूसरी और विद्वानो का विचार है कि धनञ्जय और धनिक दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति ही हैं, क्यो कि (1) कारिका तथा वृत्ति मे कतिपय स्थलो पर मत–भेद दृष्टिगोचर होता है, उदाहरणार्थं २ २२ मे 'सुखार्थ' शब्द के अर्थ मे धनिक ने दो सम्भावनाए दिखलाई है—'अप्रयासावाप्तधन' या 'सुखप्रयोजन' किन्तु वहाँ कोई निर्णय नही किया। इससे विदित होता है कि वृत्तिकार कारिकाकार से भिन्न व्यक्ति है। इसी प्रकार ३ ४० मे 'त्याज्यम् आवश्यक न च' यहाँ कारिकाकार का अभिप्रेत यह अर्थ प्रतीत होता है कि कथावस्तु के विकास के लिये जो आवश्यक हो उसे नही छोडना चाहिये किन्तु वृत्ति मे इसका अर्थ किया गया है— 'आवश्यक तु देवपितृ-कार्याद्यवश्यमेव क्वचित् कुर्यात्'। (२) हस्तलिखित प्रतियो मे यह लिखा मिलता है—

'धनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके' तथा दशरूपक की कारिकाओ के अन्त मे यह लिखा है—'धनञ्जयेन आविष्कृतम् दशरूपमेतत्'। इससे स्पष्ट विदित होता है कि दशरूपक के कर्त्ता धनञ्जय है और दशरूपावलोक नामक वृत्ति के कर्त्ता धनिक है। हाँ, धनिक जो वृत्तिकार हे वे धनञ्जय के तात्पर्य से भली भाति परिचित रहे होगे तभी तो दुरुह कारिकाओ की भी स्पष्ट व्याख्या कर दी हे। सम्भवत कारिकाओ की रचना म धनिक का भा सहयोग रहा होगा (इस विषय मे विशेष द्र० Dr De, S P Vol I PP 131—134)।

धनिक की जीवनी के विषय मे हमारी अधिक जानकारी नही हे, हॉल ने अपनी भूमिका (पृ० ३ नोट्स) मे लिखा हे कि अवलोक की एक हस्तलिपि के अनुसार धनिक उत्पलराज के यहाँ एक आफिसर थे। बुह् लर (उदयपुर प्रशस्ति E I Vol I P 227) का कथन है कि धनिक उत्पलराज के 'महासाध्यपाल' थे। (मि०, काणे HSP पृ० २४४—२४५ टिप्पणी ३)। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका हे, उत्पलराज मुञ्जराज का ही औपाधिक नाम माना जाता है, जिसका राज्यकाल ९९४ तक रहा। तब क्या इससे पूव ही अवलोक वृत्ति भी लिखी जा चुकी होगी? किन्तु यह सम्भव नही प्रतीत होता। कारण यह है कि धनिक ने पद्मगुप्त के नवसाहसाङ्कचरित का एक पद्य (उदा० १६५) उद्धृत किया है। नवसाहसाङ्क-चरित की रचना सिन्धुराज के समय मे हुई और सिन्धुराज मुञ्जराज के बाद सिहासन पर बैठे। इसके अतिरिक्त जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, किसी धनिक पण्डित के पुत्र वसन्ताचार्य को मुञ्ज ने भूमि दान मे दी थी। यदि लेखपत्र का धनिक पण्डित और अवलोक वृत्ति का कर्त्ता धनिक एक ही व्यक्ति हे तो इन सब घटनाओ का सामञ्जस्य करने मे कठिनाई है। इसलिये यह मानना उचित प्रतीत होता है कि अवलोक टीका सिन्धुराज के राज्यकाल मे लिखी गई होगी। इसकी रचना धनिक ने अपनी वृद्धावस्था (लगभग ८० वर्ष की आयु) मे की होगी। फलत इसकी रचना-काल दशम शती का अन्त या एकादश शती का आरम्भ माना जा सकता है। इस प्रकार धनिक को धनञ्जय का अनुज मानने मे भी कोई कठिनाई नही है। किञ्च, दशरूपक तथा अवलोक टीका के समय मे थोडा ही अन्तर रहा होगा।

धनिक गम्भीर विद्वान् थे तथा कवि भी। अवलोक टीका मे पदे-पदे उनकी विद्वत्ता झलकती है, साहित्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र तथा मीमासा आदि के विषय मे उनका पाण्डित्य प्रकट होता है। धनिक ने कारिकाओ की व्याख्या के साथ साथ उदाहरणो द्वारा भी नाटय के नियमो को स्पष्ट किया है। काव्य तथा रूपको मे अवसर के अनुसार उद्धरण प्रस्तुत करना एक ओर तो उनके विस्तृत अध्ययन का सूचक है, दूसरी ओर उनके सूक्ष्म निरीक्षण एव मनन को प्रकट करना है। अवलोक टीका मे ३०० से अधिक उदाहरण दिये गये है, जिनमे कुछ गद्य मे भी हैं। यहाँ २४ उदाहरण धनिक के स्वरचित है, जिनमे चार प्राकृत के है। इससे विदित होता है कि धनिक प्राकृत तथा सस्कृत के अच्छे कवि थे। वे साहित्यशास्त्र के भी

उच्चकोटि के विद्वान् थे। अवलोक टीका के एक उल्लेख से विदित होता है कि उन्होने 'काव्यनिर्णय' नामक ग्रन्थ भी लिखा था। उस ग्रन्थ के सात पद्य अवलोक टीका मे उद्धृत किये गये है। किन्तु दैववश वह ग्रन्थ आज उपलब्ध नही है।

अवलोक टीका मे धनिक ने अनेक ग्रन्थो का आधार लिया है। आज उपलब्ध पुस्तको से उनके उद्धरणो मे कही पाठ भेद भी मिलता है। सम्भवत उन्होने अपनी स्मृति के आधार पर ही उदाहरण दिये होगे, अथवा हस्तलिपियो मे ही पाठ-भेद रहा होगा। धनिक ने कही कही पूरा उद्धरण न देकर प्रतीक मात्र ही उद्धृत की है। कही एक ही पद्य को कई नाट्य नियमो के उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया है। कही 'प्रागुदाहृतम्' कहकर पहले उदाहरण की ओर सकेत कर दिया है। कही 'उदयनचरित' आदि उपाख्यानो को भी उदाहरण के रूप मे दिखलाया है। उद्धरणो के विषय मे धनिक की यह विशेषता है कि उन्होने अधिकाश स्थलो पर ग्रन्थ या कवि का नामोल्लेख किया है,[1] जिससे सस्कृत कवियो के काल-निर्णय मे बडी सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त धनिक ने कतिपय शास्त्रीय ग्रन्थो को भी उद्धृत किया है। उनमे कही नामत उल्लेख किया है, कही नही भी (इन सबका परिशिष्ट एक मे विवरण दिया गया है)।

दशरूपक की वृत्ति होते हुए भी दशरूपावलोक का अपना निजी महत्त्व है। इसमे अनेक विवादास्पद विषयो का विस्तृत विवेचन किया गया है, उदाहरणार्थ नाट्य मे शान्तरस की योजना, रसो का विरोध तथा अविरोध, काव्य का रस-भाव आदि के साथ सम्बन्ध इत्यादि। इसी प्रकार दशरूपक के दुरुह स्थलो का भी स्पष्टीकरण करते हुए उन्हे उचित उदाहरणो द्वारा हृदयगम कराने का प्रयास किया है। फिर भी यह टीका सर्वथा निर्दोष नही कही जा सकती। कही-कही स्पष्ट मन्तव्यो की भी विस्तृत व्याख्या कर दी गई है दूसरी ओर दुर्बोध बातो को भी 'स्पष्टम्' कहकर छोड दिया गया है। कतिपय स्थलो पर पारिभाषिक शब्दो का स्पष्टीकरण नही किया गया। वहाँ उदाहरण दिखलाये गये है किन्तु शब्दो के स्पष्टीकरण के बिना वास्तविक अर्थ सन्दिग्ध ही रह जाता है। वस्तुत इस प्रकार के दोष नगण्य है। इसमे सन्देह नही कि यही वृत्ति दशरूप किवा सस्कृत नाट्यशास्त्र को अवलोकित करती है।

३ दशरूपक के प्रतिपाद्य विषय पर एक दृष्टि—

दशरूपक मे नाट्यविषय का सक्षिप्त निरूपण किया गया है। इसमे चार प्रकाश है। प्रथम प्रकाश के आरम्भ मे गणेश, विष्णु तथा शिव (द्र० टि० १ २) और भरतमुनि को नमस्कार करके सरस्वती की कृपा से ग्रन्थ रचना मे प्रवृत्ति, रचना का उद्देश्य तथा नाट्य (एव काव्य) का प्रयोजन बतलाया गया है यहाँ भामह के मन्तव्य पर उपालम्भ

(१) हिन्दी-अनुवाद मे अधिकाश उद्धरणो के सन्दर्भ दिखलाये गये है। जहाँ सन्दर्भ ज्ञात नही हो सका है वहाँ प्रश्नचिह्न (?) रख दिया है। अथवा छोड दिया गया है।

करते हुए मुख्यत आनन्दानुभूति को ही नाट्य का प्रयोजन माना गया है (१ ६)। फिर नाट्य (=रूप =रूपक) का लक्षरण करते हुए उसका नृत्य तथा नृत्त से भेद प्रकट किया गया है। साथ ही दस प्रकार के रूपको (१ नाटक २ प्रकररण, ३ भारण, ४ प्रसहन, ५ डिम, ६ व्यायोग, ७ समवकार, ८ वीथी, ९ अङ्क और १० ईहामृग) का उल्लेख करके रूपको के भेदक तीन तत्त्वो वस्तु, नेता और रस का निर्देश किया गया है। यहाँ तक इस ग्रन्थ का प्रारम्भिक ग्रश कहा जा सकता है।

प्रथम प्रकाश का मुख्य प्रतिपाद्य विषय रूपक की वस्तु है। वस्तु दो प्रकार की होती है—आधिकारिक और प्रासङ्गिक। प्रधान कथावस्तु (इतिवृत्त) को आधिकारिक कहते है और सहायक को प्रासङ्गिक। प्रासङ्गिक इतिवृत्त दो प्रकार का होता है–पताका और प्रकरी। मुख्य कथा का दूर तक साथ देने वाली प्रासङ्गिक कथा पताका कहलाती है, जैसे रामायरण की कथा मे सुग्रीव की कथा है। मुख्य कथा के साथ थोडी दूर तक चलने वाली प्रकरी होती है, जैसे रामायरण की कथा मे श्रवरण या जटायु को कथा है (१ १३-१४)। पताका के प्रसङ्ग से धनञ्जय ने पताका-स्थान का भी निरूपरण किया है। जहाँ समान विशेषरणो के द्वारा अन्योक्ति से आगे आने वाले प्रस्तुत अर्थ की सूचना दी जाती है, वह पताकास्थान या पताकास्थानक कहलाता है (१ १५)। भावप्रकाशन मे इसे तीसरे प्रकार का प्रासङ्गिक इतिवृत्त ही बतलाया गया है। किन्तु धनञ्जय ने ऐसा कुछ नही कहा। ये पताका इत्यादि मुख्य कथा के विकास मे सहायक होते है। किन्तु यदि कथावस्तु सरल है तो इनके बिना भी हो सकती है। अत ये कथावस्तु के अनिवाय अङ्ग नही। ये आधिकारिक और प्रासङ्गिक कथाएँ भी तीन-तीन प्रकार की होती है—प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्रित (१ १५) इनमे से किसी एक प्रकार की कथा वस्तु का आश्रय लेकर रूपक की वस्तु-योजना की जाती है।

वस्तु-योजना की दृष्टि से कथावस्तु का विभाजन—

इतिवृत्त नाट्य का शरीर है। कवि इतिवृत्त की सुसम्बद्ध तथा सुव्यवस्थित योजना करता है और क्रमिक विकास का ध्यान रखता है। इसी से कथावस्तु रोचक और ग्राह्य बनती है। नाट्यशास्त्र (१९ १) के अनुसार इतिवृत्त का विभाजन ५ सन्धियो के आधार पर किया जाता है। ये ५ सन्धियाँ है—मुख प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और उपसहार। सन्धि का अर्थ है—इतिवृत्त के विभाग जो कि अर्थप्रकृतियो तथा कार्यावस्थाओ के आधार पर किये जाते है। नाटक आदि मे इतिवृत्त के नायक का कोई लक्ष्य होता है वही फल कहलाता है। उस फल की सिद्धि के उपाय ही अर्थप्रकृतियाँ कहलाती है। ये अर्थप्रकृतियाँ पाँच है—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा काय (१ १८)। फल को लक्ष्य करके किया गया जो नायक का व्यापार (=कार्य) है, उसकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ ही कार्यावस्थाएँ कहलाती है। भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार ये अवस्थाएँ पाँच है—आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम (१ १९–२२)।

दशरूपक (एव साहित्यदर्पण आदि) के अनुसार अर्थप्रकृतियो का कार्यावस्थाओ के साथ क्रमश सम्बन्ध होने पर सन्धि का उद्भव होता है, किन्तु इसमे कुछ दोष प्रतीत होता है, अत धनञ्जय का सन्धि का लक्षण विचारणीय ही है (१ २४ टि०)। इन सन्धियो के ६४ अङ्ग है। उनका रूपक के विविध प्रकारो मे यथासम्भव प्रयोग किया जाता है। सभी रूपको मे समस्त सन्धियो या सन्ध्यङ्गो का प्रयोग अनिवार्य नही है (विशेष द्र०, १ २४ टि०)। कीथ का विचार है कि 'इन सन्ध्यङ्गो के बटन (बटवारे) का कोई वास्तविक मूल्य नही है' (स० नाटक, पृ० ३२०)। किन्तु दशरूपक के अनुसार रूपको मे इन सन्ध्यङ्गो की योजना के ६ प्रयोजन है (१ १५)। इनकी योजना से कथावस्तु मे क्रमबद्धता, रोचकता, प्रवाह तथा रसास्वादकता की अभिवृद्धि हुआ करती है।

वर्णन की दृष्टि से कथावस्तु का विभाजन—

रूपको का मुख्य उद्देश्य रसास्वादन कराना है किन्तु इतिवृत्त की सभी घटनाएँ सरस नही हुआ करती। साथ ही कतिपय घटनाएँ ऐसी भी होती है जिनका रङ्गमञ्च पर दिखलाना वाञ्छनीय नही होता। इसी लिये कथावस्तु के दो भाग किये गये है—सूच्य और दृश्य। जो घटनाये नीरस या अनुचित होती है, किन्तु कथा प्रवाह के लिये उनका जानना आवश्यक होता है, उनकी केवल सूचना दी जाती है (विस्तृत वर्णन नही), वही सूच्य इतिवृत्त है। जो रोचक तथा सरस घटनाये होती है, उनका विशद वर्णन किया जाता है और रङ्गमञ्च पर अभिनय भी, वही दृश्य इतिवृत्त है। सूच्य इतिवृत्त की सूचना देने के लिये रूपको मे पाँच प्रकार के अर्थोपक्षेपको (अर्थ के सूचक) का प्रयोग किया जाता है—विष्कम्भक, चूलिका, अङ्कास्य, अङ्कावतार और प्रवेशक (५८–६२)। दृश्य इतिवृत्त का रूपक के अङ्को मे विभाजन किया जाता है। अङ्को की सख्या सभी रूपको मे समान नही होती (द्र० दश० ३)।

नाट्यधर्म (= नाट्योक्ति = नाटकीय सवाद) की दृष्टि से वस्तु-विभाजन—

भारत के नाट्यशास्त्रियो ने पाश्चात्य नाट्यशास्त्र के समान सवाद को पृथक् नाटक का तत्त्व नही माना, अपितु वस्तु के अङ्ग के रूप मे ही सवाद का विचार किया है। सवाद (कथोपकथन) की दृष्टि से वस्तु तीन प्रकार की होती है—सर्वश्राव्य, नियतश्राव्य और अश्राव्य। सर्वश्राव्य को रूपको मे 'प्रकाशम्' शब्द के द्वारा प्रकट किया जाता है। नियतश्राव्य दो प्रकार का होता है—जनान्तिक और अपवारित। अश्राव्य को 'स्वगत' भी कहते है। इनके अतिरिक्त 'आकाशभाषित' नामक एक अन्य प्रकार की नाट्योक्ति भी होती है। (द्र० १ ६३–६७)।

द्वितीय प्रकाश, नायक-नायिका के भेद-प्रभेद—

नायक शब्द का मुख्य अर्थ है नाटक आदि का मुख्य पात्र। किन्तु कभी-कभी 'नायक' शब्द का सामान्यत किसी भी पात्र के लिये प्रयोग कर दिया जाता है। इस प्रकाश के आरम्भ मे नायक के सामान्य गुणो का वर्णन किया गया

है (२ १–२)। फिर नायक के चार प्रकार (धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशान्त और धीरोद्धत) और उनके लक्षण बतलाकर शृङ्गारी नायक की चार अवस्थाओ (दक्षिण, शठ, धृष्ट तथा अनुकूल) का निरूपण किया गया है (२ ६–७। यहाँ नायक के सहायको का निरूपण भी है। इनमे पताका नामक इतिवृत्त का नायक 'पीठमद' कहलाता है जैसे रामायण की कथा मे सुग्रीव है (२ ८) विट और विदूषक नायक के शृङ्गारी सहायक है (२ ६)। मन्त्री इत्यादि कार्यसिद्धि मे, पुरोहित आदि धम मे, सामन्त, सैनिक आदि दण्ड मे और वषवर आदि अन्त-पुर मे नायक के सहायक होने है (२ ४२–४६) यहाँ कञ्चुकी का उल्लेख नही किया गया। रूपक मे नायक के चरित्र को निखारने के लिये प्रतिनायक की योजना की जाती है अत उसके स्वरूप का भी निरूपण किया गया है (२ ६)। तदनन्तर नायक के शोभा आदि आठ सात्त्विक गुणो का निरूपण है (२ १०–१४)।

नायिका भी समान्यत नायक के गुणो से युक्त होती है। वह तीन प्रकार की होती है —स्वकीया, परकीया, तथा साधारण स्त्री (वेश्या)। स्वकीया भी तीन प्रकार की होती है मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा। नायिका की स्वाधीनपतिका आदि आठ अवस्थाये हुआ करती है (२ २३–२८)। नायक के समान नायिका की भी सहायिकाये होती है, जो प्राय दासी, सखी, पडौसिन, भिक्षुणी आदि होती है और दूती का काम भी करती है (२ २६)। नायिका के सन्दर्भ मे युवतियो के २० सात्त्विक अलङ्कारो का भी वर्णन किया गया है। हाव, भाव, हेला इत्यादि युवतियो के शरीर की शोभा बढाते हैं, इसी हेतु इन्हे युवतियो के अलङ्कार कहा जाता है (२ ३०–४२)।

इसके पश्चात् नाट्यवृत्तियो का वर्णन है। नायक आदि के मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापार ही नाट्य मे वृत्तियाँ कहलाती है। नाट्यवृत्तियाँ चार है—सात्त्वती, भारती, कैशिकी तथा आरभटी। इनमे भारती विशेषकर शब्दवृत्ति है और शेष तीनो अर्थवृत्तियाँ कहलाती है। उद्भट के अनुयायी 'अर्थवृत्ति' नाम की एक अन्य वृत्ति मानते रहे, धनञ्जय ने उनके मत का निराकरण किया है (२ ६०–६१)। दशरूपक मे अङ्गो सहित चारो वृत्तियो का निरूपण करते हुए यह भी दिखलाया गया है कि किस रस मे कौन सी वृत्ति हुआ करती है (२ ४७–६२)।

द्वितीय प्रकाश के अन्त मे प्रवृत्तियो का वर्णन है। प्रवृत्ति का अभिप्राय है, देश–भेद के कारण पात्रो के भिन्न–भिन्न वेष–भूषा तथा भाषा आदि होना। यहाँ अत्यन्त सक्षेप मे भाषा-प्रयोग तथा सम्बोधन के प्रकार दिखलाये गये है। इस विषय का नाट्यशास्त्र तथा सहित्यदर्पण आदि मे विशद विवेचन है। दशरूपक का यह निरूपण उनके सामने अधूरा ही है। इस प्रकार द्वितीय प्रकाश मे नायक–नायिका तथा उनके विवध व्यापारो का वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त ना० शा०

तथा साहित्यदर्पण आदि मे ३३ नाट्यालङ्कारो तथा ३६ नाट्यलक्षणो का वर्णन किया गया है, जिनका पृथक् वर्णन करना धनञ्जय को अभीष्ट नही (४ ८४) ।

तृतीय प्रकाश, दशरूपको का स्वरूप निरूपण—

यहाँ प्रथमत नाटक का वर्णन किया गया हे, क्याकि दस रूपको मे नाटक ही प्रमुख हे । नाटक के का रचना-विधान पर विचार करते हुए नाटक की स्थापना इत्यादि नाट्य-प्रयोगभो निरूपण किया गया हे, किन्तु पूवरङ्ग का वर्णन यहाँ नही किया गया । नान्दीपाठ का तो यहाँ उल्लेख भी नही हे । वस्तुत दशरूपक का उद्देश्य रूपक के रचना-विधान का विवेचन करना हे, नाट्य-प्रयोग का विवेचन नही । तदनन्तर नाटक की स्थापना के प्रसङ्ग मे भारती वृत्ति का अङ्गो सहित वर्णन किया गया हे(३ ४-२१) । फिर नाटक के नायक, वस्तु-सघटन (दर्शनीय तथा वर्जित घटनाओ का निर्देश) और रस-योजना आदि का विशद निरूपण किया गया है (३ २२ ७२) । इसके उपरान्त प्रकरण, भाण प्रहसन, डिम, व्यायोग समवकार, वीथी, उत्सृष्टिकाङ्क (अङ्क) और ईहामृग नामक रूपको का निरूपण किया गया है । नाटक और प्रकरण का निरूपण करते हुए प्रसङ्ग से इन दोनो के सङ्कीर्ण रूप नाटिका का भी निरूपण किया गया है (३ ४३ ४८) । दशरूपक के अनुसार प्रकरणिका को नाटिका से भिन्न नही माना जाता (३ ४४—४५) ।

उपर्युक्त रूपको के अतिरिक्त परवर्ती आचार्यों ने उपरूपको का भी विवेचन किया हे, जैसे भावप्रकाशन के अनुसार २० उपरूपक है, साहित्यदर्पण के अनुसार १८ इत्यादि । नाटयशास्त्र मे उन भेदो का उल्लेख नही किया गया तथापि उनम से कुछ का सकेत अवश्य मिल सकता है । ना० शा० (१८ ५७) मे जो नाटिका का वर्णन किया गया है उसकी व्याख्या मे अभिनवगुप्त ने बतलाया है कि नाटिका का लक्षण करके भरतमुनि ने अन्य सङ्कीर्ण रूपको का भी दिग्दर्शन करा दिया है ऐसा प्रतीत होता है कि धनञ्जय एव धनिक भी उपरूपको से परिचित थे । धनिक ने शङ्का के रूप मे डोम्बी इत्यादि सात अन्य रूपको का उल्लेख किया है (१ ८) । किन्तु धनञ्जय तथा धनिक डोम्बी आदि को, 'नृत्य' कहते है । वे इन्हे रूपको से पृथक् मानते है, क्योकि ये रसास्वादन के अनुकूल (रसाश्रय) नही होते (१ ९) । उनके विचार मे सङ्कीर्ण रूपको म केवल नाटिका ही वाञ्छनीय है, अन्य नही (४ ४३) ।

दशरूपक मे प्रतिपादित रूपको मे वस्तु, नायक, वृत्ति तथा रस आदि की दृष्टि से परस्पर भेद है, जिसका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है —

१ **नाटक**—प्रख्यात (ऐतिहासिक या पौराणिक) वस्तु, पांचो सन्धियां, ५ से १० तक अङ्क, धीरोदात्त (नृप या दिव्य) नायक, चारो (कैशिकी, आरभटी,

सात्त्वती और भारती) वृत्तियाँ, अङ्गी रस वीर या शृङ्गार तथा अङ्ग अन्य सभी रस। (द्र० कारिका ३ १-३८)।

२ प्रकरण—कल्पित (उत्पाद्य) वस्तु, पाँचो सन्धियाँ, ५ से १० तक अङ्क, धीर प्रशान्त (अमात्य, विप्र, वणिक) नायक, (कुलस्त्री या गणिका या दोनो नायिका), वृत्तियाँ तथा रस नाटक के समान। (३ ३९-४२)।

[**नाटिका**—कल्पित (प्रकरण के समान), पाँचो सन्धियाँ किन्तु अवमर्श सन्धि अत्यन्त सक्षिप्त, चार अङ्क, धीरललित (प्रख्यात नृप नाटक के समान), देवी तथा प्राप्या कुलीन नायिकाए, विशेष रुप से कैशिकी वृत्ति, शृङ्गार रस। (३ ४३-४८)।]

३ भाण—धूर्तचरित विषयक–कल्पित वस्तु, मुख-निर्वहण सन्धि, एक अङ्क। कुशल तथा बुद्धिमान् विट नायक, अधिकतर भारती वृत्ति, वीर या शृङ्गार की सूचना मात्र, आकाशभाषित के द्वारा सम्बोधन तथा कथोपकथन, लास्य के दस अङ्गो का प्रयोग। (३ ४९-५३)।

४ प्रहसन - कल्पित वस्तु, मुख–निवहण सन्धि, एक अङ्क पाखण्डी विप्र कामुक आदि पात्र, अधिकतर भारती वृत्ति, अङ्गी हास्य रस, भाण के समान लास्य के दस अङ्गो का प्रयोग। (३ ५४-५६)।

५ डिम—प्रख्यात वस्तु, मुख-प्रतिमुख-गभ निवहण चार सन्धियाँ, चार अङ्क, १६ उद्धत पात्र (पिशाच आदि), कैशिकी को छोडकर शेष तीन वृत्तियाँ, अङ्गी रस रौद्र तथा अङ्ग रस वोर, बीभत्स, अद्भुत, करुण और भयानक। (३ ५७-६०)।

६ व्यायोग—प्रख्यात वस्तु, मुख-प्रतिमुख-निवहण सन्धिया, एक अङ्क, उद्धत प्रख्यात अधिक पुरुष पात्र, कैशिकी–भिन्न वृत्तियाँ, हास्य शृङ्गार से भिन्न ६ रस। (३ ६०-६२)।

७ समवकार—प्रख्यात वस्तु (देव तथा असुरो से सम्बद्ध), विमश से भिन्न ४ सन्धियाँ, तीन अङ्क, विख्यात उदात्त प्रकृति के देव और दानव बारह नायक, कैशिकी की अल्पता के साथ चारो वृत्तियाँ, वीर रस की प्रधानता अन्य सभी रस विशेष रूप से शृङ्गार अङ्ग रूप मे। (३ ६२-६८)।

८ वीथी—कल्पित वस्तु, मुख-निवहण दो सन्धियाँ, एक अङ्क, एक या दो पात्र, कैशिकी वृत्ति, प्रधानत सूच्य रस शृङ्गार अन्य रसो का स्पशमात्र। (३ ६८-७०)।

९ अङ्क (उत्सृष्टिकाङ्क)—प्रख्यात वस्तु, मुख-निर्वहण सन्धि, एक अङ्क, साधारण जन नायक, अधिकतर भारती वृत्ति (भाणवत्), अङ्गी रस करुण। (३ ७०-७२)।

१० ईहामृग—मिश्रित वस्तु, मुख-प्रतिमुख-निर्वहण तीन सन्धियाँ, चार अङ्क, नायक धीरोद्धत प्रख्यात देव तथा नर, सभी वृत्तियाँ (?), शृङ्गार (शृङ्गाराभास–भी) रस। (३ ७२-७५)।

उपर्युक्त विषयो मे आचार्यो का कुछ मत-भेद भी है जो भा० प्र०, ना० द० तथा सा० द० आदि से जाना जा सकता है। (विशेष द्र० Mankad, The Types of Sanskrit Drama)।

चतुर्थ प्रकाश, रस-विचार

रस के विषय मे भी दशरूपक की कुछ मौलिक उद्भावनाएँ है, जिनका अग्रिम पृष्ठो मे विशद विवेचन किया जायेगा। चतुर्थ प्रकाश मे प्रथमत यह बतलाया गया है कि विभाव, अनुभाव सात्त्विक भाव तथा व्यभिचारी भावो के द्वारा आस्वादन योग्य होकर स्थायी भाव ही रस कहलाता है। रस का आस्वादन सहृदय सामाजिक को होता है, अनुकार्य को नही (४ १,३८-३९)। यहाँ विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव तथा व्यभिचारी भावो के स्वरूप तथा प्रकारो का निरूपण किया गया है (४ २-३३)। तदन्तर स्थायी भाव का लक्षण करते हुए (अवलोक टीका मे) रसो के विरोध-अविरोध का विवेचन किया गया है [४ ३४]। यह विवेचन परवर्ती ग्रन्थो के विवेचन के समान स्पष्ट नही प्रतीत होता। दशरूपक मे आठ स्थायी भाव माने गये है। शम नामक स्थायी भाव की पुष्टि रूपक मे नही हो सकती, अत नाट्य मे शान्त रस नही होता, इस मन्तव्य की व्याख्या अन्य मतो का निराकरण करते हुए की गई है। यह भी दिखलाया गया है कि नागानन्द का नायक जीमूतवाहन धीरोदात्त नायक है धीरप्रशान्त नही [४ ३५-३६]। इसके उपरान्त विशेषकर अवलोक वृत्ति मे विस्तारपूर्वक यह दिखलाया गया है कि रस-भाव आदि और काव्य का व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव सम्बन्ध नही है अपितु भाव्य-भावक सम्बन्ध है, रस आदि भाव्य है और काव्य भावक है [४ ३७]। यहाँ रस-प्रक्रिया भी दिखलाई गई है]४ ४०-४२]। साथ ही रसो का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है। फलत धनञ्जय एव धनिक के अनुसार काव्यार्थ से होने वाली आत्मानन्द की अनुभूति ही रस है। यह आनन्द की अनुभूति सभी रसो मे समान रूप से हुआ करती है। फिर भी भावक सामग्री [विभाव आदि] के भेद से इसमे चित्त की चार अवस्थाएँ हो जाती है—विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप। शृङ्गार मे चित्त का विकास होता है, वीर मे विस्तार, बीभत्स मे क्षोभ और रौद्र मे विक्षेप। हास्य, अद्भुत, भयानक और करुण मे भी क्रमश विकास आदि चारो हुआ करते है। इनमे एक-एक अवस्था का दो दो रसो से सम्बन्ध है इसलिये आठ ही रस होते है (४ ४३ ४५]। प्रीति, भक्ति तथा मृगया, द्यूत आदि को भी किन्हीं आचार्यों ने भाव तथा रस के रूप मे माना था। उनका दशरूपक मे हर्ष, उत्साह आदि मे ही अन्तर्भाव किया गया है [४ ८३]। नाट्य मे तो शान्त रस होता नही, यदि श्रव्य काव्य मे शान्त रस होता भी है तो उसमे मुदिता, मैत्री, करुणा तथा उपेक्षा ये चार चित्त की अवस्थाएँ हुआ करती हैं, जिनका विकास आदि चार अवस्थाओ मे ही समावेश हो जाता है [४ ४५]। धनिक ने यह भी स्पष्ट बतलाया है कि सभी

रस आनन्दात्मक होते है। करुण आदि मे भी सुखदु खात्मक एक विशेष प्रकार के आनन्द की अनुभूति हुआ करती है। साथ ही काव्य नाट्य से भावित करुण आदि रस लौकिक शोक आदि की अपेक्षा नितान्त भिन्न होता है (४ ४३-४५)। कोई स्थायी भाव आस्वादनीय=आस्वाद्य=आस्वादनयोग्य होकर ही रस कहलाता है अत अवस्था का भेद है ही (मि० ४ ४६-४७)। इसके पश्चात् श्रृङ्गार आदि आठ रसो के लक्षण, भेद तथा उदाहरण दिखलाते हुए चतुथ प्रकाश समाप्त होता है। ग्रन्थ के अन्त मे धनञ्जय ने अपना अत्यन्त सक्षेप मे परिचय भी दिया है।

४ रस-सिद्धान्त और दशरूपक का मन्तव्य

(१) **आचार्य भरत**—सहृदयो को रस की अनुभूति कराना ही नाट्य का मुख्य प्रयोजन है। अत रूपको मे रस का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रथमत नाट्य के प्रसङ्ग मे ही रस सिद्धान्त की उद्भावना की गई थी। आज भरत के नाट्यशास्त्र मे रस का सवप्रथम विवेचन उपलब्ध होता है। किन्तु नाट्यशास्त्र मे रस का स्वरूप पर्याप्त विकसित अवस्था मे मिलता है। इससे सहज ही यह अनुमान किया जा सकता है कि इससे पूव ही रस-सिद्धान्त की उदभावना हो चुकी थी। भरत से पूर्व रस-सिद्धान्त का विकास किस प्रकार हुआ यह आज विदित नही है। भरत के अनुसार नाट्य के ११ तत्त्व है—

रसा भावा ह्यभिनया धर्मी, वृत्तिप्रवृत्तय ।
सिद्धि स्वरास्तथातोद्य गान रङ्गश्च सग्रह ॥६ १०॥

इनमे रस ही प्रधान है। भरत ने रस के स्वरूप, सख्या तथा भाव, विभाव, अनुभाव एव व्यभिचारी भावो का विस्तार से विवेचन किया (ना० शा० अ०-६, ७)। भरत का रस-सूत्र है—विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद् रसनिष्पत्ति'। नाट्यशास्त्र मे रूपको के ८ रसो का उल्लेख किया गया है, किन्तु पाठान्तर के अनुसार वहाँ शान्त रस का भी वरान है। अभिनवगुप्त ने इस पाठान्तर को प्रामाणिक माना है और उन्होने विस्तार के साथ शान्त रस का विवेचन किया है (अभि० भा० अ० ६ का अन्त)।

(२) **अलङ्कारवादी आचार्यों का रसविषयक दृष्टिकोण**—भरत के अनन्तर साहित्याचार्यो ने रस-सिद्धान्त को इतना महत्त्व नही दिया। आज जो उस समय के साहित्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ उपलब्ध हे उनमे रस-सिद्धान्त का स्पष्ट निरूपण नही किया गया। सम्भवत उस समय के कुछ ग्रन्थो मे रस-सिद्धान्त का विकसित रूप अवश्य रहा होगा किन्तु वे ग्रन्थ आज उपलब्ध नही है। उस समय के उपलब्ध ग्रन्थो मे सबसे प्राचीन भामह का काव्यालङ्कार माना जाता है, जिसमे रस को नगण्य सा स्थान दिया गया है। इसके पश्चात् दण्डी ने यद्यपि अलङ्कार और रीति को ही अधिक महत्त्व दिया हे तथापि आठो रसो का उदाहरण सहित वर्णन करते हुए काव्य मे रसो के महत्त्व को स्वीकार किया है। वामन

ने 'कान्ति' नामक गुण के नाम से काव्य मे रस की महत्ता स्वीकार की है (दीप्तरसत्व कान्ति, काव्यालङ्कार सूत्र ३ २ १४)। उद्भट की रचनाओ मे रस सिद्धान्त के प्रति कुछ अधिक आदर भाव परिलक्षित होता है। उदभट ने 'समाहित' नामक रसालङ्कार की नवीन उद्भावना की तथा यह भी दिखलाया कि नाटक मे भी शान्त रस होता है—

शृङ्गारहास्य-करुण-रौद्र वीर-भयानका
बीभत्सादभुत-शान्ताश्च नव नाट्ये रसा स्मृता ॥

(काव्यालङ्कारसग्रह ४ ४)।

सगीतरत्नाकर (व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशङकुका १ १६) से विदित होता है कि उदभट की नाट्यशास्त्र पर कोई टीका थी। सम्भवत उसमे उद्भट ने रस-सिद्धान्त का विशद विवेचन किया होगा। भामह से उद्भट पर्यन्त के युग मे रस का विशेष सम्बन्ध नाट्य से ही माना जाता रहा। नाट्य से भिन्न काव्य मे रस का विचार 'रसवत्' अलङ्कार आदि के रूप में ही विशेषत किया गया। फिर भी कही-कही महाकाव्य के लिये भी रस को आवश्यक तत्त्व बतलाया गया है, जैसे 'युक्त' लोकस्वभावेन रसैश्च सकलै पृथक्' (भामह काव्या० १ २१) तथा 'अलङ्कृतमसक्षिप्त रसभावनिरन्तरम्' (दण्डी, काव्यादर्श १ १८)।

इसके पश्चात् रुद्रट ने काव्य मे रस के महत्त्व की ओर विशेष रूप से ध्यान दिलाया। उन्होने बतलाया कि कवि को महान् प्रयास करके काव्य को रसमय बनाना चाहिए। उन्होने शान्त रस को भी स्वीकार करते हुए प्रेयान् नामक एक अन्य रस का उल्लेख किया (काव्यालङ्कार १२ २–३)। साथ ही यह भी बतलाया कि निर्वेद आदि सभी भाव रसरूपता को प्राप्त कर सकते है (वही १२ ४)। दशरूपक मे इस मत को उदधृत करते हुए इसका निराकरण किया गया है दश० ४ ३६)। फिर भी रुद्रट अलङ्कारवादी आचाय माने जात है उन्होने प्रासङ्गिक रूप से ही रस का विवेचन किया है। किन्तु रुद्र भट्ट नामक एक अन्य आचार्य ने शृङ्गारतिलक मे नव रसो का विशद विवेचन किया है। इससे प्रकट होता है कि उस समय रस के प्रति आचार्यों का आदर भाव बढ रहा था।

(३) ध्वनिवादी आचार्य तथा रससिद्धान्त—इसके उपरान्त ध्वनिवादी आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा बतलाते हुए रस-योजना मे ही कवियो को विशेष रूप से उद्यत रहने की प्रेरणा दी—

व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन्विविधे सम्भवत्यपि।
रसादिमय एकस्मिन् कवि स्यादवधानवान् ॥ ध्वन्या० ४ ५ ॥

उन्होने रस को ध्वनि का सर्वोत्कृष्ट रूप बतलाया तथा यह भी कि रस काव्य का व्यङ्ग्य ही हो सकता है वाच्य या लक्ष्य नही। इस व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव के मन्तव्य को पूर्वपक्ष के रूप मे प्रस्तुत करते हुए दशरूपक मे इसका खण्डन

किया गया है (४ ३६–३७)। इस व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव की अभिनवगुप्त ने विशद व्याख्या की तथा ध्वनि-सिद्धान्त और रस–सिद्धान्त का सामञ्जस्य करके रस-सिद्धान्त का परिनिष्ठित रूप प्रस्तुत किया। धनञ्जय तथा धनिक की कृतियो मे अभिनव गुप्त के मन्तव्यो का कोई सकेत नही मिलता, यह ऊपर कहा जा चुका है।

(४) **ध्वनि विरोधी किन्तु रसवादी आचार्य**—यद्यपि ध्वनिकार ने अत्यन्त दृढ आधारो पर ध्वनिवाद की स्थापना की थी तथापि ध्वनिवाद का अनेक आचार्यो ने विरोध किया। वे आचार्य नाट्य एव काव्य मे रस की महत्ता तो स्वीकार करते रहे, किन्तु रस आदि काव्य द्वारा व्यङ्ग्य है, इस मन्तव्य का उन्होने खण्डन किया है। इन आचार्यों की एक शक्तिशाली परम्परा रही है। जिसमे प्रतिहारेन्दुराज, भट्टलोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक, कुन्तक, धनञ्जय तथा व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट इत्यादि आचाय विशेष उल्लेखनीय है।

प्रतीहारेन्दुराज भामह एव उद्भट के अलङ्कार सम्प्रदाय के अनुयायी थे। वे मुकुट भट्ट के शिष्य थे। उनका मत है कि वस्तु, अलङ्कार तथा रस तीनो प्रकार की ध्वनियो का पर्यायोक्त, श्लेष तथा रसवद् आदि अलङ्कारो मे समावेश किया जा सकता है अत व्यङ्ग्य अर्थ को पृथक् मानने की आवश्यकता नही। साथ ही वे रस को काव्य की आत्मा मानना उचित ही समझते है। (काव्यालङ्कार-सग्रह लघुवृत्ति ६ ७-८, मि भा प्र भूमिका पृ २४)। वक्रोक्तिकार कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का 'जीवित' बतलाते हुए भी रस को काव्य का अमृत माना है, जिससे काव्य मे आन्तरिक चमत्कार का आधान हुआ करता है–काव्यामृतरसेनाऽन्तश्चमत्कारो वितन्यते, वक्रोक्ति ० १ ५। कुन्तक ने ध्वनि का वक्रोक्ति मे ही समावेश किया है–उपचार वक्रताभि सर्वो ध्वनिप्रपञ्च स्वीकृत, वक्रोक्ति०। महिम भट्ट ने रस को काव्य का मुख्य तत्त्व माना हे किन्तु यह स्वीकार नही किया कि रस व्यङ्ग्य है, वे ध्वनि (या व्यञ्जना) का एक विशेष प्रकार के अनुमान (काव्यानुमिति) मे अन्तर्भाव करते है।

भट्टलोल्लट, शङ्कुक तथा भट्टनायक तीनो ध्वनि-विरोधी आचार्य रस के व्याख्याकार के रूप मे विख्यात है। उनके रस–सम्बन्धी मन्तव्यो पर कुछ विस्तार से विचार करना वाञ्छनीय है, तभी दशरूपक के रस-सम्बन्धी मन्तव्य के साथ उनके मन्तव्य का तुलनात्मक अनुशीलन किया जा सकता है। भट्टलोल्लट आदि के ग्रन्थ आज उपलब्ध नही है। अभिनवभारती, ध्वन्यालोकलोचन तथा काव्यप्रकाश आदि के आधार पर ही उनके रस–सम्बन्धी मन्तव्यो का निरूपण किया जा सकता है। सक्षेप मे उनके मन्तव्यो का स्वरूप इस प्रकार है —

(५) **भरत के रससूत्र की विविध व्याख्यायें** —भरत के रस-सूत्र के अनुसार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के सयोग से रस-निष्पत्ति होती है। रस-सूत्र की व्याख्या करते हुए विद्वानो के तीन प्रश्नो का उत्तर खोजने का प्रयास किया है—

(क) रस किसमे रहता है (अर्थात् रस का आस्वादन किसे होता है) ? (ख) रस का स्वरूप क्या है ? और (ग) रस-प्रक्रिया क्या है ? या रस-निष्पत्ति कैसे होती है ?

(i) **भट्टलोल्लट** —इनका रस–निष्पत्ति–विषयक मत रसोत्पत्तिवाद कहलाता है। यह मत मीमासा सिद्धान्त पर आधारित समझा जाता है। इसके अनुसार रस (=रति आदि स्थायी भाव) मुख्य रूप से ऐतिहासिक या आख्यान-प्रसिद्ध राम आदि (अनुकार्य) मे रहता है। सीता आदि तथा उद्यान आदि लौकिक कारण ही आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव है। वे राम आदि के चित्त मे रति आदि भाव के उत्पादक तथा उद्दीपक है। राम आदि के भुज फडकना आदि अनुभाव है। उनके द्वारा राम आदि के चित्त मे स्थित रति आदि भाव प्रतीति योग्य हुआ करता है। निर्वेद, चिन्ता इत्यादि सहकारी कारण ही व्यभिचारी भाव कहलाते है, जिनकी सहायता से रति आदि स्थायी भाव पुष्ट हो जाता है। राम आदि के चित्त मे पुष्ट हुआ रति आदि स्थायी भाव ही रस कहलाता है। यह मुख्य रूप से राम आदि (अनुकार्य) मे रहता है। किन्तु राम आदि के समान वेष-भूषा से सुसज्जित होकर कोई अभिनेता (नट) राम का अभिनय करता है और राम सम्बन्धी काव्य का पाठ करता है तो सामाजिक जन उस अभिनेता को राम समझ लेते है और उसमे भी रति आदि भाव की प्रतीति होने लगती है। यह भ्रान्ति से होने वाली प्रतीति ही सामाजिक को आनन्द प्रदान करती है। इस प्रकार विभावो से उत्पन्न तथा उद्दीप्त होकर, अनुभावो से प्रतीतियोग्य होकर तथा व्यभिचारी भावो से पुष्ट होकर अनुकार्य के चित्त मे स्थित (लौकिक) रति आदि भाव ही रस है।

इस मत की परवर्ती शङ्कुक आदि आचार्यों ने आलोचना की है। इसके अनुसार रस का आश्रय सामाजिक नही हो सकता। फिर राम आदि मे स्थित या नट मे प्रतीत होने वाले रस मे सामाजिक को आनन्द की अनुभूति कैसे हो सकती है ? किञ्च इस प्रकार सामाजिक को होने वाली रस–प्रतीति भ्रान्तिमात्र होगी और काव्य आदि भ्रमोत्पादक होगे अत उपादेय न होगे। धनञ्जय ने भी रस के अनुकार्य गत होने का विरोध किया है, क्योकि (i) रसानुभूति के समय अनुकार्य राम आदि तो विद्यमान नही होते, (ii) उनके रसास्वादन के लिये काव्य लिखे भी नही जाते, न ही उनके लिये नाट्य का अभिनय किया जाता है। (iii) यदि अनुकार्य राम आदि मे रस माना जाये तो श्रोता या दर्शक को 'इसमे रति भाव है' इस प्रकार की प्रतीति मात्र होगी तथा लज्जा, ईर्ष्या और राग-द्वेष आदि होने लगेंगे (४ ३८ ३९)। लोल्लट द्वारा निरूपित विभाव आदि का स्वरूप भी दशरूपक को अभिमत नही कहा जा सकता। लोल्लट के मत की केवल यही बात धनञ्जय को अभिमत कही जा सकती है कि रति आदि स्थायी भाव पुष्ट होकर रस कहलाता है। किन्तु उसकी पुष्टि की प्रक्रिया मे तो दोनो आचार्यों का नितान्त भिन्न मत है।

(iii) **श्रीशङ्कुक** —इसके दूसरे व्याख्याकार श्रीशङ्कुक है उनका मत रसानुमितिवाद कहलाता है। वह न्याय-सिद्धान्त पर आधारित माना जाता है। उनके अनुसार जब अभिनेता जन निपुणता के साथ राम आदि का अभिनय करते है और तत्सम्बन्धी काव्य का पाठ करते है तो सामाजिक उस अभिनेता को चित्र तुरग न्याय से (जैसा चित्र मे चित्रित अश्व को अश्व कह दिया जाता है वस्तुत वह अश्व नही होता) 'यह राम है' ऐसा समझ लेते है तथा उस काव्यार्थ का अनुसन्धान करते हुए अभिनय द्वारा प्रदर्शित नायिका आदि (कारण), भुजाक्षेप आदि (कार्य) एव औत्सुक्य इत्यादि (सहकारी) को कृत्रिम होते हुए भी कृत्रिम नही समझते। इस प्रकार के ये नायिका आदि ही काव्य-नाट्य मे विभाव आदि कहलाते हैं। इन विभाव आदि के द्वारा अभिनेता मे रति आदि भाव का अनुमान कर लिया जाता है। यह अनुमित रति आदि भाव कलात्मक होने के कारण अन्य अनुमित वस्तुओ से विलक्षण होता है तथा सौन्दर्यमय होने के कारण आस्वादनीय हो जाता है इसीलिये सहृदय सामाजिक अपनी वासना द्वारा इसका आस्वादन कर लेते है। इस प्रकार अभिनेता तथा सामाजिक द्वारा आस्वाद्यमान रति आदि भाव ही रस है। विभाव आदि के सयोग अर्थात् अनुमाप्य-अनुमापक भाव सम्बन्ध से रस की निष्पत्ति (अनुमिति) होती है।

इस मत के अनुसार वस्तुत रति आदि स्थायी भाव अनुकार्य राम आदि मे ही होता है किन्तु भ्रान्ति से उसका नट मे अनुमान कर लिया जाता है। फिर भी (क) लौकिक कारण आदि से भिन्न विभाव आदि की कल्पना तथा (ख) सामाजिक के द्वारा अपनी वासना से रस चर्वणा—इस मत की ये दोनो बाते सिद्धान्त मत की ओर ले जाने वाली है। अभिनवभारती आदि मे इस मत के दोष दिखलाए गए हैं। मुख्य दोष यह है कि प्रत्यक्ष अनुभूति ही चमत्कार या आस्वादन उत्पन्न कर सकती है, केवल रति आदि भाव की अनुमित से सामाजिक को आस्वादन नही हो सकता। किञ्च सहृदयो का अनुभव बतलाता है कि रम का साक्षात्कार होता है (रस साक्षात् करोमि), अनुमान नही। धनञ्जय के अनुसार इस मत का निराकरण इसी कथन से हो जाता है कि रसिक मे ही रस रहा करता है (४ ३८–३९)। यदि नट भी काव्यार्थ की भावना से आस्वादन करता है तो वह भी रसिक ही है, अन्यथा उसमे रस नही रहता। शङ्कुक की विभाव आदि के स्वरूप की कल्पना कुछ अश मे धनञ्जय के मत की ओर ले जाने वाली अवश्य है फिर भी दोनो के विभाव आदि के स्वरूप में अन्तर प्रतीत होता है, शङ्कुक के मत मे कृत्रिम कारण आदि ही विभाव आदि कहलाते है किन्तु धनञ्जय के मत मे काव्य के अतिशयोक्ति व्यापार के द्वारा विशिष्ट हो जाने वाले कारण आदि विभाव इत्यादि कहलाते है। शङ्कुक के चित्र-तुरग न्याय और धनञ्जय के मिट्टी के हाथी के उदाहरण को भी समान नही कहा जा सकता। चित्र-तुरग न्याय तो यह बतलाता है कि सामाजिक राम का अभिनय करते

वाले नट को राम कैसे समझ लेते है। दूसरी ओर मिटटी के हाथी आदि का दृष्टान्त इस प्रश्न के उत्तर मे दिया गया है कि यदि काव्य मे राम एव सीता आदि केवल (उदात्त आदि अवस्था वाले) पुरुष एव स्त्री के रूप मे होने है तो राम कथा सीता के रूप मे उनका वर्णन क्यो किया जाता है (द्र० ४ ८१)।

(iii) **भट्टनायक**—रस के तीसरे व्याख्याकार भट्टनायक है। उन्होने भट्ट लोल्लट्ट तथा शङ्कुक दोनो के मत के दोष दिखलाकर अपने मत की स्थापना की है। उनके मतानुसार विभाव आदि के द्वारा भोज्य-भोजक-भाव सम्बन्ध से (सयोगात्) सामाजिक को रस का भोग=आस्वादन (=निष्पत्ति) होता है। इसीलिये यह मत रसभुक्तिवाद कहलाता है। यह साख्यसिद्धान्त पर आधारित समझा जाता है। तदनुसार काव्य-नाट्य मे शब्द के अभिधा व्यापार के समान ही भावकत्व तथा भोजकत्व नामक दो अन्य व्यापार होते हैं। काव्यार्थ का बोध हो जाने के पश्चात् भावकत्व व्यापार द्वारा काव्यनाटचगत नायक-नायिका आदि विभाव का, भुजाक्षेप आदि अनुभाव का तथा चिन्ता जादि व्यभिचारी भाव का साधारणीकरण हो जाता है, अर्थात् सीता आदि की सामान्य नायिका के रूप मे (=साधारणीकृत) प्रतीति होती है (प्रदीप) अथवा उनकी केवल शृङ्गार रस के आलम्बन विभाव आदि के रूप मे प्रतीत होती है (उद्योत)। साधरणीकृत विभाव आदि के द्वारा भावित हुए रति आदि स्थायी भाव का भोजक व्यापार द्वारा सामाजिक को आस्वादन होता है। रस का आस्वादन (=रस-भोग) यही है कि सहृदय के चित्त मे सत्त्व का उद्रक होकर आनन्दमय एव प्रकाशात्मक अनुभूति हुआ करती है।

भट्टनायक ने रसिक मे ही रस माना है, रस की अलौकिक अवस्था की ओर भी सकेत किया है। साथ ही विभाव आदि के साधारणीकरण की नवीन उद्भावना की है। यह भट्टनायक की रस-सिद्धान्त को अपूर्व देन है। ध्वन्यालोकलोचन (रसश्च व्यङ्ग्य एव, तस्य च शब्दवाच्यत्व तेनापि नोपगतम् पृ० १२६) से यह विदित होता है कि भट्टनायक रस को वाच्य नहीं मानते। फिर क्या उन्होने रस को व्यङ्ग्य माना है? नही, वे रस को भावकत्व व्यापार का विषय मानते है।[1] भावकत्व व्यापार से रस भावित होता है और भोजकत्व व्यापार मे रस का आस्वादन होता है—

---

1 पी० वी० काणे का यह कथन "It appears from the Locana that Nayaka accepted that Rasa was the soul of poetry or drama and that it was व्यग्य" (H S P. 371) विचारणीय है।

किन्त्वन्यशब्दवैलक्षण्य काव्यात्मन शब्दस्य त्र्यशताप्रसादात् । तत्राभिधायकत्व वाच्यविषयम्, भावकत्व रसविषयम् भोगकृत्त्व सहृदयविषयम् इति त्रयोशभूता व्यापारा (लोचन २ ४) ।

इस प्रकारभट्टनायक ध्वनि को नही स्वीकार करते । हाँ, यह अवश्य मानतेहै कि सहृदयो को रसास्वादन कराना ही काव्य का प्रयोजन है ।

भट्टनायक के मत का दोप यह हे कि यहाँ भावकत्व और भोजकत्व नामक दो ऐसे काव्य-व्यापारो की कल्पना की गई है, जिनमे काई प्रमाण नही । किञ्च भुक्ति या भोग अनुभूति मात्र है इसका अभिव्यक्ति मे ही अन्तर्भाव हो सकता है । इसके अतिरिक्त भट्टनायक ने सामाजिक के चित्त मे रति आदि भाव की स्थिति का उल्लेख भी नही किया ।

पी० वी० काणे का विचार हे कि धनिक का रस-सम्बन्धी मत कुछ अशो मे भट्टनायक के मत के समान प्रतीत होता हे (H S P p 246) । वस्तुत यह समानता आपातत प्रतीत होती हे । एक तो धनिक ने भावकत्व व्यापार की अलग से कल्पना नही की, इतना अवश्य कहा हे 'काव्य हि भावकम्, भाव्या रसादय ।' किन्तु यहाँ तो काव्य तात्पय वृत्ति के द्वारा रस आदि का भावक होता है, भावकत्व नामक व्यापार के द्वारा नही । किञ्च, भट्टनायक का भावकत्व व्यापार तो साधारणी-करण के रूप मे हे (साधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण, का० प्र० वृत्ति ४ २८), दशरूपक मे ऐसा नही हे । इसके अतिरिक्त दोनो की रसानुभूति की प्रक्रिया मे भी अन्तर है, भट्टनायक के अनुसार तो भोजकत्व नामक व्यापार के द्वारा सत्त्व का उद्रेक होकर आनन्दमय अनुभूति होती है, कि तु धनिक के अनुसार काव्य के अथ के साथ सहृदय के चित्त की तन्मयता होने से आत्मानन्द की अनुभूति होती है । यह केवल शब्दो का भेद नही है, धारणा का भेद हे ।

(iv) **अभिनवगुप्त**—रस सूत्र के सवश्रेष्ठ व्याख्याकार अभिनवगुप्त हैं । उनकी व्याख्या ही यत्किञ्चित् परिवर्तन के साथ परवर्ती आचार्यो द्वारा स्वीकृत होती रही हे । तदनुसार स्थायी भाव का विभाव आदि के साथ व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव सम्बन्ध होने से रस की अभिव्यक्ति होती है । यह मत रसाभिव्यक्ति या रसव्यक्तिवाद कहलाता है और शैवागम पर आधारित माना जाता है । इसके अनु-सार रस सहृदय के चित्त मे अभिव्यक्त हुआ करता हैं । रस-प्रक्रिया तथा रस-स्वरूप इस प्रकार हे—सहृदयो के चित्त मे रति आदि स्थायी भाव वासना रूप मे विद्य-मान होते है । सहृदय जन लोक मे भी ललना आदि कारणो के द्वारा रति आदि भाव का अनुमान करने मे निपुण हुआ करते है । वे समझते है कि जहाँ प्रमदा इत्यादि कारण, कार्य तथा सहकारी होते है वहाँ लोक मे रति आदि भाव का उद्-भव देखा जाता है । फिर वे काव्य पढते है, सुनते है या नाटक देखते है तो वहाँ प्रमदा आदि का विभाव आदि के रूप मे अनुभव करते है [अर्थात् काव्य नाट्य मे प्रमदा आदि रति आदि भाव के कारण के रूप मे नही होते अपितु अपने विभावन

(=रति आदि मे आस्वादयोग्यता का आविर्भाव करना) आदि व्यापार के कारण अलौकिक विभाव आदि का रूप धारण कर लिया करते है।] काव्य नाट्य मे ये विभाव आदि साधारणीकृत रूप मे भासित होते है। अथवा कहिये कि 'ये मेरे ही है, शत्रु के हैं तटस्थ के हैं या 'ये मेरे नही है, शत्रु के नही है तटस्थ के नही है'—इन प्रतीतियो से विलक्षण प्रतीति उन विभाव आदि के विषय मे हुआ करती हे, यही इनका साधारणीकरण कहलाता हे। साधारणीकृत विभाव आदि के द्वारा सहृदयो के चित्त मे स्थित रति आदि स्थायी भाव अभिव्यक्त हो जाता है। इस अवस्था मे सहृदय सामाजिक का परिमित प्रमातृभाव भी नही रहता वह अपरिमित हो जाता है तथा रति आदि भाव की सामान्य रूप से प्रतीति हुआ करती है। समस्त सहृदय जन समान रूप से उसका आस्वादन किया करते है। यह आस्वादन ब्रह्मानन्द के समान किसी विलक्षण आनन्द का अनुभव मात्र है, यही रस है। यह रस स्थायी भाव से विलक्षण है (स्थायिविलक्षण एव रस) आस्वादन का विषय है या कहिये आस्वादन रूप ही है—तेन विभावादिसयोगाद् रसना यतो निष्पद्यतेऽतस्तथाविधरसनागोचरो लोकोत्तरोऽर्थो रस इति तात्पर्यं सूत्रस्य (अभि० भा० पृ० २८६)। यह रस न कार्य है, न ज्ञाप्य, अपितु विभाव आदि के द्वारा व्यङ्ग्य है। यही मुख्य रूप से काव्य की आत्मा है। राजशेखर, मम्मट, रुय्यक, शौद्धोदनि तथा विश्वनाथ कविराज इत्यादि ने भी प्राय इसी प्रकार का रस सिद्धान्त स्वीकार किया है।

जैसा कि ऊपर कहा गया हे, अभिनवगुप्त का मन्तव्य धनञ्जय एव धनिक के सामन नही था। उन्होने ध्वनिकार के व्यङ्ग्यव्यञ्जक-भाव का ही विरोध किया है।

(६) दशरूपक का रस-विषयक मन्तव्य

दशरूपक का रस सम्बन्धी मत सक्षेप मे इस प्रकार है—रस की अनुभूति रसिक को ही होती है। रसिक के चित्त मे रति आदि भाव पहले से ही विद्यमान होते है। जब काव्य के द्वारा विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव और व्यभिचारी भावो की उपस्थिति कराई जाती है तो उनके द्वारा रसिक के चित्त मे स्थित रति आदि भाव पुष्ट (=आस्वादन योग्य) हो जाता है। यही आस्वाद्यमान रति आदि भाव रस है जो विशेष प्रकार की आत्मानन्द की अनुभूति ही है। किन्तु प्रश्न यह है कि काव्य-नाट्य से रस की अनुभूति कैसे होती है।

काव्य के शब्दो के वाच्य जो नायक आदि है उनका शब्दो के द्वारा सामान्य रूप उपस्थित होता है, अर्थात् वे राम तथा सीता आदि के रूप मे नही प्रतीत होते अपितु सामान्यत किसी उदात्त नायक या नायिका आदि के रूप मे प्रतीत हुआ करते है। शब्दो द्वारा उपस्थित किया गया उनका वह रूप रसिको के चित्त मे साक्षात् सा भासित होने लगता है। इस प्रकार काव्य के अतिशयोक्ति रूप व्यापार द्वारा विशिष्ट रूप मे होकर लौकिक प्रमदा आदि काव्य नाट्य मे विभाव आदि

कहलाने लगते है। वस्तुत काव्य द्वारा रसिको की बुद्धि मे उपस्थित होने वाला प्रमदा आदि का रूप ही आलम्बन विभाव आदि हुआ करता है, बाह्य सीता आदि की आलम्बन आदि के रूप मे अपेक्षा नही होती (४ २ अवलोक)। रसिक जन यह जानते है कि ये विशेष प्रकार के भाव तथा चेष्टाएँ रति आदि भाव के बिना नही हुआ करते । इसीलिए विभाव आदि के बोध से लक्षरगा द्वारा रति आदि स्थायी भाव की प्रतीति हो जाया करती है, रति आदि भाव व्यञ्जना का विषय नही है। जिस प्रकार वाक्य मे पदार्थों का बोध होने के पश्चात् शब्द द्वारा उक्त या प्रकरण आदि द्वारा जानी गई क्रिया कारको से अन्वित होकर वाक्य का अर्थ होती है, उसी प्रकार काव्य के शब्दो द्वारा बोधित विभाव आदि से अन्वित (ससृष्ट) शब्द द्वारा उक्त या लक्षरगागम्य रति आदि स्थायी भाव काव्य का अर्थ ही है, जो तात्पर्य वृत्ति द्वारा जाना जाता है। विभाव आदि से ससृष्ट स्थायी भाव के साथ सहृदय के चित्त की तन्मयता (=सभेद) हो जाती है और सहृदयो को विशेष प्रकार के आत्मानन्द का आस्वादन होता है। यही आस्वादन रस है (स्वाद काव्यार्थसम्भेदा-दात्मानन्दसमुद्भव ४४३)। काव्य रस का भावक होता है या कहिये कि काव्य के वाच्याथ विभाव आदि भावक होत है और रस आदि भाव्य होते है। अत रस आदि तथा काव्य मे भाव्य-भावक सम्बन्ध है।

धनिक के रस-सम्बन्धी मन्तव्य मे रति आदि भाव की सामाजिक के चित्त मे पहिले से विद्यमानता, लौकिक कारण आदि का काव्य के द्वारा विभाव आदि के रूप मे हो जाना तथा काव्यार्थ=विभाव आदि से ससृष्ट रति आदि स्थायी भाव के साथ रसिक के चित्त की तन्मयता=स्वपर विभाग का लुप्त हो जाना इत्यादि तथ्य अभिनवगुप्त के मत से अधिकाश मे समानता रखते है । सम्भवतः इसीलिए कीथ जैसे विद्वानो का विचार है कि "अभिनवगुप्त के द्वारा प्रतिपादित रस-सिद्धान्त दशरूपक का भी सिद्धान्त है, यद्यपि वहाँ पर प्रतिपादन की सक्षिप्तता के कारण वह अधिक दुरूह हो गया है"। (सस्कृत नाटक, पृ० ३४२)। वस्तुत दशरूपक का रस विषयक मन्तव्य साहित्य जगत् मे प्रसिद्ध अन्य सभी रस सम्बन्धी मन्तव्यो से पृथक् है । जैसा कि अभी ऊपर दिखलाया गया है, भट्ट लोल्लट, शङ्कुक तथा भट्टनायक के मत के साथ भी इसकी आशिक रूप से समानता दृष्टिगोचर होती है, फिर भी पूर्ण रूप मे यह उनसे भिन्न ही है। उन तीनो के मिश्रित मन्तव्यो की अपेक्षा भी दशरूपक का रसविषयक मन्तव्य भिन्न ही है। अत यह नही कहा जा सकता कि दशरूपक का रससम्बन्धी मत भट्टलोल्लट, शङ्कुक तथा भट्टनायक के मतो का समिश्रण मात्र है। अभिनवगुप्त तथा दशरूपक के रस सम्बन्धी मन्तव्यो मे भी मौलिक भेद है। दशरूपक के अनुसार रस आदि तथा काव्य मे जो भाव्य-भावक सम्बन्ध है, वह अभिनवगुप्त के अभिमत अभिव्यक्तिवाद (=व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव) से नितान्त भिन्न है। अभिनवगुप्त का अभिमत साधारणीकरण एव प्रमाता का अपरिमित भाव इत्यादि भी दशरूपक के

रस-सम्बन्धी मन्तव्य मे परिलक्षित नही होते। मीमासा के आधार पर परिकल्पित दशरूपक के रस-सिद्धान्त मे शैवागम की भित्ति पर स्थापित अभिनवगुप्त के रस सिद्धान्त के साथ केवल ऊपरी समानता ही है। दशरूपक के रस-सम्बन्धी मन्तव्य का अपना एक विशिष्ट रूप ही है।

५ सस्कृत साहित्यशास्त्र विशेषकर नाट्यशास्त्र को दशरूपक की देन

दशरूपक का लक्ष्य है रूपक के मुख्य तत्त्व-वस्तु, नायक और रस का विवेचन तथा रूपक के दस भेदो का निरूपण। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिये विशेष रूप से भरत के नाट्यशास्त्र का आश्रय लिया गया है। साथ ही उस समय उपलब्ध नाट्य-विद्या के अन्य ग्रन्थो से भी सहायता ली गई है। सम्भवत कोहल इत्यादि के मन्तव्य का भी इस पर प्रभाव पडा है इसके अतिरिक्त भामह उद्भट आनन्दवद्धन, रुद्रट आदि के साहित्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थो का भी स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। उस समय उपलब्ध रूपको तथा काव्यो से यथावसर उदाहरण प्रस्तुत किय गये हैं तथा नाट्य सम्बन्धी विषयो के स्पष्टीकरण मे भी उनसे सहायता ली गई है जैसे दूती के गुणो का निरूपण करते हुए मालतीमाधव को उद्धृत किया गया है (२ २६ वृत्ति)। यहाँ पूववर्ती आचार्यो के मन्तव्यो का बुद्धिपूर्वक स्वीकरण अथवा आवश्यकतानुसार युक्तिपूर्वक निराकरण किया गया है साथ ही नवीन मन्तव्यो की उद्भावना भी की गई है। सक्षेप मे दशरूपक की विशिष्ट देन इस प्रकार है—

(1) नाट्य-सम्बन्धी सामग्री का नवीन ढग से विश्लेषण करना।

(11) मुख्य रूप से परमानन्द रूप रसास्वादन ही रूपको का प्रयोजन है, यह स्थापना करना (१ ६)। (111) नृत्य तथा नृत से भेद दिखलाते हुए नाट्य का लक्षण (1v) रूपक के भेदक तत्त्वो का निर्देश। (V) विविध दृष्टियो (योजना, वर्णन, नाट्योक्ति) से वस्तु-विभाजन। (VI) नायक नायिका और उनके सहायको का सरल सुबोध वर्णन। (VIII) भारती आदि वृत्तियो तथा देश-भेद से भिन्न-भिन्न भाषा आदि की प्रवृत्तियो का सक्षिप्त निरूपण (V111) उद्भट के अनुयायियो के मत का निराकरण करते हुए यह स्थापना करना कि कैशिकी, सात्त्वती तथा आरभटी अर्थवृत्तियाँ है, इनसे भिन्न कोई अर्थवृत्ति नही है (२ ६०–६१)। (XI) रस-प्रक्रिया विषयक मौलिक मत की उद्भावना, रस आदि और काव्य मे व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव सम्बन्ध है, ध्वनिवादियो के इस मत का निराकरण करते हुए भाव्य-भावक सम्बन्ध दिखलाना। (X) नाट्य मे शान्त रस का निषेध (४.३५,—४५)। (XI) रसास्वादन के क्रम मे मानसिक प्रक्रिया के यथार्थ स्वरूप के निरूपण का प्रयास, "उसके आधार पर रसो के भेद बतलाये गये हैं। शृङ्गार, वीर, बीभत्स और रौद्र—ये चार रस मूल रस माने गये हैं। इन चारो का सम्बन्ध चार

चित्तभूमियो से है—विकास, विस्तर, क्षोभ और विक्षेप। स्पष्ट है कि इन चित्त-भूमियो तक अन्तर्दर्शन के द्वारा पहुँचा जा सकता है। इनकी यह विशेषता नाट्य-शास्त्र मे वर्णित चार मुख्य (मूल) और चार गौण रसो के सिद्धान्त का अर्ध-मनोवैज्ञानिक तार्किक आधार प्रस्तुत करती है।' (कीथ, सस्कृत नाटक, पृ० ३४३) (XII) रस दस होते है, या इनसे भी अधिक हो सकते है इत्यादि रुद्रट (काव्यालङ्कार १२ ३-४) के मत का निराकरण करके 'अष्टौ नाट्ये रसा स्मृता' की स्थापना (दश० ४ ३५,३६), (XIII) प्रीति, भक्ति आदि अन्य भाव तथा रसो का हर्ष उत्साह आदि मे अन्तर्भाव दिखलाना (४ ८३)।(XIV) नाट्यालङ्कार तथा नाट्य-लक्षणो का उपमा आदि अलङ्कारो तथा हृष उत्साह आदि भावो मे अन्तर्भाव मानना (४ ८८) जब कि भरतमुनि ने इनका पृथक्श, निरूपण किया था और धनञ्जय के परवर्ती विश्वनाथ इत्यादि ने भी पृथक् निरूपण किया है। इससे यह प्रतीत होता है कि दशरूपक की प्रवृत्ति सरलता और सुबोधता की ओर रही है। (XV) नाटक अदि के लक्षणो मे भी दशरूपक की अपनी विशेषताएँ है। (जिनका यथावसर निर्देश किया गया है) उदाहरणार्थ 'प्रकरण का नायक धीर प्रशान्त ही होता है, यह स्थापना, ना०द० (३ ११७) मे इसका, विरोध किया गया है। (XVI) प्रसङ्गवश रूपको के किसी तत्त्व की समीक्षा, जैसे नागानन्द मे शान्त रस नही अपितु दयावीर है उसका नायक जीमूतवाहन धीर प्रशान्त नही अपितु धीरोदात्त है तथा परोपकार मे प्रवृत्ति भी विजिगीषा कही जा सकती है (२ ४ ५ तथा ४ ३५)। (XVII) नामोल्लेख करके रूपको तथा काव्यो के उदाहरण प्रस्तुत करना, जैसा कि कम आचार्यों ने किया हैं। इससे अनेक कवियो तथा ग्रन्थो के समय-निर्धारण मे सहायता मिलती है। इसी प्रकार दशरूपक की अन्य देन भी खोजी जा सकती है।

कतिपय परवर्ती आचार्यो ने यत्र तत्र दशरूपक के मन्तव्यो की आलोचना अवश्य की है। किन्तु उनके ग्रन्थो के परिशीलन से विदित होता है कि वे किसी न किसी अश मे दशरूपक के ऋणी हे। जैसा कि ऊपर दिखलाया जा चुका है, भावप्रकाशन मे दशरूपक का पर्याप्त आधार लिया गया है, नाट्यदर्पण भी किसी रूप मे दशरूपक से प्रभावित हे, यद्यपि प्रतिद्वन्द्विता की भावना के कारण यहाँ धनञ्जय के लिये कठोर शब्दो का प्रयोग कर दिया गया है (द्र० ऊपर)। प्रतापरुद्र यशोभूषण मे दशरूपक का बहुत प्रभाव परिलक्षित होता है तथा साहित्यदर्पण मे भी। भानुदत्त की रसतरङ्गिणी भी दशरूपक की ऋणी प्रतीत होती है। सम्भवत वहाँ लौकिक रस और अलौकिक रस का भेद दशरूपक के आधार पर किया गया है। इस प्रकार परवर्ती आचार्यों ने जाने, अनजाने मे दशरूपक का महत्त्व स्वीकार करके अपनी गुणग्राहिता का परिचय दिया है। धनञ्जय एव धनिक की यह कृति अत्यन्त महत्त्व पूर्ण है। उनका दशरूपक नाट्यशास्त्र का अपूर्व ग्रन्थ है।

—०—

अथ

श्रीधनञ्जयविरचित

दशरूपकम्

धनिककृतावलोकसहित हिन्दीव्याख्योपेत च



प्रथमः प्रकाशः

इह सदाचार प्रमाणयद्भिरविघ्नेन प्रकरणस्य समाप्त्यर्थमिष्टयो प्रकृताभिमत-देवतयोर्नमस्कार क्रियते श्लोकद्वयेन—

(१) नमस्तस्मै गणेशाय यत्कण्ठ पुष्करायते ।
मदाभोगघनध्वानो नीलकण्ठस्य ताण्डवे ॥१॥

यस्य कण्ठ पुष्कारयते = मृदङ्गवदाचरति, मदाभोगेन घनध्वान = निबिड-ध्वनि, नीलकण्ठस्य = शिवस्य, ताण्डवे = उद्धते नृत्ते, तस्मै गणेशाय नम । अत्र खण्डश्लेषाक्षिप्यमाणोपमाच्छायालङ्कार –नीलकण्ठस्य = मयूरस्य ताण्डवे यथा मेघध्वनिः पुष्करायत इति प्रतीते ।

आचार्य धनञ्जय का दशरूपक नाट्य (रूपक) की विवेचना का एक प्रामाणिक ग्रन्थ है । इसमे रूपक के विविध अङ्गो का सक्षिप्त किन्तु विशद विवेचन है । प्रतिपाद्य विषय का चार प्रकाशो मे विभाजन किया गया है । प्रथम प्रकाश मे मङ्गल से आरम्भ करके ग्रन्थ का प्रयोजन, रूपक का लक्षण तथा रूपको के भेदक तत्त्वो (वस्तु, नेता तथा रस) का निरूपण करते हुए 'वस्तु' तत्त्व का वर्णन किया जा रहा है ।

मङ्गलाचरण

शिष्टो के आचार को प्रमाण मानते हुए इस प्रकरण ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिये (धनञ्जय ने) दो श्लोको द्वारा अभीष्ट = प्रकृत और अभिमत (दो) देवताओ को नमस्कार किया है—

जिन गणेश जी का मद की परिपूर्णता (आभोग) से गम्भीर ध्वनि वाला कण्ठ, नीलकण्ठ (शिव) के ताण्डव (नृत्य) मे मृदङ्ग का काम करता है, उन गणेश जी को नमस्कार है ॥१॥ (अनुष्टुभ् वृत्त)

जिन (गणेश) का कण्ठ मृदङ्ग (= पुष्कर) के समान कार्य करता है (पुष्करायते = पुष्कर इव आचरति), क्योकि वह मद के आभोग (परिपूर्णता, वृद्धि) से गम्भीर (= घन) ध्वनि वाला है, कहाँ ? नीलकण्ठ अर्थात् शिव के ताण्डव (= उद्धत) नृत्य मे, उन गणेश जी के लिये नमस्कार है । यहाँ खण्डश्लेष के द्वारा उपमा अलङ्कार की छाया प्रकट हो रही है, क्योकि नीलकण्ठ अर्थात् नीले कण्ठ वाले मयूर के ताण्डव मे जैसे मेघ की ध्वनि मृदङ्ग का काम करती है (उसी प्रकार शिव)

(२) दशरूपानुकारेण यस्य माद्यन्ति भावका ।
नम सर्वविदे तस्मै विष्णवे भरताय च ।।२।।

के ताण्डव नृत्य मे गणेश की कण्ठध्वनि मृदङ्ग का काम करती है)—यह प्रतीति हो रही है।

टिप्पणी (१) मङ्गलाचरण करने मे शिष्टाचार ही मुख्य प्रमाण है। शिष्ट जन ग्रन्थ के आरम्भ मे मङ्गलाचरण किया करते है। उनके आचरण को प्रमाण मानते हुए ग्रन्थकार (धनञ्जय) भी यहाँ मङ्गलाचरण कर रहे है। मङ्गलाचरण का फल है–ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति (विशेष द्र०, न्यायमुक्तावली, मङ्गलश्लोक दिनकरी तथा रामरुद्री टीका)। (२) **प्रकरण**—दशरूपक एक प्रकरण ग्रन्थ है। जिस रचना मे किसी शास्त्र के एक अश का व्यवस्थित, सक्षिप्त किन्तु विशद विवेचन होता है, वह प्रकरण ग्रन्थ कहलाता है। दशरूपक मे साहित्य शास्त्र या कहिये कि नाट्यशास्त्र के एक अश दशरूपको का सक्षिप्त तथा विशद विवेचन है। (३) **प्रकृताभिमनदेवतयो** —इष्ट देवता को नमस्कार करना ही मङ्गलाचरण का स्वरूप है। यहाँ इष्ट देवता दो प्रकार के है—(क) प्रसङ्ग के अनुकूल=प्रकृत=प्रकरण प्राप्त (ख) अभिमत पूजनीय। प्रथम तथा द्वितीय श्लोक मे अभिमत देव गणेश तथा विष्णु को साक्षात् रूप से नमस्कार किया गया है किन्तु साथ ही दो प्रकृत देवो—नाट्य मे नृत्त (एव नृत्य) के प्रवर्तक शिव को तथा प्रयोग के प्रवतक भरत—को भी नमस्कार किया जा रहा है। (४ **खण्डश्लेष**—श्लेष दो प्रकार का है अखण्ड और सखण्ड (या खण्डलेष)। जहाँ किसी पद के खण्ड मात्र मे श्लेष होता है वहाँ खण्डश्लेष कहलाता है यहाँ पर 'मदाभोगघनध्वान' इस पद के 'घनध्वान' इस खण्ड मे ही श्लेष है अत खण्डश्लेष है। (५) **उपमाच्छाया**—जहाँ उपमा शब्दो द्वारा कही जाती है वहाँ उपमा वाच्य या अभिधेय होती है तथा स्पष्ट होती है। किन्तु जहाँ उपमा केवल तात्पर्य (तात्पर्यवृत्ति) द्वारा जानी जाती है वहाँ उपमाच्छाया (=अस्पष्ट उपमा या तात्पर्य से प्रतीत होने वाली उपमा) कहलाती है। इसी प्रकार अन्य अलङ्कारो के विषय मे भी कहा जा सकता है। यहाँ उपमाच्छाया का अर्थ उपमा-व्यञ्जना या उपमाध्वनि नही है क्योकि धनञ्जय एव धनिक व्यञ्जना वृत्ति को स्वीकार नही करते (द्र०, आगे ४ ३७)।

उन सर्वविद् (१. सर्वज्ञ तथा २ नाट्य-विद्या के पूर्ण ज्ञाता) विष्णु तथा आचार्य भरत को नमस्कार है जिनके दशरूपो (१ दस अवतारो, २. नाटक आदि दशरूपको) के अनुकार (१ ध्यान, २ अभिनय) के द्वारा भावक जन (१. ध्यान करने वाले, २. रसिक) प्रसन्न हो जाते है (माद्यन्ति) ।।२।। (अनुष्टुभ्छन्द)

एकत्र मत्स्यकूर्मादिप्रतिमानामुद्देशेन, अन्यत्रानुकृतिरूपनाटकादिना यस्य भावका =ध्यातारो रसिकाश्च, माद्यन्ति =हृष्यन्ति, तस्मै विष्णवेऽभिमताय प्रकृताय भरताय च नम ।

श्रोतु प्रवृत्तिनिमित्त प्रदर्श्यते—

(३) कस्यचिदेव कदाचिद्दयया विषय सरस्वती विदुष ।
घटयति कमपि तमन्यो व्रजति जनो येन वैदग्धीम् ॥३॥

त कञ्चिद्विषय =प्रकरणादिरूप कदाचिदेव कस्यचिदेव कवे सरस्वती योजयति येन =प्रकरणादिना विषयेणान्यो जनो विदग्धो भवति ।

एक (विष्णु) पक्ष मे (दशरूपानुकारेण का अर्थ है,—मत्स्य, कूर्म आदि रूपो (प्रतिमा) को लक्ष्य करके, दूसरे (भरत) पक्ष मे अनुकृति रूप जो नाटक आदि रूपक है उनके द्वारा। जिसके भावक =(१) (विष्णु-पक्ष मे) ध्यान करने वाले, (२) (भरत-पक्ष मे) रसिक जन। माद्यन्ति =हर्षित हो जाते हैं। उन विष्णु के लिये जो अभिमत देव है तथा भरत के लिये जो प्रकृत (प्रकरण के अनुकूल) हैं—नमस्कार है।

टिप्पणी=(१) यहाँ श्लिष्ट विशेषणो द्वारा नाट्य शास्त्र के प्रवर्तक भरत मुनि की स्तुति की गई है, 'दशरूपानुकारेण' तथा 'भावक' दोनो पदो मे श्लेष है (द्र० अनुवाद)। (२) विष्णु शब्द के प्रयोग द्वारा यहाँ ग्रन्थकार धनञ्जय ने अपने पिता को भी नमस्कार किया है। (द्र० भूमिका)।

प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रयोजन

किसी रचना के दो प्रकार के प्रयोजन होते हैं—१ पाठको की दृष्टि से और २ लेखक की दृष्टि से। दोनो का क्रमश निरूपण किया जा रहा है।

श्रोता (पाठक) की (इस ग्रन्थ मे) प्रवृत्ति का प्रयोजन दिखलाया है—

सरस्वती कृपा करके कभी किसी विद्वान् को किसी ऐसे विषय से घटित कर देती है, जिससे अन्य जन भी पाण्डित्य को प्राप्त हो जाते है। ॥३॥ (आर्यावृत्त)

अर्थात् उस किसी विषय को=प्रकरण आदि के विषय को, कभी ही किसी प्रतिभाशाली जन के लिये (कवे) सरस्वती घटित करती है, जिस प्रकरण आदि से अन्य जन विद्वान् हो जाते है।

ग्रन्थकार (इस ग्रन्थ की रचना मे) अपने प्रवृत्त होने का प्रयोजन दिखलाते है—

स्वप्रवृत्तिविषय दर्शयति —

(४) उद्धृत्योद्धृत्य सार यमखिलनिगमान्नाट्यवेद विरिञ्चि-
श्चक्रे यस्य प्रयोग मुनिरपि भरतस्ताण्डव नीलकण्ठ ।
शर्वाणी लास्यमस्य प्रतिपदमपर लक्ष्म क कर्तुमीष्टे
नाट्याना किन्तु किञ्चित्प्रगुणरचनया लक्षण सक्षिपामि ॥४॥

य नाट्यवेद वेदेभ्य सारमादाय ब्रह्मा कृतवान्, यत्सबद्धमभिनय भरतश्चकार करणाङ्गहारानकरोत्, हरस्ताण्डवमुद्धत नृत्त कृतवान्*, लास्य सुकुमार नृत्त पार्वती कृतवती, तस्य सामस्त्येन लक्षण कर्तुं क शक्त तदेकदेशस्य तु दशरूपस्य सक्षेप क्रियत इत्यर्थ ।

ब्रह्मा ने समस्त वेदो का सार निकाल निकाल कर जिस नाट्यवेद की रचना की, मुनि होकर भी भरत ने जिसका प्रयोग (अभिनय) किया, शिव (नीलकण्ठ) ने जिसका ताण्डव तथा पार्वती ने जिसका लास्य किया, उस (नाट्यवेद) का प्रतिपद (प्रत्येक अङ्ग का) लक्षण कौन कर सकता है तथापि किसी प्रकृष्ट गुण वाली अथवा सरल (प्रगुण) रचना के द्वारा मै नाट्य के कुछ लक्षणो को सक्षेप मे प्रस्तुत कर रहा हू ॥४॥ (स्रग्धरा)

जिस = नाट्य वेद को, वेदो से सार लेकर ब्रह्मा ने रचा, जिसका अभिनय = करण तथा अङ्गहार भरत ने किया, शिव ने ताण्डव = उद्धत नृत्त और पार्वती ने लास्य = सुकुमार नृत्त किया उसका पूर्णरूप से (= सामस्त्येन = प्रतिपदम्। लक्षण कौन कर सकता हे ? किन्तु यहां उस (नाट्यवेद) के एक भाग दशरूपक का सक्षेप (मे निरूपण) किया जा रहा है ।

टिप्पणी—(१) यहाँ नाट्यवेद की रचना के विषय मे प्रचलित भारतीय परम्परा की ओर सकेत किया गया है। भरत के नाट्य शास्त्र के प्रथम अध्याय मे नाट्य की उत्पत्ति तथा अभिनय आदि के प्रवर्तन यज्ञ की कहानी कही गई है। (द्र० भू० पृ० १) (२) **करण और अङ्गहार**—हाथ-पैर इत्यादि का व्यवस्थित करने का क्रम ही करण कहलाता है—हस्तपादसमायोगो नृत्यस्य करण भवेत्, (भरत)। कलात्मक ढग से अङ्गो का विक्षेप ही अङ्गहार है—अङ्गहारोऽङ्गविक्षेप (भरत)।

[शङ्का हो सकती है कि जब इसी विषय का नाट्यवेद मे विस्तृत वर्णन किया जा चुका है तो इस ग्रन्थ की रचना पिष्टपेषण (पुनरुक्ति) मात्र है]। अत विषय की एकता के कारण होने वाली पुनरुक्ति का परिहार करते है —

---

* 'नृत्त कृतवान्' क्वचिन्नास्ति

विषयैक्यप्रसक्त पौनरुक्त्य परिहरति—

(५) व्याकीर्णे मन्दबुद्धीना जायते मतिविभ्रम ।
तस्यार्थस्तत्पदैस्तन सक्षिप्य क्रियतेऽञ्जसा ॥५॥

व्याकीर्णे=विक्षिप्ते विस्तीर्णे च रसशास्त्रे मन्दबुद्धीना पुसा मतिमोहो भवति, तेन तस्य नाट्यवेदस्याथस्तत्पदैरेव सक्षिप्य ऋजुवृत्त्या क्रियत इति ।

इद प्रकरण दशरूपज्ञानफलम् । दशरूप कि फलमित्याह—

(६) आनन्दनिस्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्र फलमल्पबुद्धि ।
योऽपीतिहासादिवदाह साधुस्तस्मै नम स्वादुपराङ्मुखाय ॥७॥

तत्र केचित्—

'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्य कलासु च ।
करोति कीर्त्ति प्रीतिं च साधुका यनिषेवणम् ।'

इत्यादिना त्रिवर्गादिव्युत्पत्ति काव्यफलत्वेनेच्छन्ति तन्निरासेन स्वसवेद्य परमानन्दरूपो रसास्वादो दशरूपाणा फल न पुनरितिहासादिवत् त्रिवर्गादिव्युत्पत्तिमात्रमिति दर्शितम् । नम इति सोल्लुण्ठम् ।

विस्तृत ग्रन्थ मे मन्दबुद्धि वाले जनो को बुद्धि-भ्रम (Confusion) हो जाता है इसलिये उस (नाट्यवेद) का विषय (अर्थ) यहाँ सक्षिप्त करके उसी के शब्द द्वारा सरल रीति से (निरूपित) किया जा रहा है ॥५॥ (अनुष्टुभ्)

व्याकीर्ण=**बिखरे हुए तथा विस्तृत रसशास्त्र (नाट्यवेद) मे, मन्दबुद्धि वाले जनो का मतिमोह हो जाता है इसलिये उस नाटयवेद का अर्थ नाट्यवेद के शब्दो के ही द्वारा सक्षिप्त करके सरल रीति से (अञ्जसा=ऋजुवृत्त्या) प्रतिपादित किया जा रहा है ।**

इस प्रकार इस प्रकरण ग्रन्थ का प्रयोजन है—दशरूपको का ज्ञान । दशरूपकों का क्या प्रयोजन होता है, यह बतलाते हे—

जो अल्पबुद्धि वाला आनन्द को प्रवाहित करने वाले रूपको का फल भी इतिहास आदि के समान केवल व्युत्पत्ति (धर्म आदि का ज्ञान) को ही बतलाता है उस रसास्वाद से विमुख जन को नमस्कार है ॥६॥ (इन्द्रवज्रा)

"सत् काव्य का सेवन (रचना तथा अनुशीलन) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष (के विषय) का ज्ञान तथा कलाओ मे प्रवीणता, (कवि की) कीर्ति एव (पाठक के हृदय मे) प्रीति को उत्पन्न करता है" इस प्रकार कहते हुए कुछ आचार्यो (भामह काव्यालङ्कार १ २) ने त्रिवर्ग (धर्म, अथ, काम) आदि के ज्ञान को ही काव्य का प्रयोजन माना है । उसका निराकरण करके (धनञ्जय ने) यह दिखलाया है कि (सहृदयो की) अपनी अनुभूति का विषय स्वसवेद्य जो परम आनन्द रूप रसास्वादन है वह दशरूपकों का प्रयोजन है, इतिहास आदि के समान त्रिवग आदि का ज्ञान ही इनका प्रयोजन नहीं है । "रसास्वाद से विमुख जन को नमस्कार है" यह कथन उपालम्भ के लिये है ।

'नाट्याना लक्षण सक्षिपामि' इत्युक्तम्, कि पुनस्तन्नाट्यमित्याह—

(७) अवस्थानुकृतिर्नाट्य—

काव्योपनिबद्धधीरोदात्ताद्यवस्थानुकारश्चतुर्विधाभिनयेन तादात्म्यापत्तिर्नाट्यम् ।

टिप्पणी—(१) प्राचीन काल से ही आचार्यो ने काव्य तथा रूपको के प्रयोजन पर विचार किया है। इस विषय मे आचार्यों के विविध दृष्टिकोण है। यहाँ भामह (१ २) के मत का निराकरण किया गया है। धनञ्जय के मत मे रूपको का मुख्य प्रयोजन है—परम आनन्द की अनुभूति कराना, किन्तु त्रिवग आदि का ज्ञान कराना भी रूपको का गौण प्रयोजन हे ही। 'व्युत्पत्तिमात्रम्' मे प्रयुक्त 'मात्र' पद से यह तथ्य स्पष्ट प्रकट हो रहा है। दूसरी ओर भामह के अनुसार धर्म आदि का ज्ञान कराना काव्य या रूपक का मुख्य प्रयोजन हे। साथ ही 'प्रीति' भी काव्य का प्रयोजन है ही। यदि प्रीति का अभिप्राय 'आनन्द' लिया जाता है तो भामह के अनुसार आनन्दानुभूति भी काव्य का प्रयोजन होगा। चाहे वह गौण ही क्यो न हो। तब तो धनञ्जय ने भामह को स्वादुपराड्मुख कहते हुए जो उन पर आक्षेप किया है इसका तात्पर्य यही है कि धनञ्जय के अनुसार परम आनन्द की प्राप्ति ही काव्य का मुख्य प्रयोजन है। (२) इस प्रकार ग्रन्थकार ने अनुबन्धचतुष्टय का सक्षेप मे निरूपण किया है। अनुबन्धचतुष्टय है– विषय, अधिकारी, सम्बन्ध और प्रयोजन। इस ग्रन्थ का विषय दशरूपक है। दशरूपको के ज्ञान का इच्छुक जन इसका अधिकारी है। विषय और प्रकरण ग्रन्थ का प्रतिपाद्य-प्रतिपादक—भाव सम्बन्ध है, अर्थात् दस प्रकार के रूपक प्रतिपाद्य है और ग्रन्थ उनका प्रतिपादक। इस ग्रन्थ की रचना का प्रयोजन है —रूपको का स्पष्ट तथा सक्षिप्त विवेचन, जिससे मन्दबुद्धि वाले जन भी दशरूपक का ज्ञान कर सके। पाठक की दृष्टि से इस ग्रन्थ का प्रयोजन है—दशरूपक का ज्ञान। किन्तु इस ज्ञान का भी कुछ फल होना चाहिये ? क्योकि दशरूपको से परमानन्द की प्राप्ति होती है इसलिये दशरूपको का ज्ञान भी सप्रयोजन ही है। इस प्रकार परम आनन्द की अनुभूति ग्रन्थ के प्रयोजन का प्रयोजन है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रति श्रोता को आकृष्ट करने के लिये ही यह विवेचन किया गया है।

नाट्य या रूपक का स्वरूप

'नाट्य के लक्षणो को सक्षिप्त करता हू', यह कहा गया है, अब 'वह नाट्य क्या है ?' यह बतलाते है :—

अवस्था का अनुकरण नाट्य कहलाता है।

काव्य मे वर्णित (नायक की) धीरोदात्त आदि अवस्थाओ का अनुकरण, अर्थात् चार प्रकार के अभिनय द्वारा (अनुकार्य के साथ) एकरूपता प्राप्त कर लेना ही नाट्य है।

टिप्पणी—नाट्य (१)—नट का भाव या कर्म नाट्य कहलाता है। वह कर्म है—नायक की उदात्त आदि अवस्थाओ का अनुकरण अथवा अभिनय-कौशल के

(८) —रूप दृश्यतयोच्यते।

तदेव नाट्य दृश्यमानतया रूपमित्युच्यते, नीलादिरूपवत्।

(९) रूपक तत्समारोपात्—

नटे रामाद्यवस्थारोपेण वतमानत्वाद्रूपक मुखचन्द्रादिवत्, इत्येकस्मिन्नर्थे प्रवर्तमानस्य शब्दत्रयस्य 'इन्द्र पुरन्दर शक्र' इतिवत्प्रवृत्तिनिमित्तभेदो दर्शित ।

द्वारा नट का अनुकार्य (राम आदि) के साथ तादात्म्य (नटमे 'यह राम है' इस प्रकार की एकरूपता) प्राप्त करना। जो काव्य अभिनय के योग्य (अभिनेय) होता है वह भी नाट्य या रूपक कहलाता है। फलत अभिनेय काव्य=नाट्य=दृश्य=रूप =रूपक। (11) अभिनय चार प्रकार का होता है—आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक। भुजा आदि अङ्गो का अभिनय आङ्गिक है। वचन के द्वारा किया जाने वाला अभिनय वाचिक है, इसे पाठ्य भी कहते है। आहाय=आह्य, नाटय के योग्य अलङ्कार आदि धारण करना, वेश रचना आदि के द्वारा जो अभिनय किया जाता हे वह आहाय कहलाता है। दूसरे के सुख दुख की भावना से भावित अन्त करण को सत्त्व कहते हे। सत्त्व से निष्पन्न होने वाले भाव सात्त्विक कहे जाते है। उन स्तम्भ, स्वेद आदि सात्त्विक भावो के द्वारा किया गया अभिनय सात्त्विक कहलाता है।

दृश्य होने के कारण यह नाट्य रूप भी कहलाता है।

भाव यह है कि जिस प्रकार दृश्य (चाक्षुष ज्ञान का विषय) होने के कारण नील इत्यादि रूप कहलाते है उसी प्रकार दृश्य होने के कारण नाट्य भी 'रूप' कहलाता हे।

आरोप किया जाने के कारण वह (तत्) नाट्य रूपक कहलाता है।

जिस प्रकार मुख मे चन्द्रमा का आरोप किया जाने के कारण 'मुख चन्द्र' मे रूपक (अलङ्कार) कहलाता है, इसी प्रकार नट मे राम आदि की अवस्था (रूप) का आरोप होने के कारण नाट्य को भी 'रूपक' कहते है। इस प्रकार एक ही अर्थ (दृश्य) काव्य) मे प्रयुक्त होने वाले नाट्य, रूप और रूपक—इन तीनो शब्दो का 'इन्द्र पुरन्दर तथा शक्र आदि के समान प्रवृत्तिनिमित्त का भेद दिखलाया गया है।

टिप्पणी—(१) धनञ्जय के अनुसार 'रूप' शब्द की व्युत्पत्ति होगी–रूप्यते दृश्यत इति। नाट्यदपण के अनुसार—रूप्यन्ते अभिनीयन्त इति रूपाणि नाटकादीनि (पृ० १२)। (२) **रूपक**—रूपम् एव रूपकम् (रूप+कम्) या रूपयति इति अथवा आरोपयति इति (√रुह्+णिच्)। नट मे राम आदि (अनुकार्य) के रूप का आरोप करना ही रूपक शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त है। (३) **प्रवृत्तिनिमित्त**—जिस निमित्त से किसी अर्थ मे शब्द का प्रयोग किया जाता है वह शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त कहलाता है, जैसे गोत्व के कारण गायो मे गो शब्द का प्रयोग होता है अत. गोत्व गो शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त है। एक ही अर्थ (वस्तु) के लिये भिन्न-भिन्न निमित्तो से

(१०) - दशधैव रसाश्रयम् ॥८॥

रसानाश्रित्य वर्तमान दशप्रकारकम्, एवेत्यवधारण शुद्धाभिप्रायेण । नाटिकाया सकीर्णत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् ।

तानेव दशभेदानुद्दिशति—

(११) नाटक सप्रकरण भाण प्रहसन डिम ।
व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति ॥८॥

अनेक शब्दो का प्रयोग किया जाता हे । वहाँ उन शब्दो के अथ मे तो भेद नही होता किन्तु उन शब्दो के प्रयोग का निमित्त भिन्न-भिन्न हो सकता है । जैसे एक ही व्यक्ति परम ऐश्वयवान् होने के कारण इन्द्र तथा पुरो को विदीर्ण करने के कारण पुरन्दर कहलाता है । इसी प्रकार अभिनेय या दृश्य काव्य मे उदात्त आदि अवस्थाओ का अनुकरण किया जाता है अत वे नाटय कहलाते है, वे दृश्य है इसी से वे रूप कहलाते है और वहाँ नट मे राम आदि के रूप का आरोप किया जाता है इसीलिये वे रूपक कहलाते है । ये तीनो शब्द एकार्थवाचक हे किन्तु प्रवृत्तिनिमित्त का भेद है ।

नाट्य के प्रकार (भेद)

रस पर आश्रित होने वाला यह रूपक दस प्रकार का ही होता है ॥७॥

भाव यह है कि रूपक रसो पर आश्रित होते है, वे दस प्रकार के ही हैं (अधिक नहीं) । यहाँ शुद्ध रूपको की दृष्टि (अभिप्राय) से ही 'एव' (=ही) शब्द द्वारा अवधारण (रूपक दस प्रकार के ही है, इस प्रकार का नियम) किया गया है क्योकि सकीर्ण रूपक के रूप मे आगे नाटिका कही जायेगी ।

टिप्पणी—भाव यह है कि प्रथमत रूपक दो प्रकार के हो सकते है— १. शुद्ध २ सकीर्ण । धनञ्जय के अनुसार वस्तु, नेता और रस के आधार पर एक दूसरे से भिन्न स्वरूप वाले दस ही रूपक है । ये रूपक के शुद्ध भेद है । इनमे से दो या तीन के कतिपय लक्षणो का मिश्रण (सकीर्णता) जिस रूपक मे पाया जाता है वह रूपक का सङ्कीर्ण भेद है जैसे नाटिका एक सङ्कीर्ण रूपक है, यह आगे (३ ४३) बतलाया जायेगा । यह नाटिका भी रस पर आश्रित होती है तथापि यह रूपक का शुद्ध भेद नही है अपितु सङ्कीर्ण भेद है । इस प्रकार धनञ्जय का अभिप्राय यह है कि रस पर आश्रित होने वाले अभिनय रूपक कहलाते है । इन रूपको के दो प्रकार है— शुद्ध और सङ्कीर्ण । शुद्ध रूपक १० प्रकार के ही होते हैं । इनके अतिरिक्त सङ्कीर्ण रूपक (नाटिका) आदि भी होते है । उन सभी का विवेचन करना आवश्यक नहीं है ।

उन दस भेदों का निर्देश करते है —

१ नाटक, २ प्रकरण, ३. भाण, ४ प्रहसन, ५. डिम, ६ व्यायोग, ७ समवकार, ८. वीथी, ९. अङ्क और १० ईहामृग ।

ननु—

'डोम्बी श्रीगदित भाणो भाणीप्रस्थानरासका ।
काव्य च सप्त नृत्यस्य भेदा स्युस्तेऽपि भाणवत् ॥"

इति रूपकान्तराणामपि भावादवधारणानुपपत्तिरित्याशङ्कयाह—

(१२) अन्यद्भावाश्रय नृत्यम्—

रसाश्रयान्नाट्याद्भावाश्रय नृत्यमन्यदेव । तत्र भावाश्रयमिति विषयभेदान्नृत्यमिति नृतेर्गात्रविक्षेपार्थत्वेनाङ्गिकबाहुल्यात् तत्कारिषु च नर्तकव्यपदेशाल्लोकेऽपि च अत्र प्रेक्षणीयकम्' इति व्यवहारान्नाटकादेरन्यन्नृत्यम् । तद्भेदत्वाच्छ्रीगदितादेरवधारणोपपत्ति ।

नाटकादि च रसविषयम्, रसस्य च पदार्थीभूतविभावादिकसर्गात्मकवाक्यार्थहेतुकत्वाद्वाक्यार्थाभिनयात्मकत्व रसाश्रयमित्यनेन दर्शितम् । नाट्यमिति च 'नट अवस्पन्दने' इति नटे किञ्चिच्चलनार्थत्वात्सात्त्विकबाहुल्यम्, अत एव तत्कारिषु नटव्यपदेश । यथा च गात्रविक्षेपार्थत्वे समानेऽप्यनुकारात्मकत्वेन नृत्तादन्यन्नृत्य तथा

(शङ्का) डोम्बी, श्रीगदित, भाण, भाणी, प्रस्थान रासक और काव्य—ये नृत्य के सात भेद होते है । वे सभी भाण के समान है ।" इस प्रकार अन्य प्रकार के रूपक भी विद्यमान है अत 'दस प्रकार के ही रूपक हैं' इस प्रकार का, अवधारण (नियम) नहीं बन सकता ?

इस प्रकार की शङ्का उठाकर कहते है—

भाव पर आश्रित होने वाला नृत्य (नाट्य से) भिन्न ही होता है ।

नाट्य रस पर आश्रित है किन्तु नृत्य भाव पर आश्रित है अत नाट्य से नृत्य भिन्न ही होता है । यहाँ 'भावाश्रय' इस शब्द से विषय का भेद और 'नृत्य' इस शब्द से आङ्गिक अभिनय की प्रचुरता दिखलाई गई है, क्योकि (नृत्य शब्द) नृत् धातु से बना है) नृत् धातु का अर्थ है—गात्र-विक्षेप—अङ्गो का चलाना । साथ ही नृत्य करने वाले के लिये नर्तक शब्द का प्रयोग होता है और लोक मे भी 'यहाँ (नृत्य मे) दर्शनीय है'—यह व्यवहार होता है । अत नृत्य नाटक आदि रूपको से भिन्न ही है । क्योकि श्रीगदित आदि नृत्य के भेद है (तद्-भेदत्वात्) (नाट्य के नहीं इसलिये (दस ही रूपक है, यह) नियम ठीक बन जाता है ।

दूसरी ओर नाटक आदि (रूपक) रसपरक होते है । 'रसाश्रयम्' इस कथन से यह दिखला दिया गया है कि रस वाक्यार्थ के अभिनय रूप मे हुआ करता है, क्योकि विभाव आदि पदो के अर्थ (पदार्थ) है और उन पदार्थों का ससर्ग (अन्वय) वाक्यार्थ है तथा वही वाक्यार्थ रस-निष्पत्ति का (रसस्य) हेतु होता है । किञ्च, 'नाट्य' इस शब्द से प्रकट होता है कि नाट्य मे सात्त्विक अभिनय की प्रचुरता हुआ करती है, क्योंकि (नाट्य' शब्द की निष्पत्ति नट् धातु से होती है) 'नट् अवस्पन्दने' इस धातु का अर्थ है—कुछ चलना (अत नाट्य मे आङ्गिक क्रिया कम है और सात्त्विक अभिनय की प्रधानता होती है) इसीलिये अभिनय (नाट्य) करने वाले के लिये नट् शब्द का प्रयोग होता है (नर्तक शब्द का नहीं) और, जिस प्रकार (नृत्य तथा नृत्त मे) गात्र-विक्षेप अर्थ की समानता होने पर भी नृत्त से नृत्य इसलिये भिन्न

वाक्यार्थाभिनयात्मकान्नाट्यात्पदार्थाभिनयात्मकमन्यदेव नृत्यमिति ।

प्रसङ्गान्नृत्त व्युत्पादयति—

(१३)—नृत्त ताललयाश्रयम् ।

तालश्चच्चत्पुटादि, लयो द्रुतादि, तन्मात्रापेक्षोऽङ्गविक्षेपोऽभिनयशून्यो नृत्तमिति । अनन्तरोक्त द्वितीय व्याचष्टे—

(१४) आद्य पदार्थाभिनयो मार्गो देशी तथा परम् ॥९॥

नृत्य पदार्थाभिनयात्मक माग इति प्रसिद्धम्, नृत्त च देशीति । द्विविधस्यापि द्वैविध्य दर्शयति—

(१५) मधुरोद्धतभेदेन तद् द्वय द्विविध पुन ।
लास्यताण्डवरूपेण नाटकाद्युपकारम् ॥१०॥

सुकुमार द्वयमपि लास्यम्, उद्धत द्वितयमपि ताण्डवमिति । प्रसङ्गोक्तस्योपयोग दर्शयति—तच्च नाटकाद्युपकारमिति, नृत्यस्य क्वचिदवान्तरपदार्थाभिनयेन नृत्तस्य च शोभाहेतुत्वेन नाटकादावुपयोग इति ।

है, क्योकि उस (नृत्य) मे अनुकरण होता है (नृत्त मे नहीं), उसी प्रकार नाट्य से भी नृत्य भिन्न है, क्योकि नाट्य मे वाक्यार्थ का अभिनय होता है, किन्तु नृत्य मे पदार्थ का अभिनय ।

प्रसङ्गवश नृत्त का स्वरूप बतलाते है—

नृत्त ताल और लय पर आश्रित होता है ।

चञ्चत्पुट (हाथ की ताली) इत्यादि ताल है । द्रुत (मध्यम, विलम्बित) इत्यादि लय है । केवल उन्हीं (ताल, लय) पर आश्रित होने वाला अङ्ग-विक्षेप (अङ्गो का सचालन) नृत्त कहलाता है उसमे अभिनय बिल्कुल नहीं होता ।

अभी कहे गये दोनो (नृत्य तथा नृत्त) की व्याख्या करते हैं—

इनमे से पहिला (नृत्य) पदार्थाभिनय है जो मार्ग कहलाता है और दूसरा (नृत्त) देशी कहलाता है ॥९॥

अर्थात् नृत्य मे पदार्थों का अभिनय होता है । वह 'मार्ग' नाम से प्रसिद्ध है और नृत्त 'देशी' नाम से ।

उन दोनो के ही दो दो प्रकार होते है, यह दिखलाते हैं—

वे दोनो (नृत्य और नृत्त) मधुर तथा उद्धत भेद से लास्य और ताण्डव रूप मे दो दो प्रकार के होते है, जो नाटक आदि (रूपको) के उपकारक हुआ करते है ॥१०॥

अर्थात् दोनों (नृत्य तथा नृत्त) ही सुकुमार होने पर लास्य और उद्धत होने पर ताण्डव कहलाते हैं । प्रसङ्ग से कहे गये नृत्य और नृत्त का 'नाटकाद्युपकारकम्' इस कथन द्वारा नाट्य मे उपयोग दिखलाया गया है । भाव यह है कि कहीं कहीं नाटक आदि मे अवान्तर पदार्थों के अभिनय के रूप मे नृत्य का और शोभा बढ़ाने के लिये नृत्त का उपयोग किया जाता है ।

टिप्पणी—१–यहाँ प्रसङ्ग से ही नाट्य, नृत्य और नृत्त का निरूपण किया गया है। धनञ्जय और धनिक ने इन तीनो का स्वरूप दिखलाते हुए इनका अन्तर भी दिखलाया है। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है—**(क) नाट्य और नृत्य** दोनो मे अभिनय होता हे, किन्तु (१) नाटय मे अवस्था की अनुकृति होती है, नृत्य मे भावो की। (२) नाट्य मे वाक्यार्थ का अभिनय होता है, क्योकि इसे रसाश्रित कहा गया है और दशरूपककार के अनुसार रस-निष्पत्ति वाक्याथ रूप मे होती है। (द्र० आगे ४ ३७)। दूसरी ओर नृत्य मे पदार्थो का अभिनय होता है। (३) नाट्य मे सात्त्विक अभिनय की बहुलता होती है किन्तु नृत्य मे आङ्गिक अभिनय की। (४) 'नाट्य' शब्द नट् धातु से निष्पन्न होता है। नट् धातु का अर्थ है- कुछ कुछ चलना, फलत नाट्य मे बाह्य अङ्गविक्षेप की अपेक्षा सात्त्विक अभिनय की प्रचुरता होती है, किन्तु नृत्य शब्द नृत् धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अथ है—गात्रविक्षेप। इस प्रकार नृत्य मे आङ्गिक अभिनय की प्रचुरता होती हे। (५) नाटय रस पर आश्रित है किन्तु नृत्य भाव पर। (६) नाट्य मे अभिनय के साथ-साथ पाठ्य (काव्य) भी होता है, जो श्रव्य होता है किन्तु नृत्य मे सुनने के लिये कुछ नही होता इसीलिये यह कहा जाता है कि नृत्य केवल दशनीय होता है। (७) नाट्य के कलाकार को नट और नृत्यकार को नर्तक कहते है।

(ख) नृत्य और नृत्त—(१) दोनो शब्दो की व्युत्पत्ति नृत् धातु से की जाती है। नृत् धातु का अर्थ है—गात्रविक्षेप। इन दोनो मे ही अङ्गो का विक्षेप होता है। (२) दोनो के दो दो भेद है सुकुमार (लास्य) और उदधत (ताण्डव)। (३) साथ ही ये दोनो नाट्य मे उपयोगी है, अवान्तर पदार्थो का अभिनय करके नृत्य किसी नाट्य को पूर्ण करता है और नृत्त किसी अभिनय की शोभा बढाता है। इन दोनो मे अन्तर यह है—(१) नृत्य मे शास्त्रीय पद्धति के अनुसार पदार्थ का अभिनय होता है इसी से इसे मार्ग भी कहा जाता है। किन्तु नृत्त मे कोई अभिनय नही होता। इसमे जो अङ्ग बिक्षेप होता है वह शास्त्रीय पद्धति के अनुसार नही अपितु लोकसरणि के अनुसार, इसीलिये इसे देशी कहा जाता है। (२) नृत्य भाव पर आश्रित है किन्तु नृत्त ताल, लय पर आश्रित है।

२–दशरूपक के परवर्ती ग्रन्थो मे भी नाट्य तथा नृत्त का विवेचन उपलब्ध होता है, जिनमे शारदातनय का भावप्रकाशन, विद्यानाथ का प्रतापरुद्रीय तथा शार्ङ्ग-देव का सङ्गीतरत्नाकार आदि उल्लेखनीय है सिद्धान्तकौमुदी मे भी 'नट् नृत्तौ' धातु के प्रकरण मे इन तीनो शब्दो की व्याख्या मिलती है। प्रता०, स० रत्ना० तथा सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या मे दशरूपक का अनुसरण किया गया है किन्तु भाव प्रकाश का एतद्विषयक विवेचन दशरूपक से नितान्त भिन्न है (विशेष द्र० The types of Sanskrit Drama पृ० १२–२२) ३–नृत्य और नृत्त का विस्तृत विवेचन सङ्गीत शास्त्र के ग्रन्थो मे द्रष्टव्य है।

अनुकारात्मकत्वेन रूपाणामभेदात्किकृतो भेद इत्याशङ्कयाह—

(१६) वस्तु नेता रसस्तेषा भेदक —

वस्तुभेदान्नायकभेदाद् रसभेदाद् रूपाणामन्योन्य भेद इति ।

वस्तुभेदमाह—

(१७)—वस्तु च द्विधा ।

कथमित्याह—

(१८) तत्राधिकारिक मुख्यमङ्ग प्रासङ्गिक विदु ॥११॥

प्रधानभूतमाधिकारिक यथा रामायणे रामसीतावृत्तान्त, तदङ्गभूत प्रासङ्गिक यथा तत्रैव विभीषणसुग्रीवादिवृत्तान्त इति ।

निरुक्त्याऽऽधिकारिक लक्षयति—

(१९) अधिकार फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभु ।
तन्निर्वृत्तमभिव्यापि वृत्त स्यादाधिकारिकम् ॥१२॥

रूपको के भेदक तत्त्व

सभी रूपक अनुकरणात्मक है अत उनमे कोई भेद न होगा फिर उनमे भेद किस निमित्त से किया जाता है ? यह शङ्का होने पर कहते है—

वस्तु, नायक और रस उन (रूपको) के भेदक तत्त्व हे—

कथावस्तु के भेद से, नायक के भेद से और रस के भेद से रूपको का परस्पर भेद हो जाता है ।

टिप्पणी—इन तोन भेदक तत्त्वो (वस्तु, नेता तथा रस) के विषय मे यह समझा जाता है कि ये अरस्तू द्वारा प्रतिपादित पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र के ६ तत्त्वो (१ कथावस्तु, २ चरित्र-चित्रण, ३ शैली, ४ विचार (मवाद) ५ अभिनेयता और ६ गीत) के समान ही है और इनमे उन सभी का समावेश हो जाता है। वस्तुत दोनो मे कुछ समानता होते हुए भी अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं ।

वस्तु (कथावस्तु) के भेद प्रभेद

वस्तु के भेद बतलाते है—वस्तु दो प्रकार की होती है।

किस प्रकार यह बतलाते है—

उनमे मुख्य कथावस्तु को आधिकारिक और अङ्ग रूप वस्तु को प्रासङ्गिक कहते हैं।

प्रधान कथावस्तु अधिकारिक कहलाती है जैसे रामायण मे राम और सीता का वृत्तान्त है उस प्रधान कथावस्तु की अङ्गरूप वस्तु प्रासाङ्गिक है जैसे रामायण मे ही विभीषण तथा सुग्रीव आदि का वृत्तान्त ।

टि०—मि०, नाट्यशास्त्र १९ २ तथा सा० द० ६.४२ ।

व्युत्पत्ति दिखलाते हुए आधिकारिक कथावस्तु का लक्षण करते हैं—

अधिकार का अर्थ है फल का स्वामी होना। उस फल का स्वामी अधिकारी कहलाता है। उस अधिकारी के द्वारा किया हुआ या उससे सम्बद्ध (काव्य मे अभिव्याप्त इतिवृत्त आधिकारिक कहलाता है ॥१२॥

टि०, नाट्यशास्त्र १९ ३—५, सा० द० ६ ४३ ।

फलेन स्वस्वामिसबन्धोऽधिकार फलस्वामी चाधिकारी तेनाधिकारेणाधिकारिणा वा निर्वृत्तम् फलपर्यन्तना नीयमानमितिवृत्तमाधिकारिकम् ।

प्रासङ्गिक व्याचष्टे—

(२०) प्रासङ्गिक परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसङ्गत ।

यस्येतिवृत्तस्य परप्रयोजनस्य सतस्तत्प्रसङ्गात्स्वप्रयोजनसिद्धिस्तत्प्रासङ्गिकमितिवृत्त प्रसङ्गनिर्वृत्ते ।

प्रासङ्गिकमपि पताकाप्रकरीभेदाद् द्विविधमित्याह—

(२१) सानुबन्ध पताकाख्य प्रकरी च प्रदेशभाक् ॥१३॥

दूर यदनुवतते प्रासङ्गिक सा पताका सुग्रीवादिवृत्तान्तवत्, पताकेवासाधारण नायकचिह्नवत्तदुपकारित्वात् । यदल्प सा प्रकरी श्रवणादिवृत्तान्तवत् ।

भाव यह है कि फल के साथ स्व-स्वामि भाव सम्बन्ध (फल का स्वामी होना) अधिकार कहलाता है और फल का स्वामी अधिकारी । उस अधिकार या अधिकारी के द्वारा किया गया, फल प्राप्ति तक पहुचने वाला जो वृत्त या कथा है वही आधिकारिक वस्तु है ।

प्रासङ्गिक वस्तु की व्याख्या करते है—

दूसरे (प्रधान प्रयोजन) की सिद्धि के लिये होने वाली जिस (कथा) का प्रसङ्ग से अपना प्रयोजन भी सिद्ध हो जाता है, वह प्रासङ्गिक है ।

जो इतिवृत्त दूसरे (आधिकारिक कथा) के प्रयोजन की सिद्धि के लिए होता है किन्तु प्रसङ्ग से उसके अपने प्रयोजन की भी सिद्धि हो जाती है, वह प्रासङ्गिक इतिवृत्त कहलाता है, क्योकि उसकी प्रसङ्ग से सिद्धि होती है ।

टि०—(१) ना०शा० १९ ३–४, सा० द० ६ ४३—४४, भा० प्र० २०१ प० १-२ ।

प्रासङ्गिक—प्रसङ्गात् निर्वृत्तम्=प्रासङ्गिकम्, प्रसङ्ग से होने वाला । इस शब्द की व्युत्पत्ति के अनुकूल ही प्रासङ्गिक वस्तु का लक्षण किया गया है । यह कथा-वस्तु आधिकारिक कथा की फलसिद्धि मे सहायक होती है, किन्तु प्रसङ्ग से इसका अपना प्रयोजन भी सिद्ध हो जाया करता है । उदाहरणाथ रामचरित मे राम की कथा मुख्य (आधिकारिक) है उसका फल रावण-वध तथा सीता की प्राप्ति आदि है । सुग्रीव की कथा इस प्रधान फल की प्राप्ति मे उपकरण है, किन्तु उस कथा का फल बालि-बध और राज्य-लाभ भी प्रसङ्ग से सिद्ध हो जाता है ।

प्रासङ्गिक कथावस्तु के भेद (पताका और प्रकरी)

प्रासङ्गिक इतिवृत्त भी पताका और प्रकरी के भेद से दो प्रकार का होता है—

इनमे अनुबन्ध सहित (दूर तक चलने वाला) प्रासङ्गिक वृत्त पताका कहलाता है और एक प्रदेश मे रहने वाला प्रकरी ॥१३॥

पताकाप्रसङ्गेन पताकास्थानकं व्युत्पादयति—

(२२) प्रस्तुतागन्तुभावस्य वस्तुनोऽन्योक्तिसूचकम् ।
पताकास्थानकं तुल्यसंविधानविशेषणम् ॥१४॥

प्राकरणिकस्य भाविनोऽर्थस्य सूचकं रूपं पताकावद्भवतीति पताकास्थानकम् । तच्च तुल्येतिवृत्ततया तुल्यविशेषणतया च द्विप्रकारम्—अन्योक्तिसमासोक्तिभेदात् । यथा रत्नावल्याम्—

जो प्रासङ्गिक वृत्त (प्रधान इतिवृत्त के साथ) दूर तक चलता है वह पताका कहलाता है, जैसे सुग्रीव आदि का वृत्तान्त (जो रामकथा के साथ दूर तक चलता है) । जिस प्रकार पताका (ध्वजा) नायक का असाधारण चिह्न होती है और उसका उपकार करती है इसी प्रकार यह इतिवृत्त भी नायक (तथा तत्सम्बन्धी कथा) का उपकार करता है इसीलिये इसे पताका कहते है । जो प्रासङ्गिक वृत्त थोड़ी दूर तक चलता है, वह प्रकरी कहलाता है, जैसे (रामायण आदि मे) श्रवण आदि का वृत्तान्त है ।

टि०—(१) ना० शा० १९ २४—२५, सा० द० ६ ६७—६९ । भा० प्र० पृ० २०१—२०२ ।

(२) **सानुबन्ध**=अनुबन्ध सहित, अनुबन्ध=पीछे बधना, अनुवर्तन, दूर तक साथ चलना अथवा फल । इस प्रकार जो प्रासङ्गिक कथा प्रधान कथा का दूर तक अनुवर्तन करती है जिसका अपना भी प्रयोजन होता है वह पताका कहलाती है । (३) पताका और प्रकरी दोनो ही प्रासङ्गिक कथावस्तु है, दोनो आधिकारिक कथा के प्रवाह मे योग देती है और प्रधानफल की सिद्धि मे सहायक होती है, फिर भी दोनो मे अन्तर है—(क) पताका-नायक का कुछ अपना भी प्रयोजन होता है । वह अपने प्रयोजन की सिद्धि के साथ-साथ प्रधान नायक के कार्य की सिद्धि मे सहायक होता है जैसे 'रामचरित' मे सुग्रीव है जो बालि-बध या राज्य प्राप्ति के रूप मे अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये राम का सहायक होता है । दूसरी ओर 'प्रकरी' का नायक अपने किसी प्रयोजन की सिद्धि की अपेक्षा न करके निरपेक्ष भाव से प्रधान नायक का सहायक होता है जैसे रामचरित मे जटायु है (ख) पताका की कथा काव्य या नाट्य मे बहुत दूर तक चलती है किन्तु प्रकरी की कथा एकदेशी होती है ।

पताकास्थानक

पताका के प्रसङ्ग से पताकास्थानक का निरूपण करते हैं ।

जो किसी अन्य वस्तु के कथन द्वारा आगन्तुक प्रस्तुत वस्तु का सूचक होता है वह पताकास्थानक कहलाता है, वह समान इतिवृत्त (संविधान) तथा समान विशेषण (भेद से दो प्रकार का) होता है ॥१४॥

प्राकरणिक किन्तु आगे आने वाले अर्थ का सूचक इतिवृत्त (रूप) जो पताका के समान होता है, पताकास्थानक कहलाता है । वह अन्योक्ति तथा समासोक्ति के भेद से दो प्रकार का है; अर्थात् १. समान इतिवृत्त के द्वारा (प्रस्तुत आगन्तुक अर्थ का सूचक) २. सम विशेषणो द्वारा । (समान इतिवृत्त द्वारा) जैसे रत्नावली (३.६) मे—

'यातोऽस्मि पद्मनयने समयो ममैष सुप्ता मयैव भवती प्रतिबोधनीया ।
प्रत्यायनामयमितीव सरोरुहिण्या सूर्योऽस्तमस्तकनिविष्टकर करोति ॥१॥

यथा च तुल्यविशेषणतया—

उद्दामोत्कलिका विपाण्डुररुच प्रारब्धजृम्भा क्षणा-
दायास श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मन ।
अद्योद्यानलतामिमा समदना नारीमिवान्या ध्रुव
पश्यन्कोपविपाटलद्युति मुख देव्या करिष्याम्यहम् ॥२॥

"हे कमलनयने, मेरे जाने का समय है, मै जा रहा हू । सोती हुई तुमको प्रात मुझे ही जगाना है, इस प्रकार अस्ताचल के मस्तक पर अपनी किरणो को निविष्ट करने वाला यह सूर्य मानो कमलिनी को आश्वासन (प्रत्यायना) दे रहा है ।

टिप्पणी—(१) यह राजा उदयन की विदूषक के प्रति उक्ति है । इसमे सूर्य और कमलिनी के वृत्तान्त द्वारा राजा उदयन और रत्नावली के भावी मिलन की सूचना दी गई है । सूर्य और कमलिनी का पुर्नमिलन तथा उदयन और रत्नावली का मिलन समान घटनाएँ है । यहाँ उदयन तथा रत्नावली की कथा प्रस्तुत है, उसकी दृष्टि से सूर्य और कमलिनी का वृत्तान्त अन्य (अप्रस्तुत) ही है । इसलिये यह अन्योक्ति के आधार पर पताकास्थानक का उदाहरण है ।

(२) यहाँ अन्योक्ति का अर्थ है–समान इतिवृत द्वारा प्रस्तुत अर्थ का कथन । इसी प्रकार समान विशेषण द्वारा प्रस्तुत अर्थ की सूचना यहाँ समासोक्ति कही गई है। अन्योक्ति और समासोक्ति अलङ्कारो के लक्षण इन पर घटित करना वाञ्छनीय नही प्रतीत होता, क्योकि इन दोनो उदाहरणो मे क्रमश अन्योक्ति और समासोक्ति अलङ्कार है, यह निश्चित नही ।

समान विशेषणो के द्वारा (प्रस्तुत अर्थ की सूचना) जैसे–(रत्नावली २ ४)–चटखती कलियो वाली (नायिका पक्ष मे—उत्कट अभिलाषा वाली), (पुष्पों से या विरह से) पाण्डुर वर्ण वाली, अभी-अभी खिलती हुई (जम्भाई लेती हुई), निरन्तर वायु के सञ्चार से अपना विस्तार (आयास) करती हुई [—निरन्तर निश्वासो के निकलने से अपनी पीडा (आयास) को प्रकट करती हुई], मदननामक वृक्ष के आश्रित (—काम-भावना से युक्त) दूसरी नारी जैसी इस उद्यानलता को देखता हुआ मै आज अवश्य ही देवी (वासवदत्ता) के मुख को कोप से आरक्त कान्ति वाला कर दूगा ।

टिप्पणी—(१) यह राजा उदयन की विदूषक के प्रति उक्ति है । इसमे तुल्य विशेषणो द्वारा रत्नावली-सम्बन्धी भावी वृत्त की सूचना दी गई है । आगे चलकर जो रत्नावली (सागरिका) और राजा के मिलन के निमित्त से देवी वासवदत्ता के क्रोध का वर्णन किया जायेगा, उसी की ओर यहाँ सकेत किया गया है । इस प्रकार यह तुल्य विशेषणो के द्वारा भावी प्रस्तुत अर्थ का सूचक द्वितीय पताकास्थानक है ।

एवमाधिकारिकद्विविधप्रासङ्गिकभेदात्त्रिविधस्यापि त्रैविध्यमाह—

(२३) प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात्त्रेधापि तत्त्रिधा ।
प्रख्यातमितिहासादेरुत्पाद्य कविकल्पितम् ॥१५॥
मिश्र च सङ्कराताभ्या दिव्यमर्त्यादिभेदत ।

इति निगदव्याख्यातम् ।

(२) यहाँ धनिक ने जो अन्योक्ति तथा समासोक्ति शब्दो का प्रयोग किया है वह भ्रामक है। न तो धनिक से पूर्व ना० शा० मे ही इन शब्दो का प्रयोग है, न ही अर्वाचीन ग्रन्थो नाट्यदर्पण या साहित्यदर्पण आदि मे ही, हाँ, भा० प्र० (२०२–१६) मे इन शब्दो का प्रयोग अवश्य किया गया है। (३) पताका और पताकास्थानक— इन दोनो मे नामसाम्य ही नही है अपितु पताका के समान ही पताकास्थानक भी प्रधानफल मे उपकारक इतिवृत्त ही होता है (नाट्यदर्पण १ ३०)। भा० प्र० (२०१ ११) के अनुसार तो प्रासङ्गिक इतिवृत्त ३ प्रकार का है—पताका, प्रकरी और पताकास्थानक। इसीलिए यहाँ पताका के प्रसङ्ग से पताकास्थानक का वर्णन किया गया है। इसमे पताका से अन्तर यह है —(क) यह पताका के समान दूर तक चलने वाला इतिवृत्त नही होता। (ख) अन्य के वर्णन द्वारा प्रधान इतिवृत्त सम्बन्धी किसी भावी घटना की सूचना देता है, उसका शब्दो से वर्णन नही करता (ग) पताका के समान क्रमबद्ध इतिवृत्त नही होता अपितु कही बीच-बीच मे इसका एक बार या अनेक बार निबन्धन किया जाता है। यह नाट्य और काव्य का अलङ्करण माना जाता है (द्र०, ना० द० १ ३०)। (४) धनञ्जय और धनिक ने केवल दो प्रकार का पताका-स्थानक बतलाया है किन्तु नाट्यशास्त्र (१९ ३१—३४) मे चार प्रकार का पताका-स्थानक बतलाया गया था। बाद मे नाट्यदर्पण (१.३१) तथा साहित्यदर्पण (६ ४४–४९) मे भी चार प्रकार के पताकास्थानक का उदाहरण सहित निरूपण किया गया है। दशरूपक का जो (उद्दामोत्कलिकाम्) द्वितीय पताकास्थानक है विश्वनाथ ने उसे चतुर्थ पताकास्थानक माना है। किन्तु अभिनवगुप्त के अनुसार यह पताकास्थानक का उदाहरण ही नही है (अभि० १९ ३४)। इसके अतिरिक्त दश-रूपक के प्रथम उदाहरण को साहित्यदर्पण आदि ने लिया ही नही है। इसका अन्तर्भाव साहित्यदर्पण के किस पताकास्थानक मे हो सकेगा, यह कहना कठिन ही है। यह भी चिन्तनीय है कि धनञ्जय ने भरत द्वारा कथित चारो प्रकारो का विवेचन क्यो नही किया।

इस प्रकार एक प्रकार का आधिकारिक और दो प्रकार के प्रासाङ्गिक (कुल मिला कर) इस तीन प्रकार के इतिवृत्त के फिर तीन तीन प्रकार बतलाते है—

वह तीन प्रकार का (इतिवृत्त) भी फिर १ प्रख्यात, २ उत्पाद्य और ३ मिश्र भेद से तीन-तीन प्रकार का होता है। इतिहास आदि से लिया गया इतिवृत्त प्रख्यात, कवि द्वारा (स्वय) कल्पित उत्पाद्य तथा इन दोनो के मिश्रण से मिश्र कहलाता है। ये सभी इतिवृत्त दिव्य, मर्त्य (अदिव्य) आदि भेद से भी भिन्न-भिन्न होते है।

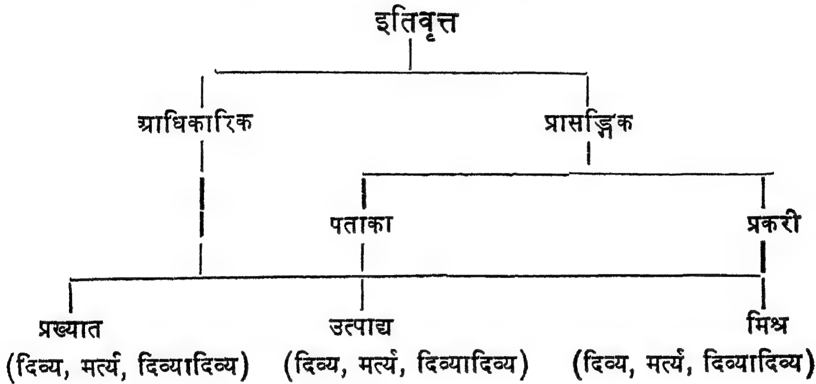
इस [कारिका] की ग्रन्थ मे ही व्याख्या हो गई है।

तस्येतिवृत्तस्य किं फलमित्याह—

(२४) कार्यं त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुबन्धि च ॥१६॥

धर्मार्थकामा फल तच्च शुद्धमेकैकमेकानुबन्ध द्वित्र्यनुबन्ध वा।

टिप्पणी—(१) **दिव्यमर्त्यादिभेदत**—यहाँ आदि शब्द से दिव्यादिव्य का ग्रहण होता है। जैसा कि साहित्यदपरण (६ ६) मे बतलाया गया है, श्रीकृष्ण आदि का वृत्त दिव्य का उदाहरण है। जो दिव्य होकर भी अपने आपको मानव समझते है वे श्री रामचन्द्र आदि दिव्यादिव्य के उदाहरण है। मर्त्य कथावस्तु का उदाहरण मृच्छकटिक इत्यादि है। प्रख्यात आदि इतिवृत्त के उदाहरण आगे यथावसर दिखलाये जायेंगे। इस प्रकार इतिवृत्त के अनेक भेद हो जाते है, जैसे—



(दिव्य, मर्त्य, दिव्यादिव्य) (दिव्य, मर्त्य, दिव्यादिव्य) (दिव्य, मर्त्य, दिव्यादिव्य)

इतिवृत्त का फल

उस इतिवृत्त का क्या फल होता है, यह बतलाते हैं—

उसका फल त्रिवर्ग होता है। यह कभी तो शुद्ध (त्रिवर्ग मे से कोई एक ही) और कभी (अन्य) एक से अनुगत तथा कभी अनेक (दो) से अनुगत होता है ॥२६॥

धर्म, अर्थ और काम (मुख्य) इतिवृत्त का फल होता है। वह फल कभी तो केवल शुद्ध अर्थात् तीनो मे से कोई एक, कभी एक से अन्वित एक (जैसे अर्थ से अनुगत धर्म आदि) कभी दो से अन्वित एक (जैसे अर्थ और काम से अन्वित धर्म आदि) और कभी तीन से अन्वित एक (जैसे अर्थ, काम और मोक्ष से अन्वित धर्म आदि) होता है।

टिप्पणी—पुरुषार्थ चार है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। किन्तु केवल मोक्ष कभी भी रूपक के इनिवृत्त का फल नही हो सकता। इसी हेतु शान्त रस को रूपक मे स्वीकार नही किया गया है। और, इसी से त्रिवर्ग को ही इतिवृत्त का फल

तत्साधन व्युत्पादयति—

(२५) स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीज विस्तार्यनेकधा ।

स्तोकोद्दिष्ट कायसाधक पुरस्तादनेकप्रकार विस्तारी हेतुविशेषो बीजवद्बीज यथा रत्नावल्या वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुरनुकूलदैवो यौगन्धरायणव्यापारो विष्कम्भके न्यस्त । यौगन्धरायण—क सन्देह (द्वीपादन्यस्मात्—' इति पठति), इत्यादिना 'प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो वृद्धिहेतो' इत्यन्तेन ।

यथा च वेणीसहारे द्रौपदीकेशसयमनहेतुर्भीमक्रोधोपचितयुधिष्ठिरोत्साहो बीजमिति । तच्च महाकार्यावान्तरकायभेदादनेकप्रकारमिति ।

माना गया है, मोक्ष को नही । फिर भी मोक्ष से अनुगत धम आदि तो रूपक के इतिवृत्त का फल हो ही सकता है । धनिक की व्याख्या का यही स्वारस्य प्रतीत होता है भामह आदि प्राचीन आचार्यो ने तथा विश्वनाथ (सा० द० १ २) इत्यादि अर्वाचीन आचार्यो ने चतुर्वर्ग प्राप्ति को काव्यो का फल स्वीकार किया भी है ।

फलप्राप्ति के साधन (अर्थप्रकृतियाँ)

उस फल के साधन बतलाते है —

उस फल का निमित्त बीज कहलाता है, जिसका (आरम्भ मे) सूक्ष्म रूप से सकेत किया जाता है और (आगे चलकर) अनेक प्रकार से विस्तार होता है ।

विशेष प्रकार का (इतिवृत्त के) फल (कार्य) का निमित्त जो किसी बीज के समान आरम्भ मे सूक्ष्म रूप से कहा जाता है और आगे चलकर अनेक प्रकार से विस्तार को प्राप्त करता है, वह बीज कहलाता है, जैसे रत्नावली नाटिका (१-६-७) मे वत्सराज को रत्नावली की प्राप्ति फल है, उसका हेतु है—दैव की अनुकूलता से युक्त यौगन्धरायण का उद्योग, उसे विष्कम्भक मे (बीज रूप से) रक्खा गया है—यौगन्धराज कहता है—'इसमे क्या सन्देह है ? (द्वीपा० १.६), 'अनुकूल दैव दूसरे द्वीप से भी, सागर के मध्य से भी, दिशाओ के छोर से भी अभीष्ट वस्तु को लाकर शीघ्र मिला देता है' । इस उक्ति से लेकर (प्रारम्भे १ ७) 'स्वामी के अभ्युदय के लिये प्रारम्भ किये गये इस कार्य मे दैव ने भी इस प्रकार हाथ का सहारा दे दिया है । अत सचमुच ही इसकी सिद्धि मे सन्देह नहीं है । फिर भी अपनी इच्छा से ही सब कुछ करने वाला मै स्वामी से डर रहा हू ।' इस कथन तक बीज का निर्देश किया गया है ।

इसी प्रकार वेणीसहार (अङ्क १) मे द्रौपदी का केश-सयमन फल है । उसका हेतु है-भीम के क्रोध से परिपुष्ट युधिष्ठिर का उत्साह, वही बीज है ।जिसको 'स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्रा' १ ८ से लेकर 'मन्थायस्त०' १-२२ तक सूचित किया गया है) ।

यह बीज महाकार्य तथा अवान्तर कार्य का हेतु होने से अनेक प्रकार का होता है ।

अवान्तर बीज का दूसरा नाम बतलाते हैं—

अवान्तरबीजस्य सञ्ज्ञान्तरमाह—

(२६) अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम् ॥१७॥

यथा रत्नावल्यामवान्तरप्रयोजनानङ्गपूजापरिसमाप्तौ कथार्थविच्छेदे सत्य-नन्तरकार्यहेतु —उदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते। सागरिका—(श्रुत्वा) कह एसो सो उदय-णणरिन्दो जस्स अह तादेण दिण्णा।' (कथमेष स उदयननरेन्द्रो यस्याह तातेन दत्ता) इत्यादि। बिन्दु —जले तैलबिन्दुवत्प्रसारित्वात्।

अवान्तर प्रयोजन की समाप्ति से कथावस्तु के (मुख्य) प्रयोजन मे विच्छेद प्राप्त हो जाने पर जो उसके अविच्छेद (सातत्य) का कारण होता है, वह बिन्दु कहलाता है।

जैसे रत्नावली (१ २३) मे कामदेव की पूजा एक अवान्तर कार्य है। उसकी समाप्ति पर कथा के (मुख्य) प्रयोजन (रत्नावली-समागम) का विच्छेद होने लगता है। तब उसके अनन्तर होने वाले कार्य का हेतु है—मागधो की 'उदयनस्येन्दो-रिवोद्वीक्षते' (जन-समुदाय चन्द्रमा की किरणो के समान उदयन के चरणो' की प्रतीक्षा कर रहा है) इत्यादि उक्ति। इसको सुनकर सागरिका कह उठती है—'क्या यही वह राजा उदयन है जिसके लिये मुझे पिता ने दिया है' इत्यादि।

जिस प्रकार जल मे तैलबिन्दु फैल जाता है उसी प्रकार यह (फलोपाय) नाट्य मे फैला होता है इसलिये यह बिन्दु कहलाता है।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१९ २२), भा० प्र०पृ० २०४, ना० द० (१ ३२), प्रता० (३ ७) तथा सा० द० (६ ६६) आदि ग्रन्थो मे भी बिन्दु का स्वरूप विवेचन किया गया है। इनमे प्रता० तथा सा० द० का बिन्दुलक्षण दशरूपक से ही लिया गया प्रतीत होता है। भावप्रकाशन का लक्षण यह है—

फले प्रधाने विच्छिन्ने बीजस्यावान्तरै फलै ।
तस्याविच्छेदको हेतु बिन्दुरित्याह कोहल ॥

ना० द० मे प्राय नाट्यशास्त्र (अभि०) का अनुसरण किया गया है। इन सभी की व्याख्या मे कुछ अपनी-अपनी विशेषताएँ है तथापि ना० द० मे इसका विशद वर्णन मिलता है। (२) बिन्दु का स्वरूप है—रूपक की कथावस्तु का एक प्रधान फल होता है जो महाकार्य कहलाता है। इसके हेतु का सक्षेप मे निर्देश किया जाता है। वह बीज कहलाता है। किन्तु बीच-बीच मे कथाशो के अनेक प्रयोजन हुआ करते हैं जो अवान्तर कार्य कहलाते है। जैसे रत्नावली नाटिका मे महाकार्य है—रत्नावली समागम तथा चक्रवर्तित्व प्राप्ति (काम तथा अर्थ की सिद्धि)। किन्तु इसकी कथावस्तु मे अन्य अनेक अवान्तर प्रयोजन है जैसे अनङ्गपूजा की घटना का प्रयोजन है—सागरिका के हृदय मे विस्मय उत्पन्न करना इत्यादि। इस प्रकार के अवान्तर प्रयोजन की समाप्ति हो जाने पर मुख्य प्रयोजन के विच्छिन्न होने का अवसर उपस्थित हो जाता है किन्तु 'उदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते, इत्यादि कथन के द्वारा अग्रिम प्रयोजन

इदानी पताकाद्य प्रसङ्गाद्व्युत्क्रमोक्त क्रमाथमुपसहरन्नाह —

(२७) बीजबिन्दुपताकाख्यप्रकरीकार्यलक्षणा ।
अर्थप्रकृतय पञ्च ता एता परिकीर्तिता ॥१८॥

अर्थप्रकृतय =प्रयोजनसिद्धिहेतव ।

की सिद्धि का निमित्त प्रस्तुत कर दिया जाता हे । वह हे—सागरिका के मन मे 'औत्सुक्य' उत्पन्न करना । इस प्रकार दशरूपक की दृष्टि से सागरिका के हृदय मे औत्सुक्य या अनुराग आदि की उत्पत्ति ही अवान्तर बीज (बिन्दु) है । इसके द्वारा आगे कथा तन्तु अविच्छिन्न रूप मे चलता रहता हे । अभि० तथा० ना० द० मे बिन्दु का स्वरूप अधिक स्पष्ट किया गया है । तदनुसार अवान्तर कार्य से मुख्यफल के विच्छिन्न होने लगने पर जो मुख्यफल का नायक आदि के द्वारा अनुसन्धान किया जाता है, वही बिन्दु कहलाता है । यह भी बीज के समान समस्त नाटक आदि मे अन्त तक विद्यमान रहा करता है (ना० द० १ ३२) । तैल बिन्दु के समान इतिवृत्त मे फैल जाने के कारण ही इसे बिन्दु कहते है ।यह शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त बतलाया गया है) । यह बिन्दु फल-प्राप्ति के कारणो का अनुग्राहक हे तथा स्वय भी परम कारण है । इसका दूसरा नाम अवान्तर बीज भी हे । नायक अथवा उसके सहायको के द्वारा अनेकश फल का अनुसन्धान किया जा सकता है अत किसी नाटक आदि मे अनेक बार बिन्दु का योग हुआ करता है । (३) बीज और बिन्दु—समानता (क) दोनो फल-प्राप्ति के उपाय (अर्थप्रकृति) है (ख) फल की प्राप्ति तक दोनो विद्यमान रहते है । अन्तर यह है—(क) सक्षेप मे निर्दिष्ट मुख्य फल का हेतु बीज कहलाता है जैसे रत्नावली मे रत्नावली की प्राप्ति का हेत है—दैव की अनुकूलता से युक्त यौगन्धरायण का व्यापार । दूसरी ओर मुख्य फल का अनुसन्धान करना बिन्दु है जैसे सागरिका का यह अनुसन्धान कि यही राजा उदयन है जिसके लिये मुझे पिता ने दिया है । (ख) बीज का तो मुखसन्धि के आरम्भ मे निर्देश कर दिया जाता है किन्तु बिन्दु का निर्देश बाद मे होता है ।

ऊपर प्रसङ्गवश बिना क्रम के ही पताका इत्यादि को बतला दिया गया है, अब क्रमश दिखलाने के लिये उपसहार करते हुए कहते है .—

बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य नामक ये पाँच अर्थप्रकृतियाँ कही गई है ॥१८॥

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१९,२०–२१), ना० द० (१ २८), भा० प्र०, पृ० २०४ २०५, सा० द० (६ ६४—६५) । (२) अर्थप्रकृति—यहाँ 'अर्थ' शब्द फल या प्रयोजन का वाचक है । प्रकृति शब्द का अर्थ है—हेतु या कारण । इस प्रकार फल की सिद्धि के उपाय ही अर्थप्रकृतियाँ कहलाती हैं (अर्थ फल तस्य प्रकृतय उपाया:

अन्यदवस्थापञ्चकमाह—

(२८) अवस्था पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभि ।
आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमा ॥१९॥

यथोद्देश लक्षणमाह—

(२९) औत्सुक्यमात्रमारम्भ फललाभाय भूयसे ।

इदमह सपादयामीत्यध्यवसायमात्रमारम्भ इत्युच्यते, यथा रत्नावल्याम्—प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो वृद्धिहेतौ दैवे चेत्थ दत्तहस्तावलम्बे ।' इत्यादिना सचिवायत्तसिद्धेवत्सराजस्य कार्यारम्भो यौगन्धरायणमुखेन दर्शित ।

फलहेतव इत्यथ—अभिनवभारती (१९ २०)। नाट्यदपण मे भी अथप्रकृतियो को 'उपाय' कहा गया है (१ २८) । अभिनवभारती और नाट्यदपण के अनुसार इन पाँच उपायो मे से बीज और काय दोनो जड (अचेतन) है। तीन, बिन्दु, पताका और प्रकरी चेतन ह। किन्तु यह चेतन और अचेतन का विभाग युक्तियुक्त नही कहा जा सकता। सम्भवत इसी हेतु सा० द० (६ ६४—६५) आदि मे इसे छोड दिया गया हे। (३) बीज, बिन्दु और काय, ये तीन आवश्यक अर्थप्रकृतियाँ मानी गई हे, पताका और प्रकरी का सभी रूपको मे होना अनिवार्य नही है। जहाँ प्रधान नायक को सहायक की आवश्यकता नही होती, वहाँ पताका और प्रकरी भी नही होती (मि० ना० द० १ ३५) (४) यहाँ 'कार्य' शब्द का प्रयोग ध्यान देने योग्य है। कारिका १६ मे 'काय' शब्द का अर्थ इतिवृत्त का फल या प्रयोजन हे जो त्रिवग प्राप्ति के रूप मे है। किन्तु अथप्रकृतियो मे जिस 'काय' का समावेश हे वह फल नही है, अपितु फल-प्राप्ति का उपाय है । इस प्रकार फल के अधिकारी व्यक्ति का व्यापार ही काय नामक अर्थप्रकृति हे। यह काय (नायक-व्यापार) आरम्भ से लेकर फल प्राप्ति तक चलता रहता है इसी हेतु कार्य शब्द का फल के अर्थ मे भी प्रयोग कर दिया गया है ।

कार्य की पाच अवस्थाए

और भी पाँच अवस्थाओ को बतलाते है—

फल की इच्छा वाले व्यक्ति के द्वारा आरम्भ किये गये कार्य की पाँच अवस्थाए होती है—१ आरम्भ, २ यत्न, ३ प्राप्त्याशा, ४ नियताप्ति और ५ फलागम ॥१९॥

नामनिर्देश के क्रम से इनका लक्षण बतलाते है—

१ प्रचुर फल की प्राप्ति के लिये उत्सुकता म.त्र होना ही आरम्भ कहलाता है ।

भाव यह है कि "इस कार्य को मै करूँगा" इस प्रकार का निश्चय करना ही आरम्भ कहलाता है, जैसे रत्नावली नाटिका (१ ७) मे 'स्वामी के अभ्युदय के लिये किये गये तथा दैव के द्वारा हाथ का सहारा दिये गये इस काय मे' आदि कथन के द्वारा वत्सराज उदयन के कार्य का आरम्भ यौगन्धरायण मन्त्री के मुख से दिखलाया गया है, क्योकि उस (वत्सराज) की कार्यसिद्धि मन्त्री पर आश्रित है ।

अथ प्रयत्न —

(३०) प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वित ॥२२॥

तस्य फलस्याप्राप्तावुपाययोजनादिरूपचेष्टाविशेष प्रयत्न । यथा रत्नावल्यामालेख्याभिलेखनादिर्वत्सराजसमागमोपाय —'तहावि णत्थि अण्णो दसणुवाओ त्ति जहा-तहा आलिहिअ जधासमीहिअ करिस्सम्' (तथापि नास्त्यन्यो दर्शनोपाय इति यथा-तथालिख्य यथासमीहित करिष्यामि ।) इत्यादिना प्रतिपादित ।

प्राप्त्याशामाह—

(३१) उपायापायशङ्काभ्या प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भव ।

उपायस्यापायशङ्कायाश्च भावादनिर्धारितैकान्ता फलप्राप्ति प्राप्त्याशा । यथा रत्नावल्या तृतीयेऽङ्के वेषपरिवर्ताभिसरणादौ समागमोपाये सति वासवदत्तालक्षणापायशङ्काया.—'एव जदि अआलवादाली विअ आअच्छिअ अण्णदो ण णइस्सदि वासवदत्ता ।' ('एव यद्यकालवातालीवागत्यान्यतो न नेष्यति वासवदत्ता ।) इत्यादिना दर्शितत्वादनिर्धारितैकान्ता समागमप्राप्तिरुक्ता ।

नियताप्तिमाह—

(३२) अपायाभावत प्राप्तिर्नियताप्ति सुनिश्चिता ॥२१॥

---

१ प्रयत्न यह है—

फल के प्राप्त न होने पर (उसके लिये) अत्यन्त वेगपूर्वक उद्योग करना ही प्रयत्न कहलाता है ॥२०॥

जब फल प्राप्त नहीं होता और उसके लिये अनेक साधनो को जुटाना इत्यादि विशेष प्रकार की चेष्टा की जाती है तो वही प्रयत्न कहलाता है । जैसे रत्नावली नाटिका (अङ्क २) मे (सागरिका द्वारा) चित्र बनाना इत्यादि वत्सराज उदयन से मिलने के उपाय है—'तथापि (वत्सराज के) दर्शन का दूसरा उपाय नहीं है इसलिये किसी प्रकार चित्र बनाकर मनचाही करूँगी ।

३. प्राप्त्याशा को बतलाते हैं—

उपाय के होने तथा विघ्न की शङ्का होने से जो फलप्राप्ति की सम्भावना (मात्र) होती है, वह प्राप्त्याशा कहलाती है ।

उपाय के होने पर भी विघ्न की शङ्का होने के कारण जब फलप्राप्ति का एकान्तत निश्चय नहीं होता, वही अवस्था प्राप्त्याशा कहलाती है जैसे रत्नावली नाटिका के तृतीय अङ्क मे (सागरिका द्वारा) वेष परिवर्तन और अभिसरण आदि मिलन के उपाय होने पर वासवदत्ता रूपी विघ्न की शङ्का इस प्रकार (विदूषक के कथन द्वारा) दिखलाई गई है—'ऐसा ही है, यदि अकाल की वायु के समान आकर वासवदत्ता इसे बदल न दे' । इस प्रकार यहाँ एकान्तत निश्चित न की हुई (रत्नावली से) मिलन की प्राप्ति बतलाई गई है ।

४ नियताप्ति को बतलाते हैं—

विघ्नो के अभाव से फल की निश्चित रूप से प्राप्ति ही नियताप्ति कहलाती है ॥२१॥

अपायाभावादवधारितैकान्ता फलप्राप्तिर्नियताप्तिरिति । यथा रत्नावल्याम्—विदूषक —सागरिका दुक्कर जीविस्सदि' (सागरिका दुष्कर जीविष्यति ।) इत्युपक्रम्य 'किं ण उपाय चिन्तेसि ।' ('किं नोपाय चिन्तयसि ?) इत्यनन्तरम् राजा—वयस्य ! देवीप्रसादन मुक्त्वा नान्यमत्रोपाय पश्यामि ।' इत्यनन्तराङ्कार्थबिन्दुनानेन देवीलक्षणापायस्य प्रसादनेन निवारणान्नियता फलप्राप्ति सूचिता ।

फलयोगमाह—

(३३) समग्रफलसपत्ति फलयोगो यथोदित ।

यथा रत्नावल्या रत्नावलीलाभचक्रवर्तित्वावाप्तिरिति ।

विघ्नो के हट जाने पर फल प्राप्ति का नितान्त निश्चय ही नियताप्ति है। जैसे रत्नावली नाटिका (३ १५–१६, मे (वासवदत्ता द्वारा सागरिका को बन्दी बना लिये जाने पर) 'सागरिका कठिनाई से जीवित रहेगी' इस प्रकार आरम्भ करके विदूषक (राजा से) कहता है—'उपाय क्यो नही सोचते'। इसके पश्चात् राजा उदयन कहते हे—मित्र, देवी वासवदत्ता को प्रसन्न करने के अतिरिक्त मुझे कोई उपाय दिखलाई नही देता'। यहाँ अग्रिम (चतुथ) अङ्क की कथा का बिन्दु जो देवी प्रसादन है, उसके द्वारा देवीरूपी विघ्न का निवारण हो जाने से निश्चित फल-प्राप्ति की सूचना दी गई है।

५ फलागम को बतलाते है—

पूर्ण रूप से फल की प्राप्ति ही फलागम है, जैसा कि पहले कहा गया है।

जैसे रत्नावली नाटिका मे (उदयन को) रत्नावली की प्राप्ति और चक्रवर्ती पद की प्राप्ति-(फलागम अवस्था) है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१९ ८—१४), भा० प्र० पृ० २०६, ना० द० (१ ३७–४२), सा० द० (६ ७०–७३) इत्यादि । (२) **यथोदित** = जैसा कहा गया है। यद्यपि फलागम का स्वरूप ऊपर नही कहा गया तथापि 'कार्य त्रिवर्ग' (का० १ १६) इत्यादि मे यह बतलाया गया है कि कही तो फल धर्म, अर्थ, काम मे से कोई एक (शुद्ध) होता है और कही एक के साथ अन्य किसी एक का अथवा दो का अन्वय भी होता है। जिस रूपक का जो फल होता है शुद्ध या अन्य से अन्वित (अनुबद्ध) उसकी पूर्णत प्राप्ति ही फलागम है। रत्नावली नाटिका मे काम-सिद्धि का हेतु रत्नावली-समागम रूप फल है जो अर्थ सिद्धि के हेतु चक्रवर्तित्व-प्राप्ति से समन्वित है । अत दोनो के प्राप्त होने पर ही फल की पूर्णत सिद्धि अर्थात् फलागम कहलाता है।

(३) **अर्थप्रकृतियाँ और कार्यावस्थाए—**इन दोनो के स्वरूप विवेचन से यह स्पष्ट है कि बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य—ये पॉच अर्थप्रकृतियाँ फल-सिद्धि के उपाय है। यहाँ कार्य = नायक का व्यापार। फल को लक्ष्य करके किये गये कार्य (अर्थात् नायक-व्यापार) की पॉच अवस्थाएँ ही कार्यावस्थाएँ है। यद्यपि नाट्यशास्त्र आदि मे इतिवृत्त के सन्दर्भ मे ही अर्थप्रकृतियाँ तथा कार्यावस्थाओ का उल्लेख

सन्धिलक्षणमाह—

(३४) अर्थप्रकृतय पञ्च पञ्चावस्थासमन्विता ॥२२॥
यथासख्येन जायन्ते मुखाद्या पञ्च सन्धय ।

अर्थप्रकृतीना पञ्चाना यथासख्येनावस्थाभि पञ्चभिर्योगात् यथासङ्ख्येनैव वक्ष्यमाणा मुखाद्या पञ्च सन्धयो जायन्ते ।

सन्धिसामान्यलक्षणमाह—

(३५) अन्तरकार्थसम्बन्ध सन्धिरेकान्वये सति ॥२३॥

एकेन प्रयोजनेनान्विताना कथाशानामवान्तरैकप्रयोजनसबन्व सन्धि ।

के पुनस्ते सन्धय —

(३६) मुखप्रतिमुखे गर्भ सावमर्शोपसहृति ।

किया गया है तथापि अथप्रकृतियो का साक्षात् सम्बन्ध इतिवृत्त के फल के साथ हे, ये उसी फल की सिद्धि के उपाय होती है । कार्यावस्थाओ का साक्षात् सम्बन्ध नायक के व्यापार (कार्य) के साथ है । इन दोनो का इतिवृत्त के साथ साक्षात् सम्बन्ध नही, किन्तु परम्परया सम्बन्ध तो हे ही । इसीलिये भारतीय नाट्यशास्त्र मे इन दोनो के आधार पर इतिवृत्त का पाँच भागो मे विभाजन किया गया है, जिसे पञ्चसन्धि के नाम से कहा जाता है । भरत मुनि ने बतलाया हे—"इतिवृत्त नाट्य का शरीर है, उसका विभाग ५ सन्धियो द्वारा किया जाता है (ना० शा० १९ १) । इस प्रकार अर्थप्रकृति, कार्यावस्था तथा सन्धि का भेद स्पष्ट ही है । अर्थप्रकृति=फल सिद्धि के उपाय । कार्यावस्था = फल को लक्ष्य कर किये गये व्यापार की अवस्थाएँ । सन्धि= अर्थप्रकृति और कार्यावस्थाओ के आधार पर किये गये इतिवृत्त के विभाग।

पाँच सन्धियाँ

सन्धि शब्द का अथ है–सन्धान, मिश्रण, ठीक ढग से मिलाना । यहाँ पर किसी रूपक की कथावस्तु की सुव्यवस्थित योजना का नाम ही सन्धि है, अर्थात् कथा वस्तु को विभक्त करके ठीक रूप से सगठित करना । सन्धि के स्वरूप, सामान्य लक्षण प्रकार तथा अङ्गो का आगे निरूपण किया जा रहा है ।

सन्धि का लक्षण बतलाते है—

पाँच अवस्थाओ से समन्वित होकर पाँच अर्थप्रकृतियाँ ही क्रम से मुख इत्यादि पाँच सन्धियाँ बन जाती है ॥२१॥

(बीज, बिन्दु, पताका प्रकरी और कार्य इन) पाच अर्थप्रकृतियो का क्रमशः आरम्भ आदि पाँच अवस्थाओं के साथ योग होने से क्रमश आगे कही जाने वाली मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और उपसहृति–ये पाँच सन्धियाँ बन जाती है ।

सन्धि का सामान्य-लक्षण बतलाया है—

एक प्रयोजन से अन्वित होने पर किसी एक अवान्तर प्रयोजन के साथ सम्बन्ध होना ही सन्धि कहलाता है ॥२३॥

किसी एक (मुख्य) प्रयोजन से सम्बन्ध रखने वाले कथा भागों का दूसरे एक अवान्तर प्रयोजन के साथ सम्बन्ध होना ही सन्धि है ।

ये सन्धियाँ कौनसी हैं ?

मुख, प्रतिमुख, गर्भ, सावमर्श और उपसहृति ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० १९ १, ३७, भा० प्र० पृ० २०७–२०८, ना० द० १ ३७, सा०द० ६ ७४-८१ ।

(२) धनञ्जय के अनुसार सन्धि का लक्षण यह हे—किसी रूपक मे कई कथाश होते हे उनके अपने प्रयोजन भी भिन्न-भिन्न होते है किन्तु वे इतिवृत्त के प्रधान प्रयोजन से समन्वित होते है और किसी अवान्तर प्रयोजन के साथ भी उन सब का सम्बन्ध हुआ करता है। यही सम्बन्ध सन्धि कहलाता है अर्थात् मुख्य प्रयोजन से अन्वित कथाशो का किसी एक अवान्तर प्रयोजन स सम्बन्ध । सन्धियो का रचनात्मक स्वरूप है—

१ बीज+प्रारम्भ=मुखसन्धि, २- बिन्दु+प्रयत्न=प्रतिमुख सन्धि,
३ पताका+प्राप्त्याशा—गभ सन्धि, ४ प्रकरी+नियताप्ति=अवमश,
५ कार्य+फलागम=उपसहृति ।

किन्तु यदि अर्थप्रकृतियो का अवस्थाओ के साथ क्रमश सम्बन्ध होने पर सन्धि का आविर्भाव होता है तो कठिनाई यह है कि अथप्रकृतियो मे पताका के पश्चात् प्रकरी आती हे, रामकथा मे पताका का उदाहरण सुग्रीव कथा है और प्रकरी का उदाहरण शबरी या जटायु की कथा, किन्तु सुग्रीव-कथा का जटायु की कथा के बाद मे वरान किया गया है अत सन्धि मे अथप्रकृतियो और अवस्थाओ का क्रमश सम्बन्ध कैसे सम्भव है ? इसके अतिरिक्त ये सन्धियाँ पताका मे भी होती है जिन्हे अनुसन्धि कहा जाता है (ना० शा० १ २८), फिर अर्थप्रकृति तथा अवस्थाओ के योग से सन्धि का अविर्भाव कैसे माना जा सकता है ? तथ्य यह है कि सन्धियाँ कार्यावस्थाओ का अनुगमन करती है (ना० शा० १९ ३७—४३ तथा ना० द० १ ३७)। इस प्रकार प्रारम्भ आदि अवस्थाओ के अनुसार क्रमश मुख आदि पाँच सन्धियाँ होती है। विभिन्न सन्धियो मे कथावस्तु का क्रमिक विकास निहित है और नायक का फल-प्राप्ति की ओर अग्रसर होना भी। अर्थप्रकृतियो के साथ सन्धियो का क्रमिक सम्बन्ध नही बन सकता। हाँ, बीज, बिन्दु और कार्य जो किसी भी रूपक के लिये अनिवार्य अर्थप्रकृतियाँ है और जो इतिवृत्त मे व्याप्त सी रहती है, उनकी विविध अवस्थाओ का पञ्च सन्धियो से योग अवश्य रहता है, विशेषकर बीज तथा कार्य की अवस्थाओ का। इस प्रकार दशरूपक (तथा साहित्यदर्पण) का सन्धि का स्वरूप-विवेचन युक्तियुक्त नही प्रतीत होता। किन्तु इससे अर्थप्रकृतियो का विभाजन व्यर्थ नही हो जाता, जैसा कि कीथ आदि विद्वानो ने कहा है (सस्कृत नाटक)। अर्थप्रकृतियाँ तो कार्य-सिद्धि के उपाय है। कथावस्तु के सघटन तथा विकास मे उनका अपना महत्त्व है। (३) प्रश्न यह है कि क्या ये पाँचो सन्धियाँ सभी प्रकार के रूपको मे अनिवार्य है ? ना० शा० (१९ १७,४४) के अनुसार नाटक तथा प्रकरण मे पाँचो सन्धियाँ अनिवार्य है किन्तु अन्य रूपको मे इनमे से कुछ को छोड दिया जाता है । अभिनव भारती (१९ १७) मे उद्धृत उपाध्याय-मत के अनुसार तो प्रत्येक इतिवृत्त पञ्चसन्धि समन्वित ही होता है ।

यथोद्देश लक्षणमाह—

(३७) मुख बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा ।
अङ्गानि द्वादशैतस्य बीजारम्भसमन्वयात् ॥२४॥

बीजानामुत्पत्तिरनेकप्रकारप्रयोजनस्य रसस्य च हेतुर्मुखसन्धिरिति व्याख्येय तेनात्रिवर्गफले प्रहसनादौ रसोत्पत्तिहेतोरेव बीजत्वमिति ।

नाम निर्देश के क्रम से (सन्धियो का) लक्षण बतलाते है—

जहाँ अनेक प्रकार के प्रयोजन और रस को निष्पन्न करने वाली बीजोत्पत्ति होती है, वह मुखसन्धि है। बीज और आरम्भ के समन्वय से इसके बारह अङ्ग हो जाते है ॥२४॥

जहाँ बीजो की उत्पत्ति होती है और जो अनेक प्रकार के प्रयोजन तथा रस की निष्पत्ति का निमित्त होती है वह मुख सन्धि है—ऐसी व्याख्या करनी चाहिये । इस प्रकार जिनका त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) फल नही है ऐसे प्रहसन इत्यादि (रूपको) मे भी रसोत्पत्ति का हेतु ही बीज होता है ।

टिप्पणी— नानार्थरससम्भवा—यहाँ 'अर्थ' शब्द का अभिप्राय यदि त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) लिया जाये तो दोष यह आता है कि प्रहसन आदि जो रूपक है वे तो केवल रसनिष्पत्ति के हेतु है, उनसे धम, अर्थ, काम इत्यादि की सिद्धि नही मानी जाती, फिर उनमे मुखसन्धि का लक्षण कैसे घटित हो सकेगा ? इस दोष को दूर करने के लिये यहाँ अर्थ शब्द का तात्पय 'प्रयोजन' माना गया है, त्रिवर्ग नही । फिर भी इस समस्त पद का विग्रह दो प्रकार से हो सकता है (i) नानाऽर्थाना प्रयोजनाना रसाना च सम्भवो यस्या बीजसमुत्पत्ते =जो बीजोत्पत्ति अनेक प्रकार के प्रयोजनो तथा रसो की हेतु होती है । (ii) नानाथस्य=अनेकप्रकारप्रयोजनस्य रसस्य सम्भवो यस्या =जिससे अनेक प्रकार के प्रयोजन वाले रस की निष्पत्ति होती है, यहाँ 'नानार्थ' शब्द रस का विशेषण है (द्र० प्रता० टीका ३ ८) । धनिक की व्याख्या से ये दोनो अर्थ निकल सकते है । (i) भाव यह है कि जहाँ बीज की उत्पत्ति अनेक प्रकार के प्रयोजन तथा रस-निष्पत्ति का हेतु होती है, वह मुख सन्धि है । (ii) अथवा रसनिष्पत्ति के भी अनेक प्रयोजन हो सकते है जैसे आनन्दानुभूति तथा सुखपूर्वक त्रिवर्ग की व्युत्पत्ति आदि । प्रहसन आदि मे भी आनन्दानुभूति होती है । यद्यपि वहाँ त्रिवर्ग की व्युत्पत्ति नही होती तथापि अनेक प्रकार के प्रयोजन वाले रस की निष्पत्ति बन ही जाती है अत कोई दोष नही । फिर भी यहाँ धनञ्जय का क्या आशय है, यह विचारणीय ही हैं। भावप्रकाश (पृ० २०७ २०८) के अनुसार तो शृङ्गार आदि रस भी त्रिवर्ग प्राप्ति मे उपयोगी है अत यहाँ अर्थ शब्द का अभिप्राय 'त्रिवर्ग' माना जाये तो भी कोई कठिनाई नही ।

अस्य च बीजारम्भार्थयुक्तानि द्वादशाङ्गानि भवन्ति तान्याह--

(३८) उपक्षेप परिकर परिन्यासो विलोभनम् ॥२५॥
युक्ति प्राप्ति समाधान विधान परिभावना।
उद्भेदभेदकरणान्यन्वर्थान्यथ लक्षणम् ॥२६॥

एतेषा स्वसज्ञाव्याख्यातानामपि सुखार्थं लक्षरण क्रियते--

(३९) बीजन्यास उपक्षेप —

यथा रत्नावल्याम्—(नेपथ्ये)

द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूत ॥३॥

इत्यादिना यौगन्धरायणो वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुभूतमनुकूलदैव स्वव्यापार बीजत्वेनोपक्षिप्तवानित्युपक्षेप ।

परिकरमाह—

(४०)—तद्बाहुल्य परिक्रिया।

इस (मुखसन्धि) के बीज, आरम्भ तथा प्रयोजन से समन्वित बारह अङ्ग होते है। उनको बतलाते है—

१ उपक्षेप, २ परिकर, ३ परिन्यास, ४ विलोभन, ५ युक्ति, ६ प्राप्ति ७ समाधान, ८ विधान, ९ परिभावना, १० उद्भेद, ११ भेद और १२ करण ये अन्वर्थ नाम है। इनके लक्षण है ॥२५, २६॥

यद्यपि इनके नाम से ही इनकी व्याख्या हो गई है तथापि सुगमता के लिये इनका लक्षरण किया जाता है।

१, उपक्षेप

बीज का (शब्दो मे) रखना ही उपक्षेप है।

जैसे रत्नावली नाटिका मे (नेपथ्य मे) द्वीपाद् इत्यादि १ ६ (अनुकूल दैव दूसरे द्वीप से भी, सागर के मध्य से भी, दिशाओ के छोर से भी अभीष्ट वस्तु को लाकर शीघ्र मिला देता है) मे यौगन्धरायरण ने वत्सराज को रत्नावली की प्राप्ति का हेतु जो दैव अनुकूलता सहित अपना (यौगन्धरायरण का) उद्योग है, उसको बीज रूप मे रख दिया है अत यह उपक्षेप है।

२ परिकर को बतलाते है—

उस (बीज) की वृद्धि ही परिकर है।

जैसे वही (रत्नावली १ ६–७)—'यदि ऐसा (दैव की अनुकूलता) न होता तो सिद्धो के कथन पर विश्वास करके (वत्सराज के लिये) माँगी हुई सिंहलेश्वर

यथा तत्रैव—अन्यथा क्व सिद्धादेशप्रत्ययप्रार्थिताया सिंहलेश्वरदुहितु समुद्रे प्रवहणभङ्गमग्नोत्थिताया फलकासादनम् ।' इत्यादिना 'सवथा स्पृशन्ति स्वामिनमभ्युदया ।' इत्यन्तेन बीजोत्पत्तेरेव बहूकरणात्परिकर ।

परिन्यासमाह—

(४१) तन्निष्पत्ति परिन्यास —

यथा तत्रैव—

प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो वृद्धिहेतौ दैवे चेत्थ दत्तहस्तावलम्बे ।
सिद्धेर्भ्रान्तिर्नास्ति सत्य तथापि स्वेच्छाकारी भीत एवास्मि भर्तु ॥४॥

इत्यनेन यौगन्धरायण स्वव्यापारदैवयोर्निष्पत्तिमुक्तवानिति परिन्यास ।

विलोभनमाह—

(४२)—गुणाख्यान विलोभनम् ॥२७॥

यथा रत्नावल्याम्—

अस्तापास्तसमस्तभासि नभस पार प्रयाते रवा-
वास्थानी समये सम नृपजन सायतने सपतन् ।

की पुत्री जलयान के टूट जाने पर डूबती हुई उठकर तख्ते को कैसे प्राप्त कर लेती ?—यहाँ से लेकर 'स्वामी (वत्सराज) को सब प्रकार से अभ्युदय प्राप्त हो रहे है ।' यहाँ तक बीज की उत्पत्ति का ही बाहुल्य दिखलाया गया है अत यह परिकर है ।

३ परिन्यास को बतलाते है—

उस (बीज) की निष्पत्ति (सिद्धि) परिन्यास कहलाता है ।

जैसे वहीं (रत्नावली १ ७ मे ही)—'स्वामी के अभ्युदय के लिये आरम्भ किये गये इस कार्य मे दैव ने भी इस प्रकार हाथ का सहारा दे दिया है अत सचमुच ही इसकी सिद्धि मे सन्देह नहीं है । फिर भी अपनी इच्छा से कार्य करने वाला मै स्वामी से डर रहा हू ।' इसके द्वारा यौगन्धरायण ने अपने उद्योग और दैव की सिद्धि बतलाई है अत यह परिन्यास है ।

टिप्पणी—(१) जिस प्रकार खेत मे डाला गया बीज फूलकर अङ्कुरोत्पादन के लिये समर्थ हो जाता है उसी प्रकार नाट्य का बीज भी उपक्षिप्त होकर तथा पुष्ट होकर फल की सिद्धि मे समर्थ हो जाता है, यही बीजनिष्पत्ति है जिसे परिन्यास कहते है । (२) ना० द० (१ ५२) के अनुसार 'विनिश्चय. परिन्यास' यह लक्षण है किन्तु तात्पर्य यही है ।

४ विलोभन को बतलाते हैं—

गुणो का वर्णन विलोभन कहलाता है ॥२७॥

जैसे रत्नावली (१·२३) में—"समस्त किरणो को अस्ताचल पर डाल चुकने वाले सूर्य के आकाश के पार चले जाने पर सायकाल नृप-समुदाय एक साथ सभा भवन की ओर जा रहा है-और इस समय यह चन्द्रमा की किरणो के समान

सप्रत्येष सरोरुहद्युतिमुष पादास्तवासेवितु
प्रीत्युत्कर्षकृतो दृशामुदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते ।।५।।

इति वैतालिकमुखेन चन्द्रतुल्यवत्सराजगुणवर्णनया सागरिकाया समागमहेत्वनुराग-बीजानुगुण्येनैव विलोभनाद्विलोभनमिति ।

यथा च वेणीसहारे—

मन्थायस्तार्णवाम्भ प्लुतकुहरवलन्मन्दरध्वानधीर
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसघट्टचण्ड ।
कृष्णाक्रोधाग्रदूत कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवात
केनास्मत्सिहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽयम् ।।६।।

इत्यादिना 'यशोदुन्दुभि' इत्यन्तेन द्रौपद्या विलोभनाद्विलोभनमिति ।

अथ युक्ति—-

(४३) सप्रधारणमर्थाना युक्ति—

यथा रत्नावल्याम्—'मयापि चैना देवीहस्ते सबहुमान निक्षिपता युक्तमेवानुष्ठितम् । कथित च मया यथा बाभ्रव्य कञ्चुकी । सिहलेश्वरामात्येन वसुभूतिना

कमल की कान्ति को हरने वाले एव आनन्द का अतिशय उत्पन्न करने वाले तुम्ह उदयन के चरणो की सेवा करने की प्रतीक्षा कर रहा है ।"

यहाँ वैतालिक के मुख से चन्द्रमा-सदृश वत्सराज के गुणो के वर्णन द्वारा सागरिका का विलोभन किया गया है जो (उदयन और रत्नावली के) समागम के हेतु अनुराग रूपी बीज का जनक है' अत यहाँ विलोभन (नामक मुख सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—आनुगुण्य = अनुकूलता = जनकता । रत्नावली समागम का अवान्तर बीज है—अनुराग । वत्सराज के गुणो का श्रवण करके सागरिका (रत्नावली) के हृदय मे यह अनुरागरूपी बीज उत्पन्न होता है ।

और, जैसे वेणीसहार (१ २२) मे— मन्थन से क्षुब्ध सागर के जल से भरी हुई गुफा वाले, घूमते हुए मन्दराचल की ध्वनि के समान गम्भीर, वादन दण्ड के ताडन के समय (कोणाघातेषु) गरजती हुई प्रलय-काल की घन-घटाओ के परस्पर टकराने के समान प्रचण्ड, द्रौपदी के क्रोध का अग्रदूत, कुरुवश के विनाश के सूचक प्रचण्ड वायु के समान, हमारे सिंहनाद की प्रतिध्वनि का मित्र यह नगाडा किसने पीटा है ?'

यहाँ से आरम्भ करके यशोदुन्दुभि (१ २५) तक (का अश) द्रौपदी विलोभन करने के कारण विलोभन (नामक मुखसन्धि का अङ्ग) है ।

५ युक्ति

प्रयोजनो का निर्णय करना ही युक्ति है ।

जैसे रत्नावली (१ ६–७) मे यौगन्धरायण कहता है—'मैने भी इस (सागरिका) को आदरपूर्वक देवी (वासवदत्ता) के हाथ मे सौंपकर उचित ही किया

सह कथकथमपि समुद्रादुत्तीर्य कोशलोच्छित्तये गतस्य रुमण्वतो घटित ।' इत्यनेन सागरिकाया अन्त पुरस्थाया वत्सराजस्य सुखेन दर्शनादिप्रयोजनावधारणाद् बाभ्रव्य-सिंहलेश्वरामात्ययो स्वनायकसमागमहेतुप्रयोजनत्वेनावधारणाद्युक्तिरिति ।

अथ प्राप्ति —

(४४)—प्राप्ति सुखागम ।

यथा वेणीसहारे—'चेटी—भट्टिणि, परिकुविदो विअ कुमारो लक्खीअदि ।' [भर्त्रि, परिकुपित इव कुमारो लक्ष्यते ।] इत्युक्रमे भीम —

मथ्नामि कौरवशत समरे न कोपाद् दु शासनस्य रुधिर न पिबाम्युरस्त ।
सचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू सन्धि करोतु भवता नृपति पणेन ॥७॥

द्रौपदी=[श्रुत्वा सहर्षम्] णाध, अस्सुदपुव्व खुए द वअण ता पुणो पुणो भण ।' (नाथ, अश्रुतपूर्व खल्वेतद्वचन तत्पुन पुनभण) इत्यनेन भीमक्रोधबीजान्वयेनैव सुख-प्राप्त्या द्रौपद्या प्राप्तिरिति ।

यथा च रत्नावल्याम्—'सागरिका—[श्रुत्वा सहर्ष परिवृत्य सस्पृह पश्यन्ती] कध अअ सो राआ उदयणो जस्स अह तादेण दिण्णा ता परप्पेसणदूसिद मे जीविद

है । मैने भी कह दिया है कि बाभ्रव्य नाम का कञ्चुकी सिहलराज के वसुभूमि नामक अमात्य के साथ किसी प्रकार सागर से पार होकर कौशल के विनाश के लिये गये हुए रुमण्वान् से मिल गया है ।'

इस (कथन) के द्वारा अन्त पुर मे स्थित सागरिका का सुगमतापूर्वक वत्सराज की दृष्टि मे आ जाना इत्यादि प्रयोजन का निश्चय किया गया है तथा बाभ्रव्य और सिंहलेश्वर के अमात्य (वसुभूति) इन दोनो का अपने (यौगन्धरायण के) नायक (उदयन) के समागम (रत्नावली-मिलन) मे हेतु होना आदि को प्रयोजन रूप मे निश्चित किया गया है । अत यहाँ युक्ति (नामक मुख सन्धि का अङ्ग) है ।

६ प्राप्ति

(बीज के सम्बन्ध से) सुख का प्राप्त होना ही प्राप्ति है ।

जैसे वेणीसहार (१ १५) मे चेटी (द्रौपदी से) कहती है—हे स्वामिनि, कुमार (भीमसेन) क्रुद्ध से दिखाई दे रहे है ।' इस सन्दर्भ मे भीम कहता है—'क्या मै क्रोध से सौ कौरवो को युद्ध मे न मारूँ ? दु शासन के वक्ष स्थल से रक्त न पीऊँ ? दुर्योधन की जघाओ को गदा से चूर्ण न करूँ ? आप (सहदेव आदि) का राजा भले ही शर्त (पण) पर सन्धि कर ले ।''

तब द्रौपदी (सुनकर हर्ष के साथ) कहती है—'स्वामी, यह वचन पहले कभी नहीं सुना था, फिर से कहिये ।'

यहाँ भीम के क्रोध-रूपी बीज के सम्बन्ध से द्रौपदी को सुख की प्राप्ति होती है अत यह प्राप्ति (नामक मुख सन्धि का अङ्ग) है ।

और, जैसे रत्नावली (१ २८–१४) मे सागरिका (वैतालिको का कथन

एतस्स दसरोण बहुमद सजादम् ।' [कथमय स राजोदयनो यस्याह् तातेन दत्ता तत्परप्रेषरणदूषित मे जीवितमेतस्य दशनेन बहुमत सजातम्] इति सागरिकाया सुखागमात्प्राप्तिरिति ।

अथ समाधानम् ।

(४५) बीजागम समाधानम्—

यथा रत्नावल्याम्—'वासवदत्ता—तेरा हि उअरगेहि मे उवअरणाइ । [तेन ह्युपनय म उपकरणानि ।'] सागरिका—भट्टिरिए, एद सव्व सज्जम् । ['भर्त्रि, एतत्सर्वं सज्जम् ।'] वासवदत्ता— निरूप्यात्मगतम्] अहो पमादो परिअरणस्स जस्स एव्व दसरणपहादो पअत्तेरा रक्खीअदि तस्स ज्जेव कह दिट्ठिगोअर आअदा, भोदु एव्व दाव । [प्रकाशम्] हञ्जे सागरिए कीस तुम अज्ज पराहीरो परिअरो मअरगूसवे सारिअ मोत्तूरा इहागदा । ता तहिं ज्जेव गच्छ ' ['अहो प्रमाद परिजनस्य यस्यैव दर्शनपथात्प्रयत्नेन रक्ष्यते तस्यैव कथ दृष्टिगोचरमागता, भवतु एव तावत् । चेटि सागरिके, कथ त्वमद्य पराधीने परिजने मदनोत्सवे सारिका मुक्त्वेहागता तस्मात्तत्रैव गच्छ ।') इत्युपक्रमे 'सागरिका—(स्वगतम्) 'सारिआ दाव मए सुसङ्गदाए हत्थे समप्पिदा पेक्खिदु च मे कुतूहल । ता अलक्खिआपेक्खिस्सम् ।' (सारिका तावन्मया सुसङ्गताया हस्ते समर्पिता प्रेक्षितु च मे कुतूहल तदलक्षिता प्रेक्षिष्ये ।') इत्यनेन ।

सुनकर हर्ष के साथ घूमकर स्पृहापूर्वक देखती हुई) कहती है—'क्या यही वह राजा उदयन है, जिसके लिये पिता जी ने मुझे दिया है, तब तो दूसरे की चाकरी से दूषित हुआ भी मेरा जीवन इसके दर्शन से आदर-योग्य हो गया ।'

यहाँ सागरिका को (औत्सुक्य रूपी बीज के सम्बन्ध से) सुख की प्राप्ति होती है अत यह प्राप्ति (नामक मुख सन्धि का अङ्ग) है ।

७ समाधान—

बीज का आगमन समाधान है ।

जैसे रत्नावली (१ १८–१९) मे । वासवदत्ता—जब तो मेरी पूजा की सामग्री लाओ ।

सागरिका—स्वामिनी यह सब तैयार है ।

वासवदत्ता—(देखकर मन ही मन) 'ओह, दासियो का प्रमाद । जिस (राजा उदयन) के दृष्टिपथ से प्रयत्नपूर्वक बचाई जा रही है उसी की दृष्टि मे पड जायेगी । अच्छा, तब मै इस प्रकार कहू (प्रकट रूप से) अरी, सागरिका, आज सेवको के मदन-महोत्सव मे व्यस्त होने पर तुम सारिका को छोडकर यहाँ कैसे आ गइ ? इसलिये शीघ्र वहीं जाओ ।'

इस सन्दर्भ मे सागरिका (मन ही मन) कहती है—'सारिका तो मैंने सुसङ्गता के हाथ मे सौंप दी है और मुझे देखने की उत्सुकता है । इसलिये छिपकर देखूँगी ।'

वासवदत्ताया रत्नावलीवत्सराजयोर्दर्शनप्रतीकारात्सारिकाया सुसङ्गतार्पणेनालक्षितप्रेक्षणेन च वत्सराजसमागमहेतोर्बीजस्योपादानात्समाधानमिति ।

यथा च वेणीसहारे—'भीम —भवतु पाञ्चालराजतनये श्रूयतामचिरेणैव कालेन

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघातसञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।

स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणिरुत्त सयिष्यति कचास्तव देवि भीम ॥८॥

इत्यनेन वेणीसहारहेतो क्रोधबीजस्य पुनरुपादानात्समाधानम् ।

इस (कथन) के द्वारा (समाधान दिखलाया है) । यहाँ वासवदत्ता के द्वारा रत्नावली और वत्सराज के परस्पर दर्शन को रोका जाता है इसीलिये सागरिका सारिका को सुसङ्गता के हाथो मे सौंपकर, छिपकर (राजा) के दर्शन करती है । इससे वत्सराज के समागम के हेतु-रूप बीज का ग्रहण किया गया है, अत. यह समाधान (नामक मुख सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी —यहाँ 'सारिकाया सुसङ्गतार्पणेन+अलक्षितप्रेक्षणेन च बीजस्य उपादानात्'—यह अन्वय हे । सारिका को सुसङ्गता के हाथो सौंपने और छिपकर देखने, इस सागरिका की चेष्टा द्वारा बीज का पुन ग्रहण किया गया है । इस प्रकार यही चेष्टा वत्सराज से समागम का हेतु है तथा यही बीज है । इस चेष्टा से सागरिका का औत्सुक्य प्रकट होता है । इसलिये कही कही 'औत्सुक्य' को बीज कह दिया गया है ।

और जैसे वेणीसहार (१ २१) मे भीम कहता है—अच्छा, पाञ्चाल की राजकुमारी, सुनिये । थोडे ही समय मे—

हे देवी, फडकती हुई भुजाओ द्वारा घुमाई गई भीषण गदा के प्रहार से चूर-चूर हुई जघाओ वाले दुर्योधन के चिकने (स्त्यान), अच्छी तरह लगे हुए (अवनद्ध) गाढ़े रक्त से लाल हाथो वाला भीम तेरे केशो को अलङ्कृत करेगा ।

इस (कथन) के द्वारा वेणी को सवारने का हेतु जो (भीम का) क्रोध रूपी बीज है उसका फिर से ग्रहण किया गया है अत यह समाधान नामक मुख सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—ना० शा० (१९ ७२) मे 'बीजार्थस्योपगमन समाधानम्' यह लक्षण है । सा० द० (६.८५) मे दशरूपक के समान ही लक्षण है । ना० द० (१ ५३) मे पुनर्न्यास समाहिति अर्थात् सक्षेप मे उपक्षिप्त बीज का फिर स्पष्ट रूप से आधान ही समाधान है । यहाँ यह लक्षण अधिक स्पष्ट हो गया है । प्रता० (३.१०) मे ही यही भाव है (बीजसन्निधान समाधानम्) । ना० द० और सा० द० मे दिये गये उदाहरण मे दशरूपक से अन्तर है ।

अथ विधानम्—

(४६)—विधान सुखदु खकृत् ॥२८॥

यथा मालतीमाधवे प्रथमेऽङ्के—माधव —

यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमानन तदावृत्तवृन्तशतपत्रनिभ वहन्त्या ।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या गाढ निखात इव मे हृदये कटाक्ष. ॥६॥

यद्विस्मयस्तिमितमस्तमितान्यभाव—
मानन्दमन्दममृतप्लवनादिवाभूत ।
तत्सनिधौ तदधुना हृदय मदीय—
मङ्गारचुम्बितमिव व्यथमानमास्ते ॥१०॥

इत्यनेन मालत्यवलोकनस्यानुरागस्य समागमहेतोर्बीजानुगुण्येनैव माधवस्य सुख दुखकारित्वाद्विधानमिति ।

यथा च वेणीसहारे—द्रौपदी—णाध पुणोवि तुम्मेहिं अह आअच्छिअ समासासिदव्वा । ('नाथ पुनरपि त्वयाहमागत्य समाश्वासयितव्या ।' भीम —ननु पाञ्चालराजतनये किमद्याप्यलीकाश्वासनया ।

भूय परिभवक्लान्तिलज्जाविधुरिताननम् ।
अनि शेषितकौरव्य न पश्यसि वृकोदरम् ॥११॥

इति सङ्ग्रामस्य सुखदु खहेतुत्वाद्विधानमिति ।

---

८ विधान

सुख और दु ख (दोनो) को उत्पन्न करने वाला विधान कहलाता है।

जैसे मालतीमाधव के प्रथम अङ्क (१ ३०) मे माधव कहता है—'झुके वृन्त वाले कमल के सदृश बार बार वक्रित ग्रीवा वाले मुख को धारण करती हुई, रोमयुक्त नेत्रो वाली जाती हुई मालती ने अमृत और विष मे बुझा हुआ कटाक्ष (रूपी बाण) मानो मेरे हृदय मे गहरा गाड दिया है।'

माधव (मन ही मन) कहता है—(१ २) जो मेरा हृदय मालती के समीप होने पर आश्चर्य से निश्चल था, जिसमे अन्य भावो का अस्त हो गया था, जो मानो अमृत मे स्नान करने के कारण आनन्द से स्तब्ध हो गया था, वही मेरा हृदय अब अङ्गारो से छुआ गया सा पीडायुक्त हो रहा है।'

यहाँ पर मालती का अवलोकन और (माधव का उसके प्रति) अनुराग (मालती तथा माधव के) समागम का हेतु है वह बीज के अनुकूल होकर ही सुख तथा दु ख करने वाला है अत विधान (नामक मुख सन्धि का अङ्ग) है।

और, जैसे वेणीसहार (१ २५-२६) मे द्रौपदी कहती है—'नाथ फिर भी आप आकर मुझे सान्त्वना दीजियेगा।' इस पर भीम कहता है—'पाञ्चाल की राजकुमारी अब झूठे आश्वासन से क्या लाभ ?

अब फिर तुम भीम को कौरवो का नाश किये बिना निरस्कार के कारण ग्लानि और लज्जा से दीन मुख वाला न देखोगी।

अथ परिभावना--

(४७) परिभावोऽद्भुतावेश —

यथा रत्नावल्याम्--'सागरिका-- दृष्ट्वा सविस्मयम्) कध पच्चक्खो ज्जेव अणङ्गो पूअ पडिच्छेदि । ता अहपि इव ट्ठिदा ज्जेव ण पूजइस्सम् । ('कथ प्रत्यक्ष एवानङ्ग पूजा प्रतीक्षते । तद् अहमपीह स्थितैवैन पूजयिष्यामि' ।) इत्यनेन वत्स-राजस्यानङ्गरूपतयापह्नवादनङ्गस्य च प्रत्यक्षस्य पूजाग्रहणस्य लोकोत्तरत्वादद्भुतर-सावेश परिभावना ।

यथा च वेणीसहारे—द्रौपदी--कि दाणि एसो पलअजलधरत्थणिदमसलो खणे खणे समरदुन्दुभी ताडीअदि ।' ['किमिदानीमेष प्रलयजलधरस्तनितमासल क्षणे क्षणे समरदुन्दुभिस्ताड्यते'] इति लोकोत्तरसमरदुन्दुभिध्वनेर्विस्मयरसावेशाद् द्रौपद्या परिभावना ।

यहाँ सग्राम सुख और दु ख का हेतु है अत विधान (नामक मुख सन्धि का अङ्ग) है ।

९ परिभावना

अद्भुत (भाव) का समावेश होना ही परिभावना है ।

जैसे रत्नावली (१ २२–२३) मे 'सागरिका (कामदेव पूजा मे उदयन को देख-कर, आश्चर्य के साथ) 'क्या ! कामदेव प्रत्यक्ष होकर पूजा को ग्रहण कर रहा है । तो मै भी यहाँ खडी होकर ही इसकी पूजा करूगी ।'

इसके द्वारा कामदेव के रूप मे समझने के कारण वत्सराज (के अपने रूप) को छिपाया गया है तथा कामदेव का प्रत्यक्ष होकर पूजा ग्रहण करना लोकोत्तर कार्य है अत यहाँ अद्भुत रस का समावेश है और परिभावना (नामक मुख सन्धि का अङ्ग) है ।

और, जैसे वेणीसहार (१ २४- २५) मे द्रौपदी कहती है—'इस समय यह प्रलयकालीन मेघध्वनि के समान गम्भीर रणभेरी क्षण क्षण मे क्यो पीटी जा रही है ।'

यहाँ समर-दुन्दुभि की ध्वनि लोकोत्तर है उससे द्रौपदी (के हृदय) मे अद्भुत रस (विस्मय) का आवेश वर्णित किया गया है, अत परिभावना (नामक मुख सन्धि का अङ्ग) है।

टिप्पणी—ना० शा० (१९ ७३) मे 'कुतूहलोत्तरावेगो विज्ञेया परिभावना' अर्थात् जिसके पश्चात् कुतूहल उत्पन्न हो जाता है, ऐसे आवेग को परिभावना कहा कहा जाता है । ना० द० (१ ४५) मे भी 'विस्मय परिभावना' कहकर यही भाव प्रकट किया गया है । दशरूपक के लक्षण का भी यही भाव है तथा प्रता० (३.१०) मे भी यही भाव है । सा० द० (६ ८३) मे यह भाव अधिक स्पष्ट हो गया है—'कुतू-हलोत्तरा वाचः प्रोक्ता तु परिभावना अर्थात् कुतूहलजनक वचन ही परिभावना कहलाती है ।

अथोद्भेद —

(४८)—उद्भेदो गूढभेदनम् ।

यथा रत्नावल्या वत्सराजस्य कुसुमायुधव्यपदेशगूढस्य वैतालिकवचसा 'अस्तापास्त' इत्यादिना 'उदयनस्य' इत्यन्तेन बीजानुगुण्येनैवोद्भेदनादुद्भेद । यथा च वेणीसहारे—'आर्य, किमिदानीमध्यवस्यति गुरु । इत्युपक्रमे [नेपथ्ये]

यत्सत्यव्रतभङ्गभीरुमनसा यत्नेन मन्दीकृत
यद्विस्मर्तुमपीहित शमवता शान्ति कुलस्येच्छता ।
तद्द्यूतारणिसभृत नृपसुताकेशाम्बराकर्षणै
क्रोधज्योतिरिद महत्कुरुवने यौधिष्ठिर जृम्भते ॥१२॥

भीम —(सहर्षम्) जृम्भता जृम्भता सप्रत्यप्रतिहतमार्यस्य क्रोधज्योति ।' इत्यनेन छन्नस्य द्रौपदीकेशसयमनहेतोर्युधिष्ठरक्रोधस्योद्भेदनादुद्भेद ।

---

१० उद्भेद

(बीज के अनुकूल) किसी गूढ बात को प्रकट करना ही उद्भेद कहलाता है ।

जैसे रत्नावली नाटिका मे वत्सराज कामदेव के नाम से छिपे थे । वैतालिक ने अस्तापास्त १ २३) इत्यादि से आरम्भ करके 'उदयनस्य इन्दोरिवोद्वीक्षते' (१ २३) यहाँ तक के कथन द्वारा (अनुराग रूपी) बीज के अनुकूल रूप मे (उदयन को) प्रकट कर दिया । अत यहाँ उद्भेद (नामक मुख सन्धि का अङ्ग) है ।

और, जैसे वेणीसहार नाटक (१ २४) मे (भीमसेन के कञ्चुकी से) यह कहने पर "आर्य, अब ज्येष्ठ भ्राता (युधिष्ठिर) ने क्या निश्चय किया है ?" नेपथ्य मे कहा जाता है—

'द्रौपदी (नृपवधू) के केश और वस्त्रो को खींचने से द्यूतरूपी अरणि से उत्पन्न, युधिष्ठिर की वह भारी क्रोधाग्नि, जिसे सत्य-व्रत के भङ्ग से डरने वाले युधिष्ठिर ने यत्नपूर्वक शान्त कर रक्खा था और जिसे शान्तियुक्त तथा कुल को शान्ति के इच्छुक युधिष्ठिर ने भुलाना चाहा था, अब कुरुकुल रूपी वन मे प्रदीप्त हो रही है ।'

भीमसेन—आर्य के क्रोध की ज्वाला प्रदीप्त हो, ऐसी प्रदीप्त हो कि उसकी गति कही भी न रुके ।

द्रौपदी के केशसयमन का हेतु जो युधिष्ठिर का क्रोध है, वह पहले गूढ़ (छन्न) है, उसका प्रकटन यहाँ हो रहा है अत उद्भेद (नामक मुख सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—(1)ना० शा० (१९ ७४) मे यह लक्षण है—'बीजार्थस्य प्ररोहो य उद्भेद, स तु कीर्तित ' (म० मो० स० २१ ७४) । यही लक्षण सा० द० (६.८६) मे

अथ करणम्--

(४६) करण प्रकृतारम्भ —

यथा रत्नावल्याम्—'णमो दे कुसुमाउह ता अमोहदसणो म भविस्ससि त्ति। दिठठ पेक्खिदव्व ता जाव ण कोवि म पेक्खइ ता गमिस्समम् ।' (नमस्ते कुसुमायुध, तदमोघदशनो मे भविष्यसीति । दृष्ट यत्प्रेक्षितव्य तद्यावन्न कोऽपि मा प्रेक्षते तद्गमिष्यामि) । इत्यनेनानन्तराङ्कप्रकृतिनिर्विघ्नदशनारम्भणात्करणम् ।

यथा च वेणीसहारे--'तत्पाञ्चालि गच्छामो वयमिदानी कुरुकुलक्षयाय, सहदेव—आर्य, गच्छाम इदानी गुरुजनानुज्ञाता विक्रमानुरूपमाचरितुम् । इत्यनेनानन्तराङ्कप्रस्तूयमानसङग्रामारम्भणात्करणमिति । सवत्र चेहोद्देशप्रतिनिर्देशवैषम्य क्रियाक्रमस्याविवक्षितत्वादिति ।

अथ भेद —

(५०) – भेद प्रोत्साहना मता ॥२६॥

यथा वेणीसहारे--'णाध' मा क्खु जण्णसेणीपरिभवुद्दीविदकोवा अणपेक्खिद-

---

है । ना० द० (१ ५४) मे 'स्वल्प-प्ररोह उद्‌भेद', यह लक्षण देकर अधिक स्पष्ट किया गया है, अर्थात् बीज का थोडा सा विस्तार जो भूमि मे बोये गये बीज के फूलने के समान है, उद्‌भेद कहलाता है । स्पष्ट ही है कि दशरूपक का उद्‌भेद लक्षण उपर्युक्त लक्षणो से भिन्न है । यहाँ तो छिपे हुए बीज का प्रकट करना ही उदभेद कहा गया है । प्रता० (३ १०) मे भी इसी का अनुसरण किया गया है । (॥) यहाँ जो उद्‌भेद का उदाहरण दिया गया है ना० द० तथा सा० द० मे वह समाधान के उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया गया है ।

११ करण

प्रस्तुत कार्य का आरम्भ करना करण कहलाता है ।

जैसे रत्नावली (१ २?–२३) मे सागरिका कहती है—हे कामदेव, तुम्हे नमस्कार है तुम्हारा दर्शन मेरे लिये सफल हो, जो देखना था मैने देख लिया । इसलिये जब तक कोई मुझे नहीं देखता तब तक चली जाऊँ । इस (कथन) के द्वारा अग्रिम अङ्क मे वर्णनीय जो (सागरिका और वत्सराज का परस्पर) निर्विघ्न दर्शन है उसका आरम्भ किया गया है अत करण (नामक मुख सन्धि का अङ्ग) है ।

और, जैसे वेणीसहार (१ २५--२६) मे भीमसेन कहता है 'अत पाञ्चाली अब हम कौरवों के नाश के लिये जाते है ।' सहदेव—'अब गुरुजनो की अनुमति पाये हुए हम भी पराक्रम के योग्य कार्य करने के लिये जाते है ।' इस (कथन) के द्वारा अग्रिम (द्वितीय) अङ्क मे वर्णनीय जो सग्राम है उसका आरम्भ किया गया है । अत करण (नामक मुख सन्धि का अङ्ग) है ।

यहाँ सब जगह क्रिया का क्रम विवक्षित नही है इसलिये उद्देश और प्रतिनिर्देश (विधेय) का क्रम परिवर्तन (वैषम्य) हो गया है ।

सरीरा परिक्कमिस्सध जदो अप्पमत्तसचरणीयाइ सुणीयन्ति रिउबलाइ । [नाथ, मा खलु याज्ञसेनीपरिभवोद्दीपितक्रोधा अनपेक्षितशरीरा परिक्रमिष्यथ यतोऽप्रमत्तसञ्चरणीयानि श्रूयन्ते रिपुबलानि ।'] भीम —अयि सुक्षत्रिये,

अन्योन्यास्फालभिन्नद्विपरुधिरवसासान्द्रमस्तिष्कपङ्के
मग्नाना स्यन्दनानामुपरि कृतपदन्यासविक्रान्तपत्तौ ।
स्फीतासृक्पानगोष्ठीरसदशिवशिवातूर्यनृत्यत्कबन्धे
सङ्ग्रामकार्णवान्त पयसि विचरितु पण्डिता पाण्डुपुत्रा ॥१३॥

इत्यनेन विषण्णाया द्रौपद्या क्रोधोत्साहबीजानुगुण्येनैव प्रोत्साहनाद् भेद इति ।

एतानि च द्वादशमुखाङ्गानि बीजारम्भद्योतकानि साक्षात्पारम्पर्येण वा विधेयानि । एतेषामुपक्षेपपरिकरपरिन्यासयुक्त्युद्भेदसमाधानानामवश्यभावितेति ।

टिप्पणी—सर्वत्र—'गच्छामो वयम् इदानी कुरुकुलक्षयाय' यहाँ वयम् इत्यादि उद्देश है और 'गच्छाम' विधेय है, और सामान्य नियम यह है कि वाक्य मे उद्देश को पहले रखना चाहिये तथा विधेय को बाद मे । अत 'इदानी वय कुरुकुलक्षयाय गच्छाम । इस प्रकार की वाक्ययोजना होनी चाहिये । इस शङ्का का समाधान करने के लिये धनिक ने कहा है कि यहाँ क्रिया का क्रम विवक्षित नही है अथवा यह कहा जा सकता है कि यहाँ क्रिया की प्रधानता नही मानी गई अपितु 'कुरुकुलक्षय' को ही प्रधान माना गया है और उस पर बल देने के लिये उसका बाद मे प्रयोग किया गया है ।

१२ भेद

प्रोत्साहन को भेद माना गया है ॥२९॥

जैसे वेणीसहार (१ २६-२७ मे 'नाथ, नही, याज्ञसेनी के अपमान से उद्दीप्त है क्रोधाग्नि जिसकी ऐसे आप अपने शरीर की ओर असावधान होकर पराक्रम न दिखलाइयेगा, क्योकि सुना जाता है कि शत्रु की सेना मे सावधान होकर जाना चाहिये ।'

भीम—'अयि श्रेष्ठ क्षत्राणी, जहाँ परस्पर टकराने से विदीर्ण हाथियो के रुधिर, चर्बी, मास और मस्तिष्क से (उत्पन्न) कीचड मे धसे हुए रथो के ऊपर पैर रखकर पैदल योद्धा पराक्रम दिखलाते है और जहाँ प्रचुर रुधिर की पान गोष्ठी में शब्द करती हुई अमङ्गलकारी शृगाली रूपी तुरही पर कबन्ध (धड) नृत्य कर रहे है, उस समर रूपी अद्वितीय सागर के मध्य-जल में विचरण करने में पाण्डु के पुत्र कुशल है ।'

इस (कथन) के द्वारा क्रोध और उत्साह रूपी बीज के अनुरूप ही विषाद-युक्त द्रौपदी को प्रोत्साहित किया गया है अत यह भेद (नामक मुख सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—ना० शा० के अनुसार 'सघातभेदनार्थो य स भेद' पात्रो का अपने-अपने कार्य के अनुसार भिन्न-भिन्न स्थानो मे जाने का जो अभिप्राय होता है

अथ साङ्गं प्रतिमुखसन्धिमाह—

(५१) लक्ष्यालक्ष्यतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुख भवेत् ।
बिन्दुप्रयत्नानुगमादङ्गान्यस्य त्रयोदश ॥३०॥

वह अभिनेता (नटो) के रङ्गभूमि से निकलने का भी निमित्त हुआ करता है। पात्रसघात मे भेद (पृथक्ता) का निमित्त होने के कारण वही भेद कहलाता है। ना० द० (१ ४४) की वृत्ति मे इसे भेद (भेदन) का दूसरा प्रकार कहा गया है। ना० द० के अनुसार भेद का प्रथम अभिप्राय है—पात्रो का रङ्गस्थल से बाहर जाना (भेदन पात्रनिगम)। दशरूपक के भेद-लक्षण को ना० द० मे तृतीय मत के रूप मे उद्धृत किया गया है। सा० द० मे भी केचित्तु 'कहकर इसी मत का उल्लेख किया गया है। प्रता० (३ १०) ने दशरूपक का ही अनुसरण किया है। सा० द० (६ ८७) के अनुसार 'भेद सहतभेदनम्' 'मिले हुओ को पृथक करना ही भेद कहलाता है'। इस मत का उल्लेख ना० द० मे (चतुर्थ मत के रूप मे) किया गया है।

मुख सन्धि के ये १२ अङ्ग बीज (नामक अर्थप्रकृति) और आरम्भ (नामक कार्यावस्था) के सूचक होते है। इनका (रूपक में) साक्षात् रूप से या परम्परा से विधान किया जाता है। इनमें से उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, युक्ति, उद्भेद और समाधान का होना (प्रत्येक-रूपक में) आवश्यक है।

टिप्पणी—(१) सक्षेप मे रूपक की जितनी अर्थराशि मे फल प्राप्ति के मुख्य उपाय बीज की सम्यक उत्पत्ति हो जाती है तथा प्रारम्भ नाम की कार्यावस्था पूर्ण हो जाती है वह मुखसन्धि है यह प्रसङ्ग के अनुसार रस निष्पत्ति का भी हेतु हुआ करती है। जैसे रत्नावली नाटिका का प्रथम अङ्क है। यहाँ दैव की अनुकूलता से युक्त यौगन्धरायण का उद्योग ही बीज है। प्रथमत उस उद्योग का विषय है—सागरिका द्वारा राजा का दर्शन किया जाना। इसी अर्थराशि मे इतिवृत्त की आरम्भावस्था समाप्त हो जाती है। यहाँ बीजन्यास से लेकर भेद पर्यन्त १२ अवस्थाओ मे जाते हुए बीज की उत्पत्ति दिखलाई गई है, जैसा कि बारह अङ्गो के उदाहरण से स्पष्ट है। साथ ही यह अङ्क नाना रसो की निष्पत्ति का भी हेतु होता है जैसे यौगन्धरायण के उत्साह वर्णन मे वीर रस, उदयन के वसन्त रूप विभाव के वर्णन मे शृङ्गार तथा पुरवासियो के प्रमोद के अवलोकन मे अद्भुत रस की निष्पत्ति होती है। (२) मुखसन्धि के उपर्युक्त १२ अङ्गो का ही ना० शा० (१९ ५७)। प्रता० (३ ९–१०) सा० द० (६ ८१ ८२) मे भी निरूपण किया गया है किन्तु क्रम मे कुछ अन्तर है तथा किन्ही अङ्गो के लक्षण मे भी, जिसका यथावसर उल्लेख कर दिया गया है। ना० द० (१ ४१–४२) मे इन्ही दस अङ्गो का वर्णन है किन्तु नाम तथा क्रम मे कुछ अधिक अन्तर है। साथ ही कुछ विशद व्याख्या भी वहाँ है।

प्रतिमुख सन्धि

अब प्रतिमुख सन्धि का अङ्गो सहित वर्णन करते हैं—

जहाँ उस बीज का कुछ लक्ष्य रूप मे और कुछ अलक्ष्य रूप मे उद्-भेद होता है वह प्रतिमुख सन्धि कहलाती है। बिन्दु (नामक अर्थप्रकृति) और प्रयत्न (नामक कार्यावस्था) के योग से इसके तेरह अङ्ग होते है ॥३०॥

तस्य बीजस्य, किञ्चिल्लक्ष्य किञ्चिदलक्ष्य इवोद्भेद —प्रकाशन तत्प्रतिमुखम् । यथा रत्नावल्या द्वितीयेऽङ्के वत्सराजसागरिकासमागमहेतोरनुरागबीजस्य प्रथमाङ्कोपक्षिप्तस्य सुसङ्गताविदूषकाभ्या ज्ञायमानतया किचिल्लक्ष्यस्य वासवदत्तया च चित्रफलकवृत्तान्तेन किचिदुन्नीयमानस्य दृश्यादृश्यरूपतयोद्भेद, प्रतिमुखसन्धिरिति ।

वेणीसहारेऽपि द्वितीयेऽङ्के भीष्मादिवधेन किञ्चिल्लक्षयस्य कर्णाद्यवधाच्चालक्ष्यस्य क्रोधबीजस्योद्भेद ।

सहभृत्यगण सबान्धव सहमित्र ससुत सहानुजम् ।
स्वबलेन निहन्ति सयुगे न चिरात्पाण्डुसुत सुयोधनम् ॥१४॥

इत्यादिभि —

दु शासनस्य हृदयक्षतजाम्बुपाने
दुर्योधनस्य च यथा गदयोरुभङ्गे ।
तेजस्विना समरमूर्धनि पाण्डवाना
ज्ञेया जयद्रथवधेऽपि तथा प्रतिज्ञा ॥१५॥

इत्येवमादिभिश्चोद्भेद प्रतिमुखसन्धिरिति ।

उस (तस्य) अर्थात् मुख सन्धि मे निर्दिष्ट बीज का कुछ लक्ष्य रूप में और कुछ अलक्ष्य रूप मे उद्भेद अर्थात् प्रकट होना ही प्रतिमुख सन्धि है, जैसे रत्नावली नाटिका के द्वितीय अङ्क मे—जो वत्सराज और सागरिका के मिलन (फल) का हेतु अनुराग रूपी बीज है, उसका प्रथम अङ्क मे उपक्षेप किया गया है । द्वितीय अङ्क मे सुसङ्गता और विदूषक के द्वारा वह जान लिया गया है । अत कुछ-कुछ लक्ष्य है और वासवदत्ता के द्वारा चित्रफलक की घटना द्वारा वह कुछ-कुछ समझा भर गया है (अत अलक्ष्य है) । इस प्रकार यहाँ (अनुराग रूपी) बीज कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य रूप मे प्रकट होता है तथा प्रतिमुख सन्धि है ।

वेणीसहार के द्वितीय अङ्क मे भी (प्रतिमुख सन्धि है) । वहाँ क्रोध रूपी बीज का भीष्म आदि के वध द्वारा कुछ कुछ लक्ष्य तथा कर्ण आदि का वध न होने के कारण कुछ अलक्ष्य रूप मे प्रकट होना ही प्रतिमुख सन्धि है, जैसे कि (२ ५) राजा दुर्योधन कञ्चुकी से कहते है—शीघ्र ही पाण्डु का पुत्र अपने बल से समर मे भृत्यवग बन्धुगण, मित्र, पुत्र तथा अनुजो सहित दुर्योधन को मार देगा ।

इत्यादि (कथन) के द्वारा तथा (दुर्योधन के भानुमती के प्रति २ २७) 'दु शासन के हृदय से रुधिर रूपी जल को पीने और गदा से दुर्योधन की जङ्घा को तोड देने के विषय मे तेजस्वी पाण्डवो की जैसी प्रतिज्ञा थी वैसी ही समर-भूमि मे जयद्रथ के वध के विषय मे भी समझनी चाहिये ।' इत्यादि कथन के द्वारा भी जो बीज का प्रकटन होता है, वह प्रतिमुख सन्धि है ।

अस्य च पूर्वाङ्कोपक्षिप्तबिन्दुरूपबीजप्रयत्नार्थानुगतानि त्रयोदशाङ्गानि भवन्ति, तान्याह–

(५२) विलास परिसर्पश्च विधूत शमनर्मणी ।
नर्मद्युति प्रगमन निरोध पर्युपासनम् ॥३१॥
वज्र पुष्पमुपन्यासो वर्णसहार इत्यपि ।

यथोद्देश लक्षणमाह

(५३) रत्यर्थेहा विलास स्याद्—

यथा रत्नावल्याम्–'सागरिका–हिअअ पसीद पसीद किं इमिरणा आआसमेत्तफलेण दुल्लहजणप्पत्थणाणुबन्धेण । ('हृदय, पसीद पसीद किमनेनायास–मात्रफलेन दुलभजनप्राथनानुबन्धेन ।') इत्युपक्रमे 'तहावि आलेखगद त जण कदुअ जधासमीहिद करिस्सम्, तहावि तस्य णत्थि अण्णो दमणोवाउत्ति ।' (तथाप्या–लेखगत त जन कृत्वा यथासमाहित करिष्यामि । तथापि तस्य नास्त्यन्यो दर्शनोपाय) ।' इत्येतैर्वत्सराजसमागमरति चित्रादिजन्यामप्युद्दिश्य सागरिकायाश्चेष्टाप्रयत्नोऽनुराग-बीजानुगतो विलास इति ।

जो प्रथम अङ्क मे रक्खा गया हे तथा अग्रिम अङ्क मे बिन्दु रूप मे आया है उस बीज तथा प्रयत्न (नामक कार्यावस्था) के आधार पर इस (प्रतिमुख सन्धि) के तेरह अङ्ग होते है । उन्हे बतलाते है—

विलास, परिसर्प, विधूत, शम, नर्म, नर्मद्युति, प्रगमन, निरोध, पर्युपासन, वज्र, पुष्प, उपन्यास तथा वर्णसहार (ये १३ प्रतिमुख सन्धि के अङ्ग है) ॥३१॥

नाम के क्रम से उनका लक्षण बतलाते है—

१ विलास

रति के लिये जो इच्छा होती है वह विलास कहलाता ई ।

जैसे रत्नावली नाटिका (अङ्क २ प्रवेशक के बाद) सागरिका कहती है हृदय, प्रसन्न हो, इस दुर्लभ जन (वत्सराज) की अभिलाषा के आग्रह से, जिसका केवल मात्र दुःख ही फल है, क्या लाभ ?' इससे आरम्भ करके 'तथापि उस व्यक्ति को चित्रित करके मन चाही करूँगी । उसको देखने का कोई अन्य उपाय नहीं है ।'

इन (कथनों) के द्वारा वत्सराज के समागम की रति के लिये (उद्दिश्य) सागरिका का चेष्टा रूपी प्रयत्न प्रकट हो रहा है, यद्यपि वह रति चित्र आदि के द्वारा ही उत्पन्न हुई है । यह प्रयत्न अनुराग रूपी बीज (जो द्वितीय अङ्क मे बिन्दु के रूप मे है) से भी अनुगत है अत विलास (नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—यहाँ 'रति' स्थायी भाव का उपलक्षण है । ईहा (=चेष्टा) रति आदि भाव के लिये नही अपितु तु रति आदि भाव के विषय के प्रति होती है । इस प्रकार रति आदि भाव के विषय के लिये जो चेष्टा है वही विलास है। शृङ्गार-

अथ परिसर्प —

(५४)—दृष्टनष्टानुसर्पणम् ।।३२।।

परिसर्प —

यथा वेणीसहारे कञ्चुकी–योऽयमुद्यतेषु बलवत्सु, अथवा किं बलवत्सु वासुदेव-सहायेष्वरिष्वद्याप्यन्त परसुखमनुभवति, इदमपरमयथातथ स्वामिन —

आशस्त्रग्रहणादकुण्ठपरशोस्तस्यापि जेता मुने—
स्तापायास्य न पाण्डुसूनिभिरय भीष्म शरै शायित ।
प्रौढानेकधनुर्धरारिविजयश्रान्तस्य चैकाकिनो
बालस्यायमरातिलूनधनुष, प्रीतोऽभिमन्योर्वधात् ।।१६।।

इत्यनेन भीष्मादिवधे दृष्टस्याभिमन्युवधान्नष्टस्य बलवता पान्डवाना वासुदेव-सहायाना सङ्ग्रामलक्षबिन्दुबीजप्रयत्नान्वयेन कञ्चुकिमुखेन बीजानुसपरा परिसर्प इति।

यथा च रत्नावल्या सारिकावचनचित्रदर्शनाभ्या सागरिकानुरागबीजस्य दृष्ट-नष्टस्य 'क्वासौ क्वासौ' इत्यादिना वत्सराजेनानुसरणात्परिसर्प इति ।

रस-प्रधान रूपको मे रति के विषय (प्रमदा या पुरुष) के लिये ईहा होती है किन्तु जहाँ वीर आदि रस प्रधान है वहाँ उत्साह आदि के विषय के प्रति ईहा होती है (द्र,० ना० द० १६२) । उपर्युक्त उदाहरण मे सागरिका के प्रेम का विषय जो वत्सराज है, जो कि यहाँ चित्रगत ही है, उसके प्रति सागरिका की ईहा का वर्णन है। यह ईहा ही यहाँ प्रयत्न नामक कार्यावस्था है जो अनुराग रूपी अवान्तर बीज (=बिन्दु) से अनुगत हे। अत यहाँ प्रतिमुख सन्धि का प्रथम अङ्ग विलास है ।

२ परिसर्प

पहले देखे गये और फिर नष्ट हुए बीज का अन्वेषण परिसर्प कहलाता है।

जैसे वेणीसहार (अङ्क २) मे (आकाश भाषित मे दुर्योधन को लक्ष्य करके) कञ्चुकी कहता है—[धन्य है पतिव्रता भानुमती आप धन्य हैं, स्त्री होकर भी आप अच्छी है किन्तु महाराजा (अच्छे) नही] जो यह अब भी अन्त पुर मे सुख का भोग कर रहे है जबकि बलवान् शत्रु पाण्डु के पुत्र, अथवा चाहे बलवान् न भी हो किन्तु जिनके सहायक वासुदेव है, युद्ध के लिये तत्पर है। यह स्वामी का दूसरा अनुचित कार्य है—(वेणीसहार २ २)

'शस्त्र-ग्रहण के आरम्भ से लेकर कभी जिसका परशु कुण्ठित नहीं हुआ उस प्रसिद्ध मुनि (परशुराम) को जीतने वाला यह भीष्म पाण्डु-पुत्रो द्वारा बाणो से गिरा दिया गया और इससे यह (दुर्योधन) दु खी न हुआ। साथ ही जो बडे-बडे धनुर्धारी शत्रुओ की विजय से थका था, शत्रुओ द्वारा जिसका धनुष काट दिया गया था ऐसे अकेले, बालक अभिमन्यु के वध से यह प्रसन्न हो रहा है।'

अथ विधूतम्—

(५५)—विधूत स्यादरति —

यथा रत्नावल्याम् 'सागरिका-सहि अहिअ मे सतावो बाधेदि । ('सखि, अधिक मे सतापो बाधते ।') सुसङ्गता दीर्घिकातो नलिनीदलानि मृणालिकाश्चानीयास्या अङ्गे ददाति) सागरिका (तानि क्षिपन्ती)—सहि अवणेहि एदाइ कि अआरण अत्ताण आयासेसि ण भणामि—(सखि, अपनयैतानि किमकारण आत्मानमायासयसि। ननु भणामि—)

दुल्लहजणाणुराओ लज्जा गरुई परव्वसो अप्पा ।
पिअसहि विसम पेम्म मरण सरण णवर एक्कम् ।।'
(दुलभजनानुरागो लज्जा गुर्वी परवश आत्मा ।
प्रियसखि, विषम प्रेम मरण शरण केवलमेकम् ।।१७।।

इत्यनेन सागरिकाया बीजान्वयेन शीतोपचारविधूननाद्विधूतम् ।।

यथा च वेणीसहारे भानुमत्या दु स्वप्नदशनेन दुर्योधनस्यानिष्टशङ्कया पाण्डवविजयशङ्कया वा रतेर्विधूननमिति ।

इस (कथन) के द्वारा भीष्म आदि के वध से दिखालाई पडने वाले तथा अभिमन्यु के वध से नष्ट हो जाने वाले बीज का कृष्ण की सहायता से युक्त बलवान् पाण्डवो के सग्राम रूपी बिन्दु नामक बीज, (अवान्तर बीज) और प्रयत्न के अन्वय से कञ्चुकी के द्वारा अन्वेषण किया गया है, अत परिसर्प (नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग) है ।

और, जैसे रत्नावली (अङ्क २) मे सारिका के वचन और चित्र-दर्शन के द्वारा सागरिका का अनुराग रूपी बीज प्रकट होकर नष्ट हो गया है उसका 'वह कहाँ है ? वह कहाँ है ?' इत्यादि (कथन) से वत्सराज के द्वारा अन्वेषण किया जाता है, अत यहाँ परिसर्प (नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग) है ।

३ विधूत

(सुखप्रद पदार्थो के प्रति) अरुचि (अनादर) ही विधूत कहलाता है।

जैसे रत्नावली नाटिका (२ ६) मे सागरिका कहती है—सखी, मेरा सताप अधिक बढ़ रहा है* । (सुसङ्गता बावडी से कमलिनी के पत्ते और मृणालो को लाकर इसके अङ्गो पर रखती है) । सागरिका—(उन्हें फेकती हुई) सखी, इन्हे हटा लो, क्यो व्यर्थ ही अपने को कष्ट दे रही हो ? मै ठीक कहती हू—'दुर्लभ जन के प्रति प्रेम है, अत्यधिक लज्जा है, शरीर दूसरे के अधीन है । प्रिय सखी, इस प्रकार प्रेम विषम है । अब तो केवल मृत्यु ही मेरी शरण है ।'

यहाँ सागरिका (अनुराग रूपी बीज के सम्बन्ध से शीतोपचार का अनादर करती है अत विधूत (नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग) है ।

और, जैसे वेणीसहार (अङ्क २ मे बुरा स्वप्न देखने के कारण दुर्योधन

---

*मेऽधिकतर सतापो वधते इति रत्नावल्या पाठ ।

अथ शम —

(५६)—तच्छम शम ।

तस्या अरतेरुपशम शमो । यथा रत्नावल्याम्—'राजा—वयस्य, अनया लिखितोऽहमिति यत्सत्यमात्मन्यपि मे बहुमानस्तत्कथ न पश्यामि ।' इति प्रक्रमे 'सागरिका–(आत्मगतम्) हिअअ, समस्सस । मणोरहोवि दे एत्तिअ भूमि ण गदो ।' (हृदय, समाश्वसिहि । मनोरथोऽपि त एतावती भूमि न गत) इति किञ्चिदरत्युपशमाच्छम इति ।

अथ नर्म—

(५७) परिहासवचो नर्म —

यथा रत्नावल्याम्—'सुसङ्गता—सहि जस्स कए तुम आअदा सो अअ पुरदो चिठ्ठदि ।' ('सखि, यस्य कृते त्वमागता सोऽय पुरतस्तिष्ठति') सागरिका–(सासूयम्) सुसङ्गदे, कस्स कए अह आअदा । ('सुसङ्गते, कस्य कृतेऽहमागता) । सुसङ्गता—अइ अप्पसकिदे, ण चित्तफलअस्स ता गेण्ह एदम् । ('अयि आत्मशङ्कित ननु चित्रफलकस्य तद्गृहाणैतत् ।') इत्यनेन बीजान्वित परिहासवचन नर्म ।

के अनिष्ट की आशङ्का से अथवा पाण्डवो की विजय की शङ्का से भानुमती ने रति का विधूनन कर दिया है । (अत वहाँ भी विधूत नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग है) ।

४ शम

उस (अरति) की शान्ति शम कहलाती है ।

उस अरति का शान्त हो जाना शम है । जैसे रत्नावली (अङ्क २ ११–१२) मे राजा विदूषक से कहता है—'मित्र' इसने मेरा चित्र बनाया है, इससे सचमुच मुझे अपने आप पर भी बहुत गर्व हो गया है तो कैसे न देखूँ ? इस सन्दर्भ मे सागरिका (मन ही मन) कहती है—'हृदय धीरज धर, तेरा तो मनोरथ भी यहाँ तक नहीं पहुच पाया था ।'

यहाँ (अपने प्रति राजा का प्रेम जानकर सागरिका की) अरति कुछ शान्त हो जाती है, इसलिए शम (नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग) है ।

५ नर्म—

परिहास युक्त वचन ही नर्म कहलाता है ।

जैसे रत्नावली (अङ्क २ १५–१६) मे सुसङ्गता सागरिका से कहती है—सखी, जिसके लिये तुम आई हो, वह यह सामने स्थित है ।' सागरिका—(चिढ़कर) 'सुसङ्गता, मै किसके लिये आई हू ? सुसङ्गना—अरी, अपने पर शङ्का करने वाली चित्रफलक के लिये ही तो तुम आई हो, उसे ले लो ।

यथा च वेणीसहारे—(दुर्योधनश्चेटीहस्तादधपात्रमादाय देव्या रामपयति, पुन) भानुमति—(ग्रर्घ दत्त्वा) हला, उवरगेहि मे कुसुमाइ जाव ग्रवराण पि देवाण सवरिग्र णिवत्तेमि । (हला उपनय मे कुसुमानि यावदपरेपामपि देवाना सपर्यां नवर्तयामि ।') (हस्तौ प्रसारयति, दुर्योधन पुष्पाण्युपनयति भानुमत्यास्तत्स्पश- भातकम्पाया हस्तात्पुष्पाणि पतन्ति') इत्यनेन नमरणा दु स्वप्नदर्शनोपशमार्थं देवतापूजा- विघ्नकारिणा बीजोद्घाटनात्परिहासस्य प्रतिमुखाङ्गत्व युक्तमिति ।

ग्रथ नर्मद्युति —

(५८)—धृतिस्तज्जा द्युतिर्मता ॥३३॥

ग्रथा रत्नावल्याम्—'सुसङ्गता—सहि ग्रदिणिट्ठुरा दाणि सि तुमम् । जा एव पि भट्टिणा हत्थावलम्बिदा कोव ण मुञ्चसि । (सहि, ग्रतिनिष्ठुरेदानीमसि त्व यैवमपि भर्त्रा हस्तावलम्बिता कोप न मुञ्चसि ।) सागरिका—(सभ्रूभङ्गमीष- द्विहस्य सुसङ्गते, दाणि पि ण बिरमसि ।' ('सुसङ्गते, इदानीमपि न विरमसि ।') इत्यनेनानुरागबीजोद्घाटनान्वयेन धृतिनमजा द्युतिरिति दर्शितमिति ।

इसके द्वारा जो (ग्रनुराग रूपी) बीज से सम्बद्ध परिहास वचन कहा गया है वह नर्म (नामक प्रतिमुख सन्धि का ग्रङ्ग) है

ग्रौर, जैसे वेणीसहार (ग्रङ्क २ १४-१५) मे दुर्योधन (चेटी के हाथ से, ग्रघपात्र लेकर देवी वासवदत्ता को देता है तब) भानुमती ग्रध्य देकर) 'सखी' मुझे पुष्प दो जिसमे दूसरे देवताग्रो का भी पूजन कर लूँ । (हाथ फैलाती है, दुर्योधन पुष्प देता है, दुर्योधन के स्पश से कम्पित भानुमती के हाथ से पुष्प गिर जाते है ।)

यहाँ दुस्स्वप्न-दशन की शान्ति के लिये जो देव पूजा की जा रही है उसमें विघ्न करने वाले परिहास के द्वारा बीज का उद्घाटन हो जाता है ग्रत यहाँ परिहास को प्रतिमुख सन्धि का ग्रङ्ग मानना युक्त ही है ।

६ नर्मद्युति

उस (नर्म) से उत्पन्न धृति ही नर्मद्युति मानी गई है ।

जैसे रत्नावली (२ १८—१९) में सुसङ्गता सागरिका से कहती है—'सखी, तू ग्रब बडी कठोर हो गई है जो इस प्रकार स्वामी द्वारा हाथ पकडे जाने पर भी कोप नहीं छोडती ।' सागरिका (भ्रूभङ्ग के साथ कुछ मुस्करा कर) 'सुसङ्गता, तू ग्रब भी नहीं मानती ।'

इसके द्वारा (सागरिका के) ग्रनुराग रूपी बीज के उद्घाटन के सम्बन्ध से (सागरिका की) परिहास से उत्पन्न धृति का वर्णन है ग्रत नमद्युति (नामक मुख- सन्धि का ग्रङ्ग) दिखलाई गई है ।

टिप्पणी—कुछ ग्राचार्यों के ग्रनुसार दोष को ग्राच्छादित करने वाला परिहास नर्मद्युति कहलाता है (द्र०, नाट्य शास्त्र तथा नाट्यदर्पण) ।

अथ प्रगमनम्—

(५९) उत्तरा वाक्प्रगमनम्—

यथा रत्नावल्याम्—'विदूषक —भो वअस्स, दिठ्ठिआ वढ्ढसे। ('भो वयस्य, दिष्टचा वर्धसे।') राजा—(सकौतुकम्) वयस्य, किमेतत्। विदूषक—भो, एद क्खु त ज मए भणिद तुम एव्व आलिहिदो को अण्णो कुसुमाउहव्ववदेसेण णिह्णवोअदि। ('भो, एतत्खलु तद्यन्मया भणित त्वमेवालिखित कोऽन्य कुसुमायुधव्यपदेशेन निह्नूयते।') इत्यादिना।

परिच्युतस्तत्कुचकुम्भमध्यात्कि शोषमायामि मृणालहार,
न सूक्ष्मतन्तोरपि तावकस्य तत्रावकाशो भवत किमु स्यात् ॥१८॥

इत्यनेन राजविदूषकसागरिकासुसङ्गतानामन्योन्यवचनेनोत्तरानुरागबीजोद्घाटनात् प्रगमनमिति।

अथ निरोध—

(६०)—हितरोधो निरोधनम्।

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—धिङ्मूर्ख!
प्राप्ता कथमपि दैवात्कण्ठमनीतैव सा प्रकटरागा।
रत्नावलीव कान्ता मम हस्ताद् भ्रंशिता भवता ॥१९॥

---

७ प्रगमन

(बीज के सम्बन्ध मे) उत्तरोत्तर वचन ही प्रगमन है।

जैसे रत्नावली (२ ८—९) में विदूषक राजा से कहता है—'हे मित्र, भाग्य से बढ रहे हो।' राजा—(कुतूहल से) 'मित्र, यह क्या है ? विदूषक—भाई, यह वही है जो मैने कहा था कि इसमे तेरा ही चित्र बनाया गया है कामदेव (पुष्प के धनुष वाले) के बहाने से और किसको छिपाया जा सकता है ? यहाँ से आरम्भ करके (२ १५) "हे मृणालहार, उसके स्तनरूपी कलशो के मध्य से गिरा हुआ तू क्यो सूख रहा है ? जहा तेरे सूक्ष्म तन्तु के लिये भी जगह नहीं है, वहाँ तेरे लिये कैसे हो सकती है ?"

यहाँ तक राजा, विदूषक, सागरिका और सुसङ्गता के परस्पर वचनो के द्वारा अनुराग बीज का उत्तरोत्तर उद्घाटन हो रहा है अत प्रगमन नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग) है।

टिप्पणी—नाट्यशास्त्र मे प्रगमन' के स्थान पर 'प्रगयण' नाम रक्खा गया है तथा नाट्य-दर्पण मे 'प्रतिवाक् श्रेणी'।

८ निरोधन

हित का रुक जाना निरोधन कहलाता है।

जैसे रत्नावली (२ १९) में राजा विदूषक से कहता है—"मूर्ख, धिक्कार है! किसी प्रकार सयोग से प्राप्त हुई, अनुराग को प्रकट करने वाली यह कान्ता'

इत्यनेन वत्सराजस्य सागरिकासमागमरूपहितस्य वासवदत्ताप्रवेशसूचकेन विदूषकवचसा निरोधान्निरोधनमिति ।

अथ पर्युपासनम्—

(६१) पर्युपास्तिरनुनय —

यथा रत्नावल्याम्—राजा—

प्रसीदेति ब्रूयामिदमसति कोपे न घटते
करिष्याम्येव नो पुनरिति भवेदभ्युपगम ।
न मे दोषोऽस्तीति त्वमिदमपि हि ज्ञास्यसि मृषा
किमेतस्मिन् वक्तु क्षममिति न वेद्मि प्रियतमे ॥२०॥

इत्यनेन चित्रगतयोर्नायिकयोर्दर्शनात्कुपिताया वासवदत्ताया अनुनयन नायकयोरनुरागोद्घाटनान्वयेन पर्युपासनमिति ।

अथ पुष्पम्—

(६२)—पुष्प वाक्य विशेषवत् ॥३४॥

यथा रत्नावल्याम्—'(राजा सागरिका गृहीत्वा स्पर्शं नाटयति) विदूषक — भो, एषा अपुव्वा सिरी तए समासादिदा । (भो, एषाऽपूर्वा श्रीस्त्वया समासा-

---

स्फुट कान्ति वाली रत्नावली के समान, कण्ठ से न लगाई गई ही, आपने मेरे हाथ से गिरा दी ।'

यहाँ वत्सराज का सागरिका-समागम रूपी हित है जिसे वासवदत्ता प्रवेश की सूचना देने वाले विदूषक के वचन ने रोक दिया है अत निरोधन [नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग] है ।

९ पर्युपासन

(क्रुद्ध व्यक्ति को) मना ही पर्युपासन कहलाता है ।

जैसे रत्नावली [२ २०] में राजा (वासवदत्ता से) कहता है—'हे देवी, यदि मै यह कहू 'प्रसन्न हो जाओ' तो यह कोप न होने पर सगत नहीं । तदि कहू कि 'फिर ऐसा न करूँगा' तो (अपने अपराध की) स्वीकृति हो जायेगी । यदि 'मेरा दोष नहीं है' यह कहू तो तुम इसे झूठ मानोगी । प्रियतमे, इस दशा मे क्या कहना उचित है, यह मै नहीं जानता, ।

यहाँ पर चित्र में (एक साथ) नायक (वत्सराज) तथा नायिका (सागरिका) को देखने से कुपित होने वाली वासवदत्ता का अनुनय किया गया है, जिसका नायक और नायिका के अनुराग (रूपी बीज) के उद्घाटन से सम्बन्ध है अत यहाँ पर्युपासन (नामक मुख सन्धि का अङ्ग) है ।

१० पुष्प

(बीजोद्घाटन के सम्बन्ध मे) विशेषतायुक्त कथन को पुष्प कहा जाता है ।

जैसे रत्नावली (अङ्क २ १८) में (राजा सागरिका को हाथ से पकड़कर स्पर्श

दिता । राजा—वयस्य सत्यम्—

श्रीरेषा पाणिरप्यस्या पारिजातस्य पल्लव ।
कुतोऽन्यथा स्रवत्येष स्वेदच्छद्मामृतद्रव ॥२१॥

इत्यनेन नायकयो साक्षादन्योन्यदर्शनादिना सविशेषानुरागोद्घाटनात्पुष्पम् । अथोपन्यास —

(६३) उपन्यासस्तु सोपायम्—

यथा रत्नावल्याम् —'सुसङ्गता—भट्टा, अल सङ्काए । मए वि भट्टिणो पसाएण कीलिद एव्व ता । किं कण्णाभअणेण अदो वि मे गरुओ पसाओ ज कीस तए अह एत्थ आलिहिअ त्ति कुविआ मे पिअसही साअरिआ ता पसादीअदु ।' ('भर्त , अल शङ्कया मयापि भर्तु प्रसादेन क्रीडितमेव तत्किं कर्णाभरणेन, अतोऽपि मे गुरु प्रसादो यत्कथ त्वयाहमत्रालिखितेति कुपिता मे प्रियसखी सागरिका तत्प्रसाद्यताम् ।') इत्यनेन सुसङ्गतावचसा सागरिका मया लिखिता सागरिकाया च त्वमिति सूचयता प्रसादोपन्यान्येन बीजोद्भेदादुपन्यास इति ।

का अभिनय करता है) । विदूषक—भाई, तुमने सचमुच ही यह अपूर्व लक्ष्मी प्राप्त कर ली है ।' राजा—'मित्र, ठीक है यह लक्ष्मी है, इसका हाथ पारिजात का पल्लव है, नहीं तो स्वेद के व्याज से यह अमृत रस को कहाँ से बहाता ?'

इस कथन के द्वारा नायक और नायिका के परस्पर दर्शन आदि के द्वारा विशिष्ट अनुराग प्रकट होता है अत पुष्प (नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग) है ।

११ उपन्यास

उपायसहित (=हेतुप्रदर्शक) कथन ही उपन्यास कहलाता है ।

जैसे रत्नावली (२ १५-१६) मे सुसङ्गता का कथन है—'स्वामी, शङ्का न करें । मैने भी 'स्वामी के प्रसाद से खेल ही किया है । इसलिये कर्णाभूषण की क्या बात है ? इससे भी बडा मुझ पर यह प्रसाद होगा कि 'तूने इसमे मेरा चित्र क्यो बनाया' ? यह कहती हुई मेरी प्रिय सखी सागरिका कुपित हो गई है, तो उसे आप प्रसन्न कर दीजिये ।'

यहाँ ('चित्रफलक मे) सागरिका का चित्र मैने बनाया है और तुम्हारा चित्र सागरिका ने' यह सूचित करते हुए सुसङ्गता के वचन से (राजा के) प्रसाद का कथन करके (अनुराग रूपी) बीज का प्रकटन किया गया है अत उपन्यास (नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—बीज के उद्भेदन से सम्बन्ध रखने वाला हेतुप्रदर्शनपूर्वक या युक्तिसहित कथन ही उपन्यास है । यहाँ सागरिका को प्रसन्न करने के लिए जो निवेदन किया गया है उसमे हेतु यह है कि सुसङ्गता ने चित्रफलक पर राजा के चित्र के साथ सागरिका का चित्र बना दिया है, इस लिये वह कुपित है । इससे सागरिका का अनुराग भी प्रकट होता है ।

(६४)—वज्र प्रत्यक्षनिष्ठुरम् ।

यथा रत्नावल्याम्—'वासवदत्ता—(फलक निर्दिश्य) अज्जउत्त, एसावि जा तुह समीवे एद कि वसन्तअस्स विण्णाणम् ।' (आर्यपुत्र, एषापि या तव समीपे एतत्किं वसन्तकस्य विज्ञानम् ।) पुन 'अज्जउत्त, ममावि एद चित्तकम्म पेक्खन्तीए सीसवेअणा ।' (आर्यपुत्र, ममाप्येतच्चित्रकर्म पश्यन्त्या शीपवेदना समुत्पन्ना ।) इत्यनेन वासवदत्तया वत्सराजस्य सागरिकानुरागोद्भेदनात्प्रत्यक्षनिष्ठुराभिधान वज्रमिति ।

अथ वर्णसहार—

(६५) चातुर्वर्ण्योपगमन वर्णसहार इष्यते ॥३५॥

यथा वीरचरिते तृतीयेऽङ्के—

परिषदियमृषीणामेष वृद्धो युधाजित्
सह नपतिरमात्यैर्लोमपादश्च वृद्ध
अयमविरतयज्ञो ब्रह्मवादी पुराण ।
प्रभुरपि जनकानामद्रुहो याचकस्ते ॥२२॥

इत्यनेन ऋषिक्षत्रियामात्यादीना सङ्गताना वर्णाना वचसा रामविजयाशसिन परशुरामदुर्णयस्याद्रोहयाञ्चाद्वारेणोद्भेदनाद्वर्णसहार इति ।

---

१२ वज्र

प्रत्यक्ष रूप मे निष्ठुर रूप ही वज्र कहलाना है ।

जसे रत्नावली (२ १९–२०) में वासवदत्ता (चित्रफलक की ओर निर्देश करके) आर्यपुत्र, यह भी जो तुम्हारे समीप है, यह क्या आयवसन्तक की कला है ? फिर कहती है—'आय, इस चित्रकार्य को देखते हुए मेरे सिर में भी पीड़ा हो गई है ।'

इस (कथन) के द्वारा वासवदत्ता ने वत्सराज के सागरिका के प्रति अनुराग को प्रकट किया है जो प्रत्यक्ष रूप से निष्ठुर कथन हे अत यहाँ वज्र (नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग है ।

१३ वर्णसहार

[ब्राह्मण आदि] चारो वर्णों का एकत्रित होना ही वर्णसहार कहलाता है ।

जैसे महावीर चरित के तृतीय अङ्क (३ ५) में 'यह ऋषियो की सभा है यह वृद्ध युधाजित् है, और अमात्यो के साथ ये वृद्ध नृपति लोमपाद है तथा यह निरन्तर यज्ञ करने वाला, पुराना प्रसिद्ध, प्राचीन) ब्रह्मवादी, जनकों (नामक जनपदों) का राजा—ये सब आपसे क्रोधशान्ति (अद्रुह =द्रोहाभावस्य) की याचना करते हैं ।

यहाँ पर एकत्रित हुए ऋषि, क्षत्रिय और अमात्य इत्यादि का कथन करके क्रोधशान्ति की प्राथना के द्वारा राम की विजय को सूचित करने वाले परशुराम के

एतानि च त्रयोदश प्रतिमुखाङ्गानि मुखसन्ध्युपक्षिप्तबिन्दुलक्षणावान्तरबीजमहाबीजप्रयत्नानुगतानि विधेयानि। एतेषा च मध्ये परिसर्पप्रशमवज्रोपन्यासपुष्पाणा प्राधान्यम्। इतरेषा यथासम्भव प्रयोग इति।

दुर्णय (दुर्व्यवहार, अन्याय) का प्रकटन किया गया है अत, वर्णसहार (नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग) है।

टिप्पणी—ना० शा० (१६ ८२), सा० द० (६ ६४) मे भी यही लक्षण है। प्रता० (३, ३१) मे तथा भा० प्र० (पृ० २०६) मे भी इसी प्रकार का लक्षण है। अभिनवगुप्त ने बतलाया है कि ब्राह्मण आदि वर्णचतुष्टय के एकत्रीकरण को वर्णसहार मानना उचित नही अपितु यहाँ वर्ण का अर्थ नाटकीय पात्र (नायक, प्रतिनायक, नायिका इत्यादि) है। किसी कार्य के लिये उनके एक साथ मिलने का वर्णन ही वर्णसहार है। ना० द० (१ ६७) मे यही लक्षण माना गया है तथा इसका विशद विवेचन किया गया है। वहाँ दशरूपक के मत की समीक्षा भी की गई है तथा वर्णसहार की एक तीसरी व्याख्या का भी उल्लेख है—एके तु 'वर्णितार्थतिरस्कार वर्णसहारमामनन्ति।

प्रतिमुख सन्धि के ये तेरह अङ्ग है। मुख सन्धि मे उपक्षिप्त बिन्दु नामक अवान्तर बीज एव महाबीज (अर्थप्रकृति) और प्रयत्न (नामक कार्यावस्था) से अन्वित इन अङ्गो का निर्वाह करना चाहिये। इनमे परिसर्प, प्रशम, वज्र उपन्यास और पुष्प ये अङ्ग प्रधान हैं (रूपको मे इनको स्थान देना आवश्यक है)। अन्यो का तो यथासम्भव प्रयोग किया जाता है।

टिप्पणी—(१) इस प्रकार प्रधानवृत्त का द्वितीय भाग प्रतिमुख सन्धि है। इसमे मुखसन्धि मे न्यस्त बीज की किञ्चिद् लक्ष्य और यत्किञ्चिद् अलक्ष्य रूप से अभिव्यक्ति हुआ करती है। साथ ही नायक-व्यापार की प्रयत्नावस्था का वर्णन होता है। फलत अवान्तर बीज अर्थात् बिन्दु या महाबीज की अभिव्यक्ति के साथ प्रयत्न अवस्था की अन्विति का नाम प्रतिमुख सन्धि है। इसके तेरह अङ्गो मे किसी न किसी रूप मे इस अन्विति के दर्शन होते है। उदाहरणार्थ विलास नामक प्रथम अङ्ग मे जो रति के लिये ईहा (चेष्टा) होती है वह अनुराग इत्यादि अवान्तर बीज की अभिव्यक्ति से अन्वित होती है। इसी प्रकार अन्य अङ्गो मे वर्णित प्रयत्न भी बिन्दु या बीज की व्यक्ति (उद्भेदन) से अन्वित हुआ करते है। (२) प्राय सभी नाट्याचार्यों के अनुसार प्रतिमुख सन्धि के उपर्युक्त १३ ही अङ्ग है। नामो मे भी कोई विशेष भेद नही हैं, केवल दशरूपक के 'शम' और प्रगमन के स्थान पर ना० शा० (१६ ५६), मे 'तापन' तथा 'प्रगयण' दो अङ्ग माने गये है। सा० द० (६ ८७) मे 'निरोध' के स्थान पर विरोध माना गया है। ना० द० (१ ६२) के नामो मे भी यत्किञ्चित् अन्तर है तथा इन अङ्गों के स्वरूप मे भी कुछ नवीनता है।

अथ गर्भसन्धिमाह—

(६६) गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः ।
द्वादशाङ्गः पताका स्यान्न वा स्यात्प्राप्तिसम्भवः ॥३६॥

प्रतिमुखसन्धौ लक्ष्यालक्ष्यरूपतया स्तोकोद्भिन्नस्य बीजस्य सविशेषोद्भेदपूर्वकः सान्तरायो लाभः पुनर्विच्छेदः पुनः प्राप्तिः पुनर्विच्छेदः पुनश्च तस्यैवान्वेषणं वार-वार सोऽनिर्धारितैकान्तफलप्राप्त्याशात्मको गर्भसन्धिरिति । तत्र चौत्सर्गिकत्वेन प्राप्तायाः पताकाया अनियमं दर्शयति—'पताका स्यान्न वा' इत्यनेन । प्राप्तिसम्भवस्तु स्यादेवेति दर्शयति—'स्यात्' इति । यथा रत्नावल्यां तृतीयेऽङ्के वत्सराजस्य वासवदत्तालक्षणापायेन तद्वेषपरिग्रहसागरिकाभिसरणोपायेन च विदूषकवचसा सागरिकाप्राप्त्याशा प्रथमं पुनर्वासवदत्तया विच्छेदः पुनः प्राप्तिः पुनर्विच्छेदः पुनरपायनिवारणोपायान्वेषणम् 'नास्ति देवीप्रसादनं मुक्त्वान्य उपायः' इत्यनेन दर्शितमिति ।

गर्भसन्धि और उसके अङ्ग

जहाँ दिखलाई देकर खोये गये बीज का वार बार अन्वेषण किया जाता है, वह गर्भसन्धि है। इसमे पताका (नामक अर्थप्रकृति) कही होती है कही नही भी होती, किन्तु प्राप्त्याशा (नाम की कार्यावस्था) होती ही है। इसके बारह अङ्ग होते है।

प्रतिमुख सन्धि मे जो बीज कुछ लक्ष्य रूप मे तथा कुछ अलक्ष्य रूप मे प्रकट होता है, उसका विशेष प्रकार से प्रकट होना - विघ्नो के साथ प्रकट होना, फिर नष्ट हो जाना, फिर प्राप्त होना तथा फिर नष्ट हो जाना और फिर उसका ही वार बार अन्वेषण किया जाना, यही गर्भ सन्धि कहलाती है, इसमे फलप्राप्ति की आशा का एकान्तत निश्चय नही होता।

(क्रमश अर्थप्रकृति और कार्यावस्था के अन्वय से सन्धि की उत्पत्ति होती है—इस) सामान्य नियम के अनुसार उस (गर्भ सन्धि) मे पताका अवश्य होनी चाहिये किन्तु 'पताका स्यात् न वा' (पताका हो या न हो) इस कथन के द्वारा यह दिखलाया है कि पताका का होना अनिवार्य नहीं है। इसी प्रकार 'स्यात् प्राप्ति-सम्भव' (प्राप्त्याशा होनी ही चाहिये), इस कथन से यह दिखलाया है कि (गर्भ सन्धि मे) प्राप्त्याशा अवश्य होती है।

(गर्भ सन्धि का उदाहरण) जैसे रत्नावली के तृतीय अङ्क मे पहिले तो विदूषक के उस वचन द्वारा सागरिका की प्राप्ति की आशा होती है जिसमे वासवदत्ता के रूप मे विघ्न कहा गया है और वासवदत्ता का वेष धारण करके सागरिका के अभिसरण को (समागम का) उपाय कहा गया है फिर वासवदत्ता की उपस्थिति से आशा-भङ्ग (विच्छेद) हो जाता है। इसी प्रकार फिर प्राप्ति और फिर विघ्न होता है और तब (विघ्न को दूर करने का) उपाय खोजा जाता है जो कि (३ १५-१६) 'देवी (वासवदत्ता) को प्रसन्न करने के अतिरिक्त (सागरिका से मिलन) का कोई और उपाय नही है'—इस कथन के द्वारा दिखलाया गया है।

उस (गर्भसन्धि) के बारह अङ्ग होते है, उनके नाम ये हैं—

स च द्वादशाङ्गो भवति । तान्युद्दिशति—

(६) अभूताहरण मार्गो रूपोदाहरणे क्रम ।
सग्रहश्चानुमान च तोटकाधिबले तथा ॥
उद्वेगसम्भ्रमाक्षेपा लक्षण च प्रणीयते ।

यथोद्देश लक्षणमाह—

(६८) अभूताहरण छद्म—

यथा रत्नावल्याम्—'साधुँ रे अमच्च वसन्तअ साधु अदिसइदो तए अमच्चो जोगन्धराअणो इमाए सन्धिविग्गहचिन्ताए ।' ('साधु रे अमात्य वसन्तक साधु अतिशयितस्त्वयामात्यो यौगन्धरायणोऽनया सन्धिविग्रहचिन्तया ।') इत्यादिना प्रवेशकेन सागरिकाया वत्सराजाभिसरण छद्म विदूषकसुसङ्गतावलम्बित-गृहीतवासवदत्तावेषाया काञ्चनमालानुवादद्वारेव दर्शितमित्यभूताहरणम् ।

अथ मार्ग—

(६९)—मार्गस्तत्त्वार्थकीर्तनम् । ३८॥

यथा रत्नावल्याम्—'विदूषक—दिट्ठिआ वड्ढसि समीहिदब्भधिकाए कज्ज-सिद्धीए । ('दिष्टया वर्धसे समीहिताभ्यधिकया कार्यसिद्धया ।') राजा—वयस्य कुशल प्रियाया ? विदूषक—अइरेण सअज्जेव्व पेक्खिअ जाणिहिसि । ('अचिरेण स्वयमेव प्रेक्ष्य ज्ञास्यसि ।') राजा—दर्शनमपि भविष्यति ? विदूषक—(सगर्वम्) कीस ण भविस्सदि जस्स दे उवहसिदविहप्फदिबुद्धिविहवो अह अमच्चो । ('कथ न भविष्यति यस्य त उपहसित-बृहस्पतिबुद्धिविभवोऽहममात्य ।') राजा—तथापि कथमिति श्रोतुमिच्छामि । विदूषक—(कर्णे कथयति) एव्वम् ।' ('एवम्') । इत्यनेन यथा विदूषकेण सागरिकासमागम सूचित, तथैव निश्चितरूपो राज्ञे निवेदित इति तत्त्वार्थकथनान्मार्ग इति ।

---

१ अभूताहरण २ मार्ग, ३ रूप, ४ उदाहरण, ५ क्रम, ६ सग्रह ७ अनुमान, ८ तोटक, ९ अधिबल, १० उद्वेग, ११ सम्भ्रम और १२ आक्षेप इनके लक्षण आगे किये जा रहे हे ॥३७, ३८॥

नाम-निर्देश के क्रम से लक्षण बतलाते हैं—

१ अभूताहरण—

(प्रकृत विषय से सम्बद्ध) छलपूर्ण कार्य ही अभूताहरण कहलाता है ।

जैसे रत्नावली (अङ्क ३ प्रवेशक) मे काञ्चनमाला (विदूषक को लक्ष्य करके) कहती है—धन्य है रे अमात्य वसन्तक, धन्य है । इस सन्धि विग्रह के विचार मे तूने अमात्य यौगन्धरायण को भी मात कर दिया है ।

यहाँ पर वासवदत्ता का वेश धारण करके सागरिका का वत्सराज के प्रति अभिसरण करना ही छद्म है, जिसको विदूषक और सुसङ्गता के निश्चय का काञ्चनमाला द्वारा कथन कराके प्रवेशक मे दिखलाया गया है ।

टिप्पणी— ना०—शा० (१९ ८२), सा० द० (६ ९६) ना० द० (असत्याहरण १८८) ।

२ मार्ग—

(प्रकृत विषय के सम्बन्ध मे) यथार्थ बात का कथन ही मार्ग कहलाता है ।

अथ रूपम्--

(७०) रूप वितर्कवद्वाक्यम्—

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—अहो किमपि कामिजनस्य स्वगृहिणीसमागमपरिभाविनोऽभिनव जन प्रति पक्षपातस्तथा हि—

प्रणयविशदा दृष्टि वक्त्रे ददाति न शङ्किता
　　घटयति घन कण्ठाश्लेषे रसान्न पयोधरौ ।
वदति बहुशो गच्छामीति प्रयत्नधृताप्यहो
　　रमयतितरा सङ्केतस्था तथापि हि कामिनी ॥२३॥

कथ चिरयति वसन्तक ? किं न खलु विदित स्यादय वृत्तान्तो देव्या ।' इत्यनेन रत्नावलीसमागमप्राप्त्याशानुगुण्येनैव देवीशङ्कायाश्च वितर्काद्रूपमिति ।

जैसे रत्नावली (३ ४-५) मे–'विदूषक–सौभाग्य से आप चाहे हुए से भी अधिक कार्य की सिद्धि के कारण वृद्धि को प्राप्त कर रहे है । राजा–मित्र, प्रिया का कुशल तो है ? विदूषक-शीघ्र ही आप स्वय देखकर जान लेंगे । राजा-क्या प्रिया का दर्शन भी हो जायेगा ? विदूषक–(गर्वपूर्वक) क्यो न होगा ? जिस (आप) का बुद्धि-वैभव मे बृहस्पति को तिरस्कृत करने वाला मै अमात्य हू । राजा—तो भी कैसे ? यह सुनना चाहता हू । विदूषक–(कान मै कहता हे) इस प्रकार' ।

यहाँ पर सागरिका के समागम को जैसी सूचना मिली थी विदूषक ने निश्चय करके वैसा ही राजा से निवेदन कर दिया। इस प्रकार यहाँ यथार्थ बात का कथन है अतः मार्ग (नामक गर्भसन्धि का अङ्ग) हे ।

टि०—ना० शा० (१९ ८३), सा० द० (६ ९४), ना० द० । (१ ८७)

३. रूप—

(प्राप्ति की आशा मे) वितर्क से युक्त कथन को रूप कहते है ।

जैसे रत्नावली (अङ्क ३ ९) मे राजा—अहो ! अपनी पत्नी के मिलने की उपेक्षा करने वाले कामुक जनो का नये व्यक्ति के प्रति अनोखा झुकाव होता है । क्योकि यद्यपि सकेत स्थल मे स्थित कामिनी आशङ्कित होने के कारण प्रेम से निर्मल हुई दृष्टि को (नायक के) मुख पर नहीं डालती, कण्ठालिङ्गन मे प्रीति के साथ स्तनो को दृढतापूर्वक नहीं लगाती, प्रयत्नपूर्वक रोके जाने पर भी बार-बार यही कहती है 'मै जाती हू' तथापि आश्चर्य है कि अह अधिक आनन्दित करती है ।'

वसन्तक (विदूषक) कैसे देर कर रहा है ? तो क्या यह वृत्तान्त देवी (वासवदत्ता) ने जान लिया है ?'

इत्यादि के द्वारा रत्नावली समागम की प्राप्ति की आशा के सम्बन्ध मे ही वासवदत्ता सम्बन्धी शङ्का का वितर्क किया गया है अत यहाँ रूप (नामक गर्भसन्धि का अङ्ग) है ।

अथोदाहरणम्—

(७१)—सोत्कर्षं स्यादुदाहृति ।

यथा रत्नावल्याम्—विदूषक —(सहर्षम्) ही ही भो, कोसम्बीरज्जलाहेणावि ण तादिसो वअस्सस्स परितोसो असि यादिसो मम सआसादो पिअवअण सुणिअ भविस्सदि त्ति तक्केमि ।' ('ही ही भो, कौशाम्बीराज्यलाभेनापि न तादृशो व यस्यस्य परितोष आसीत् यादृशो मम सकाशात्प्रियवचन श्रुत्वा भविष्यतीति तर्कयामि ।') इत्यनेन रत्नावलीप्राप्तिवार्तापि कौशाम्बीराज्यलाभादतिरिच्यत इत्युत्कर्षाभिधानादुदाहृतिरिति ।

अथ क्रम —

(७२) क्रम सचिन्त्यमानाप्ति —

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—उपनतप्रियासमागमोत्सवस्यापि मे किमिदमत्यथमुत्ताम्यति चेत, अथवा –

टिप्पणी—ना० शा० (चित्रार्थसमवाये तु वितर्को रूपम् (१९ ८३), सा० द० (६ ९६) । ना० द० (रूप नानाथसशय १ ७८) के अनुसार 'अनेक प्रकार की बातो का सशय ही रूप है ।' वहाँ दशरूपक के मत तथा का अन्य एक मत का भी वृत्ति मे उल्लेख किया गया है ।

४ उदाहरण (उदाहृति)

(प्राप्त्याशा से सम्बद्ध) उत्कर्षयुक्त कथन उदाहृति कहलाता है ।

जैसे रत्नावली (३ ५ ५) मे विदूषक (हर्षपूवक)—आ हा हा ! मै समझता हू कि मेरे मित्र को कौशम्बी का राज्य पाने से भी इतना सुख न होगा जितना कि आज मुझसे प्रिय वचन सुनकर होगा ।'

इत्यादि के द्वारा 'रत्नावली की प्राप्ति की बात भी कौशाम्बी-राज्य की प्राप्ति से बढकर है" इस उत्कर्ष का कथन किया गया है अत उदाहृति (नामक गर्भ-सन्धि का अङ्ग) है ।

टि०—ना० शा० (१९ ८४), सा० द० (६ ९७, ना० द० । (उदाहृति समुत्कर्ष १ ८१)

५ क्रम—

सोची हुई वस्तु की प्राप्ति क्रम कहलाता है ।

जैसे रत्नावली (२ १०) मे 'राजा—प्रिया का मिलन उपस्थित होने पर भी मेरा हृदय अत्यधिक उत्कण्ठित क्यो हो रहा है ? अथवा

तीव्र स्मरसंतापो न तथादौ बाधते यथासन्ने ।
तपति प्रावृषि सुतरामभ्यर्णजलागमो दिवसः ॥२४॥

विदूषक—'आश्चर्यं भोदि साअरिए, एसो पिअवअस्सो तुमं ज्जेव उद्दिसिअ उक्कण्ठाणिब्भरं मन्तेदि । ता निवेदेमि से तुहागमणम् ।' ('भवति सागरिके, एष प्रियवयस्यस्त्वामेवोद्दिश्योत्कण्ठानिर्भरं मन्त्रयति तन्निवेदयामि तस्मै त्वागमनम्') इत्यनेन वत्सराजस्य सागरिकासमागममभिलषत एव भ्रान्तेर्वासवदत्तारूपसागरिकाप्राप्तिरिति क्रमः ।

अथ क्रमान्तरं मतभेदेन—

(७३)—भावज्ञानमथापरे ॥३९॥

यथा रत्नावल्याम्—'राजा (उपसृत्य) प्रिये सागरिके,

शीतांशुर्मुखमुत्पले तव दृशौ पद्मानुकारौ करौ
रम्भागर्भनिभं तवोरुयुगलं बाहू मृणालोपमौ ।
इत्याह्लादकराखिलाङ्गि रभसान्निःशङ्कमालिङ्ग्य मा-
मङ्गानि त्वमनङ्गतापविधुराण्येह्येहि निर्वापय ॥२५॥

इत्यादिना 'उत तदप्यस्त्येव बिम्बाधरे' इत्यन्तेन वासवदत्तया वत्सराजभावस्य ज्ञातत्वात्क्रमान्तरमिति ।

काम का तीव्र संताप प्रारम्भ मे उतना नहीं सताता, जितना (प्रिया के मिलन के) निकट होने पर सताता है । वस्तुतः वर्षा ऋतु मे वह दिवस अधिक तपता है जिसमे जल का आगमन निकट होता है ।

विदूषक—(सुनकर) आदरणीय सागरिका, यह मेरे प्रिय मित्र तुम को लक्ष्य करके ही अत्यधिक उत्कण्ठापूर्वक कुछ कह रहे हैं, तो मैं तुम्हारे आने की बात इनसे कहता हूँ ।'

इत्यादि द्वारा सागरिका के समागम की कामना करते हुए ही वत्सराज को भ्रान्ति से (वासवदत्ता मे) सागरिका की प्राप्ति होती है, अतः यह क्रम (नामक गर्भ सन्धि का अङ्ग) है ।

मतभेद से क्रम का दूसरा रूप (क्रमान्तर—दूसरा क्रम) यह है—

दूसरे आचार्य भाव-ज्ञान को क्रम कहते हैं ॥३९॥

जैसे रत्नावली (३ ११) मे राजा-(समीप जाकर) प्रिय सागरिका, तेरा मुख चन्द्रमा है, नेत्र नील कमल हैं, हाथ (लाल) कमल के समान हैं, उरु-युगल कदली के अन्तर्भाग के सदृश है, भुजाएँ कमल नाल के तुल्य हैं । इस प्रकार हे आह्लादित करने वाले समस्त अङ्गो वाली तुम आओ निशङ्क होकर बलपूर्वक मेरा आलिङ्गन करके काम के सन्ताप से व्याकुल मेरे अङ्गो को शान्त कर दो ।

इत्यादि से प्रारम्भ करके "वह अमृत भी तुम्हारे बिम्बाधर मे विद्यमान है" (३ १३) यहाँ तक वासवदत्ता के द्वारा वत्सराज के भाव को जाना गया है । अतः यह दूसरे प्रकार का क्रम है ।

टिप्पणी—यहाँ क्रम के स्वरूप के विषय मे जो दो मत दिखलाये गये हैं उनमे से धनञ्जय को प्रथम अभीष्ट है किन्तु दूसरा मत किसका है, यह कहना कठिन है

अथ सग्रह —

(७४) सग्रह सामदानोक्ति —

यथा रत्नावल्याम्—'साधु वयस्य, साधु इद ते पारितोषिक कटक ददामि।' इत्याभ्या सामदानाभ्या विदूषकस्य सागरिकासमागमकारिण सग्रहात्सग्रह इति।

अथानुमानम्--

(७५) अभ्यूहो लिङ्गतोऽनुमा।

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—धिड् मूख, त्वत्कृत एवायमापतितोऽस्माकमनर्थ। कुत —

समारूढा प्रीति प्रणयबहुमानात्प्रतिदिन
व्यलीक वीक्ष्येद कृतमकृतपूर्व खलु मया।
प्रिया मुञ्चत्यद्य स्फुटमसहना जीवितमसौ
प्रकृष्टस्य प्रेम्ण स्खलितमविषह्य हि भवति ॥२६॥

विदूषक —भो वअस्स, वासवदत्ता कि करइस्सदि त्ति ण जाणामि सागरिआ उण दुक्कर जीविस्सदित्ति तक्केमि'। ('भो वयस्य, वासवदत्ता कि करिष्यतीति न जानामि सागरिका पुनर्दुष्कर जीविष्यतीति तर्कयामि।') इत्यत्र प्रकृष्टप्रेमस्खलनेन सागरिकानुरागजन्येन वासवदत्ताया मरणाभ्यूहनमनुम नमिति।

ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्र (१९ ८४) मे जो क्रम का लक्षण दिया गया था—'भावतत्त्वोपलब्धिस्तु क्रम' उसकी दो प्रकार की व्याख्याये धनञ्जय से पूर्व प्रचलित रही होगी, उन्ही का यहाँ उल्लेख किया गया है। आगे चलकर भी क्रम की दो व्याख्याये प्रचलित रही, नाट्यदर्पण (१ ८२) मे 'क्रमो भावस्य निर्णय' यह लक्षण देकर दो प्रकार की व्याख्या की गई है। साहित्यदर्पणकार ने यहाँ दशरूपक का अनुसरण नही किया अपितु नाट्यशास्त्र के शब्दो मे ही क्रम का लक्षण प्रस्तुत किया है, किन्तु उसकी व्याख्या नही की।

६ सग्रह—

(प्राप्त्याशा से सम्बद्ध) साम और दान से युक्त कथन ही सग्रह कहलाता है।

जैसे रत्नावली (३ ४-५) मे राजा विदूषक से कहता है—'धन्य हो, मित्र धन्य हो। यह तुम्हे पारितोषिक रूप मे कटक देता हू।'

इत्यादि के द्वारा सागरिका से मिलन कराने वाले विदूषक का साम (प्रशसात्मक वचन) तथा (दान कटक प्रदान) के द्वारा सग्रह किया गया है। अत (सग्रह नामक गर्भसन्धि का अङ्ग) है।'

७ अनुमान—

किसी चिह्न से किसी बात का निश्चय करना (अभ्यूह) अनुमान कहलाता है।

अथाधिबलम्—

(७६) अधिबलमभिसन्धि –

यथा रत्नावल्याम्—'काञ्चनमाला—भट्टिणि, इअ सा चित्तसालिआ । ता वसन्तअस्स सण्ण करेमि ('भर्त्रि, इय सा चित्रशालिका तद्वसन्तकस्य सञ्ज्ञा करोमि ।') (छोटिका ददाति), इत्यादिना वासवदत्ताकाञ्चनमालाभ्या सागरिकासुसङ्गतावेषाभ्या राजविदूषकयोरभिसन्धीयमानत्वादधिबलमिति ।

जैसे रत्नावली (३-१५) मे 'राजा—मूर्ख, धिक्कार है, तेरे द्वारा किया गया ही हम पर यह अनर्थ आ पडा है । क्योकि—प्रेम का अत्यधिक आदर करने के कारण प्रेम दिन प्रतिदिन बढ रहा था । पहिले न किये गये इस अपराध को मेरे द्वारा किया गया देखकर असहनशील प्रिया (वासवदत्ता) आज अवश्य ही प्राणो को त्याग देगी, क्योकि उत्कट प्रेम का स्खलन असह्य होता है ।

विदूषक—हे मित्र, वासवदत्ता क्या करेगी यह तो मै नही जानता । किन्तु सागरिका का जीवन दूभर हो जायेगा, ऐसा मै सोचता हू ।'

यहाँ पर सागरिका के प्रति (राजा के) अनुराग से उत्पन्न होने वाले प्रकृष्ट प्रेम के स्खलन से वासवदत्ता के मरण का अनुमान किया जाता है अत अनुमान (नामक गर्भसन्धि का अङ्ग) हे ।

टिप्पणी—सागरिका से प्रेम करने के कारण राजा का वासवदत्ता के प्रति जो प्रकृष्ट प्रेम था वह स्खलित हो गया हे जो वासवदत्ता के लिये असह्य है । इस लिये इस प्रेम स्खलन (लिङ्ग) द्वारा वासवदत्ता के मरण का अनुमान किया जाता है ।

८ अधिबल—

वञ्चना (=अभिसन्धि) ही अधिबल कहलाता है ।

जैसे रत्नावली (३ ९-१०) मे काञ्चनमाला (वासवदत्ता से कहती है)—'स्वामिनी' वह यह चित्रशाला है अत वसन्तक (विदूषक) को सकेत करती हू ।'

इत्यादि के द्वारा क्रमश· सागरिका तथा सुसङ्गता का वेष धारण करने वाली वासवदत्ता और काञ्चनमाला के द्वारा राजा और विदूषक की वञ्चना की गई है, अत यहाँ अधिबल (नामक गर्भसन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—अधिबल के स्वरूप के सम्बन्ध मे आचार्यों का मतभेद है। नाट्यशास्त्र (१९ ८७) के अनुसार कपट से किसी को वञ्चित करना ही अधिबल है । नाट्यदर्पण (१ ८६) मे 'अधिबल बलाधिक्यम्" यह लक्षण किया गया है किन्तु वहाँ अन्य भी कई मत प्रस्तुत किये गये है । एक मत के अनुसार वञ्चना का विफल होना ही अधिबल है जैसे रत्ना० ३ १४ मे । दूसरे मत के अनुसार सोपलम्भ वाक्य को अधिबल कहते है जैसे वेणीसंहार ५.२९ मे । प्रतापरुद्रीय के अनुसार इष्ट जन को वञ्चित करना ही अधिबल है (३.१५) । साहित्यदर्पण (६.९९) मे नाट्यशास्त्र का लक्षण ही अपनाया गया है ।

अथ तोटकम्—

(७४)—सरब्ध तोटक वच ॥४०॥

यथा रत्नावल्याम्—'वासवदत्ता—(उपसृत्य) अज्जउत्त, जुत्तमिरण सरिस-मिरणम् ।' (पुन सरोषम्) अज्जउत्त उट्ठेहि कि अज्जवि आहिजाईए सेवादुक्खमणु-भवीअदि, कचरणमाले, एदेरण ज्जेव पामेरण बधिअ आरोेहि एरण दुट्ठबम्हरण । एद पि दुटठकण्णाअ अग्गदो करेहि ।" (आयपुत्र, युक्तमिद सदृशमिदम् । आर्यपुत्र, उत्तिष्ठ किमद्याप्याभिजात्या सेवादु खमनुभूयते, काञ्चनमाले, एतेनैव पाशेन बद्ध्वानयैन दुष्ट-ब्राह्मणम् एतामपि दुष्टकन्यकामग्रत कुरु ।'), इत्यनेन वासवदत्तासरब्धवचसा सागरिका-समागमान्तरायभूतेनाऽनियतप्राप्तिकारण तोटकमुक्तम् ।

यथा च वेणीसहारे—

'प्रयत्नपरिबोधित स्तुतिभिरद्य शेषे निशाम्' ॥२७॥

इत्यादिना

'धृतायुधो यावदह तावदन्यै किमायुधै' ॥२८।

इत्यन्तेनान्योन्य कर्णाश्वत्थाम्नो सरब्धवचसा सेनाभेदकारिणा पाण्डवविजय-प्राप्त्याशान्वित तोटकमिति ।

---

९ तोटक

आवेगपूर्ण वचन ही तोटक कहलाता है ।

जैसे रत्नावली (३ १८ १९) मे 'वासवदत्ता (निकट जाकर) आर्यपुत्र, यह उचित है, यह योग्य है ? (फिर कोपपूर्वक) आर्यपुत्र, उठो उठो, अब भी कुलीनता की दृष्टि से सेवा के दु ख का क्यो अनुभव करते हो ? (क्रोधपूवक) काञ्चनमाला, इसी पाश मे बाँधकर इस दुष्ट ब्राह्मण को ले चलो । इस दुष्ट कन्या को भी आगे कर लो ।'

इत्यादि के द्वारा सागरिका-समागम मे विघ्न करने वाले वासवदत्ता के आवेगपूर्ण वचन से अनियत प्राप्ति का कारण दिखलाया गया है जो तोटक (नामक गभसन्धि का अङ्ग) है ।

और, जैसे वेणीसहार (अङ्क ३) मे अश्वत्थामा दुर्योधन से कहता है—'आज रात्रि मे ऐसे सोओगे कि (प्रात) मङ्गलस्तुतियो से प्रयत्नपूर्वक जागोगे' (३ ३४) इससे आरम्भ करके 'जब तक मैने आयुध धारण किये है तब तक अन्य आयुधो से क्या प्रयोजन ?' यहाँ तक कर्ण और अश्वत्थामा के सेना मे भेद डालने वाले परस्पर आवेगपूण वचन से पाण्डवो की विजय प्राप्ति की आशा से युक्त तोटक है ।

टिप्पणी—सरब्ध का अर्थ है—सरम्भयुक्त । सरम्भ=आवेग । नाट्यशास्त्र (१९ ८७) मे 'सरम्भवचन तोटक' यह लक्षण किया गया है जिसका अभिनव भारती के अनुसार भाव यह है कि आवेगपूर्ण वचन ही तोटक है । यह आवेग हष से, क्रोध से

ग्रन्थान्तरे तु—

तोटकस्यान्यथाभाव ब्रुवतेऽधिबल बुधा

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—देवि एवमपि प्रत्यक्षदृष्टव्यलीक कि विज्ञापयामि—

आताम्रतामपनयामि विलक्ष एव
लाक्षाकृता चरणयोस्तव देवि मूर्ध्ना ।
कोपोपरागजनिता तु मुखेन्दुबिम्बे
हर्तु क्षमो यदि पर करुणा मयि स्यात् ॥२९॥

सरब्धवचन यत्तु तोटक तदुदाहृतम् ॥४१॥

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—प्रिये वासवदत्ते, प्रसीद प्रसीद । वासवदत्ता—(अश्रूणि धारयन्ती) अज्जउत्त, मा एव भण अण्णसङ्कन्ताइ खु एदाइ अक्खराइ त्ति ।' ('आयपुत्र, मैव भण । अन्यसक्रान्तानि खल्वेतान्यक्षराणीति ।'

यथा च वेणीसहारे—राजा, अये-अये सुन्दरक, कच्चित्कुशलमङ्गराजस्य ? पुरुष —कुसल सरीरमेत्तकेण । ('कुशल शरीरमात्रकेण ।') राजा—कि तस्य किरीटिना हता धौरेया, क्षत सारथि, भग्नो वा रथ । पुरुष –देव, ण भग्गो रहो भग्गो से मणोरहो ('देव न भग्नो रथ । भग्नोऽस्य मनोरथ') राजा–(ससभ्रमम्) 'कथम्' इत्येवमादिना सरब्धवचसा तोटकमिति ।

या अन्य किसी निमित्त से हुआ करता है । क्योंकि हृदय को तोडने वाला वचन होता हे, अत इसे तोटक कहा जाता है (भिनत्ति यतो हृदय ततस् तोटकम्-अभि० भा०) । नाट्यदपण (१ ८९) के 'तोटक गर्भित वच' का भी यही तात्पय हे । प्रता० (१ १५) के अनुसार 'रोषसरब्धवचन तोटकम्' यह लक्षण है जिसमे आवेग के निमित्त रोष मात्र का उल्लेख किया गया हे । साहित्यदपण (६ ९८) मे दशरूपक का ही अनुसरण किया गया है (तोटक पुन सरब्धवाक) । कुछ व्याख्याकारो ने सरब्ध का अर्थ क्रोधयुक्त किया है, किन्तु उपर्युक्त अर्थ ही प्रामाणिक प्रतीत होता है । इन सभी लक्षणो मे प्राय समानता है । आगे 'ग्रन्थान्तरे तु' इत्यादि के द्वारा जो तोटक का लक्षण उद्धृत किया जा रहा है उसमे भी कोई अन्तर नही है । हाँ, उदाहरण मे अन्तर है । साथ ही 'अधिबल' के लक्षण मे विशेष मतभेद है ।

अन्य ग्रन्थ मे तो—

विद्वान् लोग तोटक के विपरीत भाव को अधिबल कहते है ।

जैसे रत्नावली (३ १४) मे 'राजा–देवी, इस प्रकार जिसका अपराध प्रत्यक्ष देख लिया गया है मै क्या कहू ? देवी, इस प्रकार लज्जित हुआ मै तुम्हारे चरणो की महावर से उत्पन्न लाली को अपने सिर से पोंछता हू । किन्तु तुम्हारे मुख रूपी चन्द्रबिम्ब पर क्रोध (रूपी राहु) के ग्रहण से उत्पन्न लाली को तो मै तभी दूर कर सकता हू यदि मुझ पर तुम्हारी कृपा हो ।'

जो सरब्ध वचन है वह तो तोटक कहा गया है ॥४१॥

जैसे रत्नावली (३ १३–१४) मे 'राजा—प्रिय वासवदत्ता, प्रसन्न हो जाओ प्रसन्न हो जाओ । वासवदत्ता—(आँसू भरती हुई) आर्यपुत्र ऐसा मत कहो, ये अक्षर (अब) दूसरी के लिये हो गये हैं ।'

अथोद्वेग —

(७८) उद्वेगोऽरिकृता भीति —

यथा रत्नावल्याम्—सागरिका—(आत्मगतम्) कह अकिदपुण्णेहि अत्तणो इच्छाए मरिउं पि ण पारीअदि । (कथमकृतपुण्यैरात्मन इच्छया मर्तुमपि न पार्यते ।') इत्यनेन वासवदत्तात सागरिकाया भयमित्युद्वेग । यो हि यस्यापकारी स तस्यारि ।

और, जैसे वेणीसहार (४ ९-१०) मे 'राजा—अरे सुन्दरक, अङ्गराज (कर्ण) कुशल से तो है ? पुरुष—केवल शरीर मात्र से कुशल है। राजा क्या अर्जुन ने उसके घोडे मार दिये, सारथि घायल कर दिया या रथ तोड दिया ? पुरुष—देव न, केवल रथ ही तोड दिया, अपितु मनोरथ भी । राजा—(घबराहट के साथ) कैसे ?

इत्यादि आवेगपूर्ण वचन के द्वारा तोटक होता है।

टिप्पणी—(१) हाल तथा हॉस का विचार है कि 'तोटकस्य तदुदाहृतम्' ॥४१॥ यह श्लोक अवलोक टीका मे उद्धृत किया गया है । यह मूल ग्रन्थ का अश नही । (२) सुदर्शनाचार्य ने प्रभानामक सस्कृत टीका मे सूत्र ७७ मे स्थित 'सरब्ध' शब्द का अर्थ 'क्रोधयुक्त' किया है और प्रस्तुत श्लोक मे स्थित 'सरब्धवचन' का अर्थ उद्विग्न वचन' किया है । किन्तु यहाँ सरब्ध के विपरीत (अन्यथाभाव) का अर्थ विनय-वचन किया है और मतान्तर के अनुसार विनययुक्त वचन को ही अधिबल बताया है। तथ्य यह प्रतीत होता है कि सरब्धवचन सभी के अनुसार तोटक या त्रोटक है । सरब्ध-वचन का बहुसम्मत अर्थ है–आवेगपूर्ण वचन । आवेग का मुख्य निमित्त क्रोध भी है। इसीलिये प्रता० आदि मे केवल क्रोध से उत्पन्न सरब्धवचन को तोटक मान लिया गया है। फिर भी तोटक के स्वरूप के विषय मे मतभेद नही है । हाँ, मतभेद है—अधिबल के स्वरूप के विषय मे । कुछ विद्वानो का मत है कि आवेगपूर्ण वचन जो तोटक है उसका उलटा ही अधिबल है, अर्थात् ऐसा वचन जिसमे आवेग=उत्तेजना या क्षोभ न हो । जैसा कि ऊपर कहा गया है, आवेग नामक भाव क्रोध, हर्ष, शोक आदि से उत्पन्न होता है । यहाँ तोटक के दोनो उदाहरणो मे पीडा या शोक से उत्पन्न आवेग से युक्त वचन है और अधिबल के उदाहरण मे आवेगरहित (प्रकृतिस्थ अवस्था का) कथन है । धनञ्जय के मत मे वञ्चना ही अधिबल है (सूत्र ७६)

१० उद्वेग—

शत्रु से उत्पन्न भय उद्वेग कहलाता है।

जैसे रत्नावली (२ १८-१९) मे 'सागरिका (मन ही मन)—क्या पुण्य न करने वाली अपनी इच्छा से मर भी नही सकती' । इत्यादि के द्वारा वासवदत्ता से उत्पन्न सागरिका का भय दिखलाया गया है अत उद्वेग (नामक गर्भसन्धि का अङ्ग) है। (यदि शङ्का हो कि वासवदत्ता तो सागरिका की शत्रु नहीं है फिर यह भय शत्रु से उत्पन्न कहाँ रहा ? तो उत्तर है (जो जिसका अधिकारी होता है वह उसका शत्रु ही है (वासवदत्ता भी सागरिका के वत्सराज से मिलन मे बाधक है अत शत्रु ही है)।

यथा च वेणीसहारे—'सूत –(श्रुत्वा मभयम्) कथमासन्न एवासौ कारवराज-पुत्रमहावनोत्पातमारुतो मारुतिरनुपलब्धसञ्ज्ञश्च महाराज, भवतु दूरमपहरामि स्यन्दनम्। कदाचिदयमनार्यो दु शासन इवास्मिन्नप्यनार्यमाचरिष्यति।' इत्यरिकृता भीतिरुद्वेग ।

अथ सभ्रम —

(७९)—शङ्कात्रासौ च सभ्रम ।

यथा रत्नावल्याम्—'विदूषक —(पश्यन्) का उण एसा । (ससभ्रमम्) कध देवी वासवदत्ता अत्ताण वावादेदि। ('का पुनरेषा ! कथ देवी वासवदत्तात्मान व्यापादयति') राजा—(ससभ्रममुपसपन्) क्वासौ क्वासौ ?' इत्यनन वासवदत्ताबुद्धिगृहीताया सागरिकाया मरणशङ्कया सभ्रम इति ।

यथा च वेणीसहारे—('नेपथ्ये कलकल') अश्वत्थामा–(ससभ्रमम्) मातुल, मातुल, कष्टम्। एष भ्रातु प्रतिज्ञाभङ्गभीरु किरीटी सम शरवर्षैर्दुर्योधनराधेयावभि

और, जैसे वेणीसहार (४ १-२) मे 'सूत–(सुनकर भयपूर्वक) क्या कौरव राज पुत्र रूपी महावन के लिये उत्पात पवन यह पवनपुत्र (भीम) निकट ही है और अभी महाराज को चेतना नहीं प्राप्त हुई है। अच्छा, रथ को दूर ले जाता हू। कही यह दुष्ट दु शासन के समान इनके साथ भी दुष्टता न करे।'

इस प्रकार शत्रु के द्वारा उत्पन्न भय है अत उद्वेग (नामक गर्भसन्धि का अङ्ग) है।

टिप्पणी—भाव यह है कि चोर, नृप, शत्रु, नायिका इत्यादि से उत्पन्न होने वाला जो भय है, जिसके कारण नियताप्ति मे विघ्न उपस्थित होता है, उसका वर्णन ही उद्वेग है। दशरूपक मे 'अरिकृता' मे 'अरि' शब्द का अर्थ है—अपकारी=इष्ट कार्य मे विघ्न करने वाला।

११ सम्भ्रम—

शङ्का और त्रास को सम्भ्रम कहा जाता है।

जैसे रत्नावली (३.१५-१६) मे 'विदूषक—(देखकर) यह कौन है ? क्या देवी वासवदत्ता आत्महत्या कर रही है ? राजा—(घबराहट के साथ निकट जाकर) वह कहाँ है ? कहाँ है ?'

इत्यादि के द्वारा वासवदत्ता समझकर सागरिका के मरने की शङ्का होने से सभ्रम (नामक गर्भसन्धि का अङ्ग) है।

और, जैसे वेणीसहार (४ ४७-४८) मे (नेपथ्य मे कलकल शब्द होता है) अश्वत्थामा—(घबराहट के साथ) मातुल, मातुल, कष्ट की बात है! अपने भाई

द्रवति । सर्वथा पीत शोणित दु शासनस्य भीमेन ।' इति शङ्का । तथा '(प्रविश्य सभ्रान्त सप्रहार) सूत —आयता आयता कुमार ।' इति त्रास । इत्येताभ्या त्रास-शङ्काभ्या दु शासनद्रोणवधसूचकाभ्या पाण्डवविजयप्राप्त्याशान्वित सभ्रम इति ।

(भीमसेन) की प्रतिज्ञा के भङ्ग से भय के यह अर्जुन बाणो की वर्षा करते हुए एक साथ ही दुर्योधन और कर्ण की ओर बढ रहा है । भीम ने दु शासन का रक्त बिल्कुल पी ही लिया ।'

यहाँ पर शङ्का दिखलाई गई है । और,

(घबराहट के साथ प्रहारयुक्त प्रवेश करके) सूत—कुमार की रक्षा करो, रक्षा करो ।' यहाँ त्रास दिखलाया गया है ।

यहाँ दु शासन और द्रोण के वध की सूचना देने वाले इन त्रास और शङ्का के द्वारा पाण्डवो की विजय प्राप्ति की आशा से युक्त यह सभ्रम है ।

टिप्पणी—(i) वासवदत्ताबुद्धिगृहीताया =वासवदता की बुद्धि से गृहीत की गई का, 'वासवदत्ता है' इस प्रकार की बुद्धि (ज्ञान) से गृहीत की गई का, सागरिका को वासवदत्ता समझकर (ii) सभ्रम=वह शङ्का या त्रास जिसका सम्बन्ध प्राप्त्याशा से होता है, सभ्रम (नामक गभसन्धि का अङ्ग) है । यहाँ रत्नावली के उदाहरण मे वासवदत्ता की आत्महत्या की जो शङ्का है वह सागरिकासमागम की प्राप्त्याशा के अनुकूल है । इसी प्रकार वेणीसहार के उदाहरण मे जो शङ्का तथा त्रास है उनसे होने वाला सभ्रम पाण्डवो की विजय-प्राप्ति की आशा के अनुकूल है । (iii) नाट्यशास्त्र मे सभ्रम के स्थान पर 'विद्रव' नामक गर्भसन्धि के अङ्ग का निरूपण किया गया है, जिसका लक्षण है—शङ्काभयत्रासकृतो विद्रव ' (ना० शा० १९ ८८) । अभिनवगुप्त के अनुसार इसकी दो व्याख्याएँ है—(१) 'भयत्रासकृत ' इस पद मे षष्ठी विभक्ति है 'शङ्का' पृथक् प्रथमान्त पद है । इस प्रकार भय और त्रास उत्पन्न करने वाली वस्तु की शङ्का ही विद्रव है । शङ्का का तात्पर्य है—विघ्न करने की सम्भावना (शङ्का= अपायकारकत्वसम्भावना, ना० द० १ ८४) । (२) 'शङ्काभयत्रासकृत ' यह एक समस्त पद है । शङ्का, भय और त्रास से किया गया (भाव) विद्रव है । वह भाव क्या है ? सम्भ्रम । जैसा कि साहित्यदपण मे स्पष्ट किया गया है (६ १०० , इस प्रकार शङ्का भय और त्रास से होने वाली घबराहट का वर्णन ही विद्रव है । दशरूपककार ने शङ्का और त्रास को ही सम्भ्रम कहा है । किन्तु धनिक की टीका के अनुसार शङ्का और त्रास से उत्पन्न घबराहट का वणन, जो प्राप्त्याशा से अन्वित है वही सम्भ्रम है । (iv) यह भी ध्यान देने योग्य है कि प्राप्त्याशा से अन्वित भय (भीति) का वर्णन उद्वेग है, किन्तु भय, त्राम और शङ्का से उत्पन्न घबराहट का वर्णन सम्भ्रम या विद्रव है ।

अथाक्षेपः—

(८०) गर्भबीजसमुद्भेदादाक्षेपः परिकीर्तितः ॥४२॥

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—वयस्य देवीप्रसादनं मुक्त्वा नान्यत्रोपायं पश्यामि। पुन:क्रमान्तरे 'सर्वथा देवीप्रसादनं प्रति निष्प्रत्याशीभूताः स्मः। पुनः 'तत्किमिह स्थितेन देवीमेव गत्वा प्रसादयामि।' इत्यनेन देवीप्रसादायत्ताः सागरिकासमागम् सिद्धिरिति गर्भबीजोद्भेदादाक्षेपः।

यथा च वेणीसंहारे—'सुन्दरकः—अहवा किमेत्थ देव्वं उआलहामि तस्स क्खु एदं णिब्भच्छिदविदुरवअणबीअस्स परिभूदपिदामहहिदोवदेसङ्कुरस्स सउणिप्पोच्छाहणारूढमूलस्स कूडविससाहिणो पञ्चालीकेसग्गहणकुसुमस्स फलं परिणमेदि।' ('अथवा किमत्र दैवमुपालभे तस्य खल्वेतन्निर्भर्त्सितविदुरवचनबीजस्य परिभूतपितामहहितोपदेशाङ्कुरस्य शकुनिप्रोत्साहनारूढमूलस्य कूटविषशाखिनः पाञ्चालीकेशग्रहणकुसुमस्य फलं परिणमति'।) इत्यनेन बीजमेव फलोन्मुखतयाक्षिप्यत इत्याक्षेपः।

१२. आक्षेप

गर्भ के बीज का उदभेद (प्रकटन) ही आक्षेप कहा गया है।

जैसे रत्नावली (३.१५-१६) में 'राजा—मित्र, देवी को प्रसन्न करने के अतिरिक्त इसका कोई दूसरा उपाय नहीं दिखलाई देता।' फिर दूसरे अवसर पर 'सर्वथा देवी को प्रसन्न करने के विषय में हम निराश हो चुके हैं।' फिर भी 'तो यहाँ ठहरने से क्या लाभ? जाकर देवी को ही प्रसन्न करें।' इत्यादि के द्वारा देवी की प्रसन्नता के अधीन ही सागरिका के समागम की सिद्धि है, यह प्रकट किया गया है अतः गर्भ के बीज को प्रकट करने के कारण यह आक्षेप (नामक गर्भ सन्धि का अङ्ग) है।

और, जैसे वेणीसंहार (४.९-१०) में 'सुन्दरक—अथवा इस विषय में भाग्य को क्या दोष दूँ? क्योंकि यह तो उस कपट रूपी (कूट) विष वृक्ष का फल प्राप्त हो रहा है. विदुर के वचन का तिरस्कार ही जिसका बीज है, अवहेलना किया गया पितामह का हितकारी उपदेश ही जिसका अङ्कुर है, शकुनि के प्रोत्साहन से जिसकी जड़ दृढ हो गई है, द्रौपदी का केश-कर्षण ही जिसका पुष्प है।'

इत्यादि के द्वारा बीज को ही फलोन्मुख रूप में दिखलाया गया है। अतः आक्षेप (नामक गर्भसन्धि) का अङ्ग है।

टिप्पणी—(१) नाट्य शास्त्र के अनुसार इसका नाम आक्षिप्ति है, जिसका लक्षण है—गर्भस्योद्भेदनं यत् साऽऽक्षिप्तिः (१९.८६)। दशरूपक के उपर्युक्त लक्षण में इसकी ही छाया है। प्रता०, साहित्यदर्पण (६.९९) के अनुसार रहस्यपूर्ण अर्थ को प्रकट करना ही आक्षेप कहलाता है। नाट्यदर्पण (१.५४) के अनुसार "प्राप्त्याशा की अवस्था में स्थित बीज का प्रकाशन ही आक्षेप है"। इन सभी लक्षणों के आधार पर आक्षेप का स्वरूप है—गर्भसन्धि में स्थित प्राप्त्याशा की अवस्था से अन्वित गुप्त बीज का प्रकाशन ही आक्षेप है। इसमें बीज की फलोन्मुखता का वर्णन होता है।

एतानि द्वादश गर्भाङ्गानि प्राप्त्याशाप्रदर्शकत्वेनोपनिबन्धनीयानि। एषा च मध्येऽभूताहरणमार्गतोटकाधिबलाक्षेपाणा प्राधान्यम् इतरेषा यथासभव प्रयोग इति साङ्गो गर्भसन्धिरुक्त ।

अथावमश —

(८१) क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात्।
गर्भनिर्भिन्नबीजार्थ सोऽवमर्श इति स्मृत *॥४३॥

इन गर्भसन्धि के १२ अङ्गो को प्राप्त्याशा के प्रदर्शक के रूप मे दिखलाना चाहिए। इन अङ्गो मे अभूताहरण, माग, तोटक, अधिबल और आक्षेप—ये मुख्य है (इनका रखना आवश्यक है) अन्य अङ्गो का यथासम्भव प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार अङ्गो के सहित गभसन्धि बतलाई गई है।

टिप्पणी—(१) गर्भसन्धि मे बीज अन्तर्निविष्ट सा रहता है वह कभी प्रकट हो जाता है कभी छिप जाता हे। अत उसका बार-बार अन्वेषण किया जाया करता हे। इस प्रकार का बीज प्राप्त्याशा का प्रदशक होता है। प्राप्त्याशा से अन्वित कभी दृष्ट और कभी नष्ट होने वाले इस बीज के वणन मे अनेक अवस्थाएँ होती है जो नाट्य के सन्दभ मे गर्भसन्धि के अङ्ग कहलाते है। जैसा कि धनिक ने बतलाया है, इन अङ्गो मे अभूताहरण इत्यादि अङ्ग अनिवाय है किन्तु शेष अङ्गो की योजना अनिवार्य नही है। (२) ना० शा० (१९ ६१-६२) मे गभसन्धि के १३ अङ्ग माने गये है, इसी प्रकार ना० द० (१ ७६) तथा सा० द० (६ ९४ ९५) मे भी। साथ ही इन अङ्गो के नाम, क्रम तथा स्वरूप मे भी भेद है। किन्तु प्रता० (३ १४–१५) मे दशरूपक के समान ही १२ अङ्ग माने गये है।। इन अङ्गो का नाम–भेद तथा सख्या–भेद निम्न विवरण मे स्पष्ट है —

नाट्यशास्त्र	दशरूपक	नाट्यदपण	साहित्यदपण	प्रतापरुद्रीय
अभूताहरण माग, रूप, उदाहरण, क्रम सग्रह, अनुमान, प्राथना, अक्षिप्ति तोटक, अधिबल उद्वेग, विद्रव	अभूताहरण माग, रूप उदाहरण, क्रम सग्रह, अनुमान तोटक, अधिबल उद्वेग, सभ्रम आक्षेप	सग्रह, रूप अनुमान, प्राथना उदाहृति, क्रम उद्वेग, विल्पव आक्षेप, अधिबल मार्ग, असत्या हरण, तोटक	अभूताहरण माग, रूप उदाहरण, क्रम सग्रह, अनुमान प्राथना, क्षिप्ति तोटक, अधिबल उद्वेग, विद्रव	दशरूपक के समान

विमर्श (अवमर्श) सन्धि और उसके अङ्ग

अवमर्श सन्धि—जहाँ क्रोध से, व्यसन से अथवा प्रलोभन से (फलप्राप्ति के विषय मे) विमर्श किया जाता है, तथा जिसमे गर्भसन्धि

* 'सोऽवमर्शोऽङ्गसङ्ग्रह' इति पाठान्तरम्।

अवमशनमवमश पर्यालोचन तच्च क्रोधेन वा व्यसनाद्वा विलोभनेन वा 'भवितव्यमनेनार्थेन इत्यवधारितैकान्तफलप्राप्त्यवसायात्मा गर्भसम्भिन्नबीजार्थसबन्धो विमर्शोऽवमश, यथा रत्नावल्या चतुर्थेऽङ्केऽग्निविद्रवपर्यन्तो वासवदत्ताप्रसक्त्या निरपायरत्नावलीप्राप्त्यवसायात्मा विमर्शो दर्शित । यथा च वेणीसंहारे दुर्योधनरुधिराक्तभीमसेनागमपर्यन्त —

तीर्णे भीष्महोदधौ कथमपि द्रोणानले निर्वृते
कर्णाशीविषभोगिनि प्रशमिते शल्येऽपि याते दिवम् ।
भीमेन प्रियसाहसेन रभसादल्पावशेषे जये
सर्वे जीवितसशय वयममी वाचा समारोपिता ॥३०॥

इत्यत्र 'स्वल्पावशेषे जये' इत्यादिभिर्विजयप्रत्यर्थिसमस्तभीष्मादिमहारथिवधादवधारितैकान्तविजयावमर्शनादवमर्शन दर्शितमित्यवमर्शसन्धि ।

द्वारा निर्भिन्न बीजार्थ का सम्बन्ध दिखलाया जाता है, वह अवमर्श (या विमर्श) सन्धि कहलाती है ॥४३॥

'अवमर्श' शब्द का अर्थ है—ऊहा-पोह करना, पर्यालोचन । वह (पर्यालोचन क्रोध से अथवा व्यसन (आपत्ति) या विलोभन आदि (कारणों) से होता है । जहाँ 'यह फल होना चाहिए' इस प्रकार अवश्यभावी फल-प्राप्ति का निश्चय कर लिया जाता है और जिसमे गर्भसन्धि से प्रकाशित (उद्भिन्न) बीज रूपी अर्थ का सम्बन्ध दिखलाया जाता है ?, वह पर्यालोचन (विमर्श) ही अवमर्श सन्धि है । जैसे रत्नावली नाटिका के चतुर्थ अङ्क मे अग्नि के उपद्रव पर्यन्त वासवदत्ता की प्रसन्नता से विघ्न रहित रत्नावली की प्राप्ति का निश्चय रूप विमर्श दिखलाया गया है ।

और, जैसे वेणीसंहार मे दुर्योधन के रक्त से सने (अक्त) भीमसेन के आगमन पर्यन्त विमर्श सन्धि है । जैसे कि—'(युधिष्ठिर का विमर्श ६ १) भीष्म-रूपी महासागर को पार कर लेने पर, द्रोण-रूपी अग्नि के बुझ जाने पर, कर्ण-रूपी विषैले सर्प का दमन कर दिये जाने पर और शल्य के परलोक चले जाने पर विजय थोड़ी ही शेष रह गई है, किन्तु साहस-प्रिय भीम ने आवेग के कारण अपनी प्रतिज्ञा द्वारा (वाचा) हम सबका जीवन सशय मे डाल दिया है ।'

यहाँ पर 'विजय थोड़ी ही शेष है' (स्वल्पावशेषे जये) इत्यादि कथन के द्वारा विजय के बाधक सभी भीष्म आदि महारथियो के मारे जाने पर एकान्तत निश्चित विजय का पर्यालोचन किया जाने के कारण अवमर्शन दिखलाया गया है, अत. अवमर्श सन्धि है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१९ ४२), प्रता० (३ १६), ना० द० (१ ३९), सा० द० (६ ७९) मे भी प्राय इसी प्रकार का लक्षण दिया गया है । किन्तु उन सभी ने इसे 'विमर्श' सन्धि नाम दिया है । सक्षेप मे इसका स्वरूप यह है— गर्भसन्धि मे फल प्राप्ति की सभावना होती है, बीज का उद्भेद हो जाता है किन्तु फिर क्रोध, व्यसन, विलोभन या शाप आदि के कारण विघ्न उपस्थित हो जाने से नायक फल—प्राप्ति के विषय

तस्याङ्गसग्रहमाह—

(८२) तत्रापवादसफेटौ विद्रवद्रवशक्तय
द्युति प्रसङ्गश्छलन व्यवसायो विरोधनम् ॥४४॥
प्ररोचना विचलनमादान च त्रयोदश ।

यथोद्देश लक्षणमाह—

(८३) दोषप्रख्यापवाद स्यात्—

यथा रत्नावल्याम्—'सुसङ्गता—सा खु तवस्सिणी भट्टिणीए उज्जइणिं णीग्रदि त्ति पवाद करिग्र उवत्थिदे ग्रद्धरत्ते ण जाणीग्रदि कहिंपि णीदेति । ('सा खलु तपस्विनी भट्टिन्योज्जयिनी नीयत इति प्रवाद कृत्वोपस्थितेऽर्धरात्रे न ज्ञायते कुत्रापि नीतेति ।') 'विदूषक—(सोद्वेगम्) ग्रदिणिग्घिण क्खु किद देवीए ।' (ग्रतिनिर्घृण खलु कृत देव्या ।') पुन —'भो वग्रस्स, मा खु ग्रण्णा सभावेहि सा खु देवीए उज्जइणि पेसिदा ग्रदो ग्रप्पिग्र त्ति कहिदम् ('भो वयस्य, मा खल्वन्यथा सभावय सा खलु देव्योज्जयिन्या प्रेषिता ग्रतोऽप्रियमिति कथितम्'), राजा—'ग्रहो निरनुरोधा मयि देवी ।' इत्यनेन वासवदत्तादोषप्रख्यापनादपवाद ।

मे विमर्श (=सन्देह) करने लगता है । तत्पश्चात् विघ्न हट जाने पर फल-प्राप्ति का निश्चय (नियताप्ति) हुग्रा करता है । इस प्रकार जहाँ नियताप्ति (कार्यावस्था) से समन्वित होकर बीज गर्भसन्धि की ग्रपेक्षा ग्रौर ग्रधिक प्रकट हो जाता है वह प्रधानवृत्त का भाग ग्रवमर्श सन्धि है । इसमे प्राप्त्यश की प्रधानता ग्रौर ग्रप्राप्ति-ग्रश की न्यूनता होती है किन्तु गर्भसन्धि मे ग्रप्राप्ति-ग्रश की ही प्रधानता होती है ।

उस (ग्रवमश सन्धि) के ग्रङ्गो को बतलाते है—

उसके १ ग्रपवाद, २ सफेट, ३ विद्रव, ४ द्रव, ५ शक्ति, ६ द्युति ७ प्रसङ्ग, ८ छलन, ९ व्यवसाय, १० विरोधन, ११ प्ररोचना १२ विचलन ग्रौर १३ ग्रादान—ये तेरह ग्रङ्ग होते है ।

टिप्पणी—ना० शा० (१९ ६३-६४), ना० द० (१-९०), सा० द० (६ १०१-१०२) मे ग्रवमर्श सन्धि के विद्रव ग्रौर विचलन नामक ग्रङ्गो को नही माना गया । खेद ग्रौर विरोध नामक दो ग्रन्य ग्रङ्गो को स्वीकार किया गया है ।

नाम-निर्देश के क्रम से इन ग्रङ्गो का लक्षण बतलाते है —

१ ग्रपवाद

(किसी पात्र के) दोषों का कथन ग्रपवाद कहलाता है ।

जैसे रत्नावली (ग्रङ्क ४ प्रवेशक) मे 'सुसङ्गता—उस बेचारी (सागरिका) को देवी (वासवदत्ता) ने "उज्जयिनी को भेजी जा रही है" यह प्रवाद फैलाकर

यथा च वेणीसंहारे —'युधिष्ठिर —पाञ्चालक, कच्चिदासादिता तस्य दुरात्मन कौरवापसदस्य पदवी ? पाञ्चालक —न केवल पदवी स एव दुरात्मा देवीकेशपाश-स्पर्शपातकप्रधानहेतुरुपलब्ध ।' इति दुर्योधनस्य दोषप्रख्यापनादपवाद इति ।

(८४) सफेटो रोषभाषणम् ।

यथा वेणीसंहारे—'भो कौरवराज, कृत बन्धुनाशदर्शनमन्युना, मैव विषाद कृथा —'पर्याप्ता पाण्डवा समरायाऽहमसहाय' इति ।

पञ्चाना मन्यसेऽस्माक य सुयोध सुयोधन ।
दशितस्यात्तशस्त्रस्य तेन तेऽस्तु रणोत्सव ॥३१॥

आधी रात होने पर न जाने कहाँ भेज दिया । विदूषक—(उद्वेगपूर्वक) देवी ने अति निष्ठुर कार्य किया ।' फिर (४ ३–४) विदूषक—(राजा के प्रति) हे मित्र, कुछ और न समझो उस (सागरिका) को देवी ने उज्जयिनी भेज दिया है, इसलिए मैंने 'अप्रिय' ऐसा कह दिया है । राजा—अहो । देवी मेरे अनुकूल नही (निरनुरोधा) है ।

इत्यादि के द्वारा वासवदत्ता के दोषो का कथन किया गया है अत यहाँ अपवाद (नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग) है ।

और, जैसे वेणीसंहार (६ ३–४) मे 'युधिष्ठिर—पाञ्चालक, क्या उस दुष्टात्मा कौरवाधम का पद-मार्ग मिल गया है ? पाञ्चालक—केवल पदमार्ग नहीं, अपितु देवी (द्रौपदी) के केश-पाश के स्पर्श रूपी पातक का मुख्य हेतु वह दुष्टात्मा ही मिल गया है ।

इत्यादि के द्वारा दुर्योधन के दोषो का प्रख्यापन किया जाने के कारण यहाँ अपवाद (नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—(१) दशरूपक का यह लक्षण ना० शा० (१९ ८९) के समान ही है । सा० द० (६ १०२) मे इसी प्रकार का लक्षण है । नाट्यदर्पण (१·९४) के अनुसार अपने या दूसरे के दोषो को प्रकट करना ही अपवाद कहलाता है । (२) यहाँ रत्नावली के उदाहरण म देवी वासवदत्ता का राजा के प्रतिकूल होना ही दोष है ।

२. सफेट

(बीज से अन्वित) रोषयुक्त कथनोपकथन (भाषण) ही सफेट कहलाता है ।

जैसे वेणीसंहार (६ १०-११) मे (पाञ्चालक युधिष्ठिर को बतलाता है कि तब भीमसेन ने दुर्योधन से कहा) 'हे कौरवराज, बन्धुओ के नाश को देखकर शोक न करो । इस प्रकार का विषाद न करो कि युद्ध के लिये पाण्डव तो पर्याप्त है किन्तु मैं असहाय हू । क्योकि—

हे दुर्योधन, हम पाँचो मे से जिससे युद्ध करना सुगम समझो, कवच पहने (दशितस्य) और शस्त्र लिये तुम्हारा उसके साथ ही युद्धरूपी उत्सव हो जाये ।

इत्थं श्रुत्वाऽसूयात्मिका निक्षिप्य कुमार्योर्दृष्टिमुक्तवान्धातराष्ट्र —

कर्णादुःशासनवधात्तुल्यावेव युवां मम ।
अप्रियोऽपि प्रियो योद्धुं त्वमेव प्रियसाहस. ॥३२॥

'इत्युत्थाय च परस्परक्रोधाधिक्षेपपरुषवाक्कलहप्रस्तावितघोरसङ्ग्रामौ इत्यनेन भीमदुर्योधनयोरन्योन्यरोपसंभाषणाद्विजयबीजान्वयेन सफेट इति ।

अथ विद्रव —

(८५) विद्रवो वधबन्धादि

यथा छलितरामे—

येनावृत्य मुखानि साम पठतामत्यन्तमायासितम्
बाल्ये येन हृताक्षसूत्रवलयप्रत्यर्पणैः क्रीडितम् ।
युष्माकं हृदयं स एष विशिखैरापूरितांसस्थलो
मूर्च्छाघोरतमःप्रवेशविवशो बद्ध्वा लवो नीयते ॥३३॥

इस प्रकार सुनकर दोनो कुमारो (भीम और अर्जुन) पर ईर्ष्यापूर्ण दृष्टि डालकर धतराष्ट्र का पुत्र (भीम से) बोला—कर्ण और दु शासन का वध करने के कारण तुम दोनो मेरे लिए समान ही हो । अप्रिय होने पर भी साहस-प्रिय होने से तुम (भीम) ही मुझे युद्ध के लिए इष्ट हो ।—यह कहकर उठकर भीम और दुर्योधन ने परस्पर क्रोध के कारण निन्दा और कठोर वाक्-कलह के द्वारा भयकर सग्राम आरम्भ कर दिया ।'

इत्यादि मे विजय रूपी बीज से अन्वित भीम और दुर्योधन का परस्पर रोष-पूवक कथोपकथन है अत यहाँ सफेट (नामक अवमश सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—ना० शा० (१९ ८९) मे 'रोषग्रथितवाक्य तु सफेट' यह लक्षण दिया गया है, उसकी ही छाया दशरूपक के लक्षण मे है । इसी प्रकार ना० द० (१ ६३), प्रता० (३ १८) तथा सा० द० (६ १०२) के सफेट लक्षण प्राय दशरूपक के समान ही है । भाव यह है कि बीज से अन्वित दो पात्रो का परस्पर रोषपूर्ण कथोपकथन ही सफेट है ।

३ विद्रव

वध, बन्धन आदि का वर्णन ही विद्रव कहलाता है ।

जैसे छलितराम नामक नाटक मे 'जिस (लव) ने सामवेद का पाठ करते हुओं का मुख बन्द करके बडा तग किया था । बाल्यकाल मे जिसने अक्षसूत्र और वलय को छीनकर और फिर देकर क्रीडा की थी, जो तुम्हारा हृदय है, वही यह लव, जिसका कन्धा बाणो से भरा हुआ है, जो मूर्च्छा के गहन अन्धकार मे प्रविष्ट हो जाने से असमर्थ हो गया है, अब बाँधकर ले जाया जा रहा है ।

यथा च रत्नावल्याम्—

हर्म्याणां हेमशृङ्गश्रियमिव शिखरैरर्चिषामादधानः
सान्द्रोद्यानद्रुमाग्रग्लपनपिशुनितात्यन्ततीव्राभितापः ।
कुर्वन्क्रीडामहीध्रं सजलजलधरश्यामलं धूमपातै-
रेष प्लोषातयोषिज्जन इह सहसैवोत्थितोऽन्तःपुरेऽग्निः ॥३४॥

इत्यादि । पुनः वासवदत्ता—'अज्जउत्त, ण क्खु अहं अत्तणो कारणादो भणामि एसा मए णिग्घिणहिअआए संजदा साअरिआ विवज्जदि ।' (आर्यपुत्र, न खल्वहमात्मनः कारणाद्भणामि एषा मया निघृणहृदयया संयता सागरिका विपद्यते ।') इत्यनेन सागरिकावधबन्धाग्निभिर्विद्रव इति ।

अथ द्रवः—

(८६) द्रवो गुरुतिरस्कृतिः ॥४५॥

यथोत्तरचरिते—

वृद्धास्ते न विचारणीयचरितास्तिष्ठन्तु हुं वर्तते
सुन्दस्त्रीदमनेऽप्यखण्डयशसो लोके महान्तो हि ते ।
यानि त्रीण्यकुतोमुखान्यपि पदान्यासन्खरायोधने

और, जैसे रत्नावली (४.१४) में (नेपथ्य में) 'ज्वालाओं के समूह से महलों को स्वर्ण के शिखरों जैसी शोभा प्रदान करती हुई, घने उद्यान के वृक्षों के अग्रभाग के झुलसने से (अपने) अत्यन्त तीव्र ताप को प्रकट करती हुई, धूम पात के द्वारा क्रीडा-पर्वत को सजल जलधरों से श्यामल सा बनाती हुई, दाह से स्त्रियों को व्याकुल करती हुई यहाँ अन्तःपुर में अकस्मात् ही अग्नि उठ चली है ।' इत्यादि । फिर 'वासवदत्ता— मैं अपने लिए नहीं कहती हूं । मुझ निर्दय के द्वारा बाँधी गई यह सागरिका मर रही है (विपद्यते) ।'

इत्यादि में सागरिका के वध, बन्धन और अग्नि के (वर्णन) द्वारा विद्रव (अवमर्श) सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (अ० १९), ना० द० (प्रथम विवेक) और सा० द० में विद्रव को विमर्श (अवमर्श) सन्धि के अङ्गों में नहीं माना गया । प्रता० (३.१७-१८) में तो दशरूपक के समान ही विद्रव का वर्णन किया गया है । जैसा कि ऊपर कहा गया है, ना० शा० (१९.८८) ना० द० तथा सा० द० में सभ्रम के स्थान पर विद्रव नामक गर्भसन्धि का अङ्ग माना गया है । इस प्रकार सन्धियों के अङ्गों के निरूपण में दशरूपककार की अपनी निजी विशेषता है ।

४ द्रव

गुरुजनों का तिरस्कार द्रव कहलाता है ॥४५॥

जैसे उत्तररामचरित (५.३४) में (राम को लक्ष्य करके लव कह रहा है) उन वृद्ध जनों के चरित विचारणीय नहीं हैं, कैसे भी हों, हाँ यह भी तो है । सुन्द की

यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुदमने तत्राप्यभिज्ञो जन ॥३५॥

इन्यनेन लवो रामस्य गुरोस्तिरस्कार कृतवानिति द्रव ।

यथा च वेणीसहारे—'युधिष्ठिर —भगवन् कृष्णाग्रज सुभद्राभ्रात,

ज्ञातिप्रीतिर्मनसि न कृता क्षत्रियाणा न धर्मो

रूढ सख्य तदपि गणित नानुजस्यार्जुनेन ।

तुल्य काम भवतु भवत शिष्ययो स्नेहबन्ध

कोऽय पन्था यदसि विगुणो मन्दभाग्ये मयीत्थम् ॥३६॥

इत्यादिना बलभद्र गुरु युधिष्ठिरस्तिरकृतवानिति द्रव ।

स्त्री ताडका का वध कर देने पर भी अप्रतिहत यज्ञ वाले वे लोक में महान् ही हैं। खर के साथ युद्ध मे जो पीछे की ओर तीन पद रक्खे थे और बालि (इन्द्रसूनु) के वध के समय जो कौशल दिखलाया था उससे भी लोग परिचित ही हैं।

इत्यादि के द्वारा लव ने गुरुजन राम का तिरस्कार किया है अत द्रव (नामक अवमश सन्धि का अङ्ग) है।

और, जैसे वेणीसहार (६ २०) में 'युधिष्ठिर—भगवन्, कृष्ण के बडे भाई, सुभद्रा के भाई (बलराम) सम्बन्धियो के प्रेम को ध्यान में नहीं रक्खा, न क्षत्रियो के धम को ही, अर्जुन के साथ जो (तुम्हारे) अनुज (कृष्ण) की गाढ मैत्री थी उसको भी न गिना। दोनो शिष्यो (भीम और दुर्योधन) के प्रति आपका स्नेह-सम्बन्ध समान होना तो ठीक है किन्तु आपका यह कौन सा माग है जो मुझ अभागे के प्रतिकूल (विगुण) हो गये है।

इत्यादि के द्वारा युधिष्ठिर ने गुरु बलराम का तिरस्कार किया है अत यहाँ द्रव (नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग) है।

टिप्पणी- ना० शा० 'गुरुव्यतिक्रमो यस्तु स द्रव (१९ ८९), ना० द० 'द्रव पूज्यव्यतिक्रम' (१ ५६), गुरुतिरस्कृतिर्द्रव (प्रता० ३ १८)। अभिनव गुप्त के अनुसार मार्ग से विचलित होना ही द्रव हे। पूज्य व्यक्ति या गुरुजनो का अनादर करना मार्ग से विचलित होना ही है। शोक, आवेग इत्यादि हेतुओ के कारण यह मार्ग-विचलन हो जाया करता है, इस तथ्य का निरूपण साहित्यदर्पण (६ १०३) मे किया गया है।

अथ शक्ति —

(८७) विरोधशमन शक्ति

यथा रत्नावल्याम्—'राजा--

सव्याजैः शपथैः प्रियेण वचसा चित्तानुवृत्त्याधिकं
वैलक्ष्येण परेण पादपतनैर्वाक्यैः सखीनां मुहुः ।
प्रत्यासत्तिमुपागता नहि तथा देवी रुदत्या यथा
प्रक्षाल्येव तयैव बाष्पसलिलैः कोपोऽपनीतः स्वयम् ॥३७॥

इत्यनेन सागरिकालाभविरोधिवासवदत्ताकोपोपशमनाच्छक्तिः ।

यथा चोत्तरचरिते लवः प्राह—

विरोधो विश्रान्तः प्रसरति रसो निर्वृतिघन-
स्तदौद्धत्यं क्वापि व्रजति विनयः प्रह्वयति माम् ।
झटित्यस्मिन्दृष्टे किमपि परवानस्मि यदि वा
महार्घस्तीर्थानामिव हि महतां कोऽप्यतिशयः ॥३८॥

---

५ शक्ति—

विरोध का शान्त हो जाना शक्ति कहलाता है।

जैसे रत्नावली (४ १) में 'राजा--कपटपूर्ण शपथों से, प्रिय वचन से, अधिक चित्त के अनुकूल आचरण करने से, अत्यन्त लज्जा प्रदर्शन (वैलक्ष्य) से, चरणों में पड़ने से और सखियों के बार-बार कहने से देवी (वासवदत्ता) उतनी प्रकृतिभाव (शान्तभाव) को प्राप्त नहीं हुई—जितनी कि रोती हुई उसने स्वयं ही मानो अश्रु जल से धोकर कोप दूर कर लिया।'

इत्यादि के द्वारा सागरिका की प्राप्ति में बाधक वासवदत्ता के कोप की शान्ति का वर्णन किया गया है अतः शक्ति (नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग) है।

और, जैसे उत्तररामचरित नाटक (६ ११) में लव कहता है— (राम के दर्शन करके) विरोध भाव शान्त हो गया, आनन्द से सान्द्र (सघन) रस (हृदय में) फैल रहा है वह उद्धतता कहीं चली जा रही है, नम्रता मुझे झुका रही है, इनको देखते ही मैं तुरन्त ही पराधीन हो गया हूं। अथवा तीर्थस्थलों के समान महापुरुषों का कोई विलक्षण (कोऽपि) बहुमूल्य प्रभाव (अतिशय) होता है।

[यहाँ पर लव के विरोध की शान्ति का वर्णन है अतः शक्ति [नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग] है।

टिप्पणी—ना० शा० (१६ ६०) में विरोधी के शमन को शक्ति कहा गया है तथा ना० द० (१ १००) में 'क्रुद्ध को प्रसन्न करना' शक्ति का लक्षण है। सा० द० (६ १०४) तथा प्रता० (३ १७) के शक्ति लक्षण दशरूपक का ही अनुसरण करते हैं।

अथ द्युति —

(८८) तर्जनोद्वेजने द्युति ।

यथा वेणीसहारे—'एतच्च वचनमुपश्रुत्य रामानुजस्य सकलनिकुञ्जपूरिताशातिरिक्तमुद्भ्रान्तसलिलचरशतसकुल त्रासोद्वृत्तनक्रग्राहमालोड्य सर सलिल भैरव च गर्जित्वा कुमारवृकोदरेणाभिहितम्—

जन्मेन्दोरमले कुले व्यपदिशस्यद्यापि धत्से गदा
मा दु शासनकोष्णशोणितसुराक्षीब रिपु भाषसे ।
दर्पान्धो मधुकैटभद्विषि हरावप्युद्धत चेष्टसे
मत्त्रासान्नृपशो, विहाय समर पङ्केऽधुना लीयसे ॥३६॥

इत्यादिना 'त्यक्त्वोत्थित सरभसम्' इत्यनेन दुर्वचनजलावलोडनाभ्या दुर्योधन तर्जनोद्वेजनकारिभ्या पाण्डवविजयानुकूलदुर्योधनोत्थापनहेतुभ्या भीमस्य द्युतिरुक्ता ।

अथ प्रसङ्ग —

(८९) गुरुकीर्तन प्रसङ्ग

यथा रत्नावल्या— देव, याऽसौ सिंहलेश्वरेण स्वदुहिता रत्नावली नामायुष्मती

---

६ द्युति—

तर्जन और उद्वेजन का वर्णन द्युति कहलाता है ।

जैसे वेणीसहार (६ ७) मे (पाञ्चालक युधिष्ठिर से कहता है) 'और बलराम के अनुज (कृष्ण) के इस वचन को सुनकर कुमार भीम ने उस सरोवर के जल का आलोडन किया, जो सब दिशाओ के गह्वरो (= निकुञ्ज) को भर कर भी बच रहा था, जिसमे जलचर और पक्षियो का समुदाय घबरा गया था, नाके और गाह भय से उछल गये थे । फिर भयङ्कर गर्जन करके यह कहा—'तू निमल चन्द्रवश मे अपना जन्म बतलाता है, आज भी गदा को धारण करता है, दु शासन के उष्ण रुधिर रूपी मद्य से मत्त हुए मुझको अपना शत्रु समझता है, दप से अन्धा हुआ तू मधु और कैटभ के सहारक विष्णु के प्रति भी उद्धत चेष्टा करता है । किन्तु हे नरपशु, अब मेरे भय से युद्ध को छोडकर कीचड मे छिपा है ।' इत्यादि से आरम्भ करके 'सरोवर के तल को छोडकर वेगपूवक उठा' (६ ९) यहाँ तक के वर्णन मे भीम का दुर्वचन तथा जलावलोडन (दोनो) दुर्योधन का तजन एव उद्वेजन करने वाले है, ये पाण्डवो की विजय मे सहायक जो दुर्योधन का सरोवर से उठाना है, उसके भी निमित्त है अत यहाँ द्युति (नामक अवमश सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—ना० शा० 'वाक्यम् आधर्षसयुक्त द्युति, (१९ ९२), यहाँ आधर्ष=न्यक्कार, तिरस्कार, नीचा दिखाना । ना० द० (१ ६६) मे भी 'तिरस्कारो द्युति' यही लक्षण किया गया है तथा तजन, उद्वेजन और धपण आदि का तिरस्कार मे ही अन्तर्भाव किया गया है । प्रता० (३ १८) तथा सा० द० (६ १०८) मे दशरूपक का ही अनुसरण किया गया है ।

७ प्रसङ्ग

गुरुजनो का कीर्तन प्रसङ्ग कहलाता है ।

जैसे रत्नावली (४.१३-१४) मे (वत्सराज के प्रति वसुभूति का यह कथन) ।

वासवदत्ता दग्धामुपश्रुत्य देवाय पूर्वप्रार्थिता सती प्रतिदत्ता ।' इत्यनेन रत्नावल्या लाभानुकूलाभिजनप्रकाशिना प्रसङ्गाद गुरुकीर्तनेन प्रसङ्ग ।

तथा मृच्छकटिकायाम्— चाण्डालक —एस सागलदत्तस्स सुग्रो ग्रज्जविरण ग्रदत्तस्स णत्तू चालुदत्तो वावादिदु वज्भट्ठाण णीग्रदि एदेण किल गणिग्रा वसन्त-सेणा सुवण्णलोभेण वावादिद त्ति ।' ('एप सागरदत्तस्य सुत ग्रायविनयदत्तस्य नप्ता चारुदत्तो व्यापादयितु वध्यस्थान नीयते एतेन किल गणिका वसन्तसेना सुवर्णलोभेन व्यापादितेति')

चारुदत्त —

मखशतपरिपूत गोत्रमुद्भासित यत्
सदसि निबिडचैत्यब्रह्मघोषै पुरस्तात् ।
मम निधनदशया वतमानस्य पापै-
स्तदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायाम् ।।४०।।

इत्यनेन चारुदत्तवधाभ्युदयानुकूल प्रसङ्गाद् गुरुकीर्तनमिति प्रसङ्ग ।

'देव, आदरणीय सिहलेश्वर ने वासवदत्ता को जली हुई सुनकर जो वह पहले माँगी गई, अपनी पुत्री आयुष्मती रत्नावली महाराज के लिये दी थी ।'

इत्यादि के द्वारा प्रसङ्गवश रत्नावली की प्राप्ति मे सहायक (अनुकूल) आभिजात्य (कुलीनता) को प्रकट करने वाला (माता पिता आदि) गुरुजन का कीतन किया गया है अत प्रसङ्ग नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग) है ।

उसी प्रकार मृच्छकटिक (१० १२) मे 'चाण्डालक—यह सागरदत्त का पुत्र आर्य विनयदत्त का नाती (पौत्र) चारुदत्तवध के लिये वध्य-स्थान को ले जाया जा रहा है क्योकि इसने स्वर्ण के लोभ से वसन्तसेना नाम की गणिका को मार दिया है ।

चारुदत्त—सैकडो यज्ञो से पवित्र जो मेरा वश पहले सभाओ मे जनाकीर्ण यज्ञशाला की वेदध्वनियो से प्रकाशित हुआ था, वही मेरे मरणदशा मे होने पर इन पापी तथा अयोग्य जनो के द्वारा (अपराध-) घोषणा स्थल मे घोषित किया जा रहा है,

इत्यादि के द्वारा प्रसङ्गवश चारुदत्त के वध और अभ्युदय के अनुकूल गुरुजनों का कीर्तन किया गया है, अत प्रसङ्ग (नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—(१) गुरुकीर्तनम्—माता पिता आदि बडो का नाम उच्चारण करना । (२) ना० शा० (१६,६१), ना० द० (१.६२) मे प्रसङ्गो महता कीर्तिः; कीर्ति =सशब्दन (कथन करना) यह लक्षण है । सा० द० (६ १०४) तथा प्रता० (३.१८) मे दशरूपक का ही अनुसरण किया गया है । (३) कुछ आचार्य अप्रस्तुत अर्थ के कथन को प्रसङ्ग कहते है (द्र०, ना० द० १ ६२) ।

अथ छलनम्—

(९०) छलन चावमाननम् ॥४६॥

यथा रत्नावल्याम्—राजा—'अहो निरनुरोधा मयि देवी । इत्यनेन वासवदत्तयेष्टासंपादनाद्वत्सराजस्यावमानना-च्छलनमिति ।

अथ व्यवसाय —

(९१) व्यवसाय स्वशक्त्युक्ति

यथा रत्नावल्याम्—ऐन्द्रजालिक —

कि धरणीए मिअङ्को आआसे महिहरो जले जलणो ।
मज्झण्हम्मि पओसो दाविज्जउ देहि आणत्तिम् ॥४१॥

अहवा कि बहुधा जम्पिएण—

मज्झ पइण्णा एसा भणामि हिअएण ज महसि दट्ठुम् ।
त ते दावेमि फुड गुरुणो मन्तप्पहावेण ॥'
(किं धरण्या मृगाङ्क आकाशे महीधरो जले ज्वलन ।
मध्याह्ने प्रदोषो दर्श्यता देह्याज्ञप्तिम् ॥४२॥)

---

८ छलन

अवहेलना करने को छलन कहा जाता है ।

जैसे रत्नावली (अङ्क ४ प्रवेशक) मे 'राजा—अहो देवी (वासवदत्ता) मेरे प्रतिकूल है ।' यहाँ पर वासवदत्ता के द्वारा (सागरिका को अन्यत्र भेज दिया गया है) वत्सराज के अभीष्ट की सिद्धि नहीं की गई अत उसकी अवहेलना की गई है । इस प्रकार छलन (नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग) है ।

और, जैसे रामाभ्युदय नामक नाटक मे सीता का परित्याग करके उसका तिरस्कार किया गया है अत छलन (नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—(१) इष्टाऽसंपादनात्=इष्ट का सम्पादन न करने के कारण अथवा अनिष्ट करने के कारण । (२) अवमर्श सन्धि के अङ्गो मे 'छलन' के स्थान पर अधिकाश आचार्यो ने 'छादन' माना है । ना० शा० (१९ ९४) के अनुसार उसका लक्षण है—'अपमानकृत वाक्य कार्यार्थ छादन भवेत्' । सा० द० (६ १०७) मे इसका ही रूपान्तर है । तदनुसार कार्यसिद्धि के लिये अपमान आदि के सहन करने को छादन कहते है । ना० द० (१ ५८) मे 'छादन मन्युमार्जनम्' (अपमान का परिमार्जन छादन) है—यह लक्षण दिया गया है । वहाँ वृत्ति मे अन्य अनेक मतो का उल्लेख किया गया है जिनमे दशरूपक के 'छलन' का भी उल्लेख है, किन्तु दशरूपक या धनञ्जय का नामनिर्देश नही किया गया । प्रता० (पृ० १३९) मे दशरूपक का ही अनुसरण किया गया है ।

९ व्यवसाय

अपनी शक्ति का वर्णन करना व्यवसाय कहलाता है ।

जैसे रत्नावली (४ ८,९) मे ऐन्द्रजालिक—क्या पृथ्वी पर चन्द्रमा, आकाश मे पर्वत, जल मे अग्नि, मध्याह्न मे 'रात्रि का प्रारम्भिक समय (प्रदोष) दिखलाया

अथवा कि बहुना जल्पितन ।

(मम प्रतिज्ञैषा भणामि हृदयनेन यद्वाञ्छसि द्रष्टुम् ।
तत्ते दर्शयामि स्फुट गुरोमन्त्रप्रभावेण ॥४३॥)

इत्यनेनैन्द्रजालिको मिथ्याग्निस भ्रमोत्थापनेन वत्सराजस्य हृदयस्थसागरिका-दर्शनानुकूला स्वशक्तिमाविष्कृतवान् ।

यथा च वेणीसहारे--

नून तेनाद्य वीरेण प्रतिज्ञाभङ्गभीरुणा ।
वध्यते केशपाशस्ते स चास्याकर्षणे क्षम ॥४४॥

इत्यनेन युधिष्ठिर स्वदण्डशक्तिमाविष्करोति ।

अथ विरोधनम्—

(९२)—सरब्धाना विरोधनम् ।

जाये ? आज्ञा दो ! अथवा बहुत कहने से क्या लाभ ? मेरी यह प्रतिज्ञा है, मै हृदय से कहता हू कि जो तुम देखना चाहते हो मै गुरु के मन्त्र के प्रभाव से वही तुम्हे स्पष्टरूप में दिखला दूँगा ।

इसके द्वारा ऐन्द्रजालिक ने मिथ्या अग्नि की भ्रान्ति उत्पन्न करके वत्सराज के हृदय में स्थित सागरिका के दर्शन के अनुकूल अपनी शक्ति को प्रकट किया गया है (अत यहाँ व्यवसाय नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग) है ।

और, जैसे वेणीसहार (६ ६) मे (युधिष्ठिर द्रौपदी से कहता है) 'अवश्य ही आज प्रतिज्ञा के भङ्ग से डरने वाले उस वीर (भीम) के द्वारा तेरे केशपाश को बाँध दिया जायेगा और इसको खींचने वाले (दुर्योधन) का वध कर दिया जायेगा ।'

इस (कथन) के द्वारा युधिष्ठिर अपनी दण्डशक्ति को प्रकट करता है (अत व्यवसाय नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—ना० शा० (१९ ९१) के अनुसार 'व्यवसायश्च विज्ञेय प्रतिज्ञा-हेतुसम्भव' यह लक्षण है, अर्थात् अङ्गीकृत (प्रतिज्ञात) अर्थ के हेतु की प्राप्ति (सम्भव) व्यवसाय कहलाता है । जैसे रत्नावली मे एन्द्रजालिक के प्रवेश से लेकर—एक पुन खेलनमवश्य प्रेक्षितव्यम्' यहाँ तक यौगन्धरायण ने जो करना ठाना था उसके हेतु की प्राप्ति होती है (अभि० भा०) । सा० द० (६ १०३, मे भी ना० शा० का लक्षण ही दिया गया है । ना० द० (१ १०२) मे 'व्यवसायोऽर्थ्यहेतु-युक्' अर्थात् अर्थनीय फल के हेतु का योग व्यवसाय है यह लक्षण है, जो नाट्यशास्त्र के समान ही है । ना० द० की वृत्ति मे दशरूपक के लक्षण का उल्लेख करके यह भी कहा गया है कि इसका सरम्भ नामक (विमर्शाङ्ग) मे ही अन्तर्भाव हो जाता है । वहाँ 'सरम्भ शक्तिकीर्तनम्' यह विमर्श सन्धि का अङ्ग माना गया है । प्रता० (३ १८) 'स्वशक्तिप्रशसन व्यवसाय' ।

१० विरोधन

आवेगपूर्ण पात्रो का (सरब्धानाम्) अपनी शक्ति का वर्णन करना विरोधन कहलाता है ।

यथा वेणीसहारे—'राजा—रे रे मरुत्तनय, किमेव वृद्धस्य राज्ञ पुरतो निन्दितव्यमात्मकर्म श्लाघसे ? अपि च—

कृष्टा केशेषु भार्या तव तव च पशोस्तस्य राज्ञस्तयोर्वा
प्रत्यक्ष भूपतीना मम भुवनपतेराज्ञया द्यूतदासी ।
अस्मिन्वैरानुबन्धे तव किमपकृत तैर्हता ये नरेन्द्रा
बाह्वोर्वीर्यातिसारद्रविणगुरुमद मामजित्वैव दर्प ॥४५॥

(भीम क्रोध नाटयति) अर्जुन —आर्य प्रसीद, किमत्र क्रोधेन ?

अप्रियाणि करोत्येष वाचा शक्तो न कर्मणा ।
हतभ्रातृशतो दु खी प्रलापैरस्य का व्यथा ॥४६॥

भीम —अरे भरतकुलकलङ्क,

अद्यैव कि न विसृजेयमह भवन्त
दु शासनानुगमनाय कटुप्रलापिन् ।
विघ्न गुरु न कुरुतो यदि मत्कराग्र—
निर्भिद्यमानरणितास्थिनि ते शरीरे ॥४७॥

टिप्पणी—यहाँ ऊपर से 'स्वशक्त्युक्ति' पद की अनुवृत्ति होती है । सरब्ध=आवेगपूर्ण, क्रोध आदि से युक्त, सरब्धाना=बद्धवेराणाम् (प्रभा) । इस प्रकार क्रोध आदि से युक्त पात्रो द्वारा जो अपनी शक्ति का वर्णन किया जाता है वह विरोधन नामक अवमर्शाङ्ग है क्रोध आदि आवेगो से रहित जनो द्वारा अपनी शक्ति का वर्णन व्यवसाय है ।

जैसे वेणीसहार (५ ३०-३४) मे—'राजा (दुर्योधन)-अरे, मरुत्पुत्र (भीम) इस प्रकार वृद्ध राजा (धृतराष्ट्र) के सामने अपने निन्दनीय कर्म की प्रशसा क्यो कर रहा है ? और भी,

मुझ जगत् के स्वामी की आज्ञा से राजाओ के समक्ष ही द्यूत मे दासी बनाई गई तेरी, तुझ पशु की, उस राजा (युधिष्ठिर) की अथवा उन दोनो (नकुल और सहदेव) की पत्नी (द्रौपदी) केश पकडकर खींची गई थी, किन्तु बता इस वैर के प्रसङ्ग मे उन राजाओ ने क्या अहित किया था, जिनको मार दिया गया ? भुजाओ के बलातिरेक रूपी धन के अत्यधिक मद वाले मुझ को जीते बिना ही यह अभिमान कर रहे हो ।

भीम-(क्रोध का अभिनय करता है) । अर्जुन-आर्य, प्रसन्न हो, यहाँ क्रोध से क्या लाभ है ?

'यह (दुर्योधन) कार्य द्वारा अशक्त होकर वाणी से अप्रिय कर रहा है । इसके सौ भाई मारे गये है और यह दु खी है अत इसके निरर्थक वचनो से क्या पीडा ?

भीम-अरे, भरतकुल के कलङ्क, हे कटुभाषी, क्या दु शासन का अनुसरण करने के लिए आपको मै अभी न भेज देता, यदि मेरे हाथ के अग्रभाग से

अन्यच्च मूढ,

शोक स्त्रीवन्नयनसलिलैर्यत्परित्याजितोऽसि ।
भ्रातुर्वक्ष स्थलविदलने यच्च साक्षीकृतोऽसि ।
आसीदेतत्तव कुनृपते कारण जीवितस्य
क्रुद्धे युष्मत्कुलकमलिनीकुञ्जरे भीमसेने ।।४८।।

राजा—दुरात्मन् भरतकुलापसद पाण्डवपशो, नाह भवानिव विकत्थनाप्रगल्भ । किन्तु—

द्रक्ष्यन्ति नचिरात्सुप्त बान्धवास्त्वा रणाङ्गणे ।
मद्गदाभिन्नवक्षोऽस्थिवेणिकाभङ्गभीषणम् ।।४९।।

इत्यादिना सरब्धयोर्भीमदुर्योधनयो स्वशक्त्युक्तिर्विरोधनमिति ।

टूटती हुई तथा शब्द करती हुई हड्डियो वाले तेरे शरीर के विषय मे माता-पिता (गुरु) विघ्न न डाल देते।

और भी, मूर्ख, तुम्हारे कुल रूपी कमलिनी के लिये कुञ्जररूपी मुझ भीमसेन के होने पर भी तुझ जैसे दुष्ट राजा के जीवन धारण करने का यही कारण था कि स्त्रियो के समान नयन-जल के द्वारा तुझसे शोक प्रकट कराया और तेरे भाई (दु शासन) के वक्ष स्थल को विदीर्ण करने मे तुझे साक्षी बनाया ।

राजा—दुष्टात्मा, भरतकुल मे अधम, पाण्डव-पशु, मै आपकी तरह आत्म-श्लाघा (=विकत्थना) मे प्रगल्भ नही हू । किन्तु

शीघ्र ही तेरे बान्धव तुझे, मेरी गदा से टूटी हुई वक्ष स्थल की हड्डियों से निकलने वाले प्रवाह (वेणिका) की भङ्गिमा से भीषण होकर रण भूमि मे पड़ा हुआ देखेंगे ।

इत्यादि के द्वारा क्रोधयुक्त भीमसेन तथा दुर्योधन ने अपनी शक्ति का वर्णन किया है अत विरोधन (नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—ना० शा० (१९.९३) मे 'कार्यात्ययोपगमन विरोधनम्' यह लक्षण किया गया है । सा० द० (६.१०६) मे भी यही है । इसका तात्पर्य है—कार्य मे विघ्न की उपस्थिति = कार्य अत्ययस्य विघ्नस्य विनाशस्य वा उपगमन प्राप्ति । ना० द० मे 'विरोध प्रस्तुतज्यानि' (प्रस्तुत कार्य की हानि ही विरोध है', यह कहा गया है जो ना० शा० के समान ही है । किन्तु दशरूपक का विरोधन नामक अङ्ग इनसे भिन्न है । नियताप्ति नामक कार्यावस्था मे जहाँ पात्र क्रुद्ध होकर अपनी शक्ति का वर्णन करते है वही यह (विरोधन) अङ्ग होता है । क्रोध आदि आवेग के बिना अपनी शक्ति का वर्णन व्यवसाय है । प्रता० (३ १८) मे दशरूपक के इस लक्षण को कुछ परिष्कृत किया गया है—'क्रोधसरब्धानामन्योन्यविक्षेपो निरोधनम्' ।

अथ प्ररोचना—

(९३) सिद्धामन्त्रणतो भाविदर्शिका स्यात्प्ररोचना ॥४७॥

यथा वेणीसहारे–पाञ्चलक –अह च देवेन चक्रपाणिना' इत्युपक्रम्य 'कृत सन्देहेन—

पूर्यन्ता सलिलेन रत्नकलशा राज्याभिषेकाय ते
कृष्णाऽत्यन्तचिरोज्झिते च कबरीबन्धे करोतु क्षणम् ।
रामे शातकुठारभासुरकरे क्षत्रद्रुमोच्छेदिनि
क्रोधान्धे च वृकोदरे परिपतत्याजौ कुत सशय ॥५०॥

इत्यादिना 'मङ्गलानि कर्तुमाज्ञापयति देवो युधिष्ठिर' इत्यन्तेन द्रौपदीकेशसयमनयुधिष्ठिरराज्याभिषेकयोर्भाविनोरपि सिद्धत्वेन दर्शिका प्ररोचनेति ।

---

११ प्ररोचना

यह सिद्ध ही है, इस प्रकार के कथन (आमन्त्रण) से भावी अर्थ का प्रदर्शन करने वाली प्ररोचना कहलाती है ।

टिप्पणी—सिद्धामन्त्रणात =सिद्धिमेव इति आमन्त्रणात , यह सिद्ध हो ही गया, इस प्रकार के कथन से अथवा सिद्धस्य आमन्त्रणात =किसी सिद्ध पुरुष के कथन से । जहाँ 'यह कार्य तो सिद्ध हो ही गया' इस प्रकार कह कर भावी कार्य की सिद्धि का निश्चय कराया जाता है, नियताप्ति से अन्वित वह इतिवृत्त का भाग प्ररोचना कहलाता है ।

जैसे वेणीसहार (६ १२) में 'पाञ्चालक—(युधिष्ठिर से कहता है) और, चक्रपाणि भगवान् कृष्ण ने मुझे आपके पास भेजा है (और देवकी पुत्र ने कहा है)—यहाँ से आरम्भ करके—'सन्देह मत करो, तुम्हारे राज्याभिषेक के लिये रत्नकलश जल से भर दिये जायें । द्रौपदी बहुत समय से छोडे गये अपने केश-पाश के बन्धन का उत्सव मनाये । तीक्ष्ण कुठार से दीप्त हाथो वाले तथा क्षत्रिय जाति रूपी वृक्षो का उच्छेद करने वाले परशुराम के और क्रोध से अन्धे हुए भीमसेन के समर भूमि में पहुँच जाने पर सन्देह कैसे हो सकता है ?

यहाँ से लेकर महाराज युधिष्ठिर मङ्गलोत्सव करने की आज्ञा दे रहे हैं' (कञ्चुकी के) इस कथन तक भविष्य में होने वाले भी द्रौपदी के केश-सयमन और युधिष्ठिर के राज्याभिषेक को सिद्ध (सम्पन्न) रूप में दिखलाने वाली प्ररोचना (नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—ना० शा० (१९ ९५) मे 'प्ररोचना तु विज्ञेया सहारार्थदर्शिनी' यह लक्षण है । सा० द० (६ १०६) मे भी यही है । ना० द० (१ १००) मे 'भाविसिद्धि प्ररोचना' यह कहने हुए इसी भाव को अधिक स्पष्ट किया गया है, अर्थात् निर्वहण सन्धि मे सम्पन्न होने वाले भावी अर्थ का सिद्ध रूप मे वर्णन ही प्ररोचना है । प्रता० (३ १८) मे इसे और भी परिष्कृत कर दिया गया है—'सिद्धवद् भाविश्रेय कथन प्ररोचनम्' ।

अथ विचलनम्—

(६४) विकत्थना विचलनम्—

यथा वेणीसंहारे—भीम —तात, अम्ब,

सकलरिपुजयाशा यत्र बद्धा सुतैस्ते ।
तृणमिव परिभूतो यस्य गर्वेण लोक ।
रणशिरसि निहन्ता तस्य राधासुतस्य
प्रणमति पितरौ वा मध्यम पाण्डवोऽयम् ॥५१॥

अपि च तात,

चूर्णिताशेषकौरव्य क्षीबो दु शासनासृजा ।
भङ्क्ता सुयोधनस्योर्वोर्भीमोऽय शिरसाऽञ्चति ॥५२॥

इत्यनेन विजयबीजानुगतस्वगुणाविष्करणाद्विचलनमिति ।

यथा च रत्नावल्याम्—'यौगन्धरायण –

देव्या मद्वचनाद्यथाऽभ्युपगत पत्युर्वियोगस्तदा
सा देवस्य कलत्रसघटनया दु ख मया स्थापिता ।
तस्या प्रीतिमय करिष्यति जगत्स्वामित्वलाभ प्रभो
सत्य दर्शयितु तथापि वदन शक्नोमि नो लज्जया ॥५३॥

इत्यनेनान्यपरेणापि यौगन्धरायणेन 'मया जगत्स्वामित्वानुबन्धी कन्यालाभो

---

१२ विचलन

आत्मश्लाघा करना विचलन कहलाता है ।

जैसे वेणीसहार (५ २७, २८) में । 'भीम— (धृतराष्ट्र और गान्धारी से कहते है) तात, अम्ब, जिस (कर्ण) में तुम्हारे पुत्रो ने समस्त शत्रुओ पर विजय प्राप्त करने की आशा लगाई थी, जिसके गर्व से उन्होने ससार का तृण के समान तिरस्कार किया था, उस राजा के पुत्र को रण में मारने वाला यह मझला पाण्डव (अर्जुन) आप माता-पिता को प्रणाम कर रहा है ।

और भी, तात, समस्त कौरवो को चूर्णित करने वाला, दुशासन के रक्त से मत्त हुआ, दुर्योधन की जघाओ को तोड़ देने वाला यह भीम शिरसा प्रणाम करता है ।' इत्यादि के द्वारा विजय रूपी बीज से अन्वित अपने गुणो को प्रकट करने के कारण यहाँ विचलन (नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग) है ।

और, जैसे रत्नावली (४ २०) में "यौगन्धरायण—जब मेरे कहने से देवी (वासवदत्ता) ने पति का वियोग स्वीकार किया तब मैने महाराज (उदयन) का दूसरी पत्नी से सम्बन्ध कराके उस (वासवदत्ता) को दुखी किया । ठीक है कि प्रभु की चक्रवर्ती पद की प्राप्ति उस (देवी) को सुख देगी तथापि लज्जा के कारण मैं उसको अपना मुख नहीं दिखला सकता ।'

इत्यादि में यद्यपि यौगन्धरायण का तात्पर्य दूसरा ही है तथापि "मैंने वत्सराज को ऐसी कन्या की प्राप्ति करा दी जिसका फल (अनुबन्ध) चक्रवर्ती पद

वत्सराजस्य कृत ।' इति स्वगुणानुकीर्तनाद्विचलनमिति ।

अथादानम् —

(९५) आदान कार्यसग्रह ।

यथा वेणीसहारे—'भीम —ननु भो समन्तपञ्चकसञ्चरिण,

रक्षो नाह न भूतो रिपुरुधिरजलाप्लाविताङ्ग प्रकाम
निस्तीर्णोरुप्रतिज्ञाजलनिधिगहन क्रोधन क्षत्रियोऽस्मि ।
भो भो राजन्यवीरा समरशिखिशिखादग्धशेषा कृत व-
स्त्रासेनानेन लीनैर्हतकरितुरगान्तर्हितैरास्यते यत् ॥५४॥

की प्राप्ति हे" इस रूप में अपने गुणो का कीतन भी है अत यहाँ विचलन (नामक अवमश सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—(१) अन्यपरेणापि=अन्यपरक होने पर भी, अन्य तात्पर्य रखने वाला होने पर भी (यौगन्धरायणेन का विशेषण) यहाँ योगन्धरायण का अभिप्राय है-—वासवदत्ता के प्रति किये गये अपने व्यवहार के विषय मे विचार करना । (२) ना० शा० मे विमर्श सन्धि के अङ्गो का निर्देश करते समय 'विचलन' को नही रक्खा गया किन्तु अङ्गो का लक्षण करते समय 'ज्ञेया विचलना तज्ज्ञैरव-मानाथसयुता' (१९ ९६) यह अवश्य लिखा है । यह स्पष्ट ही हे कि यह 'विचलना' दशरूपक के 'विचलन' मे भिन्न ही है । ना० शा० के व्यवसाय तथा विरोध' आदि विमर्श सन्धि के अङ्गो मे भी स्वशक्ति-वर्णन या आत्मश्लाघा आदि का अन्तर्भाव नही होता । इस प्रकार यह विचारणीय ही हे कि क्या ना० शा० मे इस भाव को व्यक्त करने वाला विमर्शसन्धि का अङ्ग नही माना गया था । ना० द० मे भी 'प्रचलन' नामक अङ्ग नही माना गया । वृत्ति (१ ९८) मे अन्यमत के रूप मे इसका निरूपण अवश्य किया गया है फिर भी ना० द० के 'सरम्भ शक्तिकीर्त्तनम्' (१ ९९) मे आत्मशक्ति-वर्णन आदि का समावेश हो जाता है । साहित्यदर्पण मे भी अधिकतर ना० शा० का अनुसरण किया गया है अत वहाँ भी यह चिन्तनीय है कि दशरूपक के 'विचलन' इत्यादि का कहाँ समावेश किया जाये । सम्भवत उसके यहाँ 'व्यवसाय' मे इन भावो का समावेश हो सकता है । प्रता० (१ १८) मे दशरूपक का ही अनुसरण किया गया है ।

१३ आदान

कार्यसग्रह आदान कहलाता है ।

जैसे वेणीसहार (६ ३७) में 'भीम—अरे, समान्तपञ्चक में घूमने वाले सैनिको, न मै राक्षस हू न कोई भूत । शत्रु के रुधिर रूपी जल मे भली भाँति, सने हुए अङ्गो वाला, विशाल प्रतिज्ञा रूपी गहन सागर को पार कर चुकने वाला, क्रोध करने वाला क्षत्रिय हू । अरे, समर रूपी अग्नि की शिखा मे जलने से बचे हुए, क्षत्रिय वीरो, आपको ऐसा भय नहीं करना चाहिये जो (आप) मरे हुए हाथी और घोड़ो की ओट मे छिपे बैठे है ।

इत्यनेन समस्तरिपुवधकार्यस्य सगृहीतत्वादादानम् ।

यथा च रत्नावल्याम्—'सागरिका—(दिशोऽवलोक्य) दिट्ठिआ समन्तादो पज्जलिदो भअव हुअवहो अज्ज करिस्सदि दुक्खावसाणम्' । (दिष्टया समन्तात्-प्रज्वलितो भगवान्हुतवहोऽद्य करिष्यति दु खावसानम्' ।) इत्यनेनान्यपरेणापि दु खा-वसानकार्यस्य सग्रहादादानम् । यथा च—'जगत्स्वामित्वलाभ प्रभो, इति दर्शित-मेवम् । इत्येतानि त्रयोदशावमर्शाङ्गानि तत्रैतेषामपवादशक्तिव्यवसायप्ररोचनादानानि प्रधानानीति ।

इत्यादि के द्वारा समस्त शत्रुओ के वध रूपी कार्य का सग्रह (उपसहार) किया गया है अत आदान (नामक विमर्श सन्धि का अङ्ग) है ।

और जैसे रत्नावली (४ १६ १७) में सागरिका (दिशाओ को देखकर) भाग्य से चारो ओर अग्नि देव प्रज्वलित है, वे आज मेरे दु ख का अन्त कर देंगे ।

यहाँ पर यद्यपि कथन का तात्पय दूसरा ही हे तथापि दु खो के अन्त रूपी कार्य का सग्रह किया गया हे अत आदान है और जैसे (रत्नावली ४ २० मे) प्रभु को चक्रवर्ती पद की प्राप्ति' इस (यौगन्धरायण) के (कथन) द्वारा यही (आदान) दिखलाया गया है ।

ये तेरह अवमर्श सन्धि के अङ्ग है । इनमे अपवाद, शक्ति, व्यवसाय, प्ररोचना और आदान मुख्य है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० मे 'बीजकार्योपगमनमादानम्' (१६ ६३) यह लक्षण हे । इसका अभिप्राय हे 'फल का समीप होना । इसी भाव को ना० द० (१ १०१) मे स्पष्ट किया गया है । उसके अनुसार 'फलसामीप्य' का अर्थ है—मुख्य फल का दर्शन । सा० द० (६ १०७ तथा प्रता० (३ १८) मे दशरूपक का ही लक्षण दिया गया है । इन सभी लक्षणो के तात्पर्य मे भेद नही, अर्थात् कार्य का उपसहार— फल-सामीप्य—फल दर्शन समान ही है । (२) सक्षेप में गर्भसन्धि मे उद्भिन्न हुआ बीज अवमर्श सन्धि मे फलोन्मुख हो जाता है । फल की प्राप्ति का निश्चय हो जाता है । साथ ही फल के बाधक या विघ्नो के प्रति क्रोध आदि करके क्रोधपूर्ण उक्ति (सफेट) आदि का प्रयोग किया जाता है । कभी तर्जन—उद्वेजन तथा कभी गुरुजनो तक के प्रति तिरस्कार भाव का भी वर्णन होता है । इसी प्रकार फल-प्राप्ति का निश्चय हो जाने से आत्मशक्तिवर्णन, आत्मश्लाघा आदि के प्रसङ्ग भी आ जाते है । इसी आधार पर अवमर्श सन्धि के तेरह अङ्ग हो जाते है । किन्तु ये सब अङ्ग सभी रूपको मे नही होते । जहाँ इतिवृत्त और रस आदि के अनुसार जो-जो अङ्ग सम्भव होते हैं वहाँ वे हुआ करते है । हाँ, अपवाद इत्यादि उपर्युक्त ५ अङ्ग सर्वत्र अनिवार्य है । (३) अवमर्श सन्धि के उपर्युक्त अङ्गो के स्वरूप तथा नाम आदि मे नाट्याचार्यो का मत भेद हे । स्वरूप भेद का यथावसर निरूपण किया जा चुका है । नाम आदि का भेद निम्न विवरण से स्पष्ट है—

अथ निर्वहणसन्धि —

(६६) बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ।।४८।।
ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहण हि तत् ।

यथा वेणीसहारे—'कञ्चुकी—(उपसृत्य सहर्षम्) महाराज, वर्धसे, वर्धसे अय खलु कुमारभीमसेन. सुयोधनक्षतजारुणीकृतसकलशरीरो दुर्लक्षव्यक्ति ।' इत्यादिना द्रौपदीकेशसयमनादिमुखसन्ध्यादिबीजाना निजनिजस्थानोपक्षिप्तानामेकार्थतया योजनम् ।

नाट्यशास्त्र	दशरूपक	नाट्यदर्पण	साहित्यदर्पण	प्रतापरुद्रीय
अपवाद, सफेट, विद्रव, शक्ति व्यवसाय प्रसङ्ग, द्युति खेद, निषेधन विरोध, आदान, साधन, प्ररोचना व्यवहार, युक्ति ।	अपवाद, सफेट विद्रव, द्रव, शक्ति,, द्युति प्रसङ्ग छलन व्यवसाय विरोधन, प्ररोचना विचलन आदान ।	द्रव, प्रसङ्ग सफेट, अपवाद छादन द्युति खेद, निरोध सरम्भ शक्ति प्ररोचना आदान व्यवसाय ।	अपवाद, सफेट व्यवसाय, द्रव द्युति, शक्ति प्रसङ्ग, खेद प्रतिषेध विरोधन प्ररोचना आदान छादन ।	दशरूपक के समान

निर्वहण सन्धि और उसके अङ्ग

जहाँ बीज से सम्बन्ध रखने वाले मुख सन्धि आदि मे अपने अपने स्थान पर (यथायथम्) बिखरे हुए (प्रारम्भ आदि) अर्थो का एक (=मुख्य) प्रयोजन के साथ सम्बन्ध दिखलाया जाता है, वह निर्वहण सन्धि कहलाती है) ।।४८।।

जैसे वेणीसहार नाटक (६ ३८–३९) मे कञ्चुकी (निकट जाकर, हर्षपूर्वक) महाराज आपकी विजय हो, यह तो कुमार भीमसेन है, जिनका समस्त शरीर दुर्योधन के रक्त से लाल हो गया है, और (इसी हेतु) जिन्हे पहचानना कठिन है ।'

इत्यादि के द्वारा मुख-सन्धि आदि मे अपने अपने स्थान पर रक्खे गये द्रौपदी के केश-बन्धन (शत्रु निपात, राज्य-लाभ) आदि के बीज (भीमसेन का क्रोध इत्यादि) है, उनका एक प्रयोजन (द्रौपदी-केश-बन्धन) के साथ सम्बन्ध दिखलाया गया है ।

('आर्यपुत्र' एषा सागरात्प्राप्तेति भणित्वाऽमात्ययौगन्धरायणेन मम हस्ते निहिता अत एव सागरिकेति शब्द्यते ।') राजा- (आत्मगतम्) यौगन्धरायणेन न्यस्ता, कथमसौ ममानिवेद्य करिष्यति ।' इत्यनेन रत्नावलीलक्षणकार्यान्वेषणाद्विबोध ।

यथा च वेणीसंहारे-'भीम --मुञ्चतु मुञ्चतुमामार्यं क्षणमेकम् । युधिष्ठिर - किमपरमवशिष्टम् ? भीम -सुमहदवशिष्टम्, संयमयामि तावदनेन दुःशासनशोणितोक्षितेन पाणिना पाञ्चाल्या दुःशासनावकृष्ट केशहस्तम् । युधिष्ठिर -गच्छतु भवान् अनुभवतु तपस्विनी वेणीसंहारम् । इत्यनेन केशसंयमनकार्यस्य न्वेषणाद्विबोध इति ।

अथ ग्रथनम्-

(१००) ग्रथनं तदुपक्षेपो—

यथा रत्नावल्याम्—'यौगन्धरायण —देव, क्षम्यताम् यद्देवस्यानिवेद्य मयैतत्कृतम् ।' इत्यनेन वत्सराजस्य रत्नावलीप्रापणकार्योपक्षेपाद् ग्रथनम् ।

यथा च वेणीसंहारे—'भीम —पाञ्चालि, न खलु मयि जीवति संहर्तव्या

इत्यादि के द्वारा रत्नावली रूप फल का अन्वेषण किया गया है इसीलिये विबोध (नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग) है । और जैसे वेणीसंहार (६ ४०-४१) भीम-आर्य, मुझे एक क्षण के लिये छोड दो । युधिष्ठिर—और, क्या शेष रहा ? भीम—बहुत कुछ शेष रह गया । अब तो दुःशासन के रक्त से भीगे हुए हाथ से दुःशासन द्वारा खींचे गये द्रौपदी के केशहस्त को बाँधता हूं । युधिष्ठिर-आप जाए । वह बेचारी वेणी बन्धन का अनुभव करे ।

इत्यादि के द्वारा केश संयमन रूप फल का अन्वेषण किया गया है, अतः विबोध (नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—ना० शा० (१९ ९८) म 'कार्यस्यान्वेषण युक्त्या निरोध' यह लक्षण है । ना० द० (१ १०५) मे 'निरोध कार्यमीमासा' यह कहा गया है, अर्थात् विनष्ट कार्य को बनाने के लिये जो उसका अनुसन्धान किया जाता है वह निरोध है । सा० द० (६ ११०) मे तथा प्रता० (३ २१) म दशरूपक का ही अनुसरण किया गया है । किन्तु प्रता० मे 'बिरोध' के स्थान पर 'विबोध' लिखा गया है ।

३. ग्रथन

उस (फल) के उपक्षेप (सूचना) को ग्रथन कहा जाता है ।

जैसे रत्नावली (४ २०-२१) मे यौगन्धरायण—महाराज, क्षमा, कीजिये जो मैने आपसे निवेदन किये बिना यह कार्य किया है । इत्यादि के द्वारा वत्सराज का रत्नावली प्राप्ति रूप जो कार्य है, उसकी (सिद्धि) की सूचना दी गई है अतः ग्रथन (नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग) है । और, जैसे वेणीसंहार (६ ३७-३८ में ! भीम-हे पाञ्चालपुत्री, मेरे जीवित रहते तुमको दुःशासन द्वारा खोली गई अपनी वेणी अपने हाथ से नहीं बाँधनी चाहिये । ठहरो; मैं स्वयं ही बाँधता हूं ।'

दुशासनविलुलिता वेरिगरात्मपारिगना । तिष्ठतु स्वयमेवाह सहरामि ।' इत्यनन द्रौपदीकेशसयमनकार्यस्योपक्षेपाद् ग्रथनम् ।

ग्रथ निर्णय —

(१०१)—ऽनुभूताख्या तु निर्णय ।।५१।।

यथा रत्नावल्याम्—यौगन्धरायरग —(कृताञ्जलि) देव, श्रूयताम्, इय सिहलेश्वर दुहिता सिद्धादेशेनोपदिष्टा—योऽस्या पारिग ग्रहीष्यति सार्वभौमो राजा भविष्यति' तत्प्रत्ययादस्माभि स्वाम्यर्थे बहुश प्रार्थ्यमानापि सिंहलेश्वरेरग देव्या वासवदत्तायाश्चित्तखेद परिहरता यदा न दत्ता तदा लावरिगके देवी दग्धेति प्रसिद्धिमुत्पाद्य तदन्तिक बाभ्रव्य प्रहित ।' इत्यनेन यौगन्धरायरग स्वानुभूतमर्थं ख्यापितवानिति निरगय ।

यथा च वेरगीसहारे—'भीम —देव देव ग्रजातशत्रौ, क्वाद्यापि दुर्योधनहतक ? मया हि तस्य दुरात्मन --

---

इत्यादि के द्वारा द्रौपदी के केश बन्धन रूपी कार्य की सूचना दी गई है, ग्रत ग्रथन (नामक निर्वहरग सन्धि का ग्रङ्ग) है।

टिप्पराी—(१) ना० शा० (१९ ९८) तथा प्रता० (३ २१) मे यही लक्षरग दिया गया हे सा० द० (६ ११०) मे 'उपन्यासस्तु कार्यारगा ग्रथनम्' यह लक्षरग है जिसका ग्रभिप्राय दशरूपक के लक्षरग के समान ही हे । यहाॅ उपन्यास =उपक्षेप । नाट्यदर्पग (१ १०६) मे 'ग्रथन कायदशनम्'—यह लक्षरग है। यहाँ कार्य=मुख्य फल । जिस इतिवृति के भाग द्वारा मुख्य फल का व्यापार के साथ सम्बन्ध कराया जाता है वह ग्रथन कहलाता है। इस ना० द० के लक्षरग का तात्पर्य भी दशरूपक ग्रादि के लक्षरग के समान ही है। वस्तुत उपक्षेप=सूचित करना, ग्रत जहाँ फलागम को सूचित किया जाता है वह ग्रथन है।

४ निर्णय

ग्रनुभूत (ग्रनुभव किये गये) ग्रर्थ का कथन निर्णय कहलाता है।

जैसे रत्नावली (४,२०-२१) मे 'यौगन्धरायरग—महाराज, सुनिये। इस सिंहलेश्वर की पुत्री के विषय मे सिद्ध वचन से कहा गया था कि जो इसका पारिग-ग्रहरग करेगा वह चक्रवर्ती राजा होगा। उसके विश्वास से हमारे द्वारा स्वामी के लिये ग्रनेक बार माॅगे जाने पर भी, जब देवी वासवदत्ता के मानसिक क्लेश को बचाते हुए सिंहलेश्वर ने (रत्नावली को) नहीं दिया तब लावारगक मे देवी (वासवदत्ता) जल गई, यह प्रवाद फैलाकर उस (सिंहलेश्वर) के पास बाभ्रव्य को भेजा।'

इत्यादि के द्वारा यौगन्धरायरग ने ग्रपने ग्रनुभूत ग्रर्थ का वरगन किया है ग्रत निर्णय (नामक निर्वहरग सन्धि का ग्रङ्ग) है।

ग्रौर, जैसे वेरगीलहार (६ ३९) मे देव, देव, ग्रजातशत्रु, ग्रब नीच दुर्योधन कहाँ है ? क्योंकि मैने उस दुष्टात्मा के शरीर को पृथ्वी पर फेंक दिया है ग्रौर

भूमौ क्षिप्त्वा शरीरं निहितमिदमसृक्चन्दनाभं निजाङ्गे
लक्ष्मीरार्ये निषिक्ता चतुरुदधिपय सीमया सार्वमुर्व्या ।
भृत्या मित्राणि योधा कुरुकुलमखिलं दग्धमेतद्रणाग्नौ
नामैकं यद् ब्रवीषि क्षितिप तदधुना धार्तराष्ट्रस्य शेषम् ॥५६॥

इत्यनेन स्वानुभूतार्थकथनान्निर्णय इति ।

अथ परिभाषणम्—

(१०२) परिभाषा मिथो जल्प

यथा रत्नावल्याम्—"रत्नावली—(आत्मगतम्) कआवराहा दवीए ण सक्कुणोमि मुहं दसिदुम् । (कृतापराधा देव्यै न शक्नोमि मुखं दर्शयितुम्) 'वासवदत्ता-(सास्र पुनर्बाहू प्रसार्य) एहि अयि णिट्ठुरे, इदाणी पि बन्धुसिणेहं दसेहि । (अपवार्य) उज्जउत्त, लज्जामि क्खु अहं इमिणा णिससत्तणेण ता लहुं अवणेहि

अपने शरीर पर उसके रुधिर को चन्दन के समान लगाया है । चारो समुद्रो के जल की सीमा वाली पृथिवी के साथ लक्ष्मी आप मे (=आर्ये) स्थित हो गई है । (उसके) भृत्य, मित्र, योधा और यह समस्त कुरुवश समराग्नि मे जल गये है । हे पृथ्वी-पालक, जिसे आप बोल रहे है केवल धृतराष्ट्र के पुत्र (दुर्योधन) का नाम ही शेष है ।

इत्यादि मे (भीमसेन के द्वारा) अपने अनुभूत अथ का कथन किया गया है । अत निर्णय (नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—ना० शा० (१९ ९८) मे तथा सा० द० (६ १११) मे भी इसी प्रकार का लक्षण है । प्रता० (३ २१) के अनुसार 'बीजानुगुणकार्यप्रख्यापन निर्णय' अर्थात् बीज के अनुकूल फल का कथन हो निर्णय है । प्रता० का यह लक्षण अधिक स्पष्ट है तथा इसमे कुछ नवीनता भी है । ना० द० (१ १०७) का लक्षण दश-रूपक आदि के लक्षण से तात्पयत भिन्न है—'निर्णयोऽनुभवख्याति', अर्थात् जानने योग्य अर्थ के विषय मे सन्देहयुक्त या अज्ञानयुक्त व्यक्ति को निर्णय कराने के लिये जो अनुभूत अर्थ का कथन है वह निर्णय है ।

५. परिभाषण

आपस की बात-चीत को परिभाषा या परिभाषण कहा जाता है ।

जैसे रत्नावली (४ १९-२०) मे 'सागरिका—(मन ही मन) मैने देवी (वासवदत्ता) का अपराध किया है इसलिए मै मुह नहीं दिखला सकती । वासवदत्ता—(अश्रु पूर्वक फिर भुजाएँ फैलाकर) आ, हे कठोर, अब तो बन्धु-स्नेह दिखला दे, (एक ओर होकर) आर्यपुत्र, मै इस प्रकार की क्रूरता से लज्जित हूँ अत शीघ्र ही इसका बन्धन हटा दो ।

राजा—जैसा देवी कहे । (बन्धन को हटाता है) । **वासवदत्ता—(वसुभूति के प्रति) आर्य, अमात्य यौगन्धरायण ने मुझे बुरा बना दिया, जिसने जानते हुए भी न बतलाया ।**

से बन्धणम । (एहि अयि निष्ठुरे, इदानीमपि बन्धुस्नेह दर्शय । आर्यपुत्र, लज्जे खल्वहमनेन नृशसत्वेन तल्लब्धवपनयाम्या बन्धनम् ।') राजा—यथाह देवी (बन्धनमपनयति) वासवदत्ता—(वसुभूति निर्दिश्य) अज्ज, 'अमच्चजोगन्धरायणेण दुज्जणीकदह्मि जेण जाणन्तेण वि णाचक्खिदम् ।' (आय, अमात्य-यौगन्धरायणेन दुजनीकृतास्मि येन जानतापि नाचक्षितम् ।' इत्यनेनान्योन्यवचनात्परिभाषणम् ।

यथा च वेणीसहारे—भीम —कृष्टा येनासि राज्ञा सदसि नृपशुना तेन दु शासनन ।' इत्यादिना क्वासौ भानुमती योपहसति पाण्डवदारान् ' इत्यन्तेन भाषणात् परिभाषणम् ।

अथ प्रसाद —

(१०३) प्रसाद पर्युपासनम् ।

यथा रत्नावल्याम्—देव, क्षम्यनाम् ।' इत्यादिना दर्शितम ।

यथा च वेणीसहारे—'भीम —(द्रौपदीमुपसृत्य) देवि पाञ्चालराजतनये,

इत्यादि के द्वारा परस्पर बातचीत के कारण यहाँ परिभाषण (नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग) है ।

और जैसे वेणीसहार (६ ४१) में 'भीम—जिस नररूपी पशु, उस दु शासन ने तुझे राजाओ की सभा मे घसीटा था ।' यहाँ से लेकर 'कहाँ है वह भानुमती जो पाण्डव-पत्नी का उपहास करती रही ।' यहाँ तक आपस की बात-चीत है अत परिभाषण (नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—ना० शा० (१९ ९९) मे यह लक्षण है—'परिवादकृत यत्स्यात् तदाहु परिभाषणम्' । अर्थात् निन्दा का सूचक वाक्य परिभाषण है । सा० द० (६ १११) मे परनिन्दासूचक वचन को परिभाषण माना गया है जैसा कि उसके उदाहरण से स्पष्ट है । ना० द० (१ १०८) मे इसका रूप बदल गया है–'परिभाषा स्वनिन्दनम्'—अपने अपराध को प्रकट करना ही परिभाषा है । ना० द० का मत अभिनव भारती से अधिकाश मे मिलता है । किन्तु दशरूपक के अनुसार आपस की बात-चीत ही परिभाषण है । उसमे किसी अन्य की निन्दा करना या अपना अपराध प्रकट करना आवश्यक नही । प्रता० (३ २१) मे इसी प्रकार का लक्षण है । ना० द० मे दशरूपक के मत को 'अन्ये तु' कहकर दिखलाया गया है ।

६. प्रसाद

आराधना (पर्युपासन—प्रसन्न करने का प्रयास) ही प्रसाद कहलाता है ।

जैसे रत्नावली (अङ्क ४) मे 'महाराज क्षमा कीजिये' इत्यादि के द्वारा दिखलाया गया है ।

और, जैसे वेणीसहार (६ ४०–४१) मे भीमसेन—(द्रौपदी के पास जाकर देवी, पाञ्चालराजपुत्री, सौभाग्य से तुम शत्रु कुल के नाश से बढ़ रही हो ।

दिष्ट्या वर्धसे रिपुकुलक्षयेण ।' इत्यनेन द्रोपद्या भीमसेनेनाराधितत्वात्प्रसाद इति ?

अथानन्द —

(१०४) आनन्दो वाञ्छिताप्ति

यथा रत्नावल्याम्—राजा यथाह देवी (रत्नावली गृह्णाति)'

यथा च वेणीसहारे—'द्रौपदी—णाध—(विसुमरिदह्मि ण्द वावार णावस्स प्पसादेन पुणो सिक्खिस्सम् (केशान्बध्नाति) (नाथ, विस्मृतास्म्येत व्यापार नाथस्य प्रसादेन पुन शिक्षिष्यामि ।') इत्याभ्या प्रार्थितरत्नावलीप्राप्तिकेशसयममयोर्वत्सराजद्रौपदीभ्या प्राप्तत्वादानन्द ।

अथ समय —

(१०५) समयो दु खनिर्गम ॥५२॥

इत्यादि के द्वारा भीमसेन ने द्रोपदी का आराधन किया हे अत प्रसाद (नामक निवहृण सन्धि का अङ्ग) है।

टिप्पणी—ना० शा० (१६ १०१) के अनुसार 'शुश्रूषाद्युपसम्पन्न प्रसाद प्रीतिरुच्यते'—सेवा आदि से उत्पन्न प्रसन्नता ही प्रसाद कहलाता है। किन्तु दशरूपक के लक्षणानुसार "प्रसन्न करने के लिये जो (सेवा) आदि प्रयत्न किया जाता है वही प्रसाद है। प्रता० (३ २१) तथा सा० द० (शुश्रूपादि प्रसाद स्यात् ६ ११२' मे भी दशरूपक का अनुसरण किया गया हे। ना० द० (१ १०६) ने प्रसाद' को 'उपास्ति' कहा है और यह भी उल्लेख किया है—'अन्ये त्वस्य स्थाने प्रियहिताचरणजनिता प्रसत्ति प्रसादमङ्गमाहु' दूसरे तो इस उपास्ति के स्थान पर प्रिय तथा हितकर आचरण से उत्पन्न होने वाली प्रीति (प्रसाद) को (निर्वहण सन्धि का) अङ्ग बतलाते है। यह किसके मत की ओर संकेत है, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि नाट्यशास्त्र के उपरिनिर्दिष्ट लक्षण का भी यही तात्पय प्रतीत होता है।

७. आनन्द

अभीष्ट की प्राप्ति होना आनन्द कहलाता है।

जैसे रत्नावली (४.२०-२१) मे 'राजा—जैसा देवी कहे। (रत्नावली को स्वीकार करता है)।

और, जैसे वेणीसहार (६ ४१ ४२) में द्रौपदी—नाथ, मै इस काम को भूल गई हूँ, स्वामी की कृपा से फिर सीख जाऊँगी'। यहाँ (प्रथम उदाहरण में वत्सराज को अपनी चाही हुई रत्नावली की प्राप्ति हो जाती है तथा (द्वितीय उदाहरण में) द्रौपदी को अभीष्ट केश बन्धन की प्राप्ति होती है अत आनन्द (नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग) है।

टिप्पणी—ना० शा० १६ १००), ना० द० (१.१११), सा० द० (६.११२) तथा प्रता० (३ २१) मे भी इसी प्रकार के लक्षण है।

८ समय

दु ख का दूर हो जाना ही समय कहलाता है।

यथा रत्नावल्याम् 'वासवदत्ता—(रत्नावलीमालिङ्ग्य) समस्सस समस्सस बहिणिए।' ('समाश्वसिहि समाश्वसिहि भगिनिके।') इत्यनेन भगिन्योरन्योन्यसमागमेन दुःखनिर्गमात्समयः।

यथा च वेणीसंहारे 'भगवन्, कुतस्तस्य विजयादन्यद् यस्य भगवान्पुराणपुरुषः स्वयमेव नारायणो मङ्गलान्याशास्ते।

कृतगुरुमहदादिक्षोभसंभूतमूर्ति
गुणिनमुदयनाशस्थानहेतुं प्रजानाम्।
अजममरमचिन्त्यं चिन्तयित्वाऽपि न त्वां
भवति जगति दुःखी किं पुनर्देव दृष्ट्वा ॥५७॥

इत्यनेन युधिष्ठिरदुःखापगमं दर्शयति।

अथ कृतिः—

(१०९) कृतिर्लब्धार्थशमनम्

यथा रत्नावल्याम् 'राजा—को देव्याः प्रसादं न बहु मन्यते ? वासवदत्ता— अज्जउत्त, दूरे मे मादुउलं ता तधा करेसु जधा बन्धुअणं ण सुमरेदि।' ('आय-

---

जैसे रत्नावली (४.१९–२०) मे 'वासवदत्ता—(रत्नावली से गले मिलकर) बहिन, धीरज रक्खो, धीरज रक्खो।'

इत्यादि के द्वारा दोनो बहिनों के परस्पर मिलन से दुःख दूर होता है अतः समय (नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग) है।

और, जैसे वेणीसंहार (६.४३) मे 'युधिष्ठिर—(वासुदेव के प्रति) भगवन्, स्वयं पुराणपुरुष भगवान् नारायण जिसके मङ्गल की कामना करते हैं, उसकी विजय के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?

हे देव, महत्तत्त्व आदि के महान् क्षोभ से व्यापक मूर्त्ति (त्रिनयन आदि, अथवा विशाल जगत्, अथवा हमारे शरीर आदि) की रचना करने वाले, प्रजाओं की उत्पत्ति, नाश, स्थिति का कारण होने वाले, गुणयुक्त, अजन्मा, अमर और अचिन्त्य का चिन्तन करके कोई भी व्यक्ति दुःखी नहीं रहता, फिर देखकर तो क्या ?'

इत्यादि के द्वारा युधिष्ठिर के दुःख का दूर होना दिखलाया गया है।

टिप्पणी—ना० शा० (१९.१०१), ना० द० (१.११२), सा० द० (६.११२) तथा प्रता० (३.२१) मे भी इसी प्रकार का लक्षण है।

९. कृति

लब्ध अर्थ का शमन (शान्ति या स्थिरीकरण) कृति कहलाता है।

जैसे रत्नावली (४.२०–२१) मे 'राजा—देवी के प्रसाद को कौन अधिक सम्मान न देगा ? वासवदत्ता—आर्यपुत्र, इसका मातृकुल (मायका) दूर है अतः

पुत्र, दूरेऽस्या मातृकुल तत्तथा कुरुष्व यथा बन्धुजन न स्मरति ।') इत्यन्योन्यवचसा लब्धाया रत्नावल्या राज्ञ सुश्लिष्टय उपशमनात्कृतिरिति ।

यथा च वेणीसहारे 'कृष्ण — एते खलु भगवन्तो व्यासवाल्मीकि—' इत्यादिना 'अभिषेकमारब्धवन्तस्तिष्ठन्ति' इत्यनेन (इत्यन्तेन) प्राप्तराज्याभिषेकमङ्गलै स्थिरीकरण कृति ।

अथ भाषणम् —

(१०७) मानाद्याप्तिश्च भाषणम ।

ऐसा कीजिये कि यह अपने बन्धु जनो को याद न करे ।'

इत्यादि के द्वारा रत्नावली के प्राप्त होने पर राजा के भली भाँति समागम (सुश्लिष्टि) के लिये उस (रत्नावली) का उपशमन (शान्ति, सान्त्वना) किया गया है। अत कृति (नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग) है ।

और, जैसे वेणीसहार* (६ ४४) मे 'कृष्ण—ये भगवान् व्यास, वाल्मीकि यहाँ से आरम्भ करके अभिषेक का आरम्भ कर रहे है यहाँ तक प्राप्त हुए राज्य का अभिषेक के मङ्गल द्वारा स्थिरीकरण दिखलाया गया है अत 'कृति' (नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—-ना० शा० (१९ १००) मे 'लब्धार्थस्य शमन द्युतिमाचक्षते पुन' यह लक्षण है । इससे प्रतीत होता है कि 'कृति' के स्थान पर 'द्युति' नामक अङ्ग भी माना गया था । अभि० के अनुसार इसका अभिप्राय है—क्रोध आदि जो शमन करने योग्य अर्थ है, यदि वे किसी प्रकार प्राप्त हो जाये तो भी उनका शमन कर देना द्युति है । ना० द० (१,११०) की वृत्ति मे इस मत को 'अपरे तु' करके दिया गया है । ना० द० (१ ११०) के अनुसार 'कृति क्षेमम्', क्षेमम्=लब्धस्य परिपालनम्, अर्थात् प्राप्त वस्तु का स्थिरीकरण ही कृति है । दशरूपक मे उद्धृत रत्ना० का सदभ ही वहाँ उदाहरणार्थ दिया गया है । सा० द० (६.१११) मे दशरूपक के समान ही लक्षण है किन्तु वृत्ति मे 'स्थिरीकरण कृति' कहा गया है । इसी प्रकार प्रता० (३ २१) मे 'लब्धस्थिरीकरण कृति' यह लक्षण है । इस विवेचन से यह प्रतीत होता है कि 'प्राप्त वस्तु का स्थिरीकरण कृति है, इसमे अधिकाश आचार्य सहमत है । अत यहाँ उपशमन का एक अर्थ 'स्थिरीकरण' मानना तो सङ्गत ही है, (द्वितीय उदा०) । किन्तु प्रथम उदा० मे 'रत्नावली को सान्त्वना देना' अथवा 'रत्नावली के प्राप्त हो जाने पर वासवदत्ता के क्रोध की शान्ति (ना० शा०)—उपशमन के ये दोनो अर्थ सम्भव हैं ।

१० भाषण

मान आदि की प्राप्ति भाषण कहलाती है ।

---

*यह पाठान्तर प्रतीत होता है ।

यथा रत्नावल्याम्—राजा—अत परमपि प्रियमस्ति ?

यातो विक्रमबाहुरात्मसमता प्राप्तेयमुर्वीतले
सार सागरिका ससागरमहीप्राप्त्येकहेतु प्रिया ।
देवी प्रीतिमुपागता च भगिनीलाभाज्जिता कोशला
किं नास्ति त्वयि सत्यमात्यवृषभे यस्मै करोमि स्पृहाम् ॥५८॥

इत्यनेन कामाथमानादिलाभाद्भाषणमिति ।

अथ पूवभावोपगूहने—

(१०८) कार्यदृष्टयद्भु्त्प्राप्ती पूर्वभावोपगूहने ॥५३॥

कार्यदर्शन पूर्वभाव, यथा रत्नावल्याम्—'यौगन्धरायण—एव विज्ञाय भगिन्या सप्रति करणीये देवी प्रमाणम् । वासवदत्ता—फुड ज्जेव कि ण भणेसि ? पडिवाएहि से रअणमाल त्ति ।' ('स्फुटमेव कि न भणसि ? प्रतिपादयास्मै

जैसे रत्नावली (४ २१) मे 'राजा—इससे अधिक भी कुछ प्रिय हो सकता है ?—विक्रमबाहु को अपने जैसा (आत्मीय) कर दिया, पृथिवीतल का सार सागर सहित समस्त पृथिवी की प्राप्ति का एकमात्र हेतु यह प्रिया सागरिका प्राप्त कर ली, बहिन की प्राप्ति से देवी (वासवदत्ता) प्रसन्न हो गई, कोशल प्रदेश जीत लिये गये। 'सचमुच ही, तुम जैसे श्रेष्ठ, अमात्य के होने पर क्या नहीं है, जिसकी मै कामना करूँ ?'

इत्यादि के द्वारा काम, अर्थ और मान आदि की प्राप्ति दिखलाई गई है अत यहाँ भाषण (नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—ना० शा० (१९ १०२) के अनुसार 'सामदानादिसम्पन्न भाषण समुदाहृतम्' यह लक्षण है । सा० द० (६ ११३) मे भी 'सामदानादि भाषणम्' यह कहा गया है। ना० द० (१ ११४) मे 'भाषण सामदानोक्ति' अर्थात् प्रिय तथा हितकारी वचन भाषण है 'यह कहकर इसे अधिक स्पष्ट किया गया है । प्रता० (३ २१) के अनुसार 'प्राप्तकार्यानुमोदनमाभाषणम्', अर्थात् प्राप्त हुए फल का अनुमोदन करना ही आभाषण कहलाता है । इन लक्षणो पर विचार करने से प्रतीत होता है कि दशरूपक मे दिया गया भाषण का लक्षण प्राचीन तथा अर्वाचीन सभी आचार्यो के लक्षणो से भिन्न है । यहाँ तो फलागम से अन्वित मान आदि की प्राप्ति का वर्णन ही भाषण कहलाता है ।

११ पूर्वभाव १२ उपगूहन—

कार्य (फल) का दर्शन (बिना कहे समझ लेना) पूर्वभाव कहलाता है तथा अद्भुत अर्थ की प्राप्ति उपगूहन है ।

काय का दर्शन पूर्वभाव है, जैसे रत्नावली (४ २०–२१) मे 'यौगन्धरायण—यह जानकर बहिन (रत्नावली) के लिये अब क्या करना है इस विषय मे देवी

रत्नमालार्मिति।') इत्यनेन 'वत्सराजाय रत्नावली दीयताम्' इति कायस्य यौगन्धरायणाभिप्रायानुप्रविष्टस्य वासवदत्तया दशनात्पूर्वभाव इति।

अद्भुतप्राप्तिरुपगूहन यथा वेणीसहारे' (नेपथ्ये) महासमरानलदग्धशेषाय स्वस्ति भवते राजन्यलोकाय।

क्रोधान्धैर्यस्य मोक्षात्क्षतनरपतिभि पाण्डुपुत्रै कृतानि
प्रत्याश मुक्तकेशान्यनुदिनमधुना पार्थिवान्त पुराणि।
कृष्णाया केशपाश कुपितयमसखो धूमकेतु कुरूणा
दिष्टया बद्ध प्रजाना विरमतु निधन स्वस्ति राजन्यकेभ्य ॥५६॥

युधिष्ठिर—देवि, एप ते भूवजाना सहारोऽभिनन्दितो नभस्तलचारिणा सिद्धजनेन।' इत्येतेनाद्भुतार्थप्राप्तिरुपगूहनमिति। लब्धार्थशमनात्कृतिरपि भवति।

(वासवदत्ता) प्रमाण हैं। वासवदत्ता—स्पष्ट ही क्यो नही कहते कि इसे (महारज को) रत्नावली दे दो'।

इत्यादि मे "रत्नावली वत्सराज को दे दी जाये" यह कार्य (फल) है, जो यौगन्धरायण के अभिप्राय के अन्तर्गत है। यहाँ इसे वासवदत्ता ने समझ लिया है। अत पूर्वभाव (नामक) निर्वहण सन्धि का अङ्ग है।

अद्भुत अथ की प्राप्ति उपगूहन है, जैसे वेणीसहार (६ ४२) मे (नेपथ्य मे)—महासमर की अग्नि मे जलने से बचे हुए क्षत्रियजन का कल्याण हो। जिस (केशपाश) के खुल जाने के कारण क्रोध से अन्धे हुए, अनुपम भुजबल वाले, राजाओ को नष्ट करने वाले पाण्डु के पुत्रो ने प्रत्येक दिशा में राजाओ के अन्त पुरो को खुले हुए केशो वाला कर दिया था, क्रुद्ध यमराज का मित्र' (उसके सदृश), कौरवो के लिये धूमकेतु, कृष्णा (द्रौपदी) का वह यह केशपाश बँध गया है। अब प्रजा का विनाश रुक जाये, राजसमूह का कल्याण हो।'

हे देवी, गगनतल मे विचरने वाले सिद्ध जनो के द्वारा इस केश-सयमन का अभिनन्दन किया जा रहा है।

इत्यादि के द्वारा अद्भुत अर्थ की प्राप्ति का वर्णन है अतः यहाँ उपगूहन (नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग) है। साथ ही यहाँ प्राप्त अर्थ का शमन (स्थिरीकरण) भी है अत कृति (नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग) भी है।

टिप्पणी—(1) ना० शा० (१९ १०३) के अनुसार 'पूर्ववाक्य तु विज्ञेय यथोक्तार्थप्रदर्शनम' अर्थात् पूर्वोक्त अर्थ का प्रदर्शन ही पूर्ववाक्य है। सा० द० (६.११३) मे भी इसी प्रकार का लक्षण है। दशरूपक का लक्षण इससे भिन्न है। इसके अनुसार कार्य (फल) किसी के अभिप्राय का अश होता है। दूसरा उस कार्य को शब्दो द्वारा कहे बिना ही भाँप लेता है। जैसा कि ऊपर रत्नावली नाटिका के उदाहरण से स्पष्ट है। ना द० (१ ११५) के 'प्राग्भाव कृत्यदर्शनम्' का तथा प्रता० (३ २१) के 'इष्टकार्यदर्शन पूर्वभाव, का भी यही तात्पर्य है। (ii) ना० शा० (१९.१०२) ना० द० (१.११३), सा० द० (६ ११२ ११३) तथा प्रता० (१.२१) मे भी उपगूहन का इसी प्रकार का लक्षण है।

अथ काव्यसहार —

(१०९) वराप्ति काव्यसहार

यथा'—कि ते भूय प्रियमुपकरोमि ।' इत्यनेन काव्यार्थसहरणात् काव्यसहार इति ।

अथ प्रशस्ति —

(११०) प्रशस्ति शुभशसनम् ।

यथा वेणीसहारे—'प्रीतश्चेद्भवान् तदिदमेवमस्तु—

अकृपणमति काम जीव्याज्जन पुरुषायुष
भवतु भगवद्भक्तिर्द्वैत विना पुरुपोत्तमे ।
कलितभुवनो विद्वद्बन्धुर्गुणेषु विशेषवित्
सततसुकृती भूयाद् भूप प्रसाधितमण्डल ॥९०॥

इति शुभशसनात्प्रशस्ति ।

---

१३ काव्यसहार—

वरदान की प्राप्ति काव्य-सहार कहलाता है ।

जैसे "मै तुम्हारा और क्या प्रिय करूँ ?" इत्यादि के द्वारा काव्यार्थ का उपसहार किया जाता है अत यह काव्यसहार (नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—ना० शा० (१९ १०३) तथा सा० द० (६ ११४) मे 'वरप्रदान-सम्प्राप्ति काव्यसहार इष्यते'—यह कहा गया है । इसका तात्पर्य भी दशरूपक के लक्षण के समान ही है । ना० द० (१ ११५) के अनुसार 'वरेच्छा काव्यसहार' ईप्सित दातु वरेच्छा, अर्थात् अभीष्ट वर को प्रदान करने की अभिलाषा को काव्य-सहार कहा जाता है । इस लक्षण मे भाव अधिक स्पष्ट हो गया है । प्रता० (३ २१) मे 'काव्यार्थोपसहृति सहार' यह लक्षण है ।

शुभ (अर्थ) का कथन ही प्रशस्ति कहलाता है ।

१४ प्रशस्ति

जैसे वेणीसहार (६ ४६) मे युधिष्ठिर कृष्ण के प्रति कहते हैं फिर भी यदि आप प्रसन्न है तो यह हो जाये—लोग अदीन मति वाले होकर पुरुष की आयुपर्यन्त जीवें । पुरुषोत्तम मे अनन्य भक्ति होवे । राजा प्रजा प्रेमी (दयितभुवन = दयित भुवन यस्य स प्रियलोक) विद्वानो का बन्धु, गुणो का विशेषज्ञ, निरन्तर पुण्य करने वाला तथा राज समूह को अलङ्कृत करने वाला (अथवा वश मे करने वाला) होवे ।

यहाँ शुभ-कथन किया गया है अत प्रशस्ति (नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग) है ।

इत्येतानि चतुर्दशनिर्वहणाङ्गानि । एव चतु षष्टयङ्गसमन्विता पञ्चसन्धय प्रतिपादिता ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१६ १०४) मे 'नृपदेशप्रशान्तिश्च प्रशस्ति' यह लक्षण है । इसी प्रकार का लक्षण सा० द० (६ ११४) मे है । इस लक्षण का तात्पर्य भी दशरूपक के लक्षण के समान ही है । ना० द० (१ ११६) तथा प्रता० (३ २१) मे दशरूपक के समान ही लक्षण है । (२) 'प्रशस्ति' नामक अङ्ग की योजना अनिवार्य है । यह रूपक का अन्त मङ्गल है । (३) काव्यसहार तथा प्रशस्ति दोनो रूपक के अन्त मे इसी क्रम से आते है ।

ये चतुर्दश निर्वहण सन्धि के अङ्ग है । इस प्रकार ६४ अङ्गो से युक्त पञ्चसन्धि का प्रतिपादन किया गया है ।

टिप्पणी—(१) निर्वहण सन्धि मे बीज का फल प्राप्ति के साथ सम्बन्ध दिखलाया जाता है । यह फल-प्राप्ति नायक-व्यापार (काय) के द्वारा होती है । इसी हेतु इसे काय नामक अथप्रकृति और फलागम नामक कार्यावस्था का समन्वय कहा जाता है । उपर्युक्त सभी अङ्गो का फलागम से सम्बन्व होता है । उदाहरणार्थ फल-प्राप्ति को दृष्टि मे रखकर जो बीज का सधान किया जाता है वही सन्धि नामक अङ्ग होता है । इसी प्रकार अन्त मे निर्विघ्न रूप से फल-प्राप्ति हो चुकने पर काव्य-सहार तथा प्रशस्ति नामक अङ्ग हुआ करते है । (२) ना० शा० (१६ ६५-६७), ना० द० (१ १०३) सा० द० (६ १०८-१०६) तथा प्रता० (३ २०-२१) मे सवत्र निर्वहण सन्धि के चौदह अङ्ग माने गये है यत्र तत्र उनके नामो तथा लक्षणो मे थोडा सा अन्तर है, जिसका यथावसर उल्लेख किया गया है । (३) पाँचो सन्धियो के कुल मिलाकर ६४ अङ्ग माने गये है (ना० शा० १६ ६७), किन्तु इनके विषय मे निम्न बाते ध्यान रखने योग्य है —(क) किसी एक सन्धि मे बतलाया गया अङ्ग दूसरी सन्धि मे भी हो सकता है, जैसे 'युक्ति' नामक अङ्ग मुखसन्धि मे कहा गया है किन्तु वेणीसहार मे गर्भसन्धि मे भी इसकी योजना की गई है (अभिनव० १६·१०५) (ख) एक ही सन्धि मे कोई एक सन्ध्यङ्ग दो या तीन बार भी आ जाता है (वही १६·१०५) । (ग) जैसा कि ऊपर निर्देश किया गया है, प्रत्येक सन्धि के अङ्गो मे से कुछ ही अनिवार्य माने जाते है, परन्तु कभी कभी श्रेष्ठ कवियो के प्रबन्धो मे भी अनिवाय माने जाने वाला अङ्ग नही मिलता । वस्तुत भरतमुनि का कथन है कि कुशल कवियो को रस एव भाव के आधार पर जो अङ्ग जिस सन्धि मे आवश्यक हो उसकी योजना करनी चाहिये (ना० शा० १६ १०४ १०५) । (घ) सन्ध्यङ्गो का जो क्रम दशरूपक या किसी अन्य नाट्यग्रन्थ मे दिया गया है वही क्रम रूपको मे नही हुआ करता (लक्षणे एवाय क्रमो न निबन्धने, अभिनव० १६·६६) ।

षट्प्रकार चाङ्गाना प्रयोजनमित्याह—

(१११) उक्ताङ्गाना चतु षष्टि षोढा चैषा प्रयोजनम् ॥५४॥

कानि पुस्तानि षट् प्रयोजनानि ? (तान्याह)—

(११२) इष्टस्यार्थस्य रचना गोप्यगुप्ति प्रकाशनम् ।
राग प्रयोगस्याश्चर्य वृत्तान्तस्यानुपक्षय ॥५५॥

विविक्षितार्थनिबन्धन गोप्यार्थगोपन प्रकाश्यार्थप्रकाशनमभिनेयंरागवृद्धिश्च-मत्कारित्व च काव्यस्येतिवृत्तस्य विस्तर इत्यङ्गै षट्प्रयोजनानि सपाद्यन्त इति ।

सन्ध्यङ्गो का प्रयोजन

इन सन्ध्यङ्गो का प्रयोजन ६ प्रकार का है, यह बतलाते हैं—

उपर्युक्त (सन्धि के) अङ्ग ६४ है और प्रयोजन ६ प्रकार का है ।

वे ६ प्रयोजन कौन से है ? उनको बतलाते है—

१ इष्ट अर्थ की रचना, २ गोपनीय को गुप्त रखना, ३ प्रकाशन, ४ राग, ५ प्रयोग का वैचित्र्य और ६ इतिवृत्त का विच्छिन्न न होना ।

विवक्षित अथ की रचना, गोपनीय अर्थ का छिपाना प्रकाशित करने योग्य वस्तु को प्रकाशित करना, अभिनेय वस्तु के प्रति राग की वृद्धि और चमत्कारिता तथा काव्य की कथावस्तु का विस्तार, ये ६ प्रयोजन सन्धि अङ्गो के द्वारा सम्पादित किये जाते हैं ।

टिप्पणी—(क) मि०, ना० शा० (१९ ५१ ५२), सा० द० (६ ११६-११७) प्रता० (३ २१) । (ख) ६४ सन्ध्यङ्गो की योजना के ६ प्रयोजन है । (१) रूपक मे जिस अर्थ का समावेश करना अभीष्ट होता है उस अथ का समावेश कर दिया जाता है । (२) कथावस्तु का जो अश रङ्गमञ्च पर दिखलाना अभीष्ट नही होता गोपनीय होता है उसको छिपा लिया जाता है । (३) (अभि० भा० ना० शा०- (१९ ५२) के अनुसार प्रकाशनम्=विस्तारणम् । इस प्रकार जिस वस्तु का विस्तार करना उपयोगी है उसका विस्तार कर दिया जाता है । अथवा प्रकाशित करने योग्य वस्तु को प्रकाशित किया जाता है । (४) सन्धि के अङ्गो की समुचित योजना से इति-वृत्त की सघटना इतनी सुव्यवस्थित हो जाती है कि अभिनेय वस्तु के विषय मे दर्शको की रुचि (राग) बढने लगती है । (५) बार बार सुनी गई भी कथा किसी काव्य या नाट्य का इतिवृत्त बन जाया करती है, सन्ध्यङ्गो की सम्यक् योजना से उसका प्रयोग भी अपूर्व सा प्रतीत होने लगता है उसमे वैचित्र्य (चमत्कार) की प्रतीति होने लगती है (६) नाट्य आदि प्रबन्धो मे कथा का विच्छेद अरुचि एव नीरसता को उत्पन्न कर दिया करता है, सन्ध्यङ्गो की सम्यक् योजना से कथावस्तु का विच्छेद नही होता । नाट्यदपरण (१ ११६) के अनुसार तो केवल इतिवृत्ति का अविच्छेद ही सन्ध्यङ्गो का प्रयोजन हे । कथावस्तु के अविच्छेद से रस की पुष्टि होती है ।

पुनर्वस्तुविभागमाह—

(११३) द्वेधा विभागः कर्तव्यः सर्वस्यापीह वस्तुनः ।
सूच्यमेव भवेत् किञ्चिद् दृश्यश्रव्यमथापरम् ॥५६॥

कीदृक्सूच्यं कीदृग्दृश्यश्रव्यमित्याह—

(११४) नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तरः ।
दृश्यस्तु मधुरोदात्तरसभावनिरन्तरः ॥५७॥

सूच्यस्य प्रतिपादनप्रकारमाह—

इसलिये रस योजना मे तत्पर कवियो को सन्ध्यङ्गो की सम्यक् योजना करनी चाहिये । सा० द० (६ १२०) मे यह भी बतलाया गया है कि सन्ध्यङ्गो का उद्देश्य रस की अभिव्यक्ति है केवल नाट्यशास्त्र की मर्यादा का पालन नही ।

बीज तथा नायक-व्यापार (कार्यावस्था) के समन्वय की दृष्टि से इतिवृत्त का पाँच सन्धियो मे विभाजन किया गया है । अब वर्णन (=वस्तु निबन्धन) की दृष्टि से वस्तु-विभाजन पर विचार किया जाता है ।

वस्तु निबन्धन की दृष्टि से वस्तु-विभाजन

फिर वस्तु का विभाजन बतलाया है—

यहाँ (रूपक मे) समस्त वस्तु का दो प्रकार का विभाग करना चाहिये, कुछ वस्तु तो सूच्य होनी चाहिये और दूसरी दृश्य तथा श्रव्य ॥५६॥

कैसी वस्तु सूच्य होती है और कैसी दृश्य तथा श्रव्य, यह बतलाते है—

उनमे वस्तु का जो भाग (वस्तु विस्तर) नीरस हो या (जिसका रङ्गमञ्च पर दिखाना) अनुचित हो उसे भली भाँति सूचित करना चाहिये । किन्तु जो (वस्तु का भाग) चित्ताकर्षक उदात्त तथा रस एव भाव से पूर्ण हो उसे रङ्गमञ्च पर दिखाना चाहिये (दृश्य) ॥५७॥

टिप्पणी—रूपक दृश्य होते है । उनका रङ्गमञ्च पर अभिनय किया जाता है । इसलिये किसी नायक के जीवन की सभी घटनाओ का रूपक मे वर्णन नही किया जा सकता । इसके अतिरिक्त भारतीय नाट्य-परम्परा के अनुसार कुछ घटनाओ का रङ्गमञ्च पर अभिनय करना वर्जित (अनुचित) है, जैसे किसी की मृत्यु आदि । साथ ही, रूपक रसाश्रित होते है अत नीरस वस्तु का वर्णन भी रूपक मे वाञ्छनीय नही । इस प्रकार की सभी घटनाओ का अभिनय तो नही किया जाता किन्तु कथा-सूत्र को अविच्छिन्न रखने के लिये इसकी सूचना अवश्य देनी होती है । इसी आधार पर दो प्रकार की वस्तु होती है—१ सूच्य २ दृश्य । सूच्य है—नीरस तथा अनुचित (=रङ्गमञ्च पर न दिखलाने योग्य तथा वर्जित) दृश्य है—रोचक, उदात्तभावनाओ से पूर्ण, रस भाव पूर्ण ।

सूच्य वस्तु के प्रतिपादन का प्रकार बतलाते हैं—

(११५) अर्थोपक्षेपकै सूच्य पञ्चभि प्रतिपादयेत् ।
विष्कम्भचूलिकाङ्कास्याङ्कावतारप्रवेशकै ॥५८॥

तत्र विष्कम्भक —

(११६) वृत्तवर्तिष्यमाणाना कथाशाना निदर्शक ।
सक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजित ॥५९॥

अतीताना भाविना च कथावयवाना ज्ञापको मध्यमेन मध्यमाभ्या वा पात्राभ्या प्रयोजितो विष्कम्भक इति ।

स द्विविध शुद्ध, सङ्कीर्णश्चेत्याह—

(११७) एकानेककृत शुद्ध सङ्कीर्णो नीचमध्यमै ।

एकेन द्वाभ्या वा मध्यमपात्राभ्या शुद्धो भवति, मध्यमाधमपात्रैर्युगपत्प्रयोजित सङ्कीर्ण इति ।

---

१ विष्कम्भक, २ चूलिका, ३ अङ्कास्य, ४ अङ्कावतार और ५ प्रवेशक इन पाँच अर्थोपक्षेपको (इतिवृत्त के सूचको) के द्वारा सूच्य वस्तु का प्रतिपादन करना चाहिये ॥५८॥

१ विष्कम्भक (विष्कम्भ)

उनमे विष्कम्भ है —

बीते हुए और आगे होने वाले कथा-भागो का सूचक, सक्षिप्त अर्थ वाला तथा मध्यम पात्रो द्वारा प्रयुक्त जो अर्थोपक्षेपक है, वह विष्कम्भ कहलाता है ॥५९॥

अर्थात् (क) भूत और भविष्य के कथाशो का सूचक, (ख) एक या दो मध्यम पात्रो के द्वारा प्रयुक्त विष्कम्भक होता है ।

वह दो प्रकार का होता है—शुद्ध और सङ्कीर्ण, यह बतलाते हैं—

एक या अनेक मध्यम पात्रो द्वारा प्रयुक्त विष्कम्भक शुद्ध कहलाता है और मध्यम तथा अधम पात्रो द्वारा मिलकर प्रयोजित विष्कम्भक सङ्कीर्ण कहलाता है ।

टिप्पणी (१) रूपक मे तीन प्रकार के पात्र माने जाते है—उत्तम—राजा इत्यादि, ये सस्कृत बोलते हैं । मध्यम—अमात्य, सेनापति, वणिक, पुरोहित आदि ये भी सस्कृत बोलते है । अधम—दास, चेटी इत्यादि जो प्राकृत भाषा बोलते है ।

(२) क—जिस इतिवृत्त को अङ्को मे नही दिखलाया जा सकता विष्कम्भक मे उसकी सूचना दी जाती है । (ख) विष्कम्भक का वर्ण्य अर्थ सक्षिप्त होता है, विस्तृत अर्थ को भी सक्षेप मे ही कहा जाता है । (ग) यह भूत तथा भविष्य के कथा-भाग को सूचित करके कथा-सूत्र को अविच्छिन्न बनाता है । (घ) इसका, अङ्क के आरम्भ मे प्रयोग किया जाता है, अर्थात् यह प्रथम अङ्क मे आमुख के पश्चात् रक्खा जा सकता है तथा अन्य अङ्को के आरम्भ मे भी । किन्तु कोहल का मत है

अथ प्रवेशक —

(११८) तद्वदेवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजित ॥६०॥
प्रवशोऽङ्कद्वयस्यान्त शेषार्थस्योपसूचक ।

तद्वदेवेति भूतभविष्यदर्थज्ञापकत्वमतिदिश्यते, अनुदात्तोक्त्या नीचेन नीचैर्वा पात्रै प्रयोजित इति विष्कम्भलक्षणापवाद, अङ्कद्वयस्यान्त इति प्रथमाङ्के प्रतिषेध इति ।

कि विष्कम्भक का प्रयोग केवल प्रथम अङ्क के आरम्भ मे ही होता है, अन्य अङ्को मे इसका प्रयोग होता ही नही । (ना०द०१ २०) । (ङ) एक मध्यम पात्र द्वारा या अनेक मध्यम पात्रो द्वारा अथवा मध्यम और नीच दोनो प्रकार के पात्रो द्वारा इसका प्रयोग किया जाता है । (च) मध्यम पात्र सस्कृत बोलते है तथा अधम पात्र प्राकृत (शोरसेनी)—विशेष द्र०, ना० द० १ २० । (३) जिस विष्कम्भक मे केवल मध्यम पात्र होते है वह शुद्ध कहलाता है, किन्तु जिसमे मध्यम तथा अधम दोनो प्रकार के पात्र होते है वह सकीर्ण ।

२ प्रवेशक—

उसी प्रकार (=भूत और भविष्य के कथाशो का सूचक) नीच पात्रो द्वारा अनुदात्त उक्तियो से प्रयुक्त, दो अङ्को के बीच मे स्थित तथा शेष (अप्रदर्शनीय) अर्थ का सूचक प्रवेशक (प्रवेश) कहलाता है ॥६०॥

तद्वद् एव (उसी प्रकार) इस (शब्द) के द्वारा भूत और भविष्यत् अर्थ की सूचना देने वाला बतलाया गया है, अनुदात्त उक्ति से एक नीच या अनेक नीच पात्रो द्वारा प्रयुक्त—यह कहकर विष्कम्भक के लक्षण से भेद किया गया है, दो अङ्को के बीच मे—यह कहकर प्रथम अङ्क मे (प्रवेशक का) निषेध किया गया है ।

टिप्पणी (१) अतिदिश्यते=अतिदेश किया जाता है, एक पदार्थ के धर्म का दूसरे पदार्थ से सम्बन्ध दिखलाना अतिदेश कहलाता है—अन्यधर्मस्यान्यत्राभिसम्बन्धोऽतिदेश । यहाँ विष्कम्भक के धर्म (भूत-भविष्यत् अर्थ की सूचकता) का प्रवेशक मे अतिदेश किया गया है । (२) प्रवेशक मे विष्कम्भक से समानता यह है—(क) अङ्को मे न दिखलाने योग्य इतिवृत्त का सूचक होना है । (ख) वर्ण्य अर्थ सक्षिप्त होता है । (ग) भूत तथा भविष्यत के कथा भाग को सूचित करके कथासूत्र को जोडता है । दोनो का अन्तर यह है —(क) विष्कम्भक मे विशेषकर मध्यम पात्रो का प्रयोग किया जाता है, कभी मध्यम के साथ अधम का भी । फलत (ख) विष्कम्भक मे मुख्यत सस्कृत भाषा का व्यवहार होता है । सङ्कीर्ण विष्कम्भक मे सस्कृत के साथ प्राकृत (शौरसेनी) का भी, दूसरी ओर प्रवेशक मे केवल अधम पात्रो का ही प्रयोग होता है और तदनुसार इसमे सस्कृत भाषा का व्यवहार नही होता केवल प्राकृत भाषा का व्यवहार होता है । प्राकृत भी निम्नकोटि की शकारी, आभीरी, चाण्डाली आदि (अनुदात्तोक्त्या इत्यादि) । (ग) विष्कम्भक की योजना प्रथम अङ्क के आरम्भ मे तथा अन्य अङ्को के आरम्भ मे भी हो सकती है, किन्तु प्रवेशक सदा दो अङ्को के बीच मे ही आता है वह कभी प्रथम अङ्क के आरम्भ मे नही आ सकता (अङ्कद्वयस्यान्त) ।

अथ चूलिका

(११९) अन्तर्जवनिकासस्थैश्चूलिकार्थस्य सूचना ।।६१।।

नेपथ्यपात्रेणाथसूचन चूलिका, यथोत्तरचरिते द्वितीयाङ्कस्यादौ—'(नेपथ्ये) स्वागत तपोधनाया (तत प्रविशति तपोवना)' इति नेपथ्यपात्रेण वासन्तिकयाऽऽत्रेयीसूचनाच्चूलिका ।

यथा वा वीरचरिते चतुर्थाङ्कस्यादौ—'(नेपथ्ये) भो भो वैमानिका, प्रवर्त्यन्ता प्रवर्त्यन्ता मङ्गलानि—

कृशाश्वान्तेवासी जयति भगवान्कौशिकमुनि
सहस्राशोर्वंशे जगति विजयि क्षत्त्रमधुना ।
विनेता क्षत्त्रारेर्जगदभयदानव्रतधर
शरण्यो लोकाना दिनकरकुलेन्दुर्विजयते ।।६१।।

इत्यत्र नेपथ्यपात्रैर्देवै 'रामेण परशुरामो जित' इति सूचनाच्चूलिका । अथाङ्कास्यम्—

(१२०) अङ्कान्तपात्रैरङ्कास्य छिन्नाङ्कस्यार्थसूचनात् ।

---

३ चूलिका

जवनिका के भीतर स्थित पात्रो के द्वारा किसी अर्थ (बात) की सूचना देना चूलिका कहलाता है ।।६१।।

नेपथ्य में स्थित पात्र के द्वारा अर्थ की सूचना चूलिका है, जसे उत्तररामचरित नाटक के द्वितीय अङ्क के आरम्भ मे—'(नेपथ्य में) तपस्विनी का स्वागत हो (तब तपस्विनी आत्रेयी प्रवेश करती है) । यहाँ पर नेपथ्य-पात्र वासन्ती के द्वारा आत्रेयी (के गाने) की सूचना दी गई है अत यहाँ चूलिका (नामक अर्थोपक्षेपक) है ।

अथवा जैसे महावीरचरित नाटक के चतुथ अङ्क के आरम्भ में—'(नेपथ्य में) हे विमान से चलने वालो (देवो), मङ्गलो का आरम्भ करो, आरम्भ करो—(४१) कृशाश्व के शिष्य भगव न् कौशिक मुनि (विश्वामित्र) की जय हो रही है । इस समय ससार में सहस्ररश्मि (सूय) के वश में क्षत्र (क्षत्रिय जाति या क्षात्र धर्म) विजयी हो रहा है । क्षत्रियो के शत्रुओ का दमन करने वाले (विनेता), ससार को अभयदान करने के व्रत के धनी, लोगो को शरण देने वाले सूयवश के चन्द्रमा (राम) विजयी हो रहे हैं ।

यहाँ पर नेपथ्य-पात्र देवो के द्वारा 'राम ने परशुराम को जीत लिया' यह सूचना दी गई है अत चूलिका (नामक अर्थोपक्षेपक) है ।

४ अङ्कास्य

अङ्क के अन्त मे आने वाले पात्रो के द्वारा (पूर्व अङ्क से) असम्बद्ध (=विच्छिन्न) अग्रिम अङ्क के अर्थ की सूचना देने के कारण यह अङ्कास्य कहलाता है ।

अङ्कान्त एव पात्रमङ्कान्तपात्र तेन विश्लिष्टस्योत्तराङ्कमुखस्य सूचन तद्वशेनोत्तराङ्कावतारोऽङ्कास्यमिति, यथा वीरचरिते द्वितीयाङ्कान्ते—'(प्रविश्य) सुमन्त्र—भगवन्तौ वसिष्ठविश्वामित्रौ भवत सभागवानाह्वयत । इतरे क्व भगवन्तौ ? सुमन्त्र-महाराजदशरथस्यान्तिके । इतरे—तदनुरोधात्तत्रैव गच्छाम, इत्यङ्कसमाप्तौ '(तत प्रविशन्त्युपविष्टा वसिष्ठविश्वामित्रपरशुरामा)' इत्यत्र पूर्वाङ्कान्त एव प्रविष्टेन सुमन्त्रपात्रेण शतानन्दजनककथाथविच्छेदे उत्तराङ्कमुखसूचनादङ्कास्यमिति ।

अङ्क के अन्त मे आने वाला पात्र अङ्कपात्र है । उसके द्वारा (तेन) (पूर्व अङ्क से) असम्बद्ध अग्रिम अङ्क के आरम्भिक अर्थ (मुख) की सूचना, उस (सूचना) का आश्रय लेकर जहाँ अग्रिम अङ्क का आरम्भ होता है वह अङ्कास्य कहलाता है । जैसे महावीर चरित नाटक मे द्वितीय अङ्क के अन्त मे (प्रविष्ट होकर) सुमन्त्र—आदरणीय वसिष्ठ और विश्वामित्र आप सबको परशुराम सहित बुला रहे हैं । दूसरे—वे कहाँ है ? सुमन्त्र महाराज दशरथ के पास । दूसरे—उनके अनुरोध से वहीं चलते है ।'

इस प्रकार अङ्क की समाप्ति हो जाने पर (तब बैठे हुए वसिष्ठ, विश्वामित्र, और परशुराम प्रवेश करते हैं) ।

यहाँ पर पूर्व (द्वितीय) अङ्क के अन्त मे ही प्रविष्ट होने वाले सुमन्त्र नामक पात्र के द्वारा शतानन्द और जनक की कथा के समाप्त हो जाने पर अग्रिम (तृतीय) अङ्क के प्रारम्भिक अर्थ (वसिष्ठ और विश्वामित्र आदि का सवाद) की सूचना दी गई है, अत यह अङ्कास्य है ।

टिप्पणी—ना० शा० (१६ ११६) मे इसे 'अङ्कमुख' कहा गया है तथा इसे अङ्कावतार के पश्चात् रक्खा गया है । भरत के अनुसार अङ्कमुख का लक्षण है—

विश्लिष्टमुखमङ्कस्य स्त्रिया पुरुषेण वा ।
यदुपक्षिप्यते पूर्वं तदङ्कमुखमुच्यते ॥

अर्थात् जहाँ किसी स्त्री या पुरुष पात्र के द्वारा पूर्व अङ्क मे दूसरे अङ्क की विच्छिन्न प्रारम्भिक कथा (मुख) की सूचना दी जाती है वहाँ अङ्कमुख होता है । दशरूपक मे इसका ही अनुसरण किया गया है । ना० द० (१.२२) तथा प्रता० (३ २१) मे भी इसी प्रकार का लक्षण है । ना० द० के अनुसार अङ्कास्य तथा अङ्कमुख एक ही है । भा० प्र० (पृ० २१७–२१८) का लक्षण भी इसके समान ही है। किन्तु वहाँ अङ्कास्य के साथ-साथ अङ्कमुख का पृथक्श वर्णन किया गया है । साहित्यदर्पण का मार्ग भिन्न है । यहाँ पञ्चम अर्थोपक्षेपक 'अङ्कमुख' माना गया है, जिसका लक्षण है—जहाँ एक अङ्क मे अन्य अङ्को की कथा की सूचना दी जाती है और जो बीजार्थ का प्रकट करने वाला होता है । (६.५६–६०) । साहित्यदर्पणकार ने दशरूपक का अङ्कास्य का लक्षण तथा उदाहरण भी दिखलाया है किन्तु वहाँ यह भी उल्लेख कर दिया है कि अन्य नाट्याचार्यों के अनुसार दशरूपक का 'अङ्कास्य' तो अङ्कावतार के अन्तर्गत ही आ जाता है । भावप्रकाशन तथा साहित्यदर्पण के अनुशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि इनसे पूर्व अङ्कास्य और अङ्कमुख दोनो का पृथक् पृथक् लक्षण माना जाने लगा होगा ।

अथाङ्कावतार —

(१२१) अङ्कावतारस्त्वङ्कान्ते पातोऽङ्कस्याविभागत ॥६२॥

यत्र प्रविष्टपात्रेण सूचितमेव पूर्वाङ्काविच्छिन्नार्थतयैवाङ्कान्तरमापतति प्रवेशक-विष्कम्भकादिशून्य सोऽङ्कावतार, यथा मालविकाग्निमित्रे प्रथमाङ्कान्ते 'विदूषक — तेण हि दुवेवि देवीए पेक्खागेह गदुअ सङ्गीदोवअरण करिअ तत्थभवदो दूद विसज्जेथ अथवा मुदङ्गसद्दो ज्जेव ण उत्थावयिस्सदि।' (तेन हि द्वावपि देव्या प्रेक्षागेह गत्वा सङ्गीतकोपकरण कृत्वा तत्रभवतो दूत विसजयतम्, अथवा मृदङ्गशब्द एवैनमुत्थापयिष्यति।') इत्युपक्रमे मृदङ्गशब्दश्रवणादनन्तर सर्वाण्येत्र पात्राणि प्रथमाङ्कप्रक्रान्त-पात्रसक्रान्तिदर्शन द्वितीयाङ्कादावारभन्त इति प्रथमाङ्कार्थाविच्छेदेनैव द्वितीयाङ्कस्या-वतरणादङ्कावतार इति।

---

५ अङ्कावतार

जहाँ (पूर्व) अङ्क का अन्त हो जाने पर (अग्रिम) अङ्क का अभिन्न (अविच्छिन्न) रूप से अवतरण हो जाता है वह अङ्कावतार कहलाता है।

जहाँ पहिले अङ्क मे प्रविष्ट पात्र के द्वारा सूचित किया गया, पहिले अङ्क की कथा का विच्छेद किये विना ही अन्य अङ्क अवतरित हो जाता है तथा प्रवेशक विष्कम्भ आदि का प्रयोग नही होता वह अङ्कावतार है। जैसे मालविकाग्निमित्र के प्रथम अङ्क के अन्त मे 'विदूषक—तो आप दोनो देवी के प्रेक्षागृह मे जाकर सङ्गीत की सामग्री एकत्र करके उनके पास दूत भेज दीजिये अथवा मृदङ्ग का शब्द ही उन्हे उठा देगा'।

इस प्रकार का उपक्रम होने पर मृदङ्ग का शब्द सुनने के पश्चात् सभी पात्र द्वितीय अङ्क के आरम्भ मे प्रथम अङ्क मे प्रविष्ट पात्रो (हरदत्त और गणदास) के शिष्य शिक्षा-क्रम (सक्रान्ति) का अवलोकन आरम्भ कर देते हैं। इस प्रकार यहाँ प्रथम अङ्क की कथा का विच्छेद किये बिना ही द्वितीय अङ्क अवतरित होता है अत अङ्कावतार (नामक अर्थोपक्षेपक) है।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१६ ११५) के अनुसार अङ्कावतार का लक्षण है—जहाँ प्रयोग का आश्रय लेकर पूर्व अङ्क के अन्त मे ही अग्रिम अङ्क अवतरित हो जाता है, वह बीजार्थ की उक्ति से युक्त अङ्कावतार कहलाता है। ना० द० (१ २३) के अनुसार इसका लक्षण है—'सोऽङ्कावतारो यत् पात्रैरङ्कान्तरमसूचनम्' अर्थात् जो पूर्व अङ्क के पात्रो के द्वारा (विष्कम्भक आदि के माध्यम से अन्य पात्रो के आगमन की) सूचना दिये बिना ही दूसरे अङ्क का आरम्भ कर दिया जाता है वह अङ्कावतार कहलाता है। यह लक्षण तथा उदाहरण दशरूपक के समान ही है। सा० द० (६ ५८) तथा प्रता० (३ २५) मे भी इसी प्रकार का लक्षण है किन्तु वहाँ यह कुछ अधिक स्पष्ट हो गया है। सक्षेप मे जहाँ (क) पूर्व अङ्क मे

(१२२) नाट्यधर्ममपेक्ष्यैतत्पुनर्वस्तु त्रिधेष्यते ।।६३।।

केन प्रकारेण त्रैध तदाह—

(१२३) सर्वेषा नियतस्यैव श्राव्यमश्राव्यमेव च ।

तत्र—

(१२४) सर्वश्राव्य प्रकाश स्यादश्राव्य स्वगत मतम् ।।६४।।

सर्वश्राव्य यद्वस्तु तत्प्रकाशमित्युच्यते । यत्तु सवस्याश्राव्य तत्स्वगतमिति-शब्दाभिधेयम् ।

नियतश्राव्यमाह—

नाटचधर्म की दृष्टि से भी वस्तु तीन प्रकार की मानी जाती है ।।६३।।

टिप्पणी—नाट्यधर्म=अभिनय के नियम, नाट्यशास्त्रमर्यादा (प्रभा)। सा० द० (६ १३७) मे नाट्यधर्म के स्थान पर नाट्योक्ति शब्द का प्रयोग किया है। वस्तुत ऐसा प्रतीत होता है—अवस्थानुकृति ही नाट्य है। इसमे लोकवृत्त का अनुकरण किया जाता हे। लोक म सभी बाते एक रूप से नही कही जाती। कोई बात सबके सामने कही जाती है (सर्वश्राव्य), कोई किसी से छिपाई जाती है तथा दूसरे पर प्रकट की जाती है (नियतश्राव्य)। कोई बात सभी से छिपाकर मन ही मन कही जाती हे (अश्राव्य)। इनमे नियतश्राव्य किसी से गोपनीय होता है सभी से नही, अश्राव्य तो सवथा गोपनीय हाता है। किन्तु नाट्य मे इनकी गोपनीयता केवल अभिनय करने वाले पात्रो की अपेक्षा से होती है। सामाजिको को तो ये सब बाते सुनानी होती हे। यदि सामाजिक इन बातो को न सुन सकेगा तो कथा-प्रवाह मे बाधा पडेगी और भली भाँति रसास्वादन न किया जा सकेगा। इस प्रकार लोकवृत्त का अनुकरण करने के लिये ही अभिनय मे इन विविध उक्तियो का प्रयोग किया जाता है। ये नाट्य के धम (=स्वभाव) है। इनके प्रयोग से नाट्य मे स्वाभाविकता रहती है।

तीन भेद किस प्रकार हैं, यह बतलाते है—

१ सबके ही सुनने योग्य (सर्वश्राव्य), २ नियत जनो के ही सुनने योग्य (नियतश्राव्य) तथा ३ किसी के भी न सुनने योग्य (अश्राव्य)।

उनमे—

१ प्रकाश, २ स्वगत—

सबके सुनने योग्य वस्तु 'प्रकाश' तथा किसी के भी न सुनने योग्य वस्तु 'स्वगत' कहलाती है ।।६४।।

जो सर्वश्राव्य वस्तु है वह 'प्रकाश' (प्रकट रूप से) इस नाम से कही जाती है किन्तु जो सबके लिये ही अश्राव्य होती है वह 'स्वगत' इस शब्द से कही जाती है।

नियतश्राव्य को बतलाया है—

(१२५) द्विधाऽन्यन्नाटचधर्माख्य जनान्तमपवारितम् ।
अन्यत्तु नियतश्राव्य द्विप्रकार जनान्तिकापवारितभेदेन ।
तत्र जनान्तिकमाह—

(१२६) त्रिपताकाकरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम् ॥६५॥
अन्योन्यामन्त्रण यत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम् ।

यस्य न श्राव्य तस्यान्तर ऊर्ध्वसर्वाङ्गुल वक्रानामिकत्रिपताकालक्षण कर कृत्वाऽन्येन सह यन्मन्त्र्यते तज्जनान्तिकमिति ।

अन्य नाटचधर्म (नियतश्राव्य) दो प्रकार का है–जनान्त (जनान्तिक) और अपवारित ।

अन्यत् (दूसरा)=नियतश्राव्य तो जनान्तिक और अपवारित के भेद से दो प्रकार का होता है ।

३ जनान्तिक—

उनमें से जनान्तिक को बतलाते है —

वार्तालाप के सन्दर्भ मे (अन्तरा) जो त्रिपताका–रूप हाथ (की मुद्रा) के द्वारा अन्यो को बचाकर (अपवार्य) । बहुत से जनो के मध्य मे दो पात्र आपस मे बात-चीत करते है,वह जनान्तिक है ॥६५॥

जिस (पात्र) को सुनाना नही है उसके बीच में हाथ की सारी अङ्गुलियाँ ऊ ची हो, किन्तु अनामिका वक्र हो इस प्रकार त्रिपताका-रूप में हाथ को करके जब कोई पात्र दूसरे के साथ मन्त्रणा करता है वह (सवाद) जनान्तिक कहलाता है ।

टिप्पणी—(१) दशरूपक मे 'जनान्तम्' (जनो के मध्य मे) तथा 'जनान्तिकम्' (जनो के निकट) दोनो शब्दो का प्रयोग किया गया है । धनञ्जय के अनुसार जनान्तिक नामक सवाद की ये विशेषताये है—(क) कोई कथाप्रसङ्ग चलता रहता है उसके सन्दर्भ मे यह दूसरे प्रकार का सवाद होता है (अन्तरा कथाम्) । (ख) बहुत से जनो के मध्य मे (जनान्ते) अन्यो को बचाकर दो पात्र परस्पर मन्त्रणा करते है । अत यह अन्यो से गोपनीय सवाद होता है । (ग) अन्य जनो को त्रिपताकाकर से बचा दिया जाता हे । जब हाथ की तीन अगुलियाँ ऊपर उठी होती है केवल अनामिका अगूठे से दबाकर नीचे झुका ली जाती है तो त्रिपताकाकर कहलाता है । यह हाथ की एक मुद्रा हे । (२)सा०द०(६ १३९) मे दशरूपक का लक्षण ही अपनाया गया है । ना० द० वृत्ति (१ ९३) के अनुसार तो जनान्तिक वह सवाद है, जहाँ कोई पात्र त्रिपताकाकर से किसी एक पात्र को बचाकर अन्य बहुसख्यक जनो से बात करता है । इस प्रकार यह सवाद एक से तो गोपनीय होता है किन्तु बहुतो के लिये श्राव्य होता है । जनान्तिक शब्द की व्युत्पत्ति ही है 'बहूना (जनाना) आन्तिक श्राव्यतया निकट जनान्तिकम् ।

अथापवारितम्—

(१२७) रहस्य कथ्यतेऽन्यस्य परावृत्यापवारितम् ॥६६॥

परावृत्त्यान्यस्य रहस्यकथनमपवारितमिति ।

नाट्यधर्मप्रसङ्गादाकाशभाषितमाह—

(१२८) किं ब्रवीष्येवमित्यादि विना पात्रं ब्रवीति यत् ।
श्रुत्वेवानुक्तमप्येकस्तत्स्यादाकाशभाषितम् ॥६७॥

---

४ अपवारित—

अब अपवारित को बतलाते है—

जहाँ (किसी पात्र के द्वारा) मुह फेरकर (परावृत्य) दूसरे (व्यक्ति) से गुप्त बात (रहस्य) कही जाती है, वह अपवारित (सवाद) कहलाता है ॥६६॥

मुह फेर कर (घूमकर) दूसरे से गुप्त बात कहना ही अपवारित है ।

टिप्पणी—(१) श्लोक तथा वृत्ति मे जो 'अन्यस्य' शब्द है, वह 'अन्यस्मै' के अर्थ मे है । ना० द० (१ १२) मे भी यही लक्षण है–'परावृत्य रहस्याख्याऽन्यस्मै तदपवारितम् । नाटको के सन्दभ से भी यही विदित होता है (द्र०, रत्नावली २ १६–२०) अत 'रहस्यम् अन्यस्य कथ्यते=रहस्य अन्य से कहा जाता है । (२) दशरूपक के अनुसार जनान्तिक और अपवारित दोनो गोपनीय कथन होते है । दोनो का भेद यह है—(क) जनान्तिक मे त्रिपताकाकर से अन्य जनो को बचाया जाता है किन्तु अपवारित मे मुँह फेरकर (=मुडकर या घूमकर) अन्यो से बचा जाता है, (ख) जनान्तिक मे जनो के मध्य मे ही कथा-सन्दभ की बात कही जाती है किन्तु अपवारित मे एक ओर मुडकर रहस्य का कथन किया जाता है। सा० द० (६ १३८) मे अपवारित का लक्षण दशरूपक के समान ही है (३) ना० द० (१ १०) के अनुसार "मुँह मोडकर किसी दूसरे से रहस्य का कथन करना अपवारित हैं, यह बहुतो से छिपाकर एक पर प्रकट किया जाता है ।" इस प्रकार जनान्तिक से इसका यह भी अन्तर है—जनान्तिक तो एक जन से गोपनीय होता है और बहुत जनो के लिये श्राव्य होता है। इसके विपरीत अपवारित बहुत जनो से गोपनीय होता है और एक व्यक्ति के प्रति ही श्राव्य होता है । (इह यद् वृत्तमेकस्यैव गोप्यं बहूनामगोप्य तज् जनान्तिकम् । तद्विपरीतमपवारितम्—ना० द० (१ ११) ।

५ आकाशभाषित—

नाट्यधर्म के प्रसङ्ग से आकाशभाषित को बतलाते है—

जहाँ कोई अकेला पात्र (एक) दूसरे पात्र के बिना तथा किसी के विना कहे भी मानो सुनकर ही 'क्या कहते हो ?' इस प्रकार कथोपकथन करता है (ब्रवीति) वह आकाशभाषित है ।

स्पष्टार्थ ।

अन्यान्यपि नाट्यधर्माणि प्रथमकल्पादीनि कैश्चिदुदाहृतानि तेषामभारतीयत्वान्नाममालाप्रसिद्धाना केषाचिद्देशभाषात्मकत्वान्नाट्यधमत्वाभावाल्लक्षण नोक्तमित्युपसहरति —

(१२९ इत्याद्यशेषमिह वस्तुविभेदजात रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथा च ।
आसूत्रयेत्तदनु नेतृरसानुगुण्याच्चित्रा कथामुचितचारुवच प्रपञ्चै ॥६८॥

इति धनञ्जयकृतदशरूपकस्य प्रथम प्रकाश समाप्त ।

इसका अर्थ स्पष्ट है ।

कुछ (विद्वानो) ने अन्य प्रथमकल्प इत्यादि नाट्यधर्मों का भी वर्णन किया है, किन्तु वे (प्रथमकल्प आदि) (१) भरत के अनुसार नही है (अभारतीय, भरतस्येद भारतीयम्) (२) वे केवल नामावली मे ही प्रसिद्ध है (उनके लक्षण आदि नहीं कहे गये), उनमे से कुछ देशभाषा रूप मे ही है । अत वे नाट्यधर्म नही है । इसी से उनका लक्षण यहाँ नही दिया गया ।

टिप्पणी - (१) सा० द० (६ १३८) मे आकाशभाषित का लक्षण दशरूपक के समान ही हे किन्तु ना० द० (१ ११) के अनुसार 'दूसरे पात्र के बिना स्वय ही प्रश्न तथा उत्तर का कथन आकाशोक्ति कहलाता है ।' इसमे कोई पात्र कभी तो किसी प्रश्नकर्ता के बिना ही प्रश्न की कल्पना करके स्वय उत्तर देने लगता है और कभी स्वय प्रश्न करके किसी उत्तरदाता के बिना ही उत्तर की कल्पना कर लेता है । (२) **कैश्चिदुदाहृतानि** - यहाँ धनिक ने किन्ही पूववर्ती नाट्याचार्यो के मत का उल्लेख किया हे । ये आचार्य कौन से थे ? यह अन्वेषण का विषय है । (३) **देशभाषात्मकत्वात्** = देशभाषा रूप मे होने के कारण, भाव यह है कि उन आचार्यो ने जो नाट्यधर्म कहे है, उनमे से कुछ ऐसे है जो वस्तुत नाट्य के नियम नही है अपितु किन्ही पात्रो द्वारा किये गये लोकभाषा (Dialect) के प्रयोग मात्र है । किन्ही बोलियो मे उस प्रकार की उक्तियाँ प्रचलित थी उनका कही अभिनय मे प्रयोग देखकर उन आचार्यों ने उस प्रकार की उक्तियो को नाट्यधर्मों मे गिन लिया होगा ।

अब वस्तु का उपसहार करते हैं—

इस प्रकार (कवि) वस्तु के समस्त भेदो का तथा रामायण आदि एव बृहत्कथा का अनुशीलन करके तब (तदनु) नेता और रस के अनुरूप उचित और चारु उक्तियो के द्वारा विचित्र (विलक्षण) कथा को ग्रथित करे ॥६८॥

इस प्रकार धनञ्जयकृत दशरूपक का प्रथम प्रकाश समाप्त हुआ ।

वस्तुविभेदजातम्—वस्तु=वर्णनीय तस्य विभेदजात नाम भेदा । रामायणादि बृहत्कथा च गुणाढ्यनिर्मिता विभाव्य आलोच्य । तदनु=एतदुत्तरम् । नेत्रिति—नेता वक्ष्यमाणलक्षण, रसाश्च तेषमानुगुण्याच्चित्राम्=चित्ररूपा कथाम्=आख्यायिकाम् । चारूणि यानि वचासि तेषा प्रपञ्चैर्विस्तरैरासूत्रयेदनुग्रथयेत् । तत्र बृहत्कथामूल मुद्राराक्षसम्—

चाणक्यनाम्ना तेनाथ शकटालगृहे रह । कृत्या विधाय सहसा सपुत्रो निहतो नृप ॥
योगानन्दयश शेषे पूवनन्दसुतस्तत । चन्द्रगुप्त कृतो राजा चाणक्येन महौजसा ॥६२॥

इति बृहत्कथाया सूचितम्, श्रीरामायणोक्त रामकथादि ज्ञेयम् ।

॥इति श्रीविष्णुसूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके प्रथम प्रकाश समाप्त ॥



वस्तुविभेदजातम्—वस्तु का अर्थ है वर्णनीय उसका भेदसमूह अर्थात् अनेक भेद। रामायण आदि तथा गुणाढ्य द्वारा रचित बृहत्कथा का अनुशीलन करके (आलोच्य=विभाव्य) । तदनु=इसके पश्चात्, (नेतृ इत्यादि का अर्थ है)-- नायक, जिसका लक्षण आगे बतलाया जायेगा और रस, उनके अनुकूल, विविधरूप वाली (चित्ररूपाम्) कथा (=आख्यायिका) को, चारु उक्तियो के विस्तार (प्रपञ्च) द्वारा ग्रथित करे। जैसे मुद्राराक्षस (की कथा) का मूल बृहत्कथा है। बृहत्कथा में सकेत किया गया है —

"चाणक्य नामक उस व्यक्ति ने शकटाल के घर में एकान्त में कृत्या (देवी विशेष, जो मारण-कर्म के लिये विशेष रूप से पूजी जाती है) को बनाकर पुत्रों सहित राजा को सहसा मार दिया। तब योगानन्द की कीर्तिमात्र शेष रह जाने पर (मर जाने पर) महान् ओजस्वी चाणक्य ने पूर्व नन्द के पुत्र चन्द्रगुप्त को राजा बनाया।"

रामकथा इत्यादि रामायण मे कही गई (वस्तु) जाननी चाहिये।

इति श्रीविष्णुपुत्र धनिक की रचना दशरूपकावलोक मे प्रथम प्रकाश पूर्ण हुआ।

टिप्पणी–इस प्रकार यहाँ विविध दृष्टिकोणो से वस्तु का विवेचन किया गया है– प्रथमत स्वरूप की दृष्टि से वस्तु दो प्रकार की है—१ आधिकारिक २ प्रासङ्गिक।

इन दोनो के प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र ये तीन भेद हे = २ × ३ = ६ ।

इन ६ भेदो के दिव्य, मर्त्य और दिव्यादिव्य भेद से = ६ × ३ = १८

फल (उद्देश्य), वस्तुयोजना तथा वस्तु-सघटन की दृष्टि से इतिवृत्त मे अर्थप्रकृति, कार्यावस्था तथा इन दोनो के समन्वित रूप सन्धियो का वर्णन किया गया है।

रस और अभिनेयता की दृष्टि से सूच्य तथा दृश्य दो भेद करके श्राव्य, अश्राव्य, नियतश्राव्य आदि नाट्योधर्मो (नाट्योक्ति, कथोपकथन) का उल्लेख किया गया है।

इस वस्तु विवेचन से यह स्पष्ट है कि यहाँ 'वस्तु' नामक तत्त्व के भीतर पाश्चात्य साहित्य समीक्षा शास्त्र के कथावस्तु, कथोपकथन, उद्देश्य तथा अभिनेयता (के कुछ अश) का समावेश किया जा सकता है। देश-काल (के कुछ अश का) प्रवृत्ति (द्वि० प्रकाश) मे समावेश हो जाता है। इसी प्रकार द्वितीय प्रकाश मे निरूपित 'नायक' तत्त्व मे पाश्चात्य समीक्षा पद्धति के 'चरित्र-चित्रण' का समावेश किया जा सकता है। पाश्चात्य 'शैली' तत्त्व के कुछ अश भारती आदि वृत्तियो मे तथा रस योजना (द्वि० तथा च० प्रकाश) मे अन्तर्भूत हो सकते है। यहाँ पृथक्श शैली तथा चरित्र चित्रण पर विचार नही किया गया, यहाँ तो रूपको को रसाश्रित कहा गया है। अभिनेयता को भी यहाँ पृथक् तत्त्व नही माना गया। रूपक तो अभिनेय होते ही है। इस प्रकार नाटक (रूपक) के तत्त्वो के विषय मे पाश्चात्य साहित्य समीक्षा और सस्कृत साहित्य शास्त्र के दृष्टिकोण मे यत्किञ्चित् समानता होते हुए भी पर्याप्त अन्तर है।

इति प्रथम प्रकाश

अथ द्वितीयः प्रकाशः

रूपकाणामन्योन्य भेदसिद्धये वस्तुभेद प्रतिपाद्येदानी नायकभेद प्रतिपाद्यते—

(१) नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्ष प्रियवद ।
रक्तलोक शुचिर्वाग्मी रूढवश स्थिरो युवा ॥१॥
बुद्धयत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वित ।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिक ॥२॥

नेता नायको विनयादिगुणसम्पन्नो भवतीति ।

वस्तु, नेता (नायक) और रस को रूपको (नाटक, प्रकरण आदि) का भेदक तत्त्व कहा गया है (ऊपर सूत्र १६)। इनमे से वस्तु के भेद-प्रभेदो का प्रथम प्रकाश मे निवेचन किया जा चुका है । यहाँ द्वितीय प्रकाश मे नायक के स्वरूप, भेद-प्रभेदो तथा भारती इत्यादि वृत्तियो एव प्रवृत्तियो का वर्णन किया जा रहा है ।

रूपको का एक दूसरे से भेद सिद्ध करने के लिये (प्रथम प्रकाश मे) वस्तुभेद का प्रतिपादन करके अब (यहाँ) नायक भेदो का प्रतिपादन किया जा रहा है—

नायक के गुण

नायक विनीत, मधुर, त्यागी, चतुर, प्रिय बोलने वाला, लोकप्रिय (रक्तो लोको यस्मिन् तथाभूत) पवित्र, वाक्पटु, प्रसिद्ध वश वाला, स्थिर, युवक, बुद्धि-उत्साह-स्मृति-प्रज्ञा कला तथा मान से युक्त, शूर, दृढ, तेजस्वी शास्त्रो का ज्ञाता और धार्मिक होता है ॥१-२॥

नेता=नायक, वह विनय आदि गुणो से युक्त होता है ।

टिप्पणी—(१) नाट्यशास्त्र (२४ १) मे स्त्री तथा पुरुषो की प्रकृति तीन प्रकार की बतलाई गई है उत्तम, मध्यम तथा अधम । फिर मध्यम तथा उत्तम प्रकृति के नायको के चार प्रकार बतलाये गये हैं—धीरोद्धत, धीरललित, धीरोदात्त और धीरप्रशान्त (२४ १६–१७) । इसी प्रकार भा० प्र० (पृ० ९२), ना० द० (१ ५-९) तथा सा० द० (३ ३०-३१), प्रता० (१.२७–२८) मे नायक के गुण तथा भेदो का निरूपण है । नायक-भेद के लिये विशेष द्रष्टव्य (ना० शा० अ० २४, ना० द० चतुर्थ विवेक०, सा० द० तृतीय, परिच्छेद तथा प्रता० नायक-प्रकरण)। (२) रूपक के नायक (नेता) तत्त्व मे प्राय नायक, नायिका तथा उनके सहायक आदि सभी पात्रो का ग्रहण किया जाता है । किन्तु यहाँ नेता (नायक) शब्द प्रधान कथा नायक के लिये प्रयुक्त हुआ है । प्रथमत उसी के गुणो तथा प्रकारो का वर्णन किया जा रहा है ।

कारिका मे निर्दिष्ट गुणो का क्रमश उदाहरणसहित विवेचन इस प्रकार है—

तत्र विनीतो यथा वीरचरिते—

'यद्ब्रह्मवादिभिरुपासितवन्द्यपादे विद्यातपोव्रतनिधौ तपतां वरिष्ठे।
दैवात्कृतस्त्वयि मया विनयापचारस्तत्र प्रसीद भगवन्नयमञ्जलिस्ते ॥६३॥

मधुर = प्रियदर्शन । यथा तत्रैव—

राम राम नयनाभिरामतामाशयस्य सदृशीं समुद्वहन्।
अप्रतर्क्यगुणरामणीयक सर्वथैव हृदयङ्गमोऽसि मे ॥६४॥

त्यागी = सर्वस्वदायक । यथा—

'त्वचं कर्णः शिविर्मांसं जीवं जीमूतवाहनः ।
ददौ दधीचिरस्थीनि नास्त्यदेयं महात्मनाम् ॥'६५॥

दक्ष = क्षिप्रकारी । यथा वीरचरिते—

स्फूर्जद्वज्रसहस्रनिर्मितमिव प्रादुर्भवत्यग्रतो
रामस्य त्रिपुरान्तकृद्दिविषदां तेजोभिरिद्धं धनुः ।
शुण्डारः कलभेन यद्वदचले वत्सेन दोर्दण्डक-
स्तस्मिन्नाहित एव गर्जितगुणं कृष्टं च भग्नं च तत् ॥६६॥

---

१ उनमे विनम्र इस प्रकार का होता है। जैसा महावीरचरित (४ - १) मे है—(रामचन्द्र जी परशुराम से कहते है)—'ब्रह्मवादियो के द्वारा जिनके चरणो की उपासना और वन्दना की जाती है, जो विद्या, तप तथा व्रत के निधि है, तपस्वियो मे श्रेष्ठ है, उन (आप) के विषय मे (प्रति) मैने दैववश विनय का अतिक्रमण किया है । भगवान्, अब आप प्रसन्न हो जाइये, यह आपके लिये हाथ जोडकर प्रणाम (अञ्जलि) है।

[यहाँ रामचन्द्र जी की विनम्रता प्रकट हो रही है]

२ मधुर का अर्थ है—जो देखने मे प्रिय हो । जैसे वही (महावीरचरित २ ३७)—'हे राम, हे राम, हृदय के समान ही नयनाभिरामता को धारण करने वाले, अकल्पनीय गुणों से रमणीय आप सब प्रकार से मेरे हृदय मे स्थित हो।'

[यहाँ राम का माधुर्य प्रकट हो रहा है]

३ त्यागी का अर्थ है—अपना सब कुछ दान कर देने वाला। जैसे—(?) 'कर्ण ने त्वचा, शिवि ने मास, जीमूतवाहन ने जीवन और दधीचि ने हड्डियाँ दे दीं। महात्माओ के लिये कुछ भी अदेय नही है'।

[यहाँ कर्ण इत्यादि महापुरुषो का त्याग प्रकट हो रहा है]

४ दक्ष का अर्थ है—किसी कार्य को शीघ्रता से करने वाला। जैसे वीरचरित (१ ५३) मे—'(नेपथ्य मे)' दीप्तिमान् हजारो वज्रो से बना हुआ सा, त्रिपुर का अन्त करने वाला, देवताओ के तेज से प्रदीप्त शिव का धनुष राम के सामने प्रकट हो रहा है । जिस प्रकार हाथी का बच्चा (कलभ) पर्वत पर सूड को रख देता है, उसी प्रकार राजकुमार राम (वत्स) ने अपना भुजदण्ड उस (धनुष) पर रख दिया। गर्जना करती हुई प्रत्यञ्चा वाले उस धनुष को खींच लिया तथा तोड़ डाला'।

प्रियवद —प्रियभाषी । यथा तत्रैव—

'उत्पत्तिर्जमदग्नित स भगवान्देव पिनाकी गुरु-
वीर्यं यत्तु न तद्गिरा पथि ननु व्यक्त हि तत्कर्मभि ।
त्याग सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधि
सत्यब्रह्मतपोनिधेर्भगवत कि वा न लोकोत्तरम् ॥६७॥

रक्तलोक । यथा तत्रैव—

'त्रय्यास्त्राता यस्तवाय तनूज—
स्तेनाद्यैव स्वामिनस्ते प्रसादात् ।
राजन्वन्तो रामभद्रेण राज्ञा
लब्धक्षेमा पूर्णकामाश्चराम ॥६८॥'

एव शौचादिष्वप्युदाहार्यम् । तत्र शौच नाम मनोनैर्मल्यादिना कामाद्यनभिभूतत्वम् । यथा रघौ—

'का त्व शुभे कस्य परिग्रहो वा किं वा मदभ्यागमकारण ते ।
आचक्ष्व मत्वा वशिना रघूणा मन परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति ॥६९॥

[यहॉ राम की क्षिप्रकारिता प्रकट हो रही है]

५ प्रियवद का अर्थ है—प्रिय बोलने वाला । जैसे वहीं (वीरचरित २ ३६ मे ही)—(रामचन्द्र जी परशुराम से कहते हैं) 'आपका जन्म जमदग्नि से हुआ, वह भगवान् पिनाकधारी (शिव) आपके गुरु है, आपका जो पराक्रम है वह वाणी का विषय नहीं हो सकता, वह तो आपके कर्मो से ही व्यक्त हो रहा है, सप्त सागरो से वेष्टित पृथिवी का निरपेक्षभाव से दान कर देना ही आपका त्याग है, क्षात्रतेज ब्रह्मतेज और तपस्या के निधान आपकी क्या बात लोकोत्तर नहीं है' ।

[यहॉ रामचन्द्र जी की प्रियवादिता प्रकट हो रही है]

६ रक्तलोक (=लोकप्रिय) । जैसे वहीं (वीरचरित ४ ४४ में ही)—(अयोध्या की प्रजा दशरथ से कह रही हैं) 'जो आपका यह पुत्र तीनो वेदों का रक्षक है, आप प्रभु की कृपा से, उस रामभद्र के आज ही राजा बनने से हम सब लोग श्रेष्ठ राजा से युक्त होकर, कुशलता प्राप्त कर, मनोरथो को पूर्ण कर विचरण करेंगे ।'

७ इसी प्रकार शौच इत्यादि (नायक-गुणो) का भी उदाहरण दिया जा सकता है । मन की निर्मलता आदि के द्वारा काम आदि (दोषो) से अभिभूत न होना शौच कहलाता है । जैसे रघुवश (१६ ८) में "हे शुभे तुम कौन हो ? किसकी पत्नी हो ? मेरे पास तुम्हारे आने का क्या कारण है ! सयमी रघुवशियो के मन की प्रवृत्ति पर-स्त्री से विमुख रहती है यह समझकर मुझे (सब) बतलाओ' ।

[यहाँ नायक के मन की ऐसी पवित्रता का उल्लेख किया गया है, जो पर-स्त्री आदि से अभिभूत नही होती]

वाग्मी । यथा हनुमन्नाटके—

'बाह्वोर्बल न विदित न च कार्मुकस्य
त्रैयम्बकस्य तनिमा तत एष दोष ।
तच्चापल परशुराम मम क्षमस्व
डिम्भस्य दुर्विलसितानि मुदे गुरूणाम् ॥७०॥

रूढवशो यथा—

ये चत्वारो दिनकरकुलक्षत्रसन्तानमल्ली-
मालाम्लानस्तबकमधुपा जज्ञिरे राजपुत्रा ।
रामस्तेषामचरमभवस्ताडकाकालरात्रि-
प्रत्यूषोऽय सुचरितकथाकन्दलीमूलकन्द ॥७१॥

स्थिरो वाङ्मन क्रियाभिरचञ्चल । यथा वीरचरिते—

'प्रायश्चित्त चरिष्यामि पूज्याना वो व्यतिक्रमात् ।
न त्वेव दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम् ॥७२॥

यथा वा भर्तृहरिशतके—

'प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचै
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्या ।

---

८ वाग्मी=वाक्कुशल । जैसे हनुमन्नाटक (१ ३८) में (रामचन्द्र परशुराम से कहते हैं)—'हे परशुराम, मैने अपनी भुजाओ के बल को नहीं समझा और न ही त्र्यम्बक (शिव) के धनुष की दुबलता को ही । इसीलिये यह (धनुष तोडने का) दोष हो गया है । मेरी इस चपलता को क्षमा कीजिये । बालक की दुश्चेष्टायें गुरुजनो के आनन्द के लिये होती हैं' ।

[यहाँ राम की वाग्मिता प्रकट होती है]

९ रूढवश वाला (उच्च कुल का) । जैसे (?) 'सूर्यवश के क्षत्रियो की सन्तान रूपी मल्लिका की माला के न मुरझाये हुए (अम्लान) गुच्छो के भ्रमरो के समान जो चार राजपुत्र उत्पन्न हुए, उनमे राम प्रथम हे (अचरमभव =अन्त मे उत्पन्न न होने वाला) जो ताडका रूपी कालरात्रि के लिये प्रभात हैं, सुचरित कथा रूपी कन्दली के मूलकन्द हैं' ।

[यहाँ राम की कुलीनता प्रकट हो रही है]

१० स्थिर का अर्थ है—वाणी, मन तथा कार्य से चञ्चल न होना । जैसे वीरचरित (३ ८) मे (परशुराम विश्वामित्र से कहते है)—'आप जैसे पूज्य जनो का अतिक्रमण करने के कारण मै प्रायश्चित कर लूँगा किन्तु शस्त्रग्रहण के महाव्रत को दूषित नहीं करूँगा ।

[यहाँ परशुराम की स्थिरता प्रकट हो रही है]

अथवा जैसे भर्तृहरिशतक (नीति० २६) मे (कवि कहता है)—'नीच जन विघ्नों के भय से किसी कार्य को आरम्भ नहीं करते, मध्य कोटि के लोग कार्य को आरम्भ करके विघ्नो के मारे रुक जाते है । किन्तु उत्तम विघ्नो से बार-बार प्रतिहत होकर

विघ्नै पुन पुनरपि प्रतिहन्यमाना
प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति* ॥७३॥

युवा प्रसिद्ध । बुद्धिर्ज्ञानम् । गृहीतविशेषकरी तु प्रज्ञा । यथा मालविकाग्निमित्रे—

'यद्यत्प्रयोगविषये भाविकमुपदिश्यते मया तस्यै ।
तत्तद्विशेषकरणात् प्रत्युपदिशतीव मे बाला ॥७४॥'

स्पष्टमन्यत् ।

नेतृविशेषानाह—

(२) भेदैश्चतुर्धा ललितशान्तोदात्तोद्धतैरयम् ।

यथोद्देश लक्षणमाह—

भी आरम्भ किये हुए कार्य को नहीं छोडते ।

[यहाँ उत्तमजनो की स्थिरता दिखलाई गई है]

११ 'युवा' का अर्थ स्पष्ट ही है । बुद्धि का अर्थ है—ज्ञान किसी वस्तु को जानना । किन्तु गृहीत (ज्ञान) मे विशेषता उत्पन्न करने वाली प्रज्ञा कहलाती है । जैसे मालविकाग्निमित्र (१ ५) मे गणदास मालविका के विषय मे कहता है मेरे द्वारा 'प्रयोग के विषय मे जिस जिस भाव का उपदेश दिया गया हे उसमे ही विशेषता उत्पन्न करने के कारण वह बाला (मालविका) मानो मुझे बदले ही मे उपदेश दे देती है' ।

अन्य (गुणो के उदाहरण आदि) स्पष्ट ही है ।

टिप्पणी—मि०, ना० शा० (२४ ३—४), सा० द (३ ३०), प्रता० (१ ११-२६) ।

नायक के प्रकार

नायक के प्रकार बतलाते है—

यह (नायक) ललित, शान्त, उदात्त और उद्धत भेद से चार प्रकार का होता है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२४ १७), भा० प्र० (पृ० ६२), ना० द० (१ ६), सा० द० (३ ३१), प्रता० (१ २७) आदि । (२) 'ललित' आदि चारो से पूव धीर शब्द जोडकर १ धीरललित, २ धीरप्रशान्त, ३ धीरोदात्त तथा ४ धीरोद्धत, ये चार प्रकार के नायक माने जाते हैं । (३) 'धीर' शब्द का अर्थ है—धैर्ययुक्त अर्थात् महान् सकट मे भी कातर न होन वाला (ना० द० १ ६) (Self-Controlled–Haas) । सा० द० (३ ५३) के अनुसार 'महान् विघ्न उपस्थित होने पर भी अपने निश्चय से विचलित न होना ही धैर्य है ।

नाम-निर्देश के क्रम से लक्षण बतलाते है—

१ धीरललित—

---

*'प्रारब्धमुत्तमगुणास्त्वमिहोद्वहन्ति' इति पाठान्तरम् ।

(३) निश्चिन्तो धीरललित कलासक्त सुखी मृदु ।।३।।

सचिवादिविहितयोगक्षेमत्वाच्चिन्तारहित अतएव गीतादिकलाविष्टो भोग-प्रवणश्च शृङ्गारप्रधानत्वाच्च सुकुमारसत्त्वाचारो मृदुरिति ललित ।

यथा रत्नावल्याम्—

'राज्य निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्त समस्तो भर
सम्यक्पालनलालिता प्रशमिताशेषोपसर्गा प्रजा ।
प्रद्योतस्य सुता वसन्तसमयस्त्व चेति नाम्ना धृति
काम काममुपैत्वय मम पुनर्मन्ये महानुत्सव ।।७५।।

अथ शान्त —

(४) सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिक ।

चिन्ता रहित, (गीत आदि) कलाओ का प्रेमी, सुखी और कोमल (स्वभाव तथा आचार वाला) नायक धीरललित कहलाता है ।

वह चिन्तारहित होता है, क्योकि उसके योग (अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति—अप्राप्तस्य प्राप्तिर्योग) तथा क्षेम (प्राप्त वस्तु की रक्षा—प्राप्तस्य परिरक्षण क्षेम) की सिद्धि अमात्य इत्यादि के द्वारा कर दी जाती है । चिन्तारहित होने के कारण (अतएव) वह गीत आदि कलाओ मे सलग्न रहता है और भोगो मे आसक्त रहता है । उसमे शृङ्गार (भाव) की प्रधानता होने के कारण वह कोमल स्वभाव (=सत्त्व=चित्त) तथा व्यवहार वाला होता है । इसी से उमे 'मृदु' कहा गया है । यही ललित नायक है ।

जैसे रत्नावली नाटिका (१ ६) मे (महाराज उदयन विदूषक से कह रहे हैं)—'ऐसा राज्य है जिसके शत्रुओ को जीत लिया गया है, योग्य मन्त्री पर समस्त भार रख दिया गया है, प्रजाएँ, जिनके समस्त उपद्रव शान्त कर दिये गये हैं ठीक प्रकार से पालन के द्वारा वृद्धि को प्राप्त हो रही है, प्रद्योत की पुत्री (वासवदत्ता), वसन्त का समय और तुम (मित्र) हो, इससे कामदेव (मदनोत्सव) नाम के कारण सन्तोष भले ही प्राप्त कर ले, किन्तु मै समझता हू कि यह मेरा ही महान् उत्सव है' ।

टिप्पणी—इस वर्णन से प्रकट होता है कि रत्नावली का नायक उदयन निश्चिन्तता इत्यादि धीरललित नायक के गुणो से युक्त है अत वह धीरललित नायक है । (२) भा० प्र० (पृ० ९२), ना० द० (१ ६), सा० द० (३ ३४), प्रता० (१ ३२) ।

२ धीरशान्त

सामान्य गुणो से युक्त द्विज आदि नायक तो धीर प्रशान्त कहलाता है ।

विनयादिनेतृसामान्यगुणयोगी धीरशान्तो द्विजादिक इति । विप्रवणिक्सचिवादीना प्रकरणनेतृणामुपलक्षण, विवक्षित चैतत्, तेन नैश्चिन्त्यादिगुणसभवेऽपि विप्रादीना शान्ततैव, न लालित्य । यथा मालतीमाधव-मृच्छकटिकादौ माधवचारुदत्तादि ।

'तत उदयगिरेरिवैक एव
स्फुरितगुणद्युतिसुन्दर कलावान् ।
इह जगति महोत्सवस्य हेतु-
र्नयनवतामुदियाय बालचन्द्र ॥७६॥

इत्यादि । यथा वा—

'मखशतपरिपूत गोत्रमुद्भासित यत्
सदसि निबिडचैत्यब्रह्मघोषै पुरस्तात् ।
मम निधनदशाया वर्तमानस्य पापै-
स्तदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायम्' ॥७७॥ (इत्यादि)

विनय इत्यादि जो नायक के सामान्य गुण (कहे गये) है उनसे युक्त द्विज आदि धीरशान्त होता है । द्विज इत्यादि यह कथन प्रकरण के नायक होने वाले ब्राह्मण, वणिक् और मन्त्री आदि का उपलक्षण है । और, यह कहना अभीष्ट ही है । इस प्रकार निश्चिन्तता आदि गुणो के होने पर भी (प्रकरण के नायक) विप्र इत्यादि मे शान्तता ही होती है, लालित्य नही । जैसे मालतीमाधव और मृच्छकटिक आदि में माधव एव चारुदत्त आदि धीर प्रशान्त नायक है ।

जैसे (कामन्दकी माधव का वर्णन करती हुई कहती है,—' प्रकट होने वाले गुणो की कान्ति से सुन्दर, कलाओ वाला (१ नृत्य आदि कलाओ में निपुण २ चन्द्रपक्ष में चन्द्रकलाओ से युक्त), इस ससार मे नेत्र वालो के महोत्सव का निमित्त यह (माधव) उस देवरात से (तत =तस्मात्) इसी प्रकार उत्पन्न हुआ जिस प्रकार उदयगिरि से बालचन्द्र उदित होता है" । इत्यादि ।

अथवा जैसे मृच्छकटिक (१० १२) में मखशत० इत्यादि (ऊपर उदा० ४०)

टिप्पणी—(१) प्रकरणनेतृणाम् उपलक्षणम्—यहाँ 'द्विजादिक' (ब्राह्मण इत्यादि) शब्द प्रकरण (नामक रूपक भेद) के नायको को सूचित करता है । आगे (३ ३९) जो प्रकरण के नायक कहे गये है—अमात्य, विप्र, वणिक् वे धीरप्रशान्त होते है (२) **विवक्षित चैतत्**—विप्र आदि धीरप्रशान्त होते है, यही अभीष्ट है । इस प्रकार यह नियम हो जाता है कि—विप्र इत्यादि धीर प्रशान्त ही होते है । यदि किसी विप्र आदि मे धीरललित के गुण (निश्चिन्तता इत्यादि) हो तो भी वह धीरप्रशान्त ही माना जायेगा । किन्तु यहाँ यह नियम नही होता कि विप्र आदि ही धीरप्रशान्त होते है । इसलिये अन्य क्षत्रिय (राजा) आदि भी धीरप्रशान्त हो सकते हैं जैसे बुद्ध धीरप्रशान्त नायक है ।

अथ धीरोदात्त—

(५) महासत्त्वोऽतिगम्भीर क्षमावानविकत्थन ॥४॥
स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रत ।

महासत्त्व =शोकक्रोधाद्यनभिभूतान्त सत्त्व, अविकत्थन =अनात्मश्लाघन, निगूढाहङ्कार=विनयच्छन्नावलेप, दृढव्रत =अङ्गीकृतनिर्वाहक, धीरोदात्त । यथा नागानन्दे—'जीमूतवाहन —

शिरामुखै स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मासमस्ति ।
तृप्ति न पश्यामि तवैव तावत् कि भक्षणात्त्व विरतो गरुत्मन् ॥७८॥

यथा च राम प्रति—

आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च ।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रम ॥७९॥

यच्च केषाचित्स्थैर्यादीना सामान्यगुणानामपि विशेषलक्षणे क्वचित्सकीतन तत्तेषा तत्राधिक्यप्रतिपादनार्थम् ।

---

३ धीरोदात्त—

उत्कृष्ट अन्त करण (सत्त्व) वाला अत्यन्त गभ्भीर, क्षमाशील, आत्मश्लाघा न करने वाला, स्थिर, अहभाव को दबाकर रखने वाला, दृढव्रती नायक धीरोदात्त कहलाता है ॥४॥

'महासत्त्व' का अर्थ है—जिसका अन्त करण शोक, क्रोध आदि से अभिभूत नहीं होता । 'अविकत्थन' का अर्थ है अपनी प्रशसा न करने वाला । 'निगूढाहङ्कार का अर्थ है कि उसका गर्व (अवलेप) नम्रता से छिपा रहता है । दृढव्रत वह होता है जो स्वीकृत बात का निर्वाह करता है । ऐसा धीरोदात्त नायक होता है । जैसे नागानन्द नाटक में जीमूतवाहन है (जीमूतवाहन की गरुड के प्रति उक्ति ५ १६)—'हे गरुड, मेरी नसो के छिद्र से रक्त बह ही रहा है, अब भी मेरे शरीर में मास है, तुम्हारी भी तो मै तृप्ति नहीं देख रहा हू, फिर तुम (मुझको) खाने से क्यो रुक गये' ?

और जैसे राम के प्रति कहा गया है—'अभिषेक के लिये बुलाये गये और वन के लिये भेजे गये राम का (तस्य) मुझे तनिक भी आकृति-विकार नही दिखाई पडा' ।

यहाँ स्थिरता इत्यादि (नायक के) किन्हीं सामान्य गुणो का भी जो कहीं विशेष (प्रकार के नायक के) लक्षण में उल्लेख कर दिया गया है वह उन गुणो का उस विशेष प्रकार के नायक में (तत्र) आधिक्य बतलाने के लिये है ।

टिप्पणी—यह शङ्का हो सकती हे कि नायक के सामान्य गुणो मे स्थैर्य या स्थिरता का कथन किया जा चुका हे फिर यहाँ धीरोदात्त नायक के लक्षण मे स्थैर्य का क्यो उल्लेख किया है ? इसका समाधान 'यच्च' इत्यादि मे किया गया है कि अन्य नायको की अपेक्षा धीरोदात्त नायक मे स्थिरता गुण का आधिक्य होता है, यह बतलाने के लिये यहाँ पुन 'स्थिर' यह कहा गया है ।

ननु च कथ जीमूतवाहनादिनागानन्दादावुदात्त इत्युच्यते ? औदात्त्य हि नाम सर्वोत्कर्षेण वृत्ति, तच्च विजिगीषुत्व एवोपपद्यते जीमूतवाहनस्तु निर्जिगीषुतयैव कविना प्रतिपादित । यथा—

'तिष्ठन्भाति पितु पुरो भुवि यथा सिंहासने किं तथा
यत्सवाहयत सुख हि चरणौ तातस्य कि राज्यत ।
कि भुक्ते भुवनत्रये धृतिरसौ भुक्तोज्झिते या गुरो-
रायास खलु राज्यमुज्झितगुरोस्तत्रास्ति कश्चिद् गुण ॥'८०॥

इत्यनेन ।

'पित्रोर्विधातु शुश्रूषा त्यक्त्वैश्वर्य क्रमागतम् ।
वन याम्यहमप्येष यथा जीमूतवाहन ॥'८१॥

इत्यनेन च । अतोऽस्यात्यन्तशमप्रधानत्वात्परमकारुणिकत्वाच्च वीतरागवच्छान्तता । अन्यच्चात्रायुक्त यत्तथाभूत राज्यसुखादौ निरभिलाप नायकमुपादायान्तरा तथाभूत-

(शङ्का) (i) नागानन्द आदि (नाटक) मे जीमूतवाहन इत्यादि धीरोदात्त नायक है, यह कैसे कहा जा सकता है ? क्योकि उदात्त का अर्थ है—सर्वोत्कृष्ट रूप मे रहना (वृत्ति) और, यह बात विजय की आकाक्षा होने पर ही बन सकती है । किन्तु जीमूतवाहन को तो कवि ने विजय की आकाक्षा से रहित ही वर्णित किया है । जैसे—(नागानन्द १ ७)

'पिता के सामने भूमि पर बैठा हुआ (व्यक्ति) जैसा शोभित होता है, क्या वैसा सिहासन पर बैठा हुआ (शोभित) हो सकता है ? पिता के चरण दबाते हुए को जो सुख मिलता है, क्या वह राज्य से मिल सकता है ? पिता के खाने से बचे हुए (भुक्तोज्झिते) पदार्थ को खाने से जो सन्तोष (धृति) मिलता है, क्या वह तीनो लोको के भोग से भी मिल सकता है ? पिता का परित्याग करने वाले के लिये राज्य तो केवल आयास मात्र है, क्या उसमे कुछ भी लाभ है' ? इसके द्वारा तथा नागानन्द (१-४) —क्रमागत (वशपरम्परागत) ऐश्वर्य को छोडकर माता-पिता की सेवा करने के लिये मै वन को जा रहा हू, जैसे जीमूतवाहन चला गया था' ।

इसके द्वारा भी (जीमूतवाहन को विजय की आकाक्षा से रहित दिखलाया गया है) । इसलिये इस (जीमूतवाहन) मे अत्यधिक शम (निर्वेद) की प्रधानता है और अत्यन्त करुणा-परायणता है, अत यह वीतराग (राग रहित) की भाँति शान्त (धीरप्रशान्त) ही है ।

(ii) [यदि कोई कहे कि मलयवती के प्रति जीमूतवाहन के अनुराग का भी कवि ने वर्णन किया है अत वह अत्यन्त शमप्रधान, वीतराग या निरभिलाष नहीं है—इस पर पूर्वपक्षी कहता है]

और, नागानन्द नाटक मे (अत्र यह तो अनुचित ही है कि जो उस प्रकार के राज्य और सुख आदि मे निरभिलाष नायक को लेकर उसके विषय मे (अन्तरा) इस प्रकार मलयवती के अनुराग का वर्णन किया गया है ।

मलयवत्यनुरागोपवर्णनम् । यच्चोक्तम् —'सामान्यगुणयोगी द्विजादिर्धीरशान्त' इति । तदपि पारिभाषिकत्वादवास्तवमित्यभेदकम् । अतो वस्तुस्थित्या बुद्ध-युधिष्ठिर–जीमूतवाहनादिव्यवहारा शान्ततामाविर्भावयन्ति ।

अत्रोच्यते – यत्तावदुक्त सर्वोत्कर्षेण वृत्तिरौदात्त्यमिति न तज्जीमूतवाहनादौ परिहीयते । न ह्येकरूपैव विजिगीषुता । य केनापि शौर्यत्यागदयादिनाऽन्यानतिशेते स विजिगीषु न य परापकारेणार्थग्रहादिप्रवृत्त । तथात्वे च मार्गदूषकादेरपि धीरोदात्तत्वप्रसक्ति । रामादेरपि जगत्पालनीयमिति दुष्टनिग्रहे प्रवृत्तस्य नान्तरीयकत्वेन

---

(111) **और, जो यह कहा गया है कि (विनय आदि) सामान्य गुणो से युक्त (प्रकरण के नायक होने वाले) ब्राह्मण, वैश्य, अमात्य (द्विजादि) धीरप्रशान्त नायक होते है (अत जीमूतवाहन धीरप्रशान्त नही हो सकता), वह कथन भी पारिभाषिक है वास्तविक नही । इसलिए भेदक (व्यावर्तक) नहीं ।**

टिप्पणी – भाव यह हे कि प्रकरण के नायक ब्राह्मण आदि धीरप्रशान्त नायक होते हे, यह कथन पारिभाषिक है, यह तो धनञ्जय की कल्पना है, वस्तुस्थिति तो यह हे कि जिस व्यक्ति मे धीरप्रशान्त के गुण होगे वही धीरप्रशान्त हो जायेगा । इस प्रकार केवल कल्पित परिभाषा के द्वारा जीमूतवाहन को धीरप्रशान्त नायक होने से नही रोका जा सकता, या कहिये कि यह परिभाषा जीमूतवाहन से धीरप्रशान्त के लक्षण की व्यावृत्ति (भेद) नही कर सकती ।

इस प्रकार वस्तु स्थिति की दृष्टि से बुद्ध, युधिष्ठिर और जीमूतवाहन आदि के व्यवहार (चरित्र) उनकी शान्तता को प्रकट करते है (उनके चरित्र से प्रकट होता है कि वे धीरप्रशान्त नायक हैं) ।

(समाधान) इस पर कहा जाता है—(1) जो यह कहा गया है कि सर्वोत्कृष्ट रूप मे रहना उदात्तता है इत्यादि । उस उदात्तता का जीमूतवाहन मे भी अभाव नहीं है (परिहीयते) । क्योंकि विजय की आकाक्षा केवल एक प्रकार की ही नही होती अपितु जो व्यक्ति शौर्य, त्याग दया आदि (गुणो) के द्वारा दूसरो से बढ जाता है (अतिशेते) वही विजिगीषु (विजयाकाक्षी) है, जो दूसरो का अपकार करके धन बटोरने आदि मे लगा रहता है, वह विजिगीषु नहीं है । यदि उसे भी विजिगीषु माना जाये (तथात्वे = वैसा होने पर) तो बटमार (मार्गदूषक) आदि भी धीरोदात्त होने लगेंगे ।

[यहाँ यदि कोई कहे कि राम ने भी रावण आदि का वध करके भूमि, सम्पत्ति तथा यश आदि प्राप्त किया था फिर तो वे भी उदात्त नायक नही होंगे— इसका समाधान करते हुए कहते हे—]

'जगत् का पालन करना है', इस विचार से दुष्टो को दण्ड देने में प्रवृत्त हुए राम आदि को भी आनुषङ्गिक रूप से (=नान्तरीयकत्वेन) भूमि आदि की प्राप्ति हो

भूम्यादिलाभ । जीमूतवाहनादिस्तु प्राणैरपि परार्थसम्पादनाद्विश्वमप्यतिशेते, इत्युदात्ततम । यच्चोक्तम्—'तिष्ठन्भाति' इत्यादिना विषयसुखपराङमुखतेति, तद् सत्यम्—कार्पण्यहेतुषु स्वसुखतृष्णासु निरभिलाषा एव जिगीषव, तदुक्तम्—

'स्वसुखनिरभिलाष खिद्यसे लोकहेतो
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवविधैव ।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्ण
शमयपि परिताप छाययोपाश्रितानाम् ॥८२॥' इत्यादिना ।

मलयवत्यनुरागोपवर्णन त्वशान्तरसाश्रय शान्तनायकता प्रत्युत निषेधति । शान्तत्व चानहङ्कृतत्व, तच्च विप्रादेरौचित्यप्राप्तमिति वस्तुस्थित्या विप्रादे शान्तता, न स्वपरिभाषामात्रेण । बुद्धजीमूतवाहनयोस्तु कारुणिकत्वाविशेषेऽपि सकामनिष्कामकरुणत्वादिधमत्वाद्भेद । अतो जीमूतवाहनादेर्धीरोदात्तत्वमिति ।

गई [वहाँ किसी के अपकार की भावना से धन-ग्रहण आदि नहीं है अत राम आदि की उदात्तता में शङ्का करना ठीक नही] । और जीमूतवाहन आदि तो प्राणों के द्वारा भी दूसरो का हित सम्पादन करते है इस प्रकार सभी (विश्वम् अपि) से बढकर हैं अत (उदात्त ही नहीं) उदात्ततम नायक है ।

और, जो (पूर्वपक्षी ने) कहा है कि 'तिष्ठन् भाति' इत्यादि के द्वारा (जीमूतवाहन की) विषय पराङ्मुखता प्रकट होती है, वह ठीक ही है, (सच्चे) विजिगीषु जन कार्पण्य (तुच्छता) को उत्पन्न करने वाली, अपने सुख की इच्छा के प्रति अभिलाषा रहित ही होते हैं । यही कहा भी है (शाकुन्तल ५ ६ मे दुष्यन्त के प्रति) "आप प्रतिदिन अपने सुख के प्रति अभिलाषा-रहित होकर लोक (हित) के लिए कष्ट-सहन करते है, अथवा आपकी रचना (जन्म) ही इस प्रकार की हुई है । क्योकि वृक्ष अपने सिर पर तीव्र उष्णता को सहन करता है, और अपनी छाया से आश्रित जनो के सन्ताप शान्त करता है ।' इत्यादि ।

(ii) मलयवती के प्रति (जीमूतवाहन के) अनुराग का वर्णन तो शान्त रस के अनुकूल नहीं हो सकता, बल्कि वह (जीमूतवाहन के) शान्त नायक होने का ही निषेध करता है ।

(iii) और, शान्तता का अर्थ है - अहकार से रहित होना (अहकारशून्यता) उसका ब्राह्मण इत्यादि में होना उचित (स्वाभाविक) ही है । इस प्रकार वस्तुत ही ब्राह्मण इत्यादि में शान्तता होती है, केवल अपनी (कल्पित) परिभाषा से ही उनमें शान्तता नहीं मानी गई ।

यद्यपि बुद्ध और जीमूतवाहन दोनो में समानरूप से (अविशेष करुण-भाव है तथापि (जीमूतवाहन में) सकाम करुणभाव और (बुद्ध में) निष्काम करुणभाव होने से दोनों में भेद है । इस प्रकार जीमूतवाहन इत्यादि धीरोदात्त नायक ही हैं ।

अथ धीरोद्धत —

(६) दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाच्छद्मपरायण ॥५॥
धीरोद्धतस्त्वहङ्कारी चलश्चण्डो विकत्थन ।

दप =शौर्यादिमद, मात्सयम् = असहनता, मन्त्रवलेनाविद्यमानवस्तुप्रकाशन माया, छद्म =वञ्चनामात्रम्, चल =अनवस्थित, चण्ड =रौद्र, स्वगुणशसी= विकत्थनो धीरोद्धतो भवति, यथा जामदग्न्य —'कैलासोद्धारसारत्रिभुवनविजय'

टिप्पणी —(१) हर्ष-कृत नागानन्द नाटक का नायक जीमूतवाहन है। धनिक की दृष्टि से वह धीरोदात्त नायक है। पूर्वपक्षी इस मत से सहमत नही। उसके अनुसार जीमूतवाहन धीरप्रशान्त नायक हे। सक्षेप मे उसकी तीन युक्तियाँ है, जिनका अभी अनुवाद मे क्रमश विवरण दिया गया हे। उन तानो युक्तियो का खण्डन करके धनिक ने यह सिद्ध किया है कि जीमूतवाहन धीरोदात्त नायक ही हे (द्र०, अनुवाद) (२) विजिगीषुता (विजयाकाक्षा) उदात्त नायक का विशिष्ट गुण माना गया हे (मि०, भा० प्र०, पृ० ६३ प० ४)। (३) **अतोऽस्य वीतरागवत् शान्तता**—इस वाक्य द्वारा पूवपक्षी की ओर से जीमूतवाहन को शान्त नायक सिद्ध करने के लिये अनुमान प्रस्तुत किया गया है। अनुमान का प्रकार है —जीमूनवाहन धीरप्रशान्त नायक है (प्रतिज्ञा), उसमे शम की प्रधानता है और वह परम कारुणिक है (हेतु), वीतराग के समान (उदाहरण)। यहाँ 'वीतराग' शब्द से 'बुद्ध' का ग्रहण होता है (?)। (४) **शान्तत्व चानहङ्कृतत्वम्**—शान्त मे तो अहकार का सर्वथा अभाव होता हे किन्तु उदात्त का अहकार विनय के द्वारा छिपा रहता है, यही भेद हे (द्र०, ना० द० १ ६)। (५) **बुद्धजीमूतवाहनयोस्तु भेद** —धनिक ने पूर्वपक्षी के अनुमान मे दृष्टान्तदोष दिखलाया हे। बुद्ध की करुणा निष्काम है, जीमूतवाहन की सकाम। इस धर्मभेद के कारण दृष्टान्त ठीक नही, तथा अनुमान अयुक्त हे। भाव यह है कि बुद्ध धीरप्रशान्त है, किन्तु जीमूतवाहन धीरोदात्त है।

४ धीरोद्धत

जिसमे घमण्ड (दर्प) और डाह (मात्सय) अधिक होता है, जो माया और कपट मे तत्पर होता है, अहकारी, चञ्चल, क्रोधी तथा आत्मश्लाघा करने वाला है, वह धीरोद्धत नायक है ॥५॥

दर्प=शूरता इत्यादि का घमण्ड, मात्सय =(दूसरो की समृद्धि को) न सहना; मन्त्र की शक्ति से अविद्यमान वस्तु को प्रकट कर देना माया कहलाती है और किसी को छलना मात्र ही छद्म है, चल का अर्थ है अस्थिर (चञ्चल), **चण्ड**=क्रोधयुक्त, **विकत्थन**=अपने गुणो की प्रशसा करने वाला; ऐसा धीरोद्धत नायक होता है। जैसे (महावीर चरित २ १६ में) परशुराम के 'कैलासोद्धारसार०

इत्यादि । यथा च रावण—'त्रैलोक्यैश्वर्यलक्ष्मीहठहरणसहा बाहवो रावणस्य ।' इत्यादि ।

धीरललितादिशब्दाश्च यथोक्तगुणसमारोपितावस्थाभिधायिन , वत्सवृषभमहोक्षादिवन्न जात्या कश्चिदवस्थितरूपो ललिनादिरस्ति, तदा हि महाकविप्रबन्धेषु विरुद्धानेकरूपाभिधानमसङ्गतमेव स्यात्—जातनरपायित्वात्, यथा च भवभूतिनैक एव जामदग्न्य —

'ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये ॥
जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥८३॥

इत्यादिना रावण प्रति धीरोदात्तत्वेन 'कैलासोद्धारसार—' इत्यादिभिश्च रामादीन्प्रति प्रथम धीरोद्धतत्वेन, पुन —'पुण्या ब्राह्मणजाति ' इत्यादिभिश्च धीरशान्तत्वेनोपवर्णित । न चावस्थान्तराभिधानमनुचितम्, अङ्गभूतनायकाना नायकान्तरापेक्षया महासत्त्वादेरव्यवस्थितत्वात् । अङ्गिनस्तु रामादेरेकप्रबन्धोपात्तान् प्रत्येकरूपत्वा-

---

इत्यादि कथन से धीरोद्धतता प्रकट होती है। और, जैसे 'त्रैलोक्य०' (रावण की भुजाएँ तीनो लोको के ऐश्वर्य की लक्ष्मी का बलपूर्वक हरण करने मे समथ है) इत्यादि (रावण की उक्ति के द्वारा रावण धीरोद्धत है (यह प्रकट होता है) ।

धीरललित आदि शब्द अवस्था-वाचक

(i) धीरललित आदि शब्द उसी प्रकार यथोक्त (निश्चिन्तता आदि) गुणो से युक्त अवस्था को बतलाने वाले है, जिस प्रकार वत्स (बछडा), वृषभ (बैल) तथा महोक्ष (बडा बैल) एक ही व्यक्ति की भिन्न भिन्न अवस्थाओ को बतलाते है । जाति के द्वारा नियत रूप वाला कोई ललित आदि नही होता । यदि ललितत्व आदि नियत होता तो (तदा) महाकवियो की कृतियो मे जो एक ही नायक मे भिन्न-भिन्न (विरुद्ध) अनेक अवस्थाओ (ललित आदि) का कथन किया गया है वह असङ्गत ही होता, क्योकि जाति तो नष्ट होने वाली नहीं है (फिर जो नायक धीरोदात्त जाति का होगा वह, धीरोद्धत जाति का कैसे हो सकेगा ?) और, भवभूति जैसे कवि ने एक ही परशुराम को "ब्राह्मण के अतिक्रमण का त्याग आपके ही कल्याण के लिये है, अन्यथा तुम्हारा मित्र परशुराम क्रुद्ध हो जायेगा ।" (वीरचरित २ १९) इत्यादि कथन के द्वारा रावण के प्रति धीरोदात्त रूप मे वर्णित किया है, 'कैलासोद्धारसार०' (वीरचरित २ १०) इत्यादि के द्वारा राम आदि के प्रति पहले तो धीरोद्धत रूप मे और फिर 'पुण्या०' (ब्राह्मणजाति पवित्र है वीर० ४ २२) इत्यादि के द्वारा धीरशान्त रूप मे वर्णित किया है ।

(ii) (न चेति०) यह शङ्का करना भी ठीक नही कि (एक ही नायक की) भिन्न-भिन्न अवस्थाओ का वर्णन करना अनुचित है, क्योकि जो अङ्गभूत (अप्रधान) नायक होते हैं उनका सभी अन्य नायको के प्रति महासत्त्व आदि होना (तथा उदात्त आदि अवस्था) नियत (व्यवस्थित) नहीं होता । किन्तु जो प्रधान (अङ्गी) नायक राम आदि हैं उनकी एक प्रबन्ध मे आये हुए (सभी) पात्रो के प्रति

दारम्भोपात्तावस्थातोऽवस्थान्तरोपादानमन्याय्य, यथोदात्तत्वाभिमतस्य रामस्य छद्मना वालिवधादमहासत्त्वतया स्वावस्थापरित्याग इति ।

वक्ष्यमाणाना च दक्षिणाद्यवस्थानाम् 'पूर्वां प्रत्यन्यया हृत ' इति नित्यसापेक्षत्वेनाविर्भावादुपात्तावस्थातोऽवस्थान्तराभिधानमङ्गाङ्गिनोरप्यविरुद्धम् ।

अथ शृङ्गारनेत्रवस्था —

(७) स दक्षिण शठो धृष्ट पूर्वां प्रत्यन्यया हृत । ६॥

एकरूपता होनी चाहिए । इसलिए (किसी प्रधान नायक की) जिस (उदात्त आदि) अवस्था का आरम्भ मे ग्रहण किया जाये (उसकी) उससे दूसरी अवस्था का ग्रहण अनुचित ही है । जैसे राम को उदात्त नायक के रूप मे माना गया है अत राम का छल से बालि वध करना महासत्त्वता के प्रतिकूल है इसलिये अपनी (उदात्त) अवस्था का परित्याग ही हे (जो अनुचित है) ।

(iii) किन्तु आगे वर्णित दक्षिण आदि (नायक की) अवस्थाओ मे पहिले कही गई (उपात्त=गृहीत) अवस्था से भिन्न दूसरी अवस्था का वर्णन करना तो अप्रधान तथा प्रधान (दोनो प्रकार के) नायको के विषय मे ही अनुचित नही है, क्योकि वे अवस्थाएँ सदा ही एक दूसरी की अपेक्षा से उत्पन्न हुआ करती है, दूसरी नायिका के द्वारा आकृष्ट किया गया (नायक) ही प्रथम नायिका के प्रति दक्षिण (आदि) होता है' (आगे (२ ६) ।

टिप्पणी—(१) (i) धनिक के अनुसार धीरोदात्तत्व आदि नायक की अवस्थाएँ है, जातियाँ नही, इसलिये एक ही नायक धीरोदात्त, धीरललित, धीरोद्धत तथा धीरप्रशान्त हो सकता है । यदि धीरोदात्तत्व इत्यादि जातियाँ होती तो ऐसा सम्भव नही था, क्योकि गोत्व जाति से युक्त व्यक्ति कभी भी महिषत्व जाति से युक्त नही हो सकती । (ii) एक अङ्गभूत (अप्रधान) नायक मे ही अनेक (उदात्तत्व आदि) अवस्थाओ का वर्णन करना उचित है, एक प्रधान नायक मे नही । (iii) एक ही प्रधान नायक मे भी दाक्षिण्य आदि अनेक अवस्थाओ का वर्णन किया जा सकता है । (२) ना० शा० (२४ १५) मे भी उदात्तत्व आदि चारो अवस्थाए शील पर आश्रित मानी गई है । ना० द० (१ ६) के अनुसार नायको के चार प्रकार के स्वभाव होते है । एक प्रधान नायक मे तो एक ही प्रकार के स्वभाव का वर्णन करना चाहिये । किन्तु एक ही अप्रधान नायक मे अनेक स्वभावो का भी वर्णन किया जा सकता है ।

नायक की शृङ्गाररस–सम्बन्धी अवस्थाएँ

जो नायक दूसरी (नायिका) के द्वारा हर लिया जाता है, वह पहिली (नायिका) के प्रति दक्षिण, शठ या धृष्ट कहलाता है ॥६॥

टिप्पणी– सा० द० (३ ३५) तथा प्रता० (१ ३५) मे भी शृङ्गार की दृष्टि से नायक के चार भेद किये है—अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट और शठ ।

नायकप्रकरणात्पूर्वां नायिका प्रत्यन्यया ऽनवनायिकया ऽपहृतचित्तस्त्र्यवस्थो वक्ष्यमाणभेदेन स चतुरवस्थ । तदेव पूर्वोक्तानां चतुर्णां प्रत्येक चतुरवस्थत्वेन षोडशधा नायक । तत्र—

(८) दक्षिणोऽस्या सहृदय —

योऽस्या ज्येष्ठाया हृदयेन सह व्यवहरति स दक्षिण । यथा ममैव—

'प्रसीदत्यालोके किमपि किमपि प्रेमगुरवो
रतिक्रीडा कोऽपि प्रतिदिनमपूर्वोऽस्य विनय ।
सविश्रम्भ कश्चित्कथयति च किञ्चित्परिजनो
न चाह प्रत्येमि प्रियसखि किमप्यस्य विकृतिम् ॥८४।

यथा वा—

'उचित प्रणयो वर विहन्तु बहव खण्डनहेतवो हि दृष्टा ।
उपचारविधिमनस्विनीना ननु पूर्वाभ्यधिकोऽपि भावशून्य ॥८५॥'

नायक का प्रकरण होने के कारण यह अर्थ है— दूसरी नवीन नायिका के द्वारा जिसका चित्त अपहृत हो गया है उसकी पहली नायिका के प्रति तीन अवस्थाएँ होती है। और, आगे कहे जाने वाले ('अनुकूल नामक') भेद सहित उसकी चार अवस्थाएँ हो जाती है। इस प्रकार पूर्वोक्त (धीरोदात्त इत्यादि) चारो मे से प्रत्येक की चार अवस्था हो जाने से नायक सोलह प्रकार का हो जाता है। उनमे—

१ दक्षिण नायक

इस (पूर्व नायिका) के प्रति सहृदय (प्रीतियुक्त) रहने वाला दक्षिण नायक है।

जो (अन्य नायिका के द्वारा अपहृत चित्त होकर भी) इस ज्येष्ठ (पूर्व) नायिका के प्रति हृदय के साथ व्यवहार करता है, वह दक्षिण नायक है। जैसे मेरा (धनिक का) ही उदाहरण है—(कोई नायिका अपने प्रियतम के विषय मे कहती है—) 'मुझे देखते ही प्रसन्न हो जाता है, इसकी रतिकेलियाँ कुछ (विशेष रूप से) प्रेम से भरी होती है, इसका विनय प्रतिदिन अपूर्व होता जाता है। किन्तु कोई विश्वसनीय परिजन उसके विषय मे कुछ (=उसका प्रेम किसी अन्य नायिका से हो गया है आदि) कहता है किन्तु, प्रिय सखी, मै तो इसके किसी भी विकार (परिवतन) का विश्वास नही करती'।

अथवा, जैसे—(मालवि० ३ ३) 'प्रेम को तोड लेना ही अधिक उचित है, क्योकि खण्डन के अनेक निमित्त देखे गये है। यद्यपि मनस्विनी नायिकाओ के प्रति की जाने योग्य औपचारिकता (आदर सत्कार) पहिले से भी अधिक है तथापि वह भाव-शून्य ही है'।

अथ शठ—

(९) —गूढविप्रियकृच्छठ ।

दक्षिणस्यापि नायिकान्तरापहृतचित्ततया विप्रियकारित्वाविशेषेऽपि सहृदयत्वेन शठाद्विशेष, यथा—

'शठोऽन्यस्या काञ्चीमणिरणितमाकर्ण्य सहसा
यदाश्लिष्यन्नेव प्रशिथिलभुजग्रन्थिरभव ।
तदेतत्क्वाचक्षे घृतमधुमय त्वद्बहुवचो—
विषेणाघूर्णन्ती किमपि न सखी मे गणयति ॥८६॥'

अथ धृष्ट—

(१०) व्यक्ताङ्गवैकृतो धृष्टो—

टिप्पणी—(१) दक्षिण नायक नवीन नायिका से प्रेम हो जाने पर भी पूर्वा नायिका के प्रति अपने प्रेमपूर्ण व्यवहार मे कमी नही आने देता, भले ही उसका हार्दिक प्रेम कम हो जाये । (२) सा० द० (३ ३५) के अनुसार तो अनेक नायिकाओ के साथ समान रूप से प्रेम करने वाला नायक दक्षिण नायक कहलाता है । इसी प्रकार प्रता० (१ ३५) के अनुसार भी 'तुल्योऽनेकत्र दक्षिण' यह लक्षण है ।

२ **शठ नायक**—

(पूर्व नायिका का) गुप्त रूप से अप्रिय करने वाला शठ नायक होता है ।

यद्यपि दक्षिण नायक का चित्त भी दूसरी नायिका के द्वारा हर लिया जाता है अत वह भी समान रूप से पूर्व नायिका का अप्रिय करता है तथापि वह (पूर्व नायिका के प्रति) सहृदय रहता है, यही उसमे शठ नायक से अन्तर है । जैसे—(अमरु १०९, नायिका की सखी नायक को उपालम्भ दे रही है, 'हे शठ अन्य नायिका की करधनी की मणि के शब्द को सुनकर जो तुमने सहसा ही मेरी सखी का) आलिङ्गन करते हुए भी अपने भुज-बन्धन को शिथिल कर दिया था, इस बात को कहाँ कहू ? घृत और मधु से मिश्रित (चिकने चुपडे तथा मीठे) तुम्हारे बहुत से वचनो के विष से चक्कर खाती हुई मेरी सखी कुछ भी नहीं समझ पाती' ।

टिप्पणी—प्रता० (१ ३९) मे भी यही लक्षण है । सा०द० (३ ३७) मे तो लक्षण यह है—जो वस्तुत तो एक नायिका से प्रेम करे किन्तु बाहर से दोनो नायिकाओ के प्रति प्रेम प्रदर्शित करे और छिपे रूप से दूसरी नायिका का अप्रिय करे वह शठ नायक है ।—यह लक्षण अधिक स्पष्ट है ।

जिस (नायक) के अङ्गो मे विकार (=अन्य नायिका के प्रति किये गये प्रेम के चिह्न) स्पष्ट प्रकट होते है, वह धृष्ट नायक है ।

यथाऽमरुशतके—

'लाक्षालक्ष्म ललाटपट्टमभित केयूरमुद्रा गले
वक्त्रे कज्जलकालिमा नयनयोस्ताम्बूलरागोऽपर ।
दृष्ट्वा कोपविधायि मण्डनमिद प्रातश्चिर प्रेयसो
लीलातामरसोदरे मृगदृश श्वासा समाप्ति गता ॥८७॥

भेदान्तरमाह—

(११) —ऽनुकूलस्त्वेकनायिक ॥७॥

यथा—

'अद्वैत सुखदु खयोरनुगत सर्वास्ववस्थासु यद्–
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रस ।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्स्नेहसारे स्थित
भद्र तस्य सुमानुषस्य कथमप्येक हि तत्प्राप्यते ॥८८॥'

जैसे अमरुशतक (६०) मे '(अन्य नायिका से रमण करके आये हुए) प्रात काल प्रिय के ललाट पट के चारो ओर महावर का चिह्न, गले मे केयूर की मुद्रा, मुख पर काजल की कालिमा और नेत्रो मे दूसरे प्रकार की पान की लालिमा इत्यादि कोप उत्पन्न करने वाले मण्डन को देर तक देखकर मृगनयनी के श्वास लीलाकमल के मध्य मे ही समाप्त हो गये ।'

[ईर्ष्या-विकार को छिपाने के लिये सूँघने के बहाने क्रीडाकमल को मुख के समीप कर लिया, उसमे निश्वास निकल-निकल कर समाती रही, अमरु० पृ० २६१]

टिप्पणी—प्रता० (१ ३८) मे 'व्यक्तागा गतभीर्धृष्ट' यह लक्षण है । सा० द० (३ ३६) मे इसका ही विशद विवेचन है—जो प्रेम मे अपराधी होने पर भी निशङ्क रहता है, झिडकी खाने पर भी लज्जित नही होता, स्पष्टत दोषो के प्रकट हो जाने पर भी झूठ बोल देता है, वह धृष्ट नायक है ।'

अन्य भेद बतलाते है—

४ अनुकूल नायक

जिसकी एक ही नायिका होती है, वह अनुकूल नायक कहलाता है ॥७॥

जैसे उत्तररामचरितम् (१ ३९) मे (सीता का स्पर्श करते हुए राम कहते है) जो सुख और दुख मे एकरूप (अद्वैत) है और सभी अवस्थाओ मे अनुगत है, जिसमे हृदय का विश्राम होता है, जिसमे प्रीति बुढापे से भी नही हटती, जो कि समय के द्वारा विवाह से लेकर मरण-पयन्त (आ—वरण+अत्ययात्) परिपक्व होने वाले प्रेम तत्त्व मे स्थित रहता है, उस दाम्पत्य (सुमानुष) का वह एक कल्याण किसी प्रकार ही (पुण्य से, कठिनाई से) प्राप्त किया जाता है ।

किमवस्थ पुनरेषा वत्सराजादिर्नाटिकानायक स्यात् ? इत्युच्यते—पूर्वमनुपजातनायिकान्तरानुरागोऽनुकूल, परतस्तु दक्षिण । ननु च गूढविप्रियकारित्वाद्व्यक्तनरविप्रियत्वाच्च शाठ्यधाष्ट्र्येऽपि कस्मान्न भवत, न तथाविधविप्रियत्वेऽपि वत्सराजादेराप्रबन्धसमाप्तेर्ज्येष्ठां नायिका प्रति सहृदयत्वाद्दक्षिणतैव, न चोभयोर्ज्येष्ठाकनिष्ठयोर्नायकस्य स्नेहेन न भवितव्यमिति वाच्यम्, अविरोधात् । महाकविप्रबन्धेषु च—

'स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरसुता वारोऽङ्गराजस्वसु-
र्द्यूते रात्रिरियं जिता कमलया देवी प्रसाद्याद्य च ।
इत्यन्त पुरसुन्दरी प्रति मया विज्ञाय विज्ञापिते
देवेनाप्रतिपत्तिमूढमनसा द्वित्रा स्थित नाडिका ॥८९॥'

इत्यादावपक्षपातेन सर्वनायिकासु प्रतिपत्त्युपनिबन्धनात् ।

तथा च भरत —

मधुरस्त्यागी राग न याति मदनस्य नापि वशमेति ।
अवमानितश्च नार्या विरज्येत स तु भवेज्ज्येष्ठ ॥९०॥

टिप्पणी—सा० द० (३ ३७) अनुकूल एकनिरत, प्रता० (१ ३५) एकायत्तोऽनुकूल स्यात् ।

(प्रश्न) (रत्नावली) नाटिका का नायक वत्सराज आदि इनमे से किस प्रकार का नायक होगा ? (उत्तर) कहते है पहले जब तक दूसरी नायिका के प्रति प्रेम उत्पन्न नहीं होता वह अनुकूल नायक है, किन्तु बाद मे (दूसरी नायिका से प्रेम हो जाने पर) वह दक्षिण नायक है । (प्रश्न) क्योकि (वत्सराज) गुप्त रूप से (वासवदत्ता का) अप्रिय करता है और स्पष्ट रूप से अप्रिय करने वाला (जान लिया जाता) है फिर वह क्रमश शठ और धृष्ट नायक भी क्यो नही होता ? (उत्तर) नहीं, यद्यपि वत्सराज आदि उस प्रकार का अप्रिय आचरण करते है तथापि प्रबन्ध की समाप्ति पयन्त ज्येष्ठ नायिका (वासवदत्ता आदि) के प्रति सहृदय ही बने रहते हैं अत वे दक्षिण नायक ही है । (प्रश्न) ज्येष्ठ और कनिष्ठा दोनो नायिकाओ मे नायक का प्रेम नही हो सकता (क्योकि वास्तविक प्रेम तो एक से ही हो सकता है) । (उत्तर) यह कहना ठीक नही, क्योकि (ज्येष्ठा और कनिष्ठा दोनो के प्रति प्रेम होने मे) विरोध नहीं है । और, महाकवियो के प्रबन्धो मे 'स्नाता०' इत्यादि मे (एक ही नायक का) सभी नायिकाओ मे पक्षपात रहित प्रेम-वर्णन किया गया है, जैसे—(कञ्चुकी राजा के विषय मे कहता है) ।

"कुन्तलेश्वर की पुत्री नहाई बैठी है, अङ्गराज की बहिन की बारी है, कमला ने यह रात्रि जुए में जीत ली है, आज देवी को भी प्रसन्न करना है", इस प्रकार अन्त पुर की सुन्दरियो के प्रति जानकर जब मैंने राजा को सूचित किया तो महाराज कुछ निश्चय न करने (अविप्रतिपत्ति) के कारण मूढ मन से दो-तीन घडी (नाडिका = घटिका) स्तब्ध रहे' । और, भरत ने भी ऐसा ही कहा है—'जो मधुर तथा त्यागी है, किसी एक मे राग नही करता, न ही काम के वश में होता है । और, नारी के द्वारा अपमानित होकर विरक्त हो जाता है, वह ज्येष्ठ (= उत्तम) नायक होता है '।

इत्यत्र 'न राग याति न मदनस्य वशमेति'[1] इत्यनेनसाधारण एकस्या स्नेहो निषिद्धो दक्षिणस्येति । अतो वत्सराजादेराप्रबन्धसमाप्ति स्थित दाक्षिण्यमिति ।

षोडशानामपि प्रत्येक ज्येष्ठमध्यमाधमत्वेनाष्टाचत्वारिंशन्नायकभेदा भवन्ति ।

सहायानाह—

(१२) पताकानायकस्त्वन्य पीठमर्दो विचक्षण ।
तस्यैवानुचरो भक्त किञ्चिदूनश्च तद्गुणै ।।८।।

प्रागुक्तप्रासङ्गिकेतिवृत्तविशेष पताका तन्नायक पीठमर्द, प्रधानेतिवृत्तनायकस्य सहाय । यथा मालतीमाधवे मकरन्द, रामायणे सुग्रीव ।

सहायान्तरमाह—

यहाँ पर 'राग नही करता, काम के वश में नही होता' इस कथन के द्वारा दक्षिण नायक का किसी एक नायिका में असाधारण प्रेम (=राग=आसक्ति) होने का निषेध किया गया है । इसलिये वत्सराज आदि का प्रबन्ध की समाप्ति पयन्त दक्षिण नायक होना (दाक्षिण्यम्) निश्चित होता है ।

उपर्युक्त सोलह प्रकार के नायको में से प्रत्येक के ज्येष्ठ, मध्यम और अधम भेद होने से नायक के ४८ भेद हो जाते है ।

टिप्पणी—इस प्रकार नायक के ४८ भेद है, यथा—धीरललित, धीरप्रशान्त धीरोदात्त, धीरोद्धत (४) × दक्षिण, शठ, धृष्ट और अनुकूल (४) × ज्येष्ठ, मध्यम और अधम (३)=४८ । सा० द० (३ ३८) मे भी इसी प्रकार भेद गणना की गई है ।

नायक के सहायक (पीठमर्द)

(नायक के) सहायको को बतलाते है—

(प्रधान नायक से) दूसरा पताका नायक होता है जो पीठमद कहलाता है । वह चतुर होता है, उस (प्रधान नायक) का अनुचर तथा भक्त होता है और उसके गुणो मे कुछ न्यून गुण वाला होता है ।।८।।

ऊपर (१ १३) कहा गया है कि विशेष प्रकार का प्रासङ्गिक इतिवृत्त पताका है । उसका नायक पीठमर्द कहलाता है । वह प्रधान (आधिकारिक) इतिवृत्त के नायक का सहायक होता है । जैसे मालतीमाधव में मकरन्द है और रामायण में सुग्रीव ।

टिप्पणी—ऊपर (१ १२-१३) कथावस्तु के दो प्रकार बतलाये गये है—आधिकारिक और प्रासङ्गिक । प्रासङ्गिक वस्तु (इतिवृत्त) भी दो प्रकार की होती है—पताका तथा प्रकरी । प्रासङ्गिक व्यापक वृत्त पताका है उसका नायक ही पीठमर्द कहलाता है । सा० द० (३ ३९) मे भी इसी प्रकार का लक्षण है किन्तु प्रता० (२ ४०) मे इसका लक्षण स्पष्ट नही है ।

अन्य सहायको को बतलाते है—

(१३) एकविद्यो विटश्चान्यो, हास्यकृच्च विदूषक ।

गीतादिविद्याना नायकोपयोगिनीनामेकस्या विद्याया वेदिता विट । हास्यकारी विदूषक । अस्य विकृताकारवेषादित्व हास्यकारित्वेनैव लभ्यते । यथा शेखरको नागानन्दे विट । विदूषक प्रसिद्ध एव ।

अथ प्रतिनायक —

(१४) लुब्धो धीरोद्धत स्तब्ध पापकृद्व्यसनी रिपु ॥९॥

दूसरा (नायक की उपयोगी) किसी एक विद्या को जानने वाला विट होता है और हास्य उत्पन्न करने वाला विदूषक होता है

नायक की उपयोगी जो गीत आदि विद्याएँ है उनमें से किसी एक विद्या को जानने वाला विट होता है । हास्य उत्पन्न करने वाला, प्रधान नायक का सहायक विदूषक होता है । क्योकि इसे हास्य उत्पन्न करने वाला (हास्यकृत्=हास्यकारी) कहा गया है, इसी से इसका विकृत आकार और वेष आदि वाला होना प्रकट हो जाता है । जसे नागानन्द नाटक में 'शेखरक' विट है । विदूषक तो प्रसिद्ध ही है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (३५ ५५) मे विट का लक्षण अधिक स्पष्ट है—

वेश्योपचारकुशल मधुरो दक्षिण कवि ।
ऊहापोहक्षमो वाग्मी चतुरश्च विटो भवेत् ॥

सा० द० (३ ४१) मे भी ना० शा० का अनुसरण करते हुए विट का विशद लक्षण किया गया है । तदनुसार "जो भोगो मे अपनी सम्पत्ति नष्ट कर चुका है, धूर्त्त है, कुछ कलाओ को जानता है, वेशोपचार मे कुशल है, वाक्कुशल, मधुर तथा गोष्ठी मे सम्मानित होने वाला है, वह विट है ।" प्रता० (१ ४०) मे दशरूपक का ही अनुसरण किया गया है । (२) ना० शा० (३५ ५७) मे विदूषक का लक्षण भी अधिक स्पष्ट है—

वामनो दन्तुर कुब्जो द्विजिह्वो विकृतानन ।
खलति पिङ्गलाक्षश्च स विज्ञेयो विदूषक ॥

सा० द० (३ ४२) मे इसे और अधिक स्पष्ट कर दिया गया है । तदनुसार "कुसुम, वसन्त आदि नाम वाला, अपने काय, शरीर, वेष और भाषा आदि के द्वारा दूसरो को हँसाने वाला, कलह प्रिय, अपने कर्म (हास्य या भोजन आदि) को जानने वाला विदूषक होता है ।" धनिक की व्याख्या के अनुसार दशरूपक के 'हास्यकृत्' शब्द द्वारा ही इन सभी विशेषताओ की ओर सकेत कर दिया गया है । प्रता० (१ ४०) मे दशरूपक के समान ही लक्षण है ।

प्रतिनायक—

लोभी, धीरोद्धत, स्तब्ध (कठोर, आग्रही), पाप करने वाला तथा व्यसनी व्यक्ति (प्रधान नायक का) शत्रु (=प्रतिनायक) होता है ॥९॥

तस्य नायकस्येत्थभूत प्रतिपक्षनायको भवति । यथा रामयुधिष्ठिरयो रावण-दुर्योधनौ ।

अथ सात्त्विका नायकगुणा —

(१५) शोभा विलासो माधुर्य गाम्भीर्य *स्थैर्यतेजसी ।
ललितौदार्यमित्यष्टौ †सात्त्विका पोरुषा गुणा ॥१०॥

तत्र (शोभा यथा)—

(१६) नीचे घृणाधिके स्पर्धा शोभाया शौर्यदक्षते ।

नीचे घृणा यथा वीरचरिते

'उत्तालताडकोत्पातदर्शनेऽप्यप्रकम्पित ।
नियुक्तस्तत्प्रमाथाय स्त्रैणेन विचिकित्सति ॥६१॥

उस (प्रधान) नायक का इस (उपर्युक्त) प्रकार का प्रतिनायक होता है। जैसे राम और युधिष्ठिर के प्रतिनायक रावण तथा दुर्योधन है ।

टिप्पणी—(१) नायक की फलप्राप्ति मे विघ्न करने वाला प्रतिनायक कहलाता है। उसे ही यहाँ 'शत्रु' (=प्रतिपक्षनायक) शब्द द्वारा कहा गया है। (२) ना० द० (४ २५०), सा० (२ १३१) मे इसी प्रकार का लक्षण हे ।

नायक के सात्त्विक गुण

अब नायक के सात्त्विक गुणो को बतलाते है—

१ शोभा, २ विलास, ३ माधुर्य, ४ गम्भीरता, ५ स्थिरता, ६ तेजस्, ७ ललित तथा ८ औदार्य–ये आठ, पुरुषो के सात्त्विक गुण है ॥१०॥

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२२ ३३), सा० द० (३ ५१), ना० द० (४ २४०) मे भी प्राय ये ही आठ गुण कहे गये हे। सा० द० मे 'स्थैय' के स्थान पर 'धैर्य' है। (२) 'सात्त्विक' का अथ है—सत्त्व से उत्पन्न होने वाले (सत्त्वजा)। रजोगुण और तमोगुण के उद्रेक से रहित मन ही 'सत्त्व' कहलाता है। 'रज्जस्तमोभ्यामस्पृष्ट मन सत्त्वमिहोच्यते ।'

१ इनमे शोभा यह है जैसे—

नीच के प्रति घृणा, अपने से अधिक के प्रति स्पर्धा तथा शूरता और दक्षता, ये शोभा मे होते है ।

'नीच के प्रति घृणा यह है जैसे वीरचरित (१ ३७) मे (राक्षस मन ही मन कहता है)—'तालवृक्ष के समान ऊँची ताडका के उत्पात को देखकर भी राम कम्पित नही हुए, किन्तु उसके मारने के लिये नियुक्त किये जाने पर उसके स्त्री होने के कारण सन्देह मे पड गये ।

[यहाँ राम मे नीच के प्रति घृणा दिखलाई गई है]

---

* धैय इति पाठान्तरम् †'सत्त्वजा' इति पाठान्तरम्

गुणाधिके स्वर्धा यथा—

'एना पश्य पुर स्थलीमिह किल क्रीडाकिरातो हर
कोदण्डेन किरीटिना सरभस चूडान्तरे ताडित ।
इत्याकर्ण्य कथाद्भुत हिमनिधावद्रौ सुभद्रापते–
मन्द मन्दमकारि येन निजयोर्दोदण्डयोमण्डलम् ।।६२।।

शौर्यशोभा यथा ममैव—

'अन्त्रै स्वैरपि सयताग्रचरणो मूर्च्छाविरामक्षणे
स्वाधीनव्रणिताङ्गशस्त्रनिचितो रोमोद्गम वर्मयन् ।
भग्नानुद्वलयन्निजान्परभटान्सन्तर्जयन्निष्ठुर
धन्यो धाम जयश्रिय पृथुरणस्तम्भे पताकायते ।।६३।।

दक्षशोभा यथा वीरचरिते—

'स्फूर्जद्वज्रसहस्रनिर्मितमिव प्रादुर्भवत्यग्रतो
रामस्य त्रिपुरान्तकृद्दिविषदा तेजोभिरिद्ध धनु ।
शुण्डार कलभेन यद्वदचले वत्सेन दोर्दण्डक–
स्तस्मिन्नाहित एव गर्जितगुण कृष्ट च भग्न च तत् ।।६४।।

अधिक गुणो वाले के प्रति स्पर्धा यह है, जैसे—?

'इस सामने के स्थल को देखो, यहाँ ही अर्जुन (किरीटी) ने अपने धनुष के द्वारा लीला से किरात का रूप धारण करने वाले शिव के मस्तक पर वेगपूर्वक प्रहार किया था। हिमालय मे सुभद्रापति (अर्जुन) की इस अद्भुत कथा को सुनकर जिस (महादेव) ने अपनी दोनो भुजाओ को धीरे-धीरे मण्डलाकार बना लिया'।

[यहाँ अर्जुन के पराक्रम को सुनकर महादेव मे स्पर्धा का वर्णन किया गया है]

शौर्य, शोभा यह है जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—

'अपनी ही आँतो से जिसके चरणो के अग्रभाग बँधे है, जो मूर्च्छा समाप्त होते ही अपने घाव-भरे अङ्गो मे प्रचुरता से (=स्वाधीन) शस्त्रों से भरा हुआ भी रोमाञ्च को ही कवच बनाए हुए है, जो अपने हारते योद्धाओ को उत्साहित करता है (वलयन्) तथा शत्रु के योद्धाओ को कठोरता से तर्जित करता है, वह विजयश्री के विशाल युद्धस्तम्भ पर पताका के समान है, वह धन्य है।'

दक्ष-शोभा, जैसे वीरचरित (१ ५३) मे 'स्फूर्जद्' इत्यादि ऊपर उदा० ६६ ।

[यहाँ राम मे दक्ष-शोभा का वर्णन किया गया है]

टिप्पणी—मि०, ना० शा० (२२ ३४), ना० द० (४ २४४)। सा० द० (३५१) के अनुसार 'जिस विशेषता के कारण शूरता, दक्षता, सत्य, महान् उत्साह, अनुराग, नीच के प्रति घृणा, अधिक के प्रति स्पर्धा होती है, उसे शोभा कहते है।''

अथ विलास —

(१७) गति सधैर्या दृष्टिश्च विलासे सस्मित वच ॥११॥

यथा—

'दृष्टिस्तृणीकृतजगत्त्रयसत्त्वसारा
धीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम् ।
कौमारकेऽपि गिरिवद् गुरुता दधानो
वीरो रस किमयमेत्युत दर्प एव ॥६५॥'

अथ माधुर्यम्—

(१८) श्लक्ष्णो विकारो माधर्य सक्षोभे सुमहत्यपि ।

महत्यपि विकारहेतौ मधुरो विकारो माधुर्यम् । यथा—

'कपोले जानक्या करिकलभदन्तद्युतिमुषि
स्मरस्मेर गण्डोड्डमरपुलक वक्त्रकमलम् ।
मुहु पश्यञ्छृण्वन्रजनिचरसेनाकलकल
जटाजूटग्रन्थि द्रढयति रघूणा परिवृढ ॥६६॥'

---

२ विलास

विलास मे धैर्ययुक्त गति तथा धैर्ययुक्त ही दृष्टि होती है और वचन मुस्कराहट के साथ ॥११॥

जैसे (उत्तररामचरित ६ १६ मे लव को देखकर राम कहते है,—'इनकी दृष्टि तीनो लोको के बल के उत्कष (सार) को तिनके के समान समझने वाली है, धीर एव उद्धत चाल मानो भूमि को झुका रही हे, कौमार अवस्था मे भी पर्वत के समान गौरव को धारण करता हुआ यह (साक्षात्) वीर रस ही है या दर्प ही हैं' ।

टिप्पणी—ना० शा० (२२ ३५), सा० द० (३ ५२) मे 'धीरा दृष्टिगतिश्चित्रा विलासे सस्मित वच ' यह लक्षण है तथा ना० द० (४ २४२) मे 'विलासो वृषवद् यान धीरा दृक् सस्मित वच '

३ माधुर्य

महान् सक्षोभ उपस्थित होने पर भी मृदु विकार उत्पन्न होना माधुर्य कहलाता है ।

महान् विकार का हेतु (=सक्षोभ) होने पर मधुर विकार होना माधुर्य है । जैसे (हनुमन्नाटक १ १६)—'रघुकुल के नायक (परिवृढ =प्रभु) राम हाथी के बच्चे के दाँतो की कान्ति का हरण करने वाले जानकी के कपोल मे अपने मुस्कराहट से युक्त तथा गण्डस्थल पर मनोहर (उड्डमर) रोमाञ्च से युक्त मुखकमल को बार बार देखते हुए और राक्षसो की सेना के कोलाहल को सुनते हुए जटाजूट की ग्रन्थि को दृढ कर रहे हैं' ।

टिप्पणी—ना० शा० (२२ ३६), सा० द० (३ ५२) मे इसी प्रकार का लक्षण है । ना० द० (४ २४३) मे इस अधिक स्पष्ट किया गया है । यहाँ विकार

अथ गाम्भीर्यम्—

(१९) गाम्भीर्य यत्प्रभावेन विकारो नोपलक्ष्यते ॥१२॥

मृदुविकारोपलम्भाद्विकारानुपलब्धिरन्येति माधुर्यादन्यद् गाम्भीर्यम् ।

यथा—

'आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च ।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रम ॥९७॥'

अथ स्थैर्यम्—

(२०) व्यवसायादचलन स्थैर्य विघ्नकुलादपि ।

यथा वीरचरिते—

'प्रायश्चित्त चरिष्यामि पूज्याना वो व्यतिक्रमात् ।
न त्वेव दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम् ॥९८॥'

(=विकृति) का अर्थ है—अपने सामान्य रूप से भिन्न रूप हो जाना। जहाँ रोमाञ्च आदि के द्वारा हल्की सी विकृति का प्रकाशन होता है, वहाँ माधुर्य गुण कहलाता है। यहाँ 'जटाजूटग्रन्थि द्रढयति, इस कथन द्वारा राम का मृदु विकार प्रकट हो रहा है।

४ गाम्भीर्य—

जिस गुण के प्रभाव से विकार नही दिखलाई पडता वह गाम्भीर्य कहलाता है ॥१२॥

मृदु विकार की उपलब्धि से विकार की अनुपलब्धि भिन्न होती है अत माधुर्य से गाम्भीय भिन्न है। जैसे—आहूतस्य इत्यादि ऊपर उदा० ७९।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२२ ३८,, सा० द० (३ ५३) तथा ना० द० (४ २४६) मे यद्यपि लक्षण का स्वरूप भिन्न है तथापि तात्पर्य यही है। (२) माधुर्य मे मृदु विकार होता है और उसकी प्रतीति भी होती है, किन्तु गाम्भीर्य वह गुण है जिसके कारण कोई विकार लक्षित ही नही होता। जसे यहाँ अभिषेक के लिये बुलाये गये अथवा वन मे भेजे गये राम मे कोई विकार लक्षित नही होता।

५ स्थर्य

अनेको विघ्नो से भी अपने निश्चय से विचलित न होना स्थैर्य है।

जैसे वीरचरित (३ ८) मे ऊपर उदा० ७२।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२२ ३७), सा० द० (३ ५३) मे इसी प्रकार का लक्षण है किन्तु इसे धैर्य कहा गया है। ना० द० (४ २४५) के अनुसार 'विघ्नो के उपस्थित होने पर भी अशुभ प्रारब्ध कार्य से भी विचलित न होना' ही स्थैर्य है। (२) यहाँ व्यवसाय=निश्चय, इसका अर्थ 'कर्तव्यपालन' नही है अत शुभ-अशुभ किसी प्रकार के निश्चय से विचलित न होना ही स्थैर्य है। 'प्रायश्चित्त' इत्यादि उदा० मे परशुराम के शस्त्रग्रहण के महाव्रत से विचलित न होने का वर्णन है।

अथ तेज —

(२१) अधिक्षेपाद्यसहन तेज प्राणात्ययेष्वपि ॥१३ ॥

यथा—

'ब्रूत नूतनकूष्माण्डफलाना के भवन्त्यमी ।
अङ्गुलीदर्शनाद्येन न जीवन्ति मनस्विन ॥९९॥'

अथ ललितम्—

(२२) शृङ्गाराकारचेष्टात्व सहज ललित मृदु ।

स्वाभाविक शृङ्गारो मृदु, तथाविधा शृङ्गारचेष्टा च ललितम् ।

यथा ममैव—

लावण्यमन्मथविलासविजृम्भितेन स्वाभाविकेन सुकुमारमनोहरेण ।
किवा ममेव सखि योऽपि ममोमदेष्टा तस्यैव कि न विषम विदधीत तापम् । १००।

अथौदार्यम्—

(२३) प्रियोक्त्याऽऽजीविताद्दानमौदार्य सदुपग्रह ॥१४॥

---

६ तेज—

प्राणो का सकट उपस्थित होने पर भी अपमान आदि को न सहना तेज कहलाता है ॥१३॥

जैसे—'बतलाओ तो ये मनस्वी जन नवीन कुम्हडे के फूलो के क्या लगते हैं जो ये अडगुली दिखलाने से ही जीवित नहीं रह पाते' ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२२ ४१), सा० द० (३ ५४) मे भी इसी प्रकार के लक्षण है । (२) ऊपर के उदाहरण मे मनस्वी जनो के तनिक सा अपमान न सह सकने का वर्णन किया गया है ।

७ ललित—

शृङ्गार के अनुरूप स्वाभाविक और मृदु चेष्टा करना ही ललित कहलाता है ।

स्वाभाविक शृङ्गार मृदु होता है । और स्वाभाविक एव मृदु (=तथाविधा) शृङ्गार-चेष्टा ललित कहलाती है । जैसे मेरा (धनिक का) ही (पद्य है)—'हे सखि, (वह नायक) सौन्दर्य और काम चेष्टा के स्वाभाविक, मृदु और मनोहर स्फुरण (विजृम्भित) के द्वारा जिस प्रकार मुझ मे विषम सन्ताप उत्पन्न करता है, उसी प्रकार जो मुझे उपदेश देने वाला है, उसमे क्यो नहीं करता' ?

टिप्पणी—ना० शा० (२२ ३९), ना० द० (२,२४८), सा० द० (३ ५५) मे भी इसी प्रकार का लक्षण है ।

८ औदार्य—

(क) प्रिय वचन के साथ जीवन पर्यन्त दान देना तथा (ख) सज्जनो की आराधना (उपग्रह=सन्तुष्ट करना, अपने अनुकूल बनाना अनुरञ्जन, (Propitiation) औदार्य कहलाता है ।

प्रियवचनेन सहाऽऽजीवितावधेर्दानमौदार्यं सतामुपग्रहश्च । यथा नागानन्दे—

'शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति ।
तृप्तिं न पश्यामि तवैव तावत्किं भक्षणात्त्वं विरतो गरुत्मन् ।।१०१।।

सदुपग्रहो यथा —

'एते वयममी दारा कन्येयं कुलजीवितम् ।
ब्रूत येनात्र वः कार्यमनास्था बाह्यवस्तुषु ।।१०२।।'

अथ नायिका—

(२४) स्वान्या साधारणस्त्रीति तद्गुणा नायिका त्रिधा ।

प्रिय वचन के साथ जीवन के अन्त तक दान देना औदार्य कहलाता है तथा सज्जनो का अनुरञ्जन भी । जैसे नागानन्द (६-१६) मे 'शिरामुखैः' इत्यादि ऊपर उदा० ७८ ।

[यहाँ जीमूतवाहन के जीवन तक दान देने का वर्णन है अतः उसके औदार्य की अभिव्यक्ति होती है]

सज्जनो की आराधना यह है, जैसे (?)—'ये हम है, ये स्त्रियाँ हैं, कुल का जीवन यह लडकी है, इनमे से जिससे तुम्हारा प्रयोजन (सिद्ध) हो बतलाओ । बाह्य वस्तुओ मे हमारी आस्था नही है' ।

[यहाँ किसी सज्जन को अपने अनुकूल बनाने का भाव प्रकट होता है]

टिप्पणी—(१) औदार्य के दो रूप है–(१) प्रियवचन के साथ जीवनपर्यन्त दान (ii) सदुपग्रह । (२) ना० शा० (२२ ४०) के अनुसार यह लक्षण है—

दानमभ्युपपत्तिश्च तथा च प्रियभाषणम् ।
स्वजने च परे वाऽपि तदौदार्यं प्रकीर्तितम् ।

यहाँ स्वजन या पर (शत्रु) दोनो के लिये प्रिय वचन के साथ दान और दोनो की रक्षा आदि करना (अभ्युपपत्ति =परित्राणार्थिनोऽङ्गीकरणम्) औदार्य कहा गया है, केवल सदुपग्रह को नही । इसी प्रकार ना० द० (४ २४७) के अनुसार अपने प्राण देकर भी शत्रु तथा मित्र का उपकार (=उपग्रह) करना औदार्य है' तथा सा० द० (३ ५५) मे 'प्रियवचन के साथ दान करना, तथा शत्रु और मित्र के प्रति समभाव को औदार्य कहा गया है ।'

नायिका-भेद

उस (नायक) के (समान) गुणो वाली नायिका होती है जो तीन प्रकार की होती है—
स्वकीया, परकीया तथा साधारणस्त्री ।

तद्गुणेति । यथोक्तसम्भवे नायकसामान्यगुणयोगिनी नायिकेति, स्वस्त्री पर-साधारणस्त्रीत्यनेन विभागेन त्रिधा ।

तत्र स्वीयाया विभागगर्भं सामान्यलक्षणमाह—

(२५) मुग्धा मध्या प्रगल्भेति स्वीया शीलार्जवादियुक् ।।१५।।

शील=सुवृत्तम्, पतिव्रताऽकुटिला लज्जावती पुरुषोपचारनिपुणा स्वीया नायिका । तत्र शीलवती यथा—

'कुलबालिआए पेच्छह जोव्वणलाअण्णविब्भमविलासा ।
पवसन्ति व्व पवसिए एन्ति व्व पिये घर एत्ते ।।१०३।।'
('कुलबालिकाया प्रेक्षध्व यौवनलावण्यविभ्रमविलासा ।
प्रवसन्तीव प्रवसिने आगच्छन्तीव प्रिये गृहमागते ।।')

आर्जवादियोगिनी यथा—

'हसिअमविआरमुद्ध भमिअ विरहिअविलाससुच्छाअम् ।
भणिअ सहावसरल धण्णाण घरे कलत्ताणम् ।।१०४।।
('हसितमविचारमुग्ध भ्रमित विरहितविलाससुच्छायम् ।
भणित स्वभावसरल धन्याना गृहे कलत्राणाम् ।।)

तद्गुणा का अर्थ है—जो नायक के गुण कहे गये हे उनमे से जहाँ तक सम्भव हो उन नायक के सामान्य गुणो से युक्त नायिका होती है । वह अपनी स्त्री, दूसरे की स्त्री तथा साधारण स्त्री इस तरह के भेद से तीन प्रकार की होती है ।)

टिप्पणी सा० द० (३ ५६) भा० प्र० (पृ ९४ प० २० तथा आगे) मे भी इसी प्रकार नायिका के तीन भेदो का वर्णन हे । आचार्य हेमचन्द्र (काव्या० ७. ३) ने इन तीनो भेदो का अधिक सुव्यवस्थित वर्णन किया है । उनके अनुसार शरीर की अवस्था (वय) और कौशल (काम-चेष्टा की निपुणता) के आधार पर नायिकाओ के मुग्धा, मध्या और प्रौढा, ये तीन भेद होते हे । ना० द० (४ २५५) मे कुलजा, दिव्या, क्षत्रिया तथा पण्यस्त्री ये चार प्रकार की नायिकाए कही गई हे ।

१ स्वकीया—

उन तीन प्रकार की नायिकाओ मे (तत्र) स्वकीया का विभाग सहित सामान्य लक्षण बतलाते है—

स्वकीया नायिका शील तथा सरलता आदि से युक्त होती है, वह मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा (तीन प्रकार की) होती है ।।१५।।

शील का अर्थ है—अच्छा आचरण, अत स्वकीया नायिका पतिव्रता, कुटिलता रहित (आर्जवयुक्ता), लज्जावती और पति की सेवा मे निपुण होती है ।

उनमे शीलवती यह है, जैसे—'कुल बालिका के यौवन, लावण्य, विभ्रम तथा विलास देखिये । प्रिय के प्रवास चले जाने पर मानो ये सब चले जाते है और प्रिय के घर आने पर आ जाते हैं' । सरलता आदि से युक्त यह है, जैसे—'भाग्यशाली जनो के

लज्जावती यथा—

'लज्जापज्जत्तपसाहणाइ परतित्तिणिप्पिवासाइ ।
अविणअदुम्मेहाइ धण्णाण घरे कलत्ताइ ॥१०५॥'
('लज्जापर्याप्तप्रसाधनानि परतृप्तिनिष्पिपासानि ॥')
अविनयदुर्मेधासि धन्याना गृहे कलत्राणि ।।')

सा चैवविधा स्वीया मुग्धा मध्या प्रगल्भा भेदात्त्रिविधा ।

तत्र—

(२६) मुग्धा नववय कामा रतौ वामा मृदु क्रुधि ।

प्रथमावतीर्णतारुण्यमन्मथा रमणे वामशीला सुखोपायप्रसादना मुग्धनायिका ।

तत्र वयोमुग्धा यथा—

घर मे नारियो की हँसी बिना सोचे-विचारे ही मनोहर होती है, उनकी चाल विलास रहित होकर भी शोभायुक्त (सुच्छायम्) होती है और बोलना स्वभाव से ही सरल होता है।'

लज्जावती यह है, जैसे—भाग्यशाली जनो के घर मे ही ऐसी नारियाँ होती है जिनका लज्जा ही पर्याप्त प्रसाधन (अलङ्करण) है, जो पर-पुरुषो से तृप्ति की इच्छा नहीं रखती, अविनय करना नहीं जानती (अविनये दुर्मेधासि=अविनय मे कुण्ठित बुद्धि वाली)'।

और वह इस प्रकार की (स्वकीया) नायिका (क) मुग्धा, (ख) मध्य और (ग) प्रगल्भा भेद से तीन प्रकार की होनी है ।

टिप्पणी—(१) ना० द० (४ २५७) मे सभी प्रकार की नायिकाओ के ये तीन भेद किये गये है । किन्तु सा० द० (३ ५७) मे दशरूपक का अनुसरण करके स्वकीया के ही ये तीन भेद किये गये है । इसी प्रकार भा० प्र० (पृ० ९४ प० २१) मे भी स्वकीया के ही ये तीन भेद है । (२) स्वकीया नायिका के लक्षण मे सस्कृत के साहित्यशास्त्र मे आदर्शवादिता की झलक मिलती है किन्तु परकीया और साधारण स्त्री के वर्णन मे उनका दृष्टिकोण यथाथवादी रहा है ।

(क) मुग्धा नायिका

उनमे—

जिसकी अवस्था तथा काम भावना नवीन होती है, जो रति-क्रीडा मे झिझकने वाली (वामा=विपरीत, प्रतिकूल, विमुख) और क्रोध करने मे कोमल होती है, वह मुग्धा नायिका है ।

अर्थात् जिसमे यौवन तथा काम भाव का प्रथम अवतरण होता है, जो रतिक्रीडा मे अनुकूल नही होती (क्योकि उससे अनभिज्ञ होती है), (क्रोध करने पर) जिसे सुखपूर्वक प्रसन्न किया जा सकता है वह मुग्धा नायिका होती है ।

उनमे, वयोमुग्धा यह है, जैसे—'यह स्तन भार बढने वाला है किन्तु अभी उचित विस्तार को नहीं प्राप्त हुआ है । यह त्रिवलि रेखाओ से तो प्रकट हो रही है

'विस्तारी स्तनभार एष गमितो न स्वोचितामुन्नति
रेखोद्भासिकृत वलित्रयमिद न स्पष्टनिम्नोन्नतम् ।
मध्येऽस्या ऋजुरायतार्धकपिशा रोमावली निर्मिता
रम्य यौवनशैशवव्यतिकरोन्मिश्र वयो वतते ॥१०६॥'

यथा च ममैव—

'उच्छ्वसन्मण्डलप्रान्तरेखमाबद्धकुड्मलम् ।
अपर्याप्तमुरोवृद्धे शसत्यस्या स्तनद्वयम् ॥१०७॥'

काममुग्धा यथा—

'दृष्टि सालसता बिभर्ति न शिशुक्रीडासु बद्धादरा
श्रोत्रे प्रेषयति प्रवर्तितसखीसम्भोगवार्तास्वपि ।
पुसामङ्कमपेतशङ्कमधुना नारोहति प्राग्यथा
बाला नूतनयौवनव्यतिकरावष्टभ्यमाना शनै ॥१०८॥'

रतवामा यथा—

'व्याहृता प्रतिवचो न सन्दधे गन्तुमैच्छदवलम्बिताशुका ।
सेवते स्म शयन पराड्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिन ॥१०९॥'

किन्तु स्पष्टत नीची ऊँची नहीं है। इसके मध्य मे सीधी विस्तृत रोमावली बन गई है, जो आधी कपिश वर्ण की (भूरी) ही है। इस प्रकार इसकी यौवन और शैशव के ससर्ग (व्यतिकर) से मिश्रित रमणीय अवस्था है'।

[यहाँ नायिका मे तारुण्य के अवतरित होने का वर्णन किया गया है]

और जैसे मेरा (धनिक का) ही (पद्य है)—'इसके दोनो स्तन, जिनके मण्डल के प्रान्त की रेखा उभर रही है कलियाँ बध गई हे, वक्ष स्थल की वृद्धि की अपूर्णता को बतला रहे है।'

[यहाँ विशेष प्रकार के स्तनो के वर्णन से यौवन का अवतरित होना प्रकट होता है]

काममुग्धा यह है, जैसे—अब इस बाला की दृष्टि अलसाई सी रहती है, बाल-क्रीडा मे यह रुचि नहीं रखती, सखियो के द्वारा चलाई गई सम्भोग की बातो मे कान लगा लेती है, पहिले की भाँति अब शङ्कारहित होकर पुरुषो की गोद मे नहीं बैठ जाती। इस प्रकार धीरे धीरे यह बाला नूतन यौवन के ससग से युक्त हो रही है।'

[यहाँ नायिका मे धीरे धीरे काम के सञ्चार का वणन किया गया है]

रतवामा यह है, जैसे—(कुमारसम्भव ८ २) 'जब (शिव ने पावती से) कुछ कहा तो उसने उत्तर नही दिया, जब उसका आचल पकड लिया तो उसने जाने की इच्छा की, वह दूसरी ओर को मुख करके शय्या पर सोती थी फिर भी वह शिव को आनन्द देने वाली थी'।

[इस वर्णन से पार्वती की रति-विमुखता प्रकट होती है]

मृदु कोपे यथा—

'प्रथमजनिते बाला मन्यौ विकारमजानती
कितवचरितेनासज्याङ्के विनम्रभुजैव सा ।
चिबुकमलिक चोन्नम्योच्चैरकृत्रिमविभ्रमा
नयनसलिलस्यन्दिन्योष्ठे रुदन्त्यपि चुम्बिता ॥११०॥,'

एवमन्येऽपि लज्जासवृतानुरागनिबन्धना मुग्धाव्यवहारा निबन्धनीया, यथा—

'न मध्ये सस्कार कुसुममपि बाला विषहते
न नि श्वासै सुभ्रूर्जनयति तरङ्गव्यतिकरम् ।
नवोढा पश्यन्ती लिखितमिव भर्तु प्रतिमुख
प्ररोहद्रोमाञ्चा न पिबति न पात्र चलयति ॥१११॥'

कोप मे मृदु यह है, जैसे—'पथम बार उत्पन्न कोप मे वह बाला बिगडना नहीं जानती थी, वह भुजाओ को नीचे किये रही और उस धूर्त चरित्र वाले नायक ने उसे गोदी मे खीचकर उसकी ठोडी और मस्तक (अलिक) को ऊपर उठाकर किसी प्रकार की कृत्रिम शृङ्गार चेष्टा (विभ्रम) न करने वाली केवल रोती हुई उसका नेत्र के जल से भीगे ओठो पर चुम्बन किया।'

[इस वर्णन से प्रकट होता है कि मुग्धा कोप मे बिगडना नही जानती, यदि कोप करती भी है तो उसे सहज ही प्रसन्न किया जा सकता है]

इसी प्रकार लज्जा से आच्छादित अनुराग द्वारा उत्पन्न होने वाली (लज्जया सवृतो योऽनुरागस्तन्निबन्धना) मुग्धा की चेष्टाओ का वर्णन करना चाहिये। जैसे—'वह बाला (पेय-पात्र के) बीच मे पुष्प के सस्कार (शोभा या सुगन्ध के लिये रक्खे गये पुष्प) को भी सहन नही करती, वह सुन्दर भौहो वाली अपने श्वास द्वारा (पेय पदार्थ मे) तरङ्गो का व्यवधान (व्यतिकर) भी नहीं उत्पन्न करती, वह नव विवाहिता प्रियतम के मुख के प्रतिबिम्ब को (पेय पदाथ मे) चित्रित सा देखती है, उसके रोमाञ्च उत्पन्न हो गये है तथा वह न तो (पेय को) पीती ही है और न पात्र को हिलाती ही है'।

टिप्पणी—(१) 'न मध्ये' इत्यादि मे लज्जा से आच्छादित अनुराग प्रकट होता है। बाला नवोढा है, मुग्धा है वह अनुराग के कारण पति को देखना चाहती है किन्तु लज्जा से उसका अनुराग ढका है और वह पेय पदार्थ मे प्रिय के प्रतिबिम्ब को देखकर दर्शन की लालसा को तृप्त करना चाहती है। (२) सा० द० (३ ५८), ना० द० (४ २५८) मे भी प्राय इसी प्रकार का विवेचन है। भा० प्र० (पृ० ९६ प० १७ –२०) मे मुग्धा के स्वरूप का अधिक स्पष्ट चित्रण है—

शीलसत्यार्जवोपेता रह सम्भोगलालसा ।
मुग्धा नववय कामा रतौ वामा मृदु क्रुधि ॥
यतते रतिचेष्टासु पत्युर्व्रीडामनोहरम् ।
अपराधे रुदत्येव न वदत्यप्रिय प्रिये ॥

अथ मध्या—

(२७) मध्योद्यद्यौवनानङ्गा मोहान्तसुरतक्षमा ॥१६॥

सम्प्राप्ततारुण्यकामा मोहान्तरतयोग्या मध्या ।

तत्र यौवनवती यथा—

'आलापान् भ्रूविलासो विरलयति लसद्बाहुविक्षिप्तयात
नीवीग्रन्थि प्रथिम्ना प्रतनयति मनाङ्मध्यनिम्नो नितम्बः ।
उत्पुष्यत्पाश्वमूर्च्छत्कुचशिखरमुरो नूनमन्तः स्मरेण
स्पृष्टा कोदण्डकोट्या हरिणशिशुदृशो दृश्यते यौवनश्री ॥१२॥'

कामवती यथा—

'स्मरनवनदीपूरेणोढा पुनर्गुरुसेतुभि-
र्यदपि विधृतास्तिष्ठन्त्यारादपूर्णमनोरथा ।
तदपि लिखितप्रख्यैरङ्गैः परस्परमुन्मुखा
नयननलिनीनालानीतं पिबन्ति रसं प्रिया ॥१३॥

मध्यासम्भोगो यथा—

ताव च्चिअ रइसमए महिलाण विब्भमा विराअन्ति ।
जाव ण कुवलअदलसच्छहाइ मउलेन्ति णअणाइ ॥१४॥

(ख) मध्या नायिका

जिसमे यौवन और काम का उदय हो रहा है, जो मूर्च्छा की अवस्था (मोह) पर्यन्त रति मे समर्थ है, वह मध्या नायिका है।

तारुण्य और काम-भाव को प्राप्त कर चुकने वाली तथा मोह की अवस्था पर्यन्त सुरत के योग्य नायिका मध्या होती है।

उनमे यौवन से युक्त यह है जैसे—'उसके भ्रू विलास ने आलाप (वार्तालाप=बातचीत) को कम कर दिया है, उसका गमन भुजाओ के हिलने से शोभित है, मध्य भाग मे नीचा नितम्ब अपने विस्तार से नीवी की ग्रन्थि को तनिक क्षीण (शिथिल) कर रहा है, वक्षस्थल के पार्श्व भाग विकसित हो रहे है, स्तन-शिखर बढ़ रहा है (मूर्च्छत्)। ऐसा दिखलाई देता है कि अवश्य ही अन्त करण मे स्थित कामदेव ने अपने धनुष की कोर से मृगशावकनयनी की यौवन श्री का स्पर्श कर लिया है'।

[इस वर्णन द्वारा यह प्रकट होना है कि नायिका को पूर्ण यौवन प्राप्त हो रहा है]

काम से युक्त नायिका यह है, जैसे—'कामदेव की नूतन सरिता के प्रवाह मे बहते हुए प्रिय यद्यपि गुरुजन रूपी सेतु के द्वारा रोके हुए अपूर्ण मनोरथ वाले होकर निकट बैठे है तथापि चित्रलिखित से अङ्गो द्वारा एक दूसरे के प्रति उन्मुख होकर नेत्र रूपी कमलनाल से लाये हुए रस का पान कर रहे है'।

मध्या की रति इस प्रकार की होती है, जैसे—'महिलाओ की शृङ्गार-

('तावदेव रतिसमये महिलाना विभ्रमा विराजन्ते ।
यावन्न कुवलयदलस्वच्छाभानि मुकुलयन्ति नयनानि ॥')

एव धीरायामधीराया धीराधीरायामप्युदाहार्यम् ।

अथास्या मानवृत्ति —

(२८) धीरा सोत्प्रासवक्रोक्त्या, मध्या साश्रु कृतागसम् ।
खेदयेद् दयित कोपादधीरा परुषाक्षरम् ॥१७॥

मध्याधीरा कृतापराध प्रिय सोत्प्रासवक्रोक्त्या खेदयेत् । यथा माघे—

'न खलु वयममुष्य दानयोग्या
पिबति च पाति च यासकौ रहस्त्वाम् ।
व्रज विटपममु ददस्व तस्यै
भवतु यत सदृशोश्चिराय योग ॥१२५॥

चेष्टाए रतिकाल मे तभी तक शोभित होती है, जब तक कि नीलकमल पत्र के समान निमल आभा वाले नेत्र मुकुलित (बन्द) नहीं हो जाते' ।

[इस वर्णन से मूर्च्छा की अवस्था पर्यन्त रति-सामर्थ्य प्रकट होता है]

इसी प्रकार धीरा, अधीरा तथा धीराधीरा का भी उदाहरण किया जा सकता है ।

टिप्पणी—(१) मि०, ना० द० (४ २५६) 'मध्या मध्यवय —काम—माना मूर्च्छान्तमोहना', भा० प्र० (पृ० ६६ प० २१-२७) । सा० द० (३ ५६) मे मध्या का लक्षण अधिक स्पष्ट है—'मध्या वह है जो विचित्र रतिलीला मे निपुण हो, जिसका काम और यौवन उभार पर हो, जो कुछ प्रगल्भ वचन बोलती हो और मध्यम कोटि की लज्जा रखती हो ।' (२) मध्या के धीरा, अधीरा तथा धीराधीरा, ये तीन प्रकार माने जाते है । तीनो प्रकार की मध्या नायिका के रतिवर्णन मे भी कुछ अवान्तर भेद हो सकता है जिसके उदाहरण काव्य-नाट्य मे देखे जा सकते हैं । ना० द० (४ २५६) तथा दशरूपक के अग्रिम (२ १७) विवेचन मे धीरा, अधीरा तथा धीराधीरा की 'मानवृत्ति' का ही वर्णन किया गया है ।

इस (मध्या) नायिका की मानवृत्ति इस प्रकार की है—

'मध्या धीरा ताने' (उत्प्रास) के साथ वक्रोक्ति से, धीराधीरा आँसुओ और ताने के साथ वक्रोक्ति मे और अधीरा कोप के साथ अश्रु पूर्वक कठोर शब्दो से अपराधी प्रियतम को फटकारती है —

मध्या धीरा अपराध करने वाले प्रियतम को ताने सहित वक्रोक्ति से फटकारती है । जैसे माघ (७ ५३) मे [अपराध करने के पश्चात् कोई नायक नायिका को मनाने के लिये वृक्ष की शाखा (विटप) अर्पित करता है, इस पर नायिका कहती है] 'हम तो इस दान के योग्य नही हैं जो वह एकान्त मे तुम्हे पीती है और तुम्हारी रक्षा करती है, जाओ, इस शाखा को उसी को दे दो; जिससे इन दोनो समान वस्तुओ का चिरकाल के लिये सयोग हो जाये' ।

धीराधीरा साश्रु सोत्प्रासवक्रोक्त्या खेदयेत्, यथाऽमरुशतके—

'बाले नाथ विमुञ्च मानिनि रुष रोषान्मया किं कृत
खेदोऽस्मासु न मेऽपराध्यति भवान्सर्वेऽपराधा मयि ।
तत्किं रोदिषि गद्गदेन वचसा कस्याग्रतो रुद्यते
नन्वेतन्मम का तवास्मि दयिता नास्मीत्यतो रुद्यते ॥११६।'

अधीरा साश्रु परुषाक्षरम्, यथा—

'यातु यातु किमनेन तिष्ठता मुञ्च मुञ्च सखि मादर कृथा ।
खण्डिताधरकलङ्कित प्रिय शक्नुमो न नयनैर्निरीक्षितुम् ॥११७॥'

एवमपरेऽपि व्रीडानुपहिता स्वयमनभियोगकारिणो मध्याव्यवहारा भवन्ति, यथा—

'स्वेदाम्भ कणिकाञ्चितेऽपि वदने जातेऽपि रोमोद्गमे
विश्रम्भेऽपि गुरौ पयोधरभरोत्कम्पेऽपि वृद्धि गते ।

टिप्पणी—(१) विटप=१ शाखा २ विट अर्थात् कामुक या उपपति का पान करने वाली या रक्षा करने वाली । (२) यहाँ नायिका ताना देकर वक्रोक्ति से फटकार रही है ।

धीराधीरा अश्रुपूर्वक ताने सहित वक्रोक्ति से अपराधयुक्त प्रियतम को फटकारती है । जैसे अमरुशतक (५७) मे—'(नायक) 'बाले, (नायिका) नाथ, (नायक) मानिनी, क्रोध को छोड दो । (नायिका) क्रोध से मैने क्या कर लिया ? (नायक) हमारे (हृदय) मे खेद उत्पन्न कर दिया । (नायिका) आपने मेरा कोई अपराध नहीं किया, सब मेरा ही दोष है । (नायक) तो फिर गद्गद वचन के साथ क्यो रो रही हो ? (नायिका) किसके आगे रो रही हूँ ? (नायक) यह मेरे ही तो सामने । (नायिका) मै तेरी कौन हूँ ? (नायक) प्रियतमा । (नायिका) आपकी प्रियतमा नही रही इसीलिये रो रही हूँ ।

टिप्पणी—नायिका की इस फटकार मे अश्रु है (रुद्यते) और ताने के साथ वक्रोक्ति भी (न मेऽपराध्यति, का तवाऽस्मि इत्यादि) ।

अधीरा मध्या अश्रुपूवक कठोर वचनो से अपराधयुक्त नायक को फटकारती है), जैसे—[अपराधयुक्त नायक कुपित नायिका को मनाने का प्रयास करता है, वह नहीं मानती तो नायक वापस चल देता है । इस पर कोई सखी नायक को रोकती है तो नायिका कहती है]—'हे सखी, इसे जाने दो, जाने दो, इसके ठहरने से क्या प्रयोजन ? छोड दो, इसका आदर मत करो । (अन्य नायिका के द्वारा) खण्डित अधर से कलङ्कित प्रिय को हम आँखो से भी नही देख सकती' ।

इसी प्रकार मध्या नायिका के और भी व्यवहार होते है जो लज्जा से ढके नहीं होते और (सुरत मे) नायिका की स्वत प्रवृत्ति न कराने वाले होते है । जैसे—'यद्यपि नायिका का मुख स्वेद जलकण से युक्त हो गया, उसे रोमाञ्च हो आया, गुरुजन (के न आने) से निश्चिन्तता भी रही, स्तन-भार का कम्पन भी बढ़

दुर्वारस्मरनिर्भरेऽपि हृदये नैवाभियुक्त प्रिय—
स्तन्वङ्ग्या हठकेशकषरणघनाश्लेषामृते लुब्धया
स्वतोऽनभियोजकत्व हठकेशकर्षणघनाश्लेषामृते लुब्धयेवत्युत्प्रेक्षाप्रतीते ।

अथ प्रगल्भा —

(२९) यौवनान्धा स्मरोन्मत्ता प्रगल्भा दयिताङ्गके ।
विलीयमानेवानन्दाद्रतारम्भेऽप्यचेतना ॥१८॥

गाढयौवना यथा ममैव—
'अभ्युन्नतस्तनमुरो नयने च दीर्घे
वक्रे भ्रुवावतितरा वचन ततोऽपि ।'

गया, हृदय कठिनता से रोकने योग्य काम भाव से भर गया । फिर भी उस कृशाङ्गी ने मानो हठात् केशकषरण तथा गाढ आलिङ्गन रूपी अमृत के लोभ से प्रिय को स्वय (सुरत मे) प्रवृत्त नहीं कराया' ।

यहाँ "मानो हठात् केशकर्षण तथा गाढ आलिङ्गन (=आश्लेष) रूपी अमृत मे लुब्धा ने" इस प्रकार उत्प्रेक्षा की प्रतीति होने मे 'स्वय प्रवृत्ति न कराना' प्रकट हो रहा है ।

टिप्पणी—(१) ना०द० (४ १५६ वृत्ति) तथा सा०द० (३ ६१) मे धीरा, अधीरा और धीराधीरा मध्या नायिकाओ के मान का इसी प्रकार वर्णन किया गया है । (२) व्रीडानुपहिता=लज्जा की उपाधि से रहित, इस पद के द्वारा मध्या के व्यवहारो का मुग्धा के व्यवहारो से भेद दिखलाया गया हे, मुग्धा के व्यवहार लज्जा से आच्छादित (लज्जासवृत्त) होते है (२ १६) किन्तु मध्या के व्यवहार सर्वथा लज्जा से आच्छादित नही होते, हाँ, उनमे लज्जा रहती अवश्य हे । इसीलिये सा० द० (३ ५९) मे इसे 'मध्यमव्रीडिता' कहा हे । (३) स्वयम् अनभियोगकारिण—सुरते स्वकीय—(मध्या) प्रवृत्त्यप्रयोजका, प्रिय स्वयमेव सुरते प्रवततेति समीहते मध्येति भाव (प्रभा)=नायक की सुरत मे स्वय प्रवृत्ति न कराने वाली, इस पद के द्वारा मध्या का प्रगल्भा से भेद दिखलाया गया ह । प्रगल्भा नायिका नायक को सुरत मे स्वय प्रवृत्त कराने वाली होती है जसा कि 'रतप्रगल्भा' (उदा० १२२) पद से विदित होता है । भा० प्र० मे भी कहा गया हे—'प्रगल्भाऽऽरभते' स्वर बाह्ये चाभ्यन्तरे रते' (४) स्वतो · प्रतीते—इस पक्ति का अन्वय इस प्रकार हे—हठकेशकषणघनाश्लेषामृते लुब्धयेव (प्रियो नैवाभियुक्त) इत्युत्प्रेक्षापतीते (नायिकाया) स्वतोऽनभियोजकत्व (लभ्यते) ।

(ग) प्रगल्भा—

जो यौवन मे अन्धी सी, काम से उन्मत्त सी, आनन्द के कारण प्रियतम के अङ्गो मे प्रविष्ट होती हुई सी और सुरत के आरम्भ मे भी चेतना-रहित हो जाती है, वह प्रगल्भा नायिका है ।

गाढ यौवन वाली (जवानी मे अन्धी सी) यह है जैसे मेरा (धनिक का) ही (पद्य है)—'उस अनूठे यौवन वाली का उर स्थल उभरे स्तनो वाला है, नेत्र विशाल है, भौहे वक्र हैं, वचन उनकी अपेक्षा भी अधिक वक्र है, मध्यभाग

मध्योऽधिक तनुरतीवगुरुर्नितम्बो
मन्दा गति किमपि चाद्भुतयौवनाया ॥११६॥'

यथा च —

'स्तनतटमिदमुत्तुङ्ग निम्नो मध्य समुन्नत जघनम् ।
विषमे मृगशावाक्ष्या वपुषि नवे क इव न स्खलति ॥१२०॥'

भावप्रगल्भा यथा—

'न जाने सम्मुखायाते प्रियाणि वदति प्रिये ।
सर्वाण्यङ्गानि कि यान्ति नेत्रतामुत कर्णताम् ॥१२१॥'

रतप्रगल्भा यथा —

कान्ते तल्पमुपागते विगलिता नीवी स्वय बन्धनाद् —
वास प्रश्लथमेखलागुणधृत किञ्चिन्नितम्बे स्थितम ।
एतावत् सखि वेद्मि केवलमह तस्याङ्गसङ्गे पुन
कोऽसौ कास्मि रत नु कि कथमिति स्वल्पाऽपि मे न स्मृति ॥१२२॥'

एवमन्येऽपि परित्यक्तह्रीयन्त्रणावैदग्ध्यप्राया प्रगल्भाव्यवहारा वेदितव्या । यथा—

अत्यन्त क्षीण है तथा नितम्ब अत्यधिक भारी, और चाल कुछ मन्द हो गई है' । और जैसे—'यह ऊपर उठा हुआ स्तनतट नीचा मध्यभाग, और फिर ऊँचा जघन—स्थल, इस प्रकार मृगशावकनयनी के इस विषम (ऊँचे नीचे) तथा नवीन शरीर मे कौन स्खलित नहीं होगा ?'

टिप्पणी—यहाँ नायिका के गाढ यौवन का वर्णन है । 'विषमे न स्खलति' का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार नई ऊँची नीची भूमि मे कोई भी व्यक्ति चलते हुए फिसल जाता है इसी प्रकार इसके गाढ यौवन से पूर्ण शरीर के प्रति भी उसके फिसलने की सम्भावना है ।

भावप्रगल्भा (भावो मे प्रगल्भा) यह है, जैसे (कोई नायिका अपनी सखी से कहती है) 'प्रियतम के सामने आने पर और प्रिय वचन कहने पर न जाने मेरे समस्त अङ्ग ही नेत्र बन जाते है अथवा श्रोत्र बन जाते हैं (अर्थात् प्रियतम के निकट आने पर मै सब ओर उन्हे ही देखती हूँ, उनके बोलने पर सब ओर उनकी ही बात सुनती हू) ।'

रतप्रगल्भा (रति मे प्रगल्भा) यह है, जैसे (अमरु० १०१ मे नायिका अपनी सखी से कहती है) 'प्रियतम के सेज पर आते ही मेरी नीवी की गाठ स्वय ही खुल गई, ढीली करधनी की लडी (गुण) से रोका गया वस्त्र भी कुछ नितम्ब पर ही ठहरा रहा । मैं तो अब केवल इतना ही जानती हू । उसके अङ्गो का सम्पर्क होने के बाद की तो 'वह क्या है, मै क्या हू, किस प्रकार की रतावस्था है' इत्यादि किसी बात की तनिक भी स्मृति मुझे नहीं रही' ।

इसी प्रकार और भी प्रगल्भा के व्यवहार जानने चाहियें, जिनमे लज्जा की यन्त्रणा छोड़ दी जाती है और विदग्धता का प्राचुर्य होता है । जैसे (अमरु०

'क्वचित्ताम्बूलाक्त क्वचिदगरुपङ्काङ्कमलिन
क्वचिच्चूर्णोद्गारी क्वचिदपि च सालक्तकपद ।
वलीभङ्गाभोगैरलकपतितै शीर्णकुसुमै
स्त्रिया सर्वावस्थ कथयति रत प्रच्छदपट ॥१२३॥'

अथास्या कोपचेष्टा—

(३०) सावहित्थादरोदास्ते रतौ, धीरेतरा क्रुधा ।
सन्तर्ज्य ताडयेद्' मध्या मध्याधीरेव त वदेत् ॥१९॥

सहावहित्थेन=आकारसवरणेनादरेण च=उपचाराधिक्येन वतते सा सावहित्थादरा, रतावुदासीन क्रुधा कोपेन भवति ।

सावहित्थादरा यथाऽमरुशतके—

'एकत्रासनसस्थिति परिहृता प्रत्युगद्गमाद् दूरत–
स्ताम्बूलाहरणच्छलेन रभसाश्लेषोऽपि सविघ्नित ।

---

१०७) 'बिछाने का वस्त्र (चादर) नायिका की सब प्रकार की रति को प्रकट कर रहा है । वह वस्त्र कही पान से रगा है, कहीं अगर के लेप के धब्बो से मलिन है, कहीं (गन्ध के) चूर्ण से युक्त है और कही महावर लगे पद (पद-चिह्न) से तथा कहीं केशो से गिरे हुए मृदित (शीर्ण) पुरुषो से युक्त हे ।

टिप्पणी—(१) क्वचित्० इत्यादि मे नायिका की विविध प्रकार की कामशास्त्रोक्त रति-विधियाँ प्रकट होती हे । यदि नायिका लज्जा का नियन्त्रण स्वीकार करे या उसमे विदग्धता न हो तो वह विविध प्रकार की रतिविधियो का प्रयोग नही कर सकती (द्र० अमर० १०७ टिप्पणी) । (२) ना० द० (४ २६०) के अनुसार दीप्त आयु, मान तथा काम वाली और प्रिय के स्पर्शमात्र से बेसुध हो जाने वाली प्रगल्भ नायिका होती है । सा० द० (३ ६०) मे प्राय दशरूपक के समान ही प्रगल्भता का स्वरूप दिखलाया गया है । प्रता० (१ ५६) मे प्रगल्भा को 'प्रौढा' कहा गया है, इसी प्रकार वाग्भटालङ्कार तथा काव्यानुशासन मे भी ।

इस (प्रगल्भा) की कोपचेष्टा इस प्रकार होती है—

धीरा प्रगल्भा अवहित्थ (=आकार-सवरण) तथा आदर प्रदर्शन सहित व्यवहार करती है, वह कोप के कारण रति मे उदासीन रहती है। अधीरा (धीरेतरा) प्रगल्भा क्रोध मे (नायक को) फटकार कर पीटती है। धीराधीरा (मध्य) प्रगल्भा तो धीराधीरा मध्या के समान उस नायक से बात करती है ॥१९॥

जो (कुपित) आकार को छिपाकर अधिक औपचारिकता (आदर) के साथ व्यवहार करती है वह 'सावहित्थादरा' कहलाती है । कोप के कारण रति मे उदासीन रहती है ।

सावहित्थादरा यह है, जैसे अमरुशतक (१८) मे 'नायक को दूर से आते हुए देखकर अगवानी मे उठते हुए एक आसन पर बैठने को बचा दिया, पान लाने के बहाने से (नायक द्वारा) वेगपूर्वक किये जाते हुए आलिङ्गन मे भी विघ्न कर

आलापोऽपि न मिश्रित परिजन व्यापारयन्त्याऽन्तिके
कान्त प्रत्युपचारतश्चतुरया कोप कृतार्थीकृत ॥१२४॥'

रतावुदासीना यथा--

'आयस्ता कलह पुरेव कुरुते न स्र सने वाससो
भग्नभ्रू गतिखण्डयमानमधर धत्ते न केशग्रहे ।
अङ्गान्यर्पयति स्वय भवति नो वामा हठालिङ्गने
तन्व्या शिक्षित एष सम्प्रति कुत कोपप्रकारोऽपर ॥१२५॥

इतरा त्वधीरप्रगल्भा कुपिता सती सन्तर्ज्यं ताडयति । यथाऽमरुशतके---

'कोपात्कोमललोलबाहुलतिकापाशेन बद्ध्वा दृढ
नीत्वा केलिनिकेतन दयितया साय सखीना पुर ।
भूयोऽप्येवमिति स्खलत्कलगिरा ससूच्य दुश्चेष्टित
धन्यो हन्यत एष निह्नुतिपर प्रयान् रुदत्या हसन् ॥१२६॥

धीराधीरप्रगल्भा मध्याधीरेव त वदति सोत्प्रासवक्रोक्त्या । यथा तत्रैव--

'कोपो यत्र भ्रुकुटिरचना निग्रहो यत्र मौन
यत्र न्योन्यस्मितमनुनयो दृष्टिपात प्रसाद ।

दिया, नायक के पास सेवको को काम मे लगाती हुई उसने नायक से बात-चीत भी न की इस प्रकार प्रियतम के प्रति औपचारिकता का प्रदर्शन करके उस प्रगल्भा (नायिका) ने अपना कोप सफल कर लिया' ।

रति मे उदासीन यह है, जैसे (अमरु० '०६ मे नायक कहता है)—'परिश्रान्ता सी (आयस्ता) वह वस्त्र खींचने पर पहिले के समान कलह नहीं करती, केश ग्रहण के समय भौहे वक्र करके अधर नहीं काटती । स्वय अपने अङ्गो को अर्पित कर देती है और बलात् आलिङ्गन करने पर विरोध नहीं करती । इस प्रकार कृशाङ्गी ने कहीं से यह और (=अपर=अनूठा) ही कोप का प्रकार सीख लिया है ।'

दूसरी अर्थात् अधीर प्रगल्भा तो कुपित होकर नायक को फटकार कर पीटती है । जैसे अमरुशतक (६) मे (कवि वर्णन करता है) 'प्रियतमा अपनी काँपती हुई कोमल बाहुलता से प्रियतम को दृढतापूर्वक बाधकर सायकाल सखियों के सामने ही केलिगृह मे ले आई । 'फिर भी ऐसे ही' इस प्रकार की कम्पित मृदु वाणी से उसके अपराध को सूचित करके रोती हुई उस नायिका ने (अपने अपराध को) छिपाने मे तत्पर तथा हँसते हुए उस सौभाग्यशाली (धन्य) को पीटा' ।

धीराधीरा जो प्रगल्भा होती है, वह भी धीराधीरा मध्या के समान उस (नायक) से ताने भरी वक्रोक्ति के साथ बातें करती है । जैसे वहीं (अमरु० ३८ मे नायिका नायक से कहती है) 'जिस प्रेम मे भ्रू-विलास ही कोप है, मौन ही दण्ड है, एक दूसरे के प्रति मुसकराना ही अनुनय है, दृष्टि डालना ही प्रसन्नता है, देखो

तस्य प्रेम्णस्तदिदमधुना वैशस पश्य जात

त्व पादान्ते लुठसि न च मे मन्युमोक्ष खलाया ।।१२७।।

पुनश्च—

(३१) द्वेधा ज्येष्ठा कनिष्ठा चेत्यमुग्धा द्वादशोदिता ।

मध्याप्रगल्भाभेदाना प्रत्येक ज्येष्ठाकनिष्ठात्वभेदेन द्वादश भेदा भवन्ति । मुग्धा त्वेकरूपैव । ज्येष्ठाकनिष्ठे यथाऽमरुशतके—

'दृष्ट्वैकासनसस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-

देकस्या नयने निमील्य विहितक्रीडानुबन्धच्छल ।

ईषद्वक्रितकन्धर सपुलक प्रेमोल्लसन्मानसा-

मन्तर्हासलसत्कपोलफलका धूर्तोऽपरा चुम्बति ।।१२८।।

न चानयोर्दाक्षिण्यप्रेमभ्यामेव व्यवहार अपितु प्रेम्णापि यथा चैतत्तथोक्त दक्षिण-लक्षणावसरे । एषा च धीरमध्या-अधीरमध्या धीराधीरमध्या-धीरप्रगल्भा-अधीर-

---

तो उस प्रेम का यह अब कैसा विनाश (वैशसम) हुआ है कि तुम मेरे चरणो मे लेट रहे हो और मुझ दुष्टा का कोप ही दूर नही होता' ।

टिप्पणी—मध्या नायिका के समान प्रगल्भा भी तीन प्रकार की होती है—धीरा, धीराधीरा और अधीरा, मि०, ना० द० (४ २६० वृत्ति) तथा सा० द० (३ ६१) । ना० द० (४ २६० वृत्ति) तथा सा० द० (३ ६२–६४) मे प्रगल्भा की कोपचेष्टा का प्राय इसी प्रकार वर्णन किया गया है ।

और फिर भी

(मध्या तथा प्रगल्भा नायिकाए) दो प्रकार की होती है—ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा । इस प्रकार मुग्धा से भिन्न नायिकाओ के बारह भेद हो जाते है ।

मध्या और प्रगल्भा के भेदों मे से प्रत्येक के ज्येष्ठा और कनिष्ठा दो भेद होने से दोनो के कुल १२ भेद हो जाते है । किन्तु मुग्धा तो एक प्रकार की ही होती है । ज्येष्ठा और कनिष्ठा इस प्रकार की होती है, जैसे अमरुशतक (१६) मे (कविवर्णन करता है) 'एक आसन पर बैठी दो प्रियाओ को देखकर प्रियतम ने आदरपूर्वक पीछे से पास जाकर क्रीडा करने के बहाने से एक की आखे मू द लीं और उस धूत ने रोमाञ्चित होकर ग्रीवा को कुछ वक्र करके प्रेम से उल्लसित हृदय वाली एव आन्तरिक हास से शोभित कपोल तल वाली दूसरी नायिका का चुम्बन किया' ।

इन दोनो (ज्येष्ठा और कनिष्ठा) के प्रति क्रमश (ज्येष्ठा के प्रति) केवल दाक्षिण्य का ही तथा (कनिष्ठा के प्रति) प्रेम का ही व्यवहार पाया जाता है, यह बात नहीं है, अपि तु (ज्येष्ठा के प्रति) प्रेम का भी व्यवहार देखा जाता है । यह किस प्रकार होता है यह दक्षिण नायक के लक्षण के अवसर पर (सहृदयत्वेन शठाद् विशेष इत्यादि) बतलाया जा चुका है ।

प्रगल्भा-धीराधीरप्रगल्भाभेदाना प्रत्येक ज्येष्ठाकनिष्ठाभेदाद् द्वादशाना वासवदत्ता-रत्नावलीवत्प्रबन्धनायिकानामुदाहरणानि महाकविप्रबन्धेष्वनुसर्तव्यानि ।

अथान्यस्त्री—

(३२) अन्यस्त्री कन्यकोढा च नान्योढाऽङ्गिरसे क्वचित् ॥२०॥
कन्यानुरागमिच्छात कुर्यादङ्गाङ्गिसश्रयम ।

नायकान्तरसम्बन्धिन्यन्योढा यथा—

'दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाप्यस्मिन्गृहे दास्यसि ।
प्रायेणास्य शिशो पिता न विरसा कौपीरप पास्यति ।
एकाकिन्यपि यामि तद्वरमित स्रोतस्तमालाकुल
नीरन्ध्रास्तनुमालिखन्तु जरठच्छेदा नलग्रन्थय ॥१२६॥'

इय त्वङ्गिनी प्रधाने रसे न क्वचिन्निबधनीयेति न प्रपञ्चिता ।

इन धीरमध्या अधीरमध्या, धीराधीरमध्या तथा धीरप्रगल्भा, अधीरप्रगल्भा धीराधीरप्रगल्भा मे से प्रत्येक के ज्येष्ठा और कनिष्ठा दो भेद होने के कारण कुल १२ भेद हो जाते है । इन १२ प्रबन्धनायिकाओ के उदाहरण वासवदत्ता (ज्येष्ठा) तथा रत्नावली (कनिष्ठा) के समान महाकवियो की रचनाओ मे खोजने चाहियें ।

टिप्पणी (१)—मि०, सा० द० (३ ६४–६५), रसार्णव सुधासार (१ १०५)।
(२) इस प्रकार स्वकीया नायिका के १३ भेद होते है —

मुग्धा केवल एक प्रकार	= १
मध्या (धीरा, अधीरा, धीराधीरा) × (ज्येष्ठा, कनिष्ठा)	= ६
प्रगल्भा (धीरा, अधीरा, धीराधीरा) × ज्येष्ठा, कनिष्ठा)	= ६

परकीया (अन्य स्त्री)

अन्य स्त्री (परकीया) दो प्रकार की होती है—कन्या तथा विवाहिता। अन्य विवाहिता स्त्री (परोढा) को कभी भी प्रधान रस की नायिका नही बनाना चाहिये । कन्या के अनुराग को तो कवि इच्छानुसार प्रधान या अप्रधान रस का आधार बना सकता है ॥२०–२१॥

किसी अन्य नायक की विवाहिता स्त्री अन्योढा (परोढा) कहलाती है, जैसे—'हे पडोसिन, क्षण भर को यहाँ हमारे घर पर भी निगाह रखना । इस बालक का पिता (अर्थात् मेरा स्वामी) कुएँ के स्वादरहित जल को नहीं पीता, इसलिये यह ठीक ही है कि मै अकेली होकर भी तमाल वृक्षो से घिरे हुए स्रोत पर यहाँ से जाऊँ, भले ही पुराने खण्डो वाली नल (नरसल) की घनी (नीरन्ध्रा = रन्ध्र अर्थात् छिद्र से रहित) गाठें मेरे शरीर को खरोच दें' ।

इस (परोढा) की तो अङ्गी अर्थात् प्रधान रस मे कभी भी योजना नहीं करनी चाहिये, इसीलिये इसका विस्तारपूर्वक वर्णन नहीं किया गया ।

टिप्पणी – (१) इस उक्ति से प्रकरण आदि के अनुसार यह प्रकट होता है कि नायिका परपुरुष से रतिक्रीडा के लिये जा रही है । रतिक्रीडा मे होने वाले

कन्यका तु पित्राद्यायत्तत्वादपरिणीताप्यन्यस्त्रीत्युच्यते, तस्या पित्रादिभ्योऽलभ्यमानाया सुलभायामपि परोपरोधस्वकान्ताभयात्प्रच्छन्न कामित्व प्रवर्तते, यथा मालत्या माधवस्य सागरिकाया च वत्सराजस्येति । तदनुरागश्च स्वेच्छया प्रधाना-प्रधानरससमाश्रयो निबन्धनीय । यथा रत्नावलीनागानन्दयो सागरिका-मलयवत्यनुराग इति ।

(३३) साधारणस्त्री गणिका कलाप्रागल्भ्यधौर्त्ययुक् ॥२१॥

तद्व्यवहारो विस्तरत शास्त्रान्तरे निदर्शित । दिङमात्र तु--

दन्तक्षत, नखक्षत आदि को छिपाने के लिये वह नल की गाँठो से छिद जाने की बात बना रही है। (२) लोक मे अन्य की परिणीता भी किसी अन्य पुरुष से प्रेम करने लगती है। सस्कृत के मुक्तक काव्यो मे इस प्रकार के प्रेम-प्रसङ्गो का वर्णन किया गया है, यद्यपि इस प्रकार का प्रेम वर्णन रसाभास (शृङ्गाराभास) के अन्तर्गत ही माना जाता है रस के अन्तर्गत नही। साहित्य शास्त्र की यह भी मर्यादा है कि जहाँ शृङ्गार प्रधान रस हो उस शृङ्गार का आलम्बन परोढा को नही बनाया जा सकता।

यद्यपि कन्या अविवाहिता होती है तथापि उसे अन्य स्त्री (परकीया) कहा जाता है, क्योकि वह पिता आदि के अधीन होती है। उस (कन्या) मे गुप्त रूप से प्रेम की प्रवृत्ति हुआ करती है, क्योंकि (प्रथम तो) वह पिता इत्यादि से प्राप्त ही नहीं की जा सकती। यदि प्राप्त भी हो जाती है तो दूसरो की रुकावट या अपनी प्रियतमा का भय होता है। जैसे मालती मे माधव का (दूसरो की रुकावट के कारण) और सागरिका मे वत्सराज का (देवी वासवदत्ता के भय के कारण) अनुराग गुप्तरूप से प्रवत्त होता है। कन्या के अनुराग का इच्छानुसार प्रधान तथा अप्रधान दोनो रसो मे वर्णन किया जा सकता है। जैसे रत्नावली और नागानन्द मे सागरिका तथा मलयवती के अनुराग का वर्णन है

टिप्पणी—(१) रत्नावली मे प्रधान रस शृङ्गार है उसके सन्दर्भ मे सागरिका के अनुराग का वर्णन किया गया है नागानन्द मे प्रधान रस दयावीर है, शृङ्गार अप्रधान है, उसके सन्दभ मे मलयवती के अनुराग का वर्णन किया गया है। सुदर्शनाचार्यकृत प्रभा (सस्कृत टीका) मे कहा गया है—जीमूतवाहन शान्तरस का नायक है (जीमूतवाहनस्य प्राधान्येन शान्तरसनायकत्वात्), यह कथन धनञ्जय और धनिक के मत के प्रतिकूल है। धनिक ने नागानन्द मे दयावीर रस की प्रधानता मानी है (द्र०, आगे ४ ३५)। (२) मि०, सा० द० (३ ६६–६७) भा० प्र० (पृ० ९४)।

साधारण स्त्री (सामान्य नायिका)

साधारण स्त्री तो गणिका होती है जो कला, प्रगल्भता और धूर्तता से युक्त होती है।

उस (साधारण स्त्री) का व्यवहार अन्य शास्त्रों मे विस्तारपूर्वक वर्णित किया गया है। दिग्दर्शन मात्र तो यह है—

(३४) छन्नकामसुखार्थाज्ञस्वतन्त्राहयुपण्डकान्।
रक्तेव रञ्जयेदाढयान्नि स्वान्मात्रा विवासयेत् ॥२२॥

छन्न ये कामयन्ते ते छन्नकामा श्रोत्रियवणिग्लिङ्गिप्रभृतय, सुखाथ अप्रयासावाप्तधन सुखप्रयोजनो वा, अज्ञो मूख, स्वतन्त्रो निरङ्कुश अहयुरहङ्कृत, पाण्डको वातपण्डादि, एतान्बहुवित्तान् रक्तेव रञ्जयेदर्थार्थम्-तत्प्रधानत्वात्तद्वृत्ते गृहीतार्थान्कुट्टिन्यादिना निस्कासयेत् पुन प्रतिसन्धानाय। इद तासामौत्सर्गिक रूपम्।

रूपकेषु तु—

वह छिपकर प्रेम करने वाले, सुखपूर्वक धन प्राप्त करने वाले, अज्ञानी स्वछन्द, अहकारी और पण्डक आदि को, यदि धनवान् हो तो अनुरक्ता के समान प्रसन्न करती है और धन रहित होने पर इनको (नि स्वान्) माता के द्वारा निकलवा देती है ॥२२॥

जो गुप्त रूप से काम-तृप्ति करते है वे 'छन्नकाम' कहे जाते है, जैसे श्रोत्रिय (वेदपाठी) व्यापारी तथा सन्यास इत्यादि का चिन्ह (लिङ्ग) धारण करने वाले, 'सुखाथ' शब्द का अभिप्राय है वह व्यक्ति जिसे बिना प्रयास के ही धन मिल गया हो अथवा जिसका उद्देश्य सुख भोगना ही हो, अज्ञ=मूर्ख, स्वतन्त्र अर्थात् निरङ्कुश या स्वेच्छाचारी, अहयु=अहकारी, पण्डक का अर्थ है—वातपण्ड (=नपु सक इत्यादि। यदि ये प्रचुर धन वाले हो तो अनुरक्ता के समान धन की प्राप्ति के लिये इन्हे प्रसन्न करे क्योकि वेश्या की वृत्ति मे धन की प्रधानता होती है (तद्वृत्ते = वेश्यावृत्ते, तत्प्रधानत्वात् = धनप्रधानत्वात्)। जब इनसे धन ले लिया जाये तो इनको कुट्टिनी आदि के द्वारा निकलवा दे जिससे कि वे फिर भी मिल सकें। यह उन (गणिकाओ) का सामान्य रूप है।

टिप्पणी—(१) भा० प्र० (६५ ४), सा० द० (३,६७—७१) मे सामान्य-नायिका का विस्तृत वर्णन किया गया है। 'पण्डक' शब्द का अर्थ सा० द० मे 'वात-पाण्ड्वादि' किया गया है, कुछ स्थलो पर इसका अथ 'पाण्डुरोगी' किया गया है, वस्तुत इसका अर्थ एक विशेष प्रकार का नपुसक प्रतीत होता है जिसे चरक मे 'वातिकपण्डक' कहा गया है। (वाय्वग्निदोषाद् वृषणौ तु यस्य नाश गतौ वातिकपण्डक स —चरक अ० २)। (३) पुन प्रतिसन्धानाय=फिर मिलने के लिये, भाव यह है कि यदि कामुक का धन चुक जाने पर वेश्या उसे स्वय निकालेगी तो वह फिर नही आयेगा किन्तु यदि स्वय प्रेम दिखाती रहेगी और कुट्टिनी द्वारा निकलवायेगी तो धन मिलने पर वह फिर भी आ जायेगा।

रूपको मे तो (वेश्या के विषय मे यह विशेष बात है)—

(३५) *रक्तैव त्वप्रहसने, नैषा दिव्यनृपाश्रये ।

प्रहसनवर्जिते प्रकरणादौ रक्तैवैषा विधेया । यथा मृच्छकटिकाया वसन्तसेना चारुदत्तस्य । प्रहसने त्वरक्तापि हास्यहेतुत्वात् । नाटकादौ तु दिव्यनृपनायके नैव विधेया ।

अथ भेदान्तराणि—

(३६) आसामष्टाववस्था स्यु स्वाधीनपतिकादिका ॥२३॥

स्वाधीनपतिका वासकसज्जा विरहोत्कण्ठिता खण्डिता कलहान्तरिता विप्रलब्धा प्रोषितप्रिया अभिसारिकेत्यष्टौ स्वस्त्रीप्रभृतीनामवस्था । नायिकाप्रभृतीनामप्यवस्थारूपत्वे सत्यवस्थान्तराभिधान पूर्वासा धर्मित्वप्रतिपादनाय । अष्टाविति न्यूनाधिकव्यवच्छेद ।

प्रहसन से भिन्न अन्य रूपक मे गणिका को (नायक के प्रति) अनुरक्त ही दिखलाना चाहिये । जिस रूपक का आश्रय कोई दिव्य (नायक) या राजा हो उसमे इस (गणिका) का नही रखना चाहिये ।

प्रहसन को छोडकर अन्य प्रकरण आदि मे इस (गणिका) को नायक मे अनुरक्त ही दिखलाना चाहिये जैसे मृच्छकटिक मे वसन्तसेना को चारुदत्त मे अनुरक्त दिखलाया गया है । प्रहसन मे तो इसे नायक मे अनुरक्त न होने वाली भी दिखलाया जाता है, क्योकि प्रहसन हास्य का हेतु होता है । जिसमे दिव्य पुरुष या राजा नायक होता हे ऐसे नाटक इत्यादि मे तो गणिका को (नायिका रूप मे) नहीं रखना चाहिये ।

नायिकाओ के अन्य भेद

इन (नायिकाओ) की स्वाधीनपतिका इत्यादि आठ अवस्थाए होती है ॥२३॥

१ स्वाधीनपतिका, २ वासकसज्जा, ३ विरहोत्कण्ठिता, ४ खण्डिता, ५ कलहान्तरिता, ६ विप्रलब्धा, ७ प्रोषितप्रिया, ८ अभिसारिका—ये आठ स्वकीया (परकीया सामान्य) आदि नायिकाओ की अवस्थाए है । यद्यपि नायिका होना (अथवा स्वकीया नायिका होना) इत्यादि भी (नारी की) अवस्थाए ही हैं तथापि पूर्वोक्त (स्वकीया इत्यादि) अवस्थाए धर्मी हैं और ये (स्वाधीनपतिका इत्यादि) उनके धर्म हैं (अर्थात् उन अवस्थाओ की ही ये अवस्थाए है)—यह बतलाने के लिये इन अन्य अवस्थाओ का वर्णन किया गया है । 'आठ' (अष्टौ) इस शब्द का अभिप्राय है कि ये अवस्थाए आठ ही है, कम या अधिक नहीं । कैसे ?

---

*'रूपके त्वनुरक्तैव कार्या प्रहसनेतरे' इति पाठान्तरम् ।

न च वासकसज्जादे स्वाधीनपतिकादावन्तर्भाव, अनासन्नप्रियत्वाद्वासकसज्जाया न स्वाधीनपतिकात्वम्। यदि चैष्यत्प्रियापि स्वाधीनपतिका प्रोषितप्रियापि न पृथग्वाच्या, न चेयता व्यवधानेनासत्तिरिति नियन्तु शक्यम्। न चाविदितप्रियव्यलीकाया खण्डितात्वम्। नापि प्रवृत्तरतिभोगेच्छाया प्रोषितप्रियात्वम्। स्वयमगमनान्नायक प्रत्यप्रयोजकत्वान्नाभिसारिकात्वम्।

एवमुत्कण्ठिताप्यन्यैव पूर्वाभ्य । औचित्यप्राप्तप्रियागमनसमयातिवृत्तिविधुरा न वासकसज्जा। तथा विप्रलब्ध पि वासकसज्जावदन्यैव पूर्वाभ्य, उक्त्वा नायात इति

वासकसज्जा (=आने वाले प्रिय के लिये अपने आपको सजाने वाली) इत्यादि का स्वाधीनपतिका इत्यादि मे अन्तर्भाव नहीं हो सकता। क्योकि वासकसज्जा का पति पास मे नही रहता अत वह स्वाधीनपतिका नहीं कहला सकती (स्वाधीनपतिका का पति पास मे रहता है)। यह कहना भी ठीक नहीं कि वासकसज्जा का पति शीघ्र ही आने वाला है (एष्यत्पतिका) इसलिये वह स्वाधीनपतिका ही है, क्योकि इस प्रकार तो प्रोषितप्रिया (जिसका पति दूरदेश में स्थित है) को भी स्वाधीनपतिका से पृथक् नहीं कहना चाहिये। (यदि कहो कि वासकसज्जा और उसके प्रिय के बीच तो देश काल की दूरी कम है किन्तु प्रोषितपतिका तथा उसके प्रिय के बीच देश-काल की दूरी अधिक है, इस प्रकार वासकसज्जा का पति निकट कहा जा सकता है और उसका स्वाधीनपतिका में अन्तर्भाव हो सकता है, प्रोषितपतिका का नहीं, इस पर कहते हैं—) और, इतनी दूरी होने पर ही समीपता (आसत्ति=पास होना) मानी जायेगी, इस प्रकार का नियम नहीं किया जा सकता। (अत वासकसज्जा का स्वाधीनपतिका में अन्तर्भाव नहीं हो सकता, इसी प्रकार अन्य अवस्थाओ में भी उसका अन्तर्भाव नहीं होगा, कैसे?)। वह (वासकसज्जा) खण्डिता भी नहीं कहला सकती, क्योकि उसे प्रिय का अपराध (=व्यलीक, अन्य स्त्री में आसक्ति) ज्ञात नहीं है वह (वासकसज्जा) प्रोषितप्रिया भी नहीं है, क्योकि रति और भोग की इच्छा में प्रवृत्त है (प्रोषितपतिका तो रति और भोग की इच्छा में प्रवृत्त नही होती। वह (वासकसज्जा) अभिसारिका भी नहीं है, क्योकि वह नायक के प्रति स्वय नहीं जाती, न ही नायक को अपने पास आने की) प्रेरणा देती है।

टिप्पणी—इस प्रकार जिन अवस्थाओ मे वासकसज्जा का अन्तर्भाव होने की आशङ्का थी, उनमे इसका अन्तर्भाव होना सम्भव नही है अत वासकसज्जा नामक अवस्था अन्य अवस्थाओ से भिन्न ही है।

इसी प्रकार विरहोत्कण्ठिता भी पूर्वोक्त नायिकाओ से भिन्न ही है। वह वासकसज्जा नही कही जा सकती क्योकि वह तो प्रिय के आगमन के उचित समय का अतिक्रमण हो जाने पर व्याकुल (उत्कण्ठित) होने वाली है (इसके विपरीत आने वाले प्रिय के लिये सज्जा करने वाली वासकसज्जा होती है)। इस प्रकार

प्रतारणाधिक्याच्च वासकसज्जोत्कण्ठितयो पृथक । कलहान्तरिता तु यद्यपि विदित-व्यलीका तथाप्यगृहीतप्रियानुनया पश्चात्तापप्रकाशितप्रसादा पृथगेव खण्डिताया । तत् स्थितमेतदष्टाववस्था इति ।

तत्र—

(३७) आसन्नायत्तरमणा हृष्टा स्वाधीनभर्तृका ।

विप्रलब्धा भी वासकसज्जा के समान ही पूर्वोक्त नायिकाओ से भिन्न है। (विप्रलब्धा का प्रियतम) 'वचन देकर भी नहीं आता' इस प्रकार वहाँ वञ्चना (प्रतारणा) की अधिकता है इसलिये विप्रलब्धा वासकसज्जा और उत्कण्ठिता से भिन्न ही है (क्योकि वे दोनो प्रिय के आगमन की प्रतीक्षा तो करती है किन्तु वहाँ वञ्चना नहीं होती)। यद्यपि कलहान्तरिता नायिका भी (खण्डिता के समान) पति के अपराध (=व्यलीक) को जानती है तथापि (भेद यह है कि) वह पहले तो प्रियतम की मनौती (अनुनय) को स्वीकार नही करती, फिर पश्चात्ताप द्वारा अपनी प्रसन्नता को प्रकट करती है (खण्डिता मे यह बात नहीं होती) अत वह खण्डिता से भिन्न ही है। इस प्रकार यह निश्चित है (स्थितम्) कि नायिकाओ की आठ अवस्थाएँ होती हैं।

टिप्पणी—(१ स्वाधीनपतिका इत्यादि जो आठ प्रकार की नायिकाए हैं उनका लक्षण आगे दिखलाया जायेगा। (२) 'न च वासकसज्जादे इति'—इस अवतरण मे यह दिखलाया गया है जो ये नायिका की आठ अवस्थाएँ कही गई है इनमे से किसी एक का दूसरी मे अन्तर्भाव नही हो सकता। इसलिये इन आठो को अलग-अलग मानना चाहिये। और, इन अवस्थाओ मे नायिका की सभी दशाओ का समावेश हो जाता है अत ये आठ ही अवस्थाएँ है, कम या अधिक नही। (३) न च सारिकात्वम्—यहाँ वासकसज्जा का क्रमश स्वाधीनपतिका, खण्डिता, प्रोषितप्रिया और अभिसारिका से भेद दिखलाया गया है। एवमुत्कण्ठिता • वासकसज्जा'—यहाँ उत्कण्ठिता का अन्य अवस्थाओ से भेद दिखलाया गया है। तथा पृथक्—यहाँ विप्रलब्धा का अन्य अवस्थाओ से भेद तथा 'कलहान्तरिता • खण्डिता'—यहाँ कलहान्तरिता का खण्डिता से भेद दिखलाया गया है (द्र०, ऊपर अनुवाद)। यह भी ध्यान रखने योग्य है कि इस अवतरण मे अवस्थाओ का भेद दिखलाया गया हे जिनमे एक दूसरे के अन्तर्भाव की सम्भावना हो सकती है। (४) नायिका की आठ अवस्थाओ के लिये मि०, ना० शा० (२२.२११–२१२), भा० प्र० (पृ० ९८), ना० द० (४ २६१ तथा आगे), प्रता० (१.४१–४२) तथा सा० द० (३ ७०–७१)।

स्वाधीनपतिका—

जिस नायिका का पति समीप में स्थित है तथा उसके अधीन है और जो प्रसन्न रहती है वह स्वाधीनपतिका है।

यथा—

'मा गर्वमुद्वह कपोलतले चकास्ति कान्तस्वहस्तलिखिता मम मञ्जरीति ।
अन्यापि किं न सखि भाजनमीदृशाना वैरी न चेद्भवति वेपथुरन्तराय. ॥१३०॥'

अथ वासकसज्जा—

(३८) मुदा वासकसज्जा स्वं मण्डयत्येष्यति प्रिये ॥२४॥

स्वमात्मानं वेश्म च हर्षेण भूषयत्येष्यति प्रिये वासकसज्जा । यथा—

'निजपाणिपल्लवतटस्खलनादभिनासिकाविवरमुत्पतितैः ।
अपरा परीक्ष्य शनकैर्मुमुदे मुखवासमास्यकमलश्वसनैः ॥१३१॥'

जैसे—हे सखी, इस बात का गर्व न कर कि प्रियतम के अपने से चित्रित मञ्जरी मेरे कपोल तल पर विराजमान है । अन्य स्त्री भी क्या इस प्रकार के सौभाग्य का पात्र नहीं हो सकती यदि वैरी कम्पन बाधक न हो जाये' ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२२ २१५), भा० प्र० (६६ १५–१६), ना० द० (४ २६७), प्रता० (१.४३), सा० द० (३ ७४) । (२) 'मा गर्वम्' इत्यादि का भाव यह है—तुम्हारा प्रियतम प्रेम मे आकृष्ट होकर तुम्हारे वश मे नही है तभी तो किसी प्रकार के कम्पन आदि सात्त्विक विकार के बिना ही कपोल पर मञ्जरी चित्रित कर देता है । मेरा प्रियतम तो इतना प्रेम के वश है कि ज्योंही मञ्जरी चित्रित करने बैठता है त्योंही कम्पन आदि सात्त्विक भावो का उदय हो जाता है और मञ्जरी-चित्रण मे बाधक हो जाता है । इस कथन से प्रियतम का समीप स्थित होना, अपने वश मे होना और इसीलिये नायिका की प्रसन्नता प्रकट होती है । अत यह स्वाधीन-पतिका है (आसन्न =समीपस्थ, आयत्त =स्वाधीनश्च रमणो यस्या सा तथा) ।

२ वासकसज्जा—

प्रिय के आगमन की आशा होने पर जो हर्ष के साथ अपने को सजाती है वह वासकसज्जा है ॥२४॥

अर्थात् जब प्रिय आने वाला हो तब जो अपने आपको तथा अपने घर को भूषित करती है, वह वासकसज्जा है । जैसे—(माघ ६ ५२ मे) 'कोई अन्य रमणी अपने पाणिपल्लव के छोर से स्खलन के कारण नासिका के छिद्रों की ओर उठी हुई मुख-कमल की श्वासो के द्वारा धीरे से अपने मुख की सुगन्धि की परीक्षा करके प्रसन्न हुई' ।

टिप्पणी—ना० शा० (२१.२१३) भा० प्र० (६६.८–१४), ना० द० (४ २६६), प्रता० (१ ४४), सा० द० (३.८५) । (२) 'वासकसज्जा' शब्द की व्युत्पत्ति कई प्रकार से की गई है, जैसे 'वासके वासवेश्मनि सज्जा सन्नद्धा सैव वासकसज्जिका' । 'स्त्रीणा वारस्तु वासक.' इति पक्षे वासके वारदिवसे सज्जयति सज्जी करोति हर्षेण केलिगृहादिकमिति वासकसज्जिका, (प्रता० टीका पृ० २१) । प्रिय के साथ रात्रि आदि मे रहना 'वासक' कहलाता है, वासक के लिये सज्जिता वासकसज्जा है (मि०, ना० द० वृत्ति ४ २६६) ।

अथ विरहोत्कण्ठिता—

(३९) चिरयत्यव्यलीके तु * विरहोत्कण्ठितोन्मना ।

यथा—

'सखि स विजितो वीणावाद्यैः कयाप्यपरस्त्रिया
पणितमभवत्ताभ्यां तत्र क्षपाललितं ध्रुवम् ।
कथमितरथा शेफालीषु स्खलत्कुसुमास्वपि
प्रसरति नभोमध्येऽपीन्दौ प्रियेण विलम्ब्यते । १३२॥'

अथ खण्डिता—

(४०) ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता ॥२५॥

यथा—

'नवनखपदमङ्गं गोपयस्यंशुकेन स्थगयसि पुनरोष्ठं पाणिना दन्तदष्टम् ।
प्रतिदिशमपरस्त्रीसङ्गशंसी विसर्पन् नवपरिमलगन्धः केन शक्यो वरीतुम् ॥१३३॥'

---

३ विरहोत्कण्ठिता—

निरपराध होते हुए भी प्रिय के देर करने पर उत्कण्ठित रहने वाली नायिका विरहोत्कण्ठिता कहलाती है ।

जैसे (कोई नायिका अपनी सखी से कहती है) 'हे सखी, किसी दूसरी स्त्री ने वीणा वादन के द्वारा उसे जीत लिया है । अवश्य ही उन दोनो ने रात भर क्रीडा करने की शर्त लगा दी है (पणितम्) । यदि ऐसा न होता तो हारसिंगार (शेफाली) के पुष्प झड जाने पर भी, चन्द्रमा के आकाश के मध्य मे जाने पर भी, मेरे(प्रियतम बिलम्ब क्यो करते' ?

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२ २१४), भा० प्र० (पृ० १००), ना० द० (४ २६५), प्रता० (१ ४५), सा० द० (३ ८६) । (२) अव्यलीके=निरपराधे, निरपराध होने पर । चिरयति—देर करने पर (सति सप्तमी)

४ खण्डिता—

नायक को दूसरी नायिका के सहवास से विकृत (चिह्नित) जान लेने पर जो ईर्ष्या से कलुषित हो जाती है वह खण्डिता है ॥२५॥

जैसे (माघ ११।३४, अपराधी नायक से नायिका कहती है)—'तुम अपने वस्त्र (उत्तरीय) से नखो के नवीन (ताजे) चिह्न वाले अङ्ग को छिपा रहे हो और दाँतो स कटे हुए ओठ को हाथ से ढक रहे हो । किन्तु प्रत्येक दिशा मे फैलता हुआ अन्य स्त्री के सङ्ग की सूचना देने वाला यह नवीन परिमल गन्ध किसके द्वारा छिपाया जा सकता है' ?

टिप्पणी—ना० शा० (२२ २१७), भा० प्र० (पृ० ९८), ना० द० (४ २६३) प्रता० (१ ४९), सा० द० (३ ७५) । (२) अन्यया सङ्गेन विकृते (नायके) ज्ञाते सति, यह अन्वय है ।

---

* 'विरहोत्कण्ठिता मता' इत्यपि पाठः ।

अथ कलहान्तरिता—

(४१) कलहान्तरिताऽमर्षाद्विधूतेऽनुशयार्तियुक् ।

यथा—

'निःश्वासा वदनं दहन्ति हृदयं निर्मूलमुन्मथ्यते
निद्रा नैति न दृश्यते प्रियमुखं नक्तं दिवं रुद्यते ।
अङ्गं शोषमुपैति पादपतितः प्रेयांस्तथोपेक्षितः
सख्यः कं गुणमाकलय्य दयिते मानं वयं कारिताः ॥१३४॥

अथ विप्रलब्धा—

(४२) विप्रलब्धोक्तसमयमप्राप्तेऽतिविमानिता ॥२६॥

उत्तिष्ठ दूति यामो यामो यातस्तथापि नायातः ।
याऽतः परमपि जीवेज्जीवितनाथो भवेत्तस्याः ॥१३५॥

---

५ कलहान्तरिता—

क्रोध से (अपराधयुक्त नायक को) तिरस्कृत करके पश्चात्ताप की पीडा (का अनुभव करने) वाली कलहान्तरिता नायिका है ।

जैसे (अमरु० ९२, कोई नायिका सखियों को उपालम्भ दे रही है)—'निश्वासें मुख को जला रही हैं, हृदय जड से उन्मथित हो रहा है, नींद नहीं आती, प्रियतम का मुख नहीं दिखलाई देता, रात दिन रोना आता है, अङ्ग सूख रहा है, तब चरणों मे पडे प्रियतम की उपेक्षा कर दी । सखियो, बताओ तो क्या लाभ सोचकर प्रियतम से मान कराया था' ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२२ २१६) भा० प्र० (पृ० ९५), ना० द० (४) (२६४), प्रता० (१ ५१) तथा सा० द० (३ ८२) मे कलहान्तरिता का लक्षण कुछ अधिक स्पष्ट है । सा० द० के अनुसार जो खुशामद करते हुए भी प्रियतम को रोष से तिरस्कृत कर देती है और फिर पश्चात्ताप करती है, वह कलहान्तरिता नायिका है । (२) (क) कलहान्तरिता तो ईर्ष्या तथा कलह के कारण प्रिय से सगम की इच्छा ही नहीं रखती किन्तु खण्डिता समागम की अभिलाषा रखती है । (ख) कलहान्तरिता अपने किये पर पश्चात्ताप करती है किन्तु खण्डिता प्रिय के प्रति ईर्ष्या रखती है ।

६ विप्रलब्धा—

प्रियतम के निश्चित समय पर न आने के कारण अत्यधिक अपमानित होने वाली विप्रलब्धा कहलाती है ।।२६।।

जैसे—'हे दूती, उठो चलें, प्रहर (याम) बीत गया तथापि वह नहीं आया । जो इसके पश्चात् भी जीवित रहे वह तो उसी का प्राणनाथ होगा' ।

अथ प्रोषितप्रिया—

(४३) दूरदेशान्तरस्थे तु कार्यतः प्रोषितप्रिया ।

यथाऽमरुशतके—

'आदृष्टिप्रसरात्प्रियस्य पदवीमुद्वीक्ष्य निर्विण्णया
विश्रान्तेषु पथिष्वहः परिणतौ ध्वान्ते समुत्सर्पति ।
दत्त्वैकं सशुचा गृहं प्रति पदं पान्थस्त्रियास्मिन्क्षणे
माभूदागत इत्यमन्दवलितग्रीवं पुनर्वीक्षितम् ।' १३६॥

अथाभिसारिका—

(४४) कामार्ताऽभिसरेत्कान्तं सारयेद्वाभिसारिका ॥२७॥

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२२.२१८), भा० प्र० (पृ० ९९), ना० द० (४.२९२), प्रता० (१.४७) सा० द० (३.८३) । (२) खण्डिता से विप्रलब्धा का अन्तर यह है कि विप्रलब्धा के पति की दूसरी स्त्री में आसक्ति होना निश्चित नहीं होता वह तो केवल उक्त समय पर नहीं आता । संकेत में वञ्चित होने के कारण ही वह नायिका अपने आपको तिरस्कृत अनुभव करती है (विप्रलब्धा=वञ्चिता) ।

७ प्रोषितप्रिया—

जिस नायिका का प्रिय किसी कार्य के दूसरे दूर देश में स्थित होता है वह प्रोषितप्रिया कहलाती है ।

जैसे अमरुशतक (७६) में 'जहाँ तक दृष्टि पहुंच सकी वहाँ तक वह नायिका प्रिय का पथ (पदवी) निहारकर दुःखी हो गई । दिन के समाप्त हो जाने पर, अन्धेरा फैल जाने पर जब पथिक विश्रान्त हो गये (चलना बन्द कर दिया) तो उस पथिक (प्रोषित) की स्त्री ने दुःख के साथ घर की ओर एक पग रक्खा और फिर वेगपूर्वक (अमन्द) ग्रीवा को घुमाकर देखा कि 'कहीं वह इसी क्षण न आ गया हो' ।

टिप्पणी—ना० शा० (२२.२१९), भा० प्र० (प्र० १००), ना० द० (४.२९१) 'कार्यतः प्रोषिते पत्यावभूषा प्रोषितप्रिया" के लक्षण में अभूषा (=केश-संवारना आदि की भूषा से रहित यह विशेषण अधिक है । प्रता० (१.५३), सा० द० (३.८४) ।

८ अभिसारिका—

जो काम से पीडित होकर नायक के पास स्वयं जाती है अथवा नायक को अपने पास बुलाती है वह अभिसारिका है ॥२७॥

यथाऽमरुशतके—

'उरसि निहितस्तारो हारः कृता जघने घने
कलकलवती काञ्ची पादौ रणन्मणिनूपुरौ ।
प्रियमभिसरस्येवं मुग्धे त्वमाहतडिण्डिमा
यदि किमधिकत्रासोत्कम्पं समुदीक्षसे ॥१३७॥

यथा च—

'न च मेऽवगच्छति यथा लघुतां करुणां यथा च कुरुते स मयि ।
निपुणं तथैनमुपगम्य वदेरभिदूति काचिदिति संदिदिशे ॥१३८॥'

तत्र –

(४५) चिन्तानिश्वासखेदाश्रुवैवर्ण्यग्लान्यभूषणैः ।
युक्ता षडन्त्या द्वे चाद्ये क्रीडौज्ज्वल्यप्रहर्षितैः ॥२८॥

जैसे अमरुशतक (३१) मे "वक्षस्थल पर चचल हार धारण कर लिया है पुष्ट कटिप्रदेश पर कलकल ध्वनि करने वाली मेखला है, पैरो मे झंकार करने वाले मणिनूपुर है। हे मुग्धे यदि तुम इस प्रकार ढिंढोरा पीटती हुई अभिसरण कर रही हो तो अधिक भय से कांपती हुई दिशाओ को क्यो देखती हो' ?

अथवा जैसे (माघ ९ ५६) 'किसी नायिका ने दूती से यह कहा—'इस (नायक) के पास जाकर ऐसे निपुणतापूवक कहना कि जिससे वह मेरी लघुता न समझे और मुझ पर करुणा भी करे'।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२२ २२९–२३१) मे विस्तार से अभिसरण के स्वरूप का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार भा० प्र० (पृ० १००–१०१) तथा सा० द० (३ ७–८१) मे भी। अभिसारिका का लक्षण द०, प्रता० (१ ५३), ना० द० (४ २६८)। (२) यहाँ प्रथम उदाहरण मे नायिका के स्वय अभिसरण का वर्णन है तथा 'न च' इत्यादि द्वितीय उदाहरण मे नायिका अपने प्रिय को बुलाने के लिये दूती को भेज रही है। (३) यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त आठ प्रकार की नायिकाओ मे वासकसज्जा, स्वाधीनपतिका और अभिसारिका—इन तीनो के वर्णन मे सम्भोग शृङ्गार होता है और शेष के वर्णन मे विप्रलम्भ शृङ्गार (मि०, ना० द० ४ २६६)।

उन आठ प्रकार की नायिकाओ मे—

'अन्तिम ६ (विरहोत्कण्ठिता खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितप्रिया और अभिसारिका) तो चिन्ता, निश्वास, खेद, अश्रु, वर्ण का फीका पड जाना (वैवर्ण्य), ग्लानि तया भूषणहीनता से युक्त होती है और आरम्भ की दो (स्वाधीनपतिका और वासकसज्जा) क्रीडा, उज्ज्वलता और हर्ष से युक्त होती है ॥२८॥

परस्त्रियो तु कन्यकोढ सा तात्पूर्वं विरहोत्कण्ठिते, पश्चाद्विदूषकादिना सहाभिसरन्त्यावभिसारिके, कुतोऽपि सकेतस्थानमप्राप्ते नायके विप्रलब्धे, इति व्यवस्था व्यवस्थितैवाऽनयोरिति, अस्वाधीनप्रिययोरवस्थान्तरायोगात् ।

यत्तु मालविकाग्निमित्रादौ 'योऽप्यव धीर सोऽपि दृष्टो देव्या पुरत' इति मालविकावचनानन्तरम् राजा—

'दाक्षिण्य नाम बिम्बोष्ठि नायकाना कुलव्रतम् ।
तन्मे दीर्घाक्षि ये प्राणास्ते त्वदाशानिबन्धना ।।१३६।।'

इत्यादि, तत्र न खण्डितानुनयाभिप्रायेण, अपितु सर्वथा मम देव्यधीनत्वमाशङ्क्य निराशा मा भूदिति कन्याविश्रम्भणायेति ।

तथाऽनुपसञ्जातनायकसमागमाया देशान्तरव्यवधानेऽप्युत्कठितात्वमेवेति न प्रोषितप्रियात्वम् अनायत्तप्रियत्वादेवेति ।

टिप्पणी—अभूषण—यहाँ आभूषणो से रहित का अर्थ शोभा आदि से रहित (=दीन किया गया है क्योकि उपर्युक्त ६ नायिकाओ मे अभिसारिका आभूषण धारण करती ही है (अभूषणयुक्ता नाम शोभारहित दीना इति यावत्, प्रभा)। वस्तुत ऐसा प्रतीत होता है कि यह आवश्यक नही कि चिन्ता इत्यादि सभी चिह्न विरहोत्कठिता इत्यादि मे मे प्रत्येक मे हो, अपि तु भाव यह है कि चिन्ता आदि चिह्न विरहोत्कठिता इत्यादि मे यथायोग्य होते है ।

इस प्रकार स्वकीया नायिका की ये आठो अवस्थाएँ होती है किन्तु परकीया और सामान्यनायिका मे सभी अवस्थाएँ नही होती, यह बतलाते है—

कन्या तथा (दूसरे की) विवाहिता, ये जो (दो प्रकार की) परकीया नायिकाएँ है वे तो (१) सकेत के निश्चय से पहले विरहोत्कण्ठिता ही हैं। (२) इसके बाद विदूषक आदि के साथ अभिसरण करती हुई अभिसारिका हो जाती हैं और (३) यदि किसी निमित्त से नायक सकेतस्थल पर न पहुँचे तो ये विप्रलब्धा नायिका होती हैं। इनकी यही व्यवस्था निश्चित है। इनका प्रिय अपने अधीन नहीं होता, इसलिये इनमे अन्य अवस्थ एँ नहीं हो सकतीं ।

किन्तु जो 'मालविकाग्निमित्र' मे जो राजा ऐसा धीर है वह भी देवी के सामने देख लिया' मालविका के इस कथन के पश्चात राजा कहता है— हे बिम्बा के समान ओष्ठ वाली दक्षिण होना तो नायको का कुल क्रमागत नियम है किन्तु मेरे जो प्राण है वे तो तुम्हारी ही आशा पर आश्रित हें।' इत्यादि ।

वह खण्डिता नायिका को मनाने के अभिप्राय से नहीं कहता अपि तु मुझे (राजा को) सब प्रकार से देवी के अधीन समझकर निराश मत हो इस प्रकार से कन्या (मालविका) को विश्वास दिलाने के लिये कहता है ।

इसी प्रकार जब तक नायक से समागम नहीं होता जब तक यदि नायक दूसरे देश मे चला जाये तो भी नायिका उत्कण्ठिता ही कहलाती है प्रोषितपतिका नहीं, क्योकि प्रिय उसके अधीन नहीं होता ।

टिप्पणी—इस प्रकार कन्या और परोढा दोनो प्रकार की जो परकीया है वह विरहोत्कण्ठिता, अभिसारिका तथा विप्रलब्धा ही हो सकती हे, अन्य प्रकार की नही। क्यो ? इसके उत्तर मे धनिक का कथन हे 'क्योकि प्रिय उसके अधीन नही होता अत उसमे अन्य अवस्थाये नही हो सकती' (अस्वाधीनप्रिययोरवस्थान्तरायोगात्)। अभिप्राय यह है कि जिस नायिका का प्रिय अपने अधीन होता हैं उसमे ही उपर्युक्त तीनो अवस्थाओ से भिन्न अवस्थाएँ हो सकती है, परोढा और कन्या के तो प्रिय अपने अधीन नही होता अत इन दोनो (परकीया) मे अन्य अवस्थाएँ नही हो सकती। साहित्यदर्पण के टीकाकार सिद्धान्तवागीश के अनुसार इसका आशय यह है कन्या और परोढा के निकट परपुरुष (प्रिय) निरन्तर नही रह सकता अत वे स्वाधीनपतिका नही हो सकती। वे खण्डिता भी नही हो सकती, क्योकि परपुरुष का अपनी पत्नी से समागम निश्चित ही है अत यहाँ अन्य स्त्री के समागम के चिह्नो को देखकर ईर्ष्या होना असम्भव है। इसीलिये वे कलहान्तरिता भी नही हो सकती। परपुरुष तो दूर ही होता है, अत कार्य के लिये दूर देश जाने का प्रश्न ही नही उठता, इसलिये परकीया प्रोषितपतिका भी नही होती। अनिष्ट की आशङ्का से परपुरुष के आगमन की प्रतीक्षा मे सज्जा करना भी असम्भव है अत परकीया वासकसज्जा भी नही होती। साहित्यदर्पण (३ ८७) मे 'इति कश्चित्' कहकर दशरूपक के इस मत को उद्धृत किया गया है। इससे प्रकट होता है साहित्यदर्पणकार की दृष्टि मे दशरूपक का यह मत उचित नही। कारण यह है कि 'स्वाधीनपतिका' शब्द मे पति का अर्थ प्रिय है और पिता या पति के घर मे यदि कोई परपुरुष विश्वसनीय समझ लिया जाता है तो निरन्तर समीप रह सकता है तब कन्या एव परोढा भी स्वाधीनपतिका कहला सकती हैं। इसी प्रकार परकीया मे परिस्थिति के अनुसार अन्य अवस्थाएँ भी हो सकती हैं (द्र०, सा० द० टीका)। (२) प्रश्न यह हो सकता है कि यदि कन्या आदि परकीया की अन्य अवस्थाएँ नही होती तो मालविकाग्निमित्र मे मालविका को खण्डिता के रूप मे क्यो चित्रित किया गया है। 'यत्तु • विश्रम्भणायेति' मे इसका उत्तर दिया गया है। भाव यह है कि यहाँ खण्डिता नायिका के रूप मे मालविका का चित्रण नही है, (द्र० अनुवाद)। (३) 'तथा इति' मे दिखलाया है कि परकीया प्रोषितपतिका भी नही हो सकती।

अथासां सहायिन्यः —

(४६) दूत्यो दासी सखी कारूर्धात्रेयी प्रतिवेशिका।
लिङ्गिनी शिल्पिनी स्वं च नेतृमित्रगुणान्विता ॥२६॥

दासी=परिचारिका। सखी=स्नेहन्निबद्धा। कारू =रजकीप्रभृति । धात्रेयी =उपमातृसुता। प्रतिवेशिका=प्रतिगृहिणी । लङ्गिनी=भिक्षुक्यादिका । शिल्पिनी=चित्रकारादिस्त्री। स्वयं चेति दूतिविशेषा । नायकमित्राणां पीठमर्दादीनां निसृष्टार्थत्वादिना गुणेन युक्ता । तथा च मालतीमाधवे कामन्दकी प्रति—

'शास्त्रेषु निष्ठा सहजश्च बोधः प्रागल्भ्यमभ्यस्तगुणा च वाणी।
कालानुरोधः प्रतिभानवत्त्वमेते गुणाः कामदुघाः क्रियासु ॥१४०॥'

नायिका की सहायिकाएं

इन (नायिकाओं) की सहायिकाएं हैं —

दासी, सखी' कारू, धाय की लडकी, पडोसिन, सन्यास आदि का चिन्ह धारण करने वाली (लङ्गिनी), शिल्पिनी और स्वयं (नायिका), ये दूती होती है, जो नायक के मित्रों (पीठमर्द आदि के गुणों से युक्त होती है ॥२६॥'

दासी=सेविका, सखी=स्नेह युक्त सहचरी, कारु=धोबिन आदि, धात्रेयी=उपमाता की (धाय) की पुत्री, प्रतिवेशिका=समीप के घर मे रहने वाली (पडोसिन), लिङ्गिनी=भिक्षुणी इत्यादि, शिल्पिनी चित्र आदि बनाने वाली स्त्री और नायिका स्वयं भी ये नायक के मित्र पीठमर्द इत्यादि के निसृष्टार्थता इत्यादि गुणों से युक्त दूतियाँ होती है। जैसे मालतीमाधव (३ ११) मे कामन्दकी के प्रति कहा गया है —

'शास्त्रों मे निष्ठा, स्वाभाविक ज्ञान, वाकपटुता गुणों मे अभ्यस्त वाणी, समय के अनुसार कार्य करना, प्रतिभा-युक्त होना,—ये गुण कार्य मे कामनाओं को पूर्ण रखने वाले हैं।'

टिप्पणी—(१) दूती के प्रकार तथा गुण द्र०, ना० शा० (२३ ६—११), भा० प्र० (पृ० ६४), ना० द० (४ २८८), प्रता० (१ ५५), सा० द० (३ १२८ १२६)। (२) **निसृष्टार्थता**—दूत तीन प्रकार के होते है—(i) निसृष्टार्थ, जो दोनों के भाव को समझ कर स्वयं उत्तर दे देता है और यथोचित कार्य कर लेता है, (ii) मितार्थ, जो बात तो थोडी करता है किन्तु जिस कार्य के लिये भेजा जाता है उसे सिद्ध कर देता है, (iii) सदेशहारक जो उतनी ही बात कहता है जितनी उसे बतलाई जाती है (मि०, सा० द० ३ ४७–४८)। इन तीन प्रकार के दूतों के समान ही तीन प्रकार की दूतियाँ हुआ करती है। (३) 'शास्त्रेषु' इत्यादि पद्य माधव ने कामन्दकी (बौद्ध सन्यासिनी जो दूती का काम कर रही थी) को लक्ष्य करके कहा है। इसमे दूती के सामान्य गुणों का वर्णन किया गया है।

तत्र सखी यथा—

'मृगशिशुदृशस्तस्यास्ताप कथ कथयामि ते
दहनपतिता दृष्टा मूर्तिर्मया नहि वैधवी ।
इति तु विदित नारीरूप स लोकदृशा सुधा
तव शठतया शिल्पोत्कर्षो विधेर्विघटिष्यते ॥१४१॥

यथा च —

'सच्च जाणइ दट्ठु सरिसम्मि जणम्मि जुज्जए राम्रो ।
मरउ ण तुम भणिस्स मरण पि सलाहणिज्ज से ॥१४२॥
('सत्य जानाति द्रष्टु सदृशे जने युज्यते राग ।
म्रियता न त्वा भणिष्यामि मरणमपि श्लाघनीयमस्या ॥')

स्वय दूती यथा—

'महु एहि किं णिवालग्र हरसि णिग्र वाउ जइ वि मे सिचग्रम् ।
साहेमि कस्स सुन्दर दूरे गामो ग्रह एक्का ॥१४३॥
('मुहुरेहि किं निवारक हरसि निज वायो यद्यपि मे सिचयम् ।
साधयामि कस्य सुन्दर दूरे ग्रामोऽहमेका ॥')

इत्याद्यह्यम् ।

ग्रथ योषिदलङ्कारा —

उन मे सखी (का दूती होना) यह है, जैसे—(नायिका की सखी नायक के पास जाकर कहती है—) 'उस मृगशावकनयनी के सताप को तुमसे कैसे कहूँ ? मैने चन्द्रमा की (वैधवी=विधु की) मूर्ति को ग्रग्नि मे पडा नहीं देखा (उससे ही इसकी समता की जा सकती थी) मै तो केवल यह जानती हूँ कि नारी के रूप मे ससार की दृष्टियो का ग्रमृत, विधाता के रचना कौशल का वह उत्कृष्ट रूप तेरी शठता से नष्ट हो जायेगा' ।

ग्रौर जैसे (कोई सखी नायक से कहती है—) 'ठीक है वह देखना जानती है, सदृश व्यक्ति से प्रेम करना उचित ही है । (इस प्रेम मे) वह मर जाये, किन्तु मै तुमसे नहीं कहूँगी (योग्य व्यक्ति से प्रेम करने के कारण) उसका मरना भी सराहनीय है ।'

स्वय दूती यह है, जैसे—'हे रोकने वाले वायु, यद्यपि तुम मेरा वस्त्र (ग्राचल) खींच रहे हो, किन्तु इससे क्या ? फिर ग्राग्रो । हे सुन्दर, मैं किसकी ग्राराधना करू । ग्राम दूर है ग्रौर मै ग्रकेली हूँ ।'

टिप्पणी—'मुहुरेहि' इत्यादि मे नायिका स्वय दूती है । वायु को सम्बोधित करती हुई किसी पान्थ को ग्रामन्त्रित कर रही है ।

नायिकाग्रो के ग्रलङ्कार

स्त्रियो के (सात्त्विक) ग्रलङ्कार है—

(४७) यौवने सत्त्वजा स्त्रीणामलङ्कारास्तु विंशति ।

यौवने सत्त्वोद्भूता विंशतिरलङ्कारा स्त्रीणा भवन्ति ।

तत्र—

(४८) भावो हावश्च हेला च त्रयस्तत्र शरीरजा ॥३०॥
शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्यं च प्रगल्भता ।
औदार्यं धैर्यमित्येते सप्त भावा अयत्नजा ॥३१॥

तत्र भावहावहेलास्त्रयोऽङ्गजा, शोभा कान्तिर्दीप्तिर्माधुर्यं प्रागल्भ्यमौदार्यं धैर्यमित्ययत्नजा सप्त ।

यौवन मे सत्त्व से उत्पन्न होने वाले स्त्रियो के बीस अलङ्कार होते है।

टिप्पणी—(१) जिस प्रकार केयूर आदि आभूषण शरीर की शोभा बढाते है उसी प्रकार शरीर मे प्रकट होने वाले कुछ विकार (परिवर्तन) है जो शरीर की शोभा बढाते हैं अत उन्हे भी केयूर आदि के समान अलङ्कार कहा जाता है । (२) यहाँ स्त्रियो के सात्त्विक अलङ्कारो का वर्णन किया जा रहा है । पुरुषो मे भी इसी प्रकार उत्साह आदि सात्त्विक भाव होते हैं । और, जैसा कि साहित्यदर्पण (३-९३) मे बतलाया गया है, आगे कहे गये अङ्गज और अयत्नज जो दस अलङ्कार हैं, वे भी पुरुषो मे हो सकते हैं तथापि ये युवतियो मे होने पर ही अधिक चमत्कारक होते है । स्त्रियो मे भी विशेषकर यौवनावस्था मे ही प्रकट हुआ करते हैं, बाल्यकाल मे प्रकट नही होते और वृद्धावस्था मे प्राय नष्ट हो जाते है । इसीलिये इन्हे युवतियो के अलङ्कार कहा जाता है । (३) ये अलङ्कार सत्त्वज, सात्त्विक (सत्त्व से उत्पन्न) कहलाते है । 'सत्त्व' का क्या तात्पर्य है, यह आगे (३३ वें श्लोक की व्याख्या मे) स्पष्ट किया जायेगा । (४) विशेष द्र०, ना० शा० अभि० (२२·४) भा० प्र० (पृ० ६ प० २०), ना० द० (४ २६९), सा० द० (३ ८९ ९२) मे नायिका के २८ अलङ्कारो का वर्णन किया गया है । प्रता० (पृ० १८७) मे इनके स्थान पर १८ शृङ्गारचेष्टाओ का वर्णन किया गया है ।

उनमे (सात्त्विक अलङ्कारो) मे—

१ भाव, २ हाव और ३ हेला, ये तीन शरीरज अलङ्कार है । १ शोभा, २ कान्ति, ३ दीप्ति, ४ माधुर्य, ५ प्रगलभता, ६ औदार्य और ७ धैर्य, ये सात भाव अयत्नज (बिना यत्न के उत्पन्न होने वाले) अलङ्कार है ।-३१।

(टीका, तत्र आदि मूल के समान है)

(४६) लीला विलासो विच्छित्तिर्विभ्रम किलकिलञ्चितम् ।
मोट्टायित कुट्टमित विब्बोको ललित तथा ॥३२॥
विहृत चेति विज्ञेया दश भावा स्वभावजा ।

तानेव निर्दिशति—

(५०) निर्विकारात्मकात्सत्त्वाद्भावस्तत्राद्यविक्रिया ॥३३॥

तत्र विकारहेतौ सत्यप्यविकारक सत्त्व यथा कुमारसम्भवे—

'श्रुताप्सरोगीतिरपि क्षणेऽस्मिन्हर प्रसख्यानपरो बभूव ।
आत्मेश्वराणा नहि जातु विघ्ना समाधिभेदप्रभवो भवन्ति ॥१४४॥'

---

१ लीला, २ विलास, ३ विच्छित्ति, ४ विभ्रम, ५ किलकिञ्चित, ६ मोट्टायित, ७ कुट्टमित, ८ विब्बोक, ९ ललित तथा १० विहृत, ये दश भाव स्वभावज (स्वाभाविक) समझने चाहिये ॥३२॥

टिप्पणी - अभि० भा० (२२ ५) तथा ना० द० वृत्ति (४ २६६) मे शरीरज (अङ्गज) इत्यादि को स्पष्ट किया गया है। सक्षेप मे ये सात्त्विक अलङ्कार दो प्रकार के है—१ यत्नज और २ अयत्नज। यत्नज का अर्थ है—क्रिया से उत्पन्न होने वाले। इच्छा से यत्न होता है और यत्न से देह-क्रिया होती है। उस देह-क्रिया के द्वारा इन अलङ्कारो का आविर्भाव हुआ करता है। ये यत्नज अलङ्कार दो प्रकार के है— क) अङ्गज (ख) स्वभावज या स्वाभाविक। (क) अङ्गज वे अलङ्कार है जो सत्त्व द्वारा उद्बुद्ध पूववासना के आधार पर बाह्य गन्धमाल्य आदि प्रसाधनो के बिना ही केवल शरीर मे उत्पन्न हो जाते है, भाव, हाव और हेला ऐसे ही अलङ्कार है। ख) **स्वाभाविक अलङ्कार**—अभिनवगुप्ताचार्य ने स्वाभाविक शब्द की दो प्रकार की व्याख्या की है—(i) ये युवती के हृदय मे विद्यमान अपने रतिभाव (स्व+भाव) मे उत्पन्न होते है, (ii) स्वभाव प्रकृति (Nature) से किसी स्त्री मे कोई भाव होता है, दूसरी मे कोई दूसरा भाव। ये स्वाभाविक अलङ्कार लीला इत्यादि दस है। ये भी चित्त के रतिभाव से व्यक्त हो जाने पर शरीर मे होने वाली क्रियाएँ ही है अत यत्नज कहलती है। शोभा इत्यादि सात अयत्नज भाव है। ये शरीर के ऐसे धर्म है जो इच्छापूर्वक यत्न द्वारा उत्पन्न नही होते अपितु हृदय मे रति भाव के होने पर बिना यत्न के ही प्रकट हुआ करते है।

उन (अलङ्कारो) का (क्रमश वर्णन करते है—

उनमे निर्विकारात्मक सत्त्व से उत्पन्न होने वाला प्रथम विकार भाव कहलाता है ॥३३।

विकार की उत्पत्ति का कारण होने पर भी विकार रहित रहना सत्त्व कहलाता है। जैसे कुमारसम्भव (३ ४०) मे अप्सराओ का गीत सुनकर भी इस समय महादेव ध्यान मे तत्पर रहे, क्योकि विघ्नबाधाएँ आत्मा को वश मे कर लेने वाले व्यक्तियो की समाधि को भङ्ग करने मे समर्थ नहीं हुआ करतीं।'

तस्मादविकाररूपात्सत्त्वात् य प्रथमो विकारोऽन्तर्विपरिवर्ती बीजस्योच्छूनतेव स भाव । यथा—

'दृष्टि सालसता बिभर्ति न शिशुक्रीडासु बद्धादरा
श्रोत्रे प्रेषयति प्रवर्तितसखीसम्भोगवार्तास्वपि ।
पुसामङ्कमपेतशङ्कमधुना नारोहति प्राग्यथा
बाला नूतनयौवनव्यतिकरावष्टभ्यमाना शनै ।।१४१।।

टिप्पणी—निर्विकारात्मकात् सत्त्वात्, इस वाक्याश मे सत्त्व का स्वरूप बतलाया गया है । इसी को धनिक ने 'तत्र विकारहेतौ०' इत्यादि से स्पष्ट किया है । भाव यह है कि मन की एक विशेष प्रकार की अवस्था सत्त्व कहलाती है । जब मन के विकृत होने का कारण विद्यमान होता है किन्तु मन विकृत नही होता, वही मन की अवस्था 'सत्त्व' है । इसी को कही कही 'रजस्तमोभ्यामस्पृष्ट मन सत्त्वमिहोच्यते' कहा गया है । मन सत्त्व, रजस् और तमस् गुण वाला है । रजस का स्वभाव है—चञ्चलता और तमस् का स्वभाव है—जडता । इन दोनो से रहित होकर मन काम, क्रोध आदि विकारो से प्रभावित नही होता । इस प्रकार मन की रजस् तथा तमस् से रहित जो अवस्था है वह निर्विकार अवस्था ही है । धीरोदात्त नायक के लक्षण (ऊपर २ ४) मे 'महासत्त्व' शब्द है, वहाँ भी 'सत्त्व' शब्द इसी अर्थ मे आया है । आगे सात्त्विक भावो की व्याख्या के अवसर पर धनिक ने नाट्य शास्त्र का यह उद्धरण दिया है—'सत्त्व नाम मन प्रभव तच्च समाहितमनस्त्वाद् उत्पद्यते' अर्थात् एकाग्रता से उत्पन्न होने वाली मन की अवस्थाविशेष ही सत्त्व है । इसी प्रकार अभिनवगुप्ताचार्य ने सात्त्विक अलङ्कारो के सन्दर्भ मे भी 'सत्त्व मन॰ समाधानजम्' (अभि० भा० २२ १) यह बतलाया है। नाट्यदर्पण (३ २२८) मे 'अवहित' मन सत्त्वम्' यह कहा गया है । भावप्रकाशन (पृ० ८) मे निर्मल और गुणो से अस्पृष्ट मन को ही सत्त्व कहा गया है । इन सबका तात्पर्य भी यही है कि एकाग्रता या समाधान से मन विकार रहित हो जाता है या कहिये कि रजोगुण और तमोगुण से सूना सा हो जाता है । ऐमा मन ही सत्त्व कहलाता है । (२) 'श्रुताप्सरोगीति' यह सत्त्व का उदाहरण है ।

१ भाव—

उस निर्विकारात्मक सत्त्व से जो प्रथम विकार (परिवर्तन) होता है, वह भाव कहलाता है । वह इसी प्रकार (शरीर के) भीतर विद्यमान रहता है, जिस प्रकार (अङ्कुरित होने से पहिले) बीज की फुलावट (उच्छूनता) होती है । जैसे दृष्टि 'सालसताम्' इत्यादि ऊपर उदा० १०८ (काममुग्धा) ।

यथा वा कुमारसम्भवे—

'हरस्तु किञ्चित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशि ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥१४६॥'

यथा वा ममैव—

'त च्चिम्र वम्रण ते च्चेम्र लोम्रणे जोव्वण पि त च्चेम्र ।
म्रण्णा म्रणङ्गलच्छी म्रण्ण च्चिम्र किं पि साहेइ ॥१४७॥'
(तदेव वचन ते चैव लोचने यौवनमपि तदेव ।
अन्यानङ्गलक्ष्मीरन्यदेव किमपि साधयति ॥')

अथ हाव —

(५१) *हेवाकसस्तु शृङ्गारो हावोऽक्षिभ्रूविकारकृत् ।

अथवा जैसे कुमारसम्भव (३ ६७) मे, महादेव का धैर्य इसी प्रकार कुछ कुछ लुप्त हो गया जिस प्रकार चण्द्रोदय के आरम्भ मे समुद्र का (स्थैर्य भङ्ग हो जाता है) और उन्होने बिम्बाफल के समान अधरोष्ठ वाले पार्वती के मुख पर दृष्टि डाली' ।

और, जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—'उस (नायिका) का बोलना पहले जैसा ही है नेत्र भी वही है और यौवन भी वही है । किन्तु कुछ दूसरी ही काम की शोभा हो गई है जो कुछ और ही कार्य कर रही है' ।

टिप्पणी--(१) द्र० ना० शा० (२२ ८), भा० प्र० (पृ० ८), ना० द० (४ २६०), सा० द० (३ ९३) । प्रता० (पृ० १८७) मे 'रसाभिज्ञानयोग्यत्व भाव इत्यभिधीयते' यह लक्षण दिया गया है । (२) मिट्टी और जल के सयोग से बीज फूल सा जाता है वही उसकी उच्छूनता है । बीज का वह विकार अङ्कुर रूप मे बाहर नही आता अपितु भीतर ही रहता है और पारखी जनो को ज्ञात हो जाता है कि बीज अङ्कुरोन्मुख है । इसी प्रकार विकाररहित (निमल) मन मे जो रति के विकार का प्रथम स्फुरण होता है वह (उत्तमा) नायिका के भीतर ही रहता है किन्तु उसकी वाणी और आँख आदि अङ्गो मे एक विशेषता उत्पन्न हो जाती है जिससे सहृदय जन यह जान सकते है कि इसके हृदय मे विकार का स्फुरण हुआ है । इसीलिये भाव (तथा हाव और हेला भी) अङ्गज या शरीरज कहलाते हैं (मि० ना० द० ४ २७०) । (३) 'दृष्टि०' इत्यादि (१४५) मे किसी मुग्धा के 'भाव' नामक सात्त्विक अलङ्कार का चित्रण है । 'हरस्तु०' (१४६) मे महादेव मे प्रथम विकार के स्फुरण का वर्णन है । 'तदेव०' (१४७) मे भी किसी नायिका के 'भाव' का वर्णन है ।

२ हाव—

उभरा हुआ (=हेवाकस=उद्बुद्ध, Ardent) रति भाव, जो आँखो तथा भौह इत्यादि (कुछ अङ्गो मे विकार उत्पन्न करता है, हाव कहलाता है।

---

*'अल्पालाप' इत्यपि पाठ ।

प्रतिनियताङ्गविकारकारी शृङ्गार स्वभावविशेषो हाव । यथा ममैव—

'ज किं पि पेच्छमाणा भणमाणा रे जहा तहच्चेअ।
णिज्झाअ णेहमुद्ध वअस्स मुद्ध णिच्छेहि ।। ४८।।'
('यत्किमपि प्रेक्षमाणा भणमाना रे यथा तथैव ।
निध्यार्य स्नेहमुग्धा वयस्य मुग्धा पश्य ।।')

अथ हेला—

(५२) स एव हेला सुव्यक्तशृङ्गाररससूचिका ।।३४।।

हाव एव स्पष्टभूयोविकारत्वात्सुव्यक्तशृङ्गाररससूचको हेला । यथा ममैव—

'तह झत्ति से पउत्ता सव्वङ्ग विब्भमा थणुब्भेए ।
ससइअबालभावा होइ चिर जह सहीण पि । १४६।।'
('तथा झटित्यस्या प्रवृत्ता सर्वाङ्ग विभ्रमा स्तनोद्भेदे ।
सशयितबालभावा भवति चिर यथा सखीनामपि ।।')

अर्थात् कुछ ही अङ्गो मे विकार उत्पन्न करने वाला रतिभाव (शृङ्गार) ही हाव है, जो विशेष प्रकार का स्वभाव होता है। जैसे मेरा (धनिक का ही पद्य है—(कोई व्यक्ति अपने मित्र से कहता है)—'हे मित्र, जिस किसी को देखती हुई, जैसे तैसे बोलती हुई, कुछ सोचकर प्रेम से मुग्ध हुई उस मुग्धा नायिका को देखो'।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२२ १०), भा० प्र० (पृ० ८), ना० द० (४ २७१), प्रता० (पृ० १८८), सा० द० (३ ६४)। (२) भाव से अग्रिम अवस्था हाव है। यहाँ रतिभाव भाव दशा की अपेक्षा अधिक उद्बुद्ध हो जाता है। भाव दशा मे उससे बाह्य अङ्गो मे विकार उत्पन्न नही होता किन्तु हाव-दशा मे आँख, भौंह, गदन, ठोडी आदि मे विकार हो जाया करता है। 'हेवाकसस्तु शृङ्गारो' के स्थान पर 'अल्पालाप सशृङ्गारो' पाठान्तर है, जिसका अर्थ है—थोडे से आलाप और शृङ्गार से युक्त हाव होता है। 'यत्किमपि०' (१४८) मे आँखो और वाणी का विकार दिखलाया गया है।

३ हेला—

वह (हाव) जब स्पष्ट रूप से रतिभाव का सूचक होता है तो हेला कहलाती है ।।३४।

अर्थात् जब हाव स्पष्ट और अधिक अङ्गविकारों को उत्पन्न करने के कारण स्पष्ट रूप से रतिभाव का सूचक होता है तब वह हेला कहलाता है। जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—'इस (नायिका) के स्तनों का उभार होते ही एक दम समस्त अङ्गो मे ऐसे विभ्रम उत्पन्न होने लगे कि सखियो को भी इसके बाल-भाव के विषय मे सशय होने लगा'।

अथायत्नजा सप्त । तत्र शोभा—

(५३। रूपोपभोगतारुण्यै शोभाङ्गाना विभूषणम् ।

यथा कुमारसम्भवे—

'ता प्राङ्मुखी तत्र निवेश्य बाला क्षण व्यलम्बन्त पुरो निषण्णा ।
भूतार्थशोभाह्रियमाणनेत्रा प्रसाधने सन्निहितेऽपि नार्य ॥१५०॥'

इत्यादि । यथा च शाकुन्तले—

'अनाघ्रात पुष्प किसलयमलून कररुहै—
रनाविद्ध रत्न मधु नवमनास्वादितरसम् ।
अखण्ड पुण्याना फलमिव च तद्रूपमनघ
न जाने भोक्तार कमिह समुपस्थास्यति विधि ॥१५१॥'

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२२ ११), भा०प्र० (पृ० ८), ना०द० (४ २७२), प्रता० (पृ० १८८), सा० द० (३ ६५) । (२) यहाँ नायिका के सभी अङ्गो मे ऐसे विकारो के प्रकट होने का वर्णन किया गया है जिनसे उसके हृदय का प्रेम भाव स्पष्ट रूप से सूचित होता है, यही हेला का स्वरूप है । इस प्रकार भाव, हाव और हेला तीनो शरीरज विकार है । युवती के हृदय मे स्थित रतिभाव से उत्पन्न होने वाला प्रथम अङ्ग-विकार जो बाह्यरूप मे प्रकट नही होता, 'भाव' है । वही जब आँख आदि कुछ अङ्गो मे विकार उत्पन्न कर देता है तो 'हाव' कहलाता है और जब प्राय समस्त अङ्गो मे विकार उत्पन्न करके रति भाव की सूचना देता है तब 'हेला' कहलाता है ।

अब अयत्नज सात अलङ्कारो का वर्णन करते है । इनमे—

१ शोभा—

रूप, उपभोग और तारुण्य के द्वारा अङ्गो का सौन्दर्य बढ जाना ही शोभा कहलाती है ।

जैसे कुमारसम्भव (७ १७) मे (विवाह के लिये अलङ्कृत की जाती हुई पार्वती के विषय मे कवि ने कहा है)—'उस बाला (पार्वती) को पूर्व की ओर मुख करके बैठाकर (प्रसाधन के लिये) सामने बैठी हुई नारियो के नेत्र उसकी स्वाभाविक शोभा से हर लिये गये अत शृङ्गार की सामग्री सामने उपस्थित होने पर भी वे क्षण भर के लिये ठिठक गई ।' इत्यादि ।

और, जैसे शकुन्तलानाटक (२ ११) मे (राजा दुष्यन्त शकुन्तला के विषय मे कहते हैं)—'उसका निर्दोष (अनघ) सौन्दर्य उस पुष्प के समान है जो सूँघा नहीं गया, उस किसलय के समान है जो नखो से नहीं नोचा गया, उस रत्न जैसा है जो अभी बींधा नहीं गया, ऐसा नवीन मधु है जिसका स्वाद नहीं लिया गया और पुण्यो के अखण्ड फल के समान है । न जाने विधाता यहाँ किस भोक्ता को समुपस्थित करेगा' ।

अथ कान्ति —

(५४) *मन्मथावापितच्छाया सैव कान्तिरिति स्मृता ॥३५॥

शोभैव रागावतारघनीकृता कान्ति । यथा—

'उन्मीलद्वदनेन्दुदीप्तिविसरैर्दूरे समुत्सारित
भिन्न पीनकुचस्थलस्य च रुचा हस्तप्रभाभिर्हतम् ।
एतस्या कलविङ्ककण्ठकदलीकल्प मिलत्कौतुका-
दप्राप्ताङ्गसुख रुषेव सहसा केशेषु लग्न तम ॥१५२॥

यथा हि महाश्वेतावर्णनावरे भट्टबाणस्य ।

टिप्पणी—(१) ना०शा० (२२ २७), भा०प्र० (पृ० ८), ना०द० (४ २८३), सा० द० (३ ६५) । प्रता० (पृ० १८७) मे 'शोभा को शृङ्गार-चेष्टाओ मे नही रक्खा गया । (२) 'ता प्राङ्मुखीम्०' (१५०) मे रूप और तारुण्य के द्वारा होने वाली शोभा का वर्णन है । 'अनाघ्रातम०' (१५१) मे रूप द्वारा होने वाली शोभा का वर्णन है ।

२ कान्ति—

'जब काम-भाव (मन्मथ) के द्वारा उस (शोभा) की द्युति (छाया) बढ जाती है तो वही (शोभा) कान्ति कहलाती है ॥३५॥

अर्थात् राग की अधिकता (अवतार=आविर्भाव) से समृद्ध हुई शोभा ही कान्ति है। जैसे (जब अन्धकार ने किसी नायिका के स्पश सुख को प्राप्त करने की चेष्टा की तब) 'नायिका के प्रफुल्लित मुख-चन्द्र की दीप्ति के विस्तार ने उस (अन्धकार) को दूर भगा दिया, विशाल (पुष्ट) स्तनो की कान्ति से वह छिन्न-भिन्न हो गया, हाथो की प्रभा से मारा गया, इस प्रकार कौतुक के साथ नायिका से मिलने का प्रयत्न करता हुआ भी उसके अङ्गो का सुख न प्राप्त करके कलविङ्क पक्षी की कण्ठकदली के समान वह अन्धकार मानो क्रोधपूर्वक एकदम ही उस बाला के केशो मे लिपट गया ।'

और जैसे बाणभट्ट द्वारा महाश्वेता वर्णन के अवसर पर कान्ति प्रकट होती है ।

टिप्पणी—(१) कान्ति शोभैवापूर्णमन्मथा (ना० शा० २२ २८), कान्ति स्यान् मन्मथाप्यायिता छवि (भा० प्र०, पृ० ८), कान्ति पूर्णसम्भोगा (ना० द० ४ २८४), सैव कान्तिर्मन्मथाप्यायितद्युति (सा० द० ३ ६६) । प्रता० (पृ० १८७) मे 'कान्ति को शृङ्गार चेष्टाओ मे नही रक्खा गया । (२) 'उन्मीलद०' (१५२) मे अनुराग की अधिकता के कारण नायिका की शोभा के बढ जाने का वर्णन है, जिससे चेतन प्राणी तो क्या जड-अन्धकार भी उसके अङ्गो के स्पर्श-सुख के लिये इच्छा करता है । (३) मन्मथाध्यासितछाया इस पाठ में 'मन्मथेन अध्यासिता छाया यस्या सा' अर्थात् जिस शोभा मे कामभाव के द्वारा द्युति आरोपित कर दी जाती है, वह कान्ति है ।

* 'मन्मथाध्यासित' इत्यपि पाठ ।

अथ माधुर्यम—

(५५) अनुल्बणत्व माधुर्यम्—

यथा शाकुन्तले—

सरसिजमनुबिद्ध शैवलेनापि रम्य
मलिनमपि हिमाशोर्लक्ष्म लक्ष्मी तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणा मण्डन नाकृतीनाम ॥१५३॥

अथ दीप्ति —

---

३ माधुर्य—

(सब अवस्थाओ मे) रमणीयता ही माधुर्य है ।

जैसे शकुन्तला नाटक (१ २०) मे (राजा दुष्यन्त वल्कलधारिणी शकुन्तला को देखकर कहते है)—'सेवाल से लिपटा भी कमल रमणीय होता है, मलिन चिह्न भी शीतकर (चन्द्रमा) की शोभा को बढ़ाता है, यह कृशाङ्गी वल्कल धारण करके भी अधिक मनोहर है । वस्तुत मधुर आकृतियो के लिये क्या आभूषण नहीं बन जाता' ?

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२२ २६) के अनुसार माधुर्य का लक्षण है—

सर्वावस्थाविशेषेषु दीप्तेषु ललितेषु च ।
अनुल्बणत्व चेष्टाया माधुर्यमिति सज्ञितम् ॥

भा० प्र० (पृ०८) मे 'सर्वावस्थासु चेष्टाना माधुर्यं मृदुकारिता' । ना० द० (४ २८५) मे सौम्य तापेऽपि माधुर्यम्' अर्थात् क्रोध आदि का सन्ताप होने पर भी आकृति मे विकार न होना माधुर्य है । इसी प्रकार रसार्णवसुधाकरकार शिङ्गभूपाल के अनुसार भी 'माधुर्यं नाम चेष्टाना सर्वावस्थासु मार्दवम्'—यह लक्षण है । इन सभी लक्षणो का अभिप्राय समान ही है । दशरूपक के लक्षण मे 'अनुल्बणत्व माधुर्य' ये नाट्यशास्त्र के ही पद लिये गये हैं । किन्तु यह लक्षण स्पष्ट नही । सम्भवत दशरूपककार के अभिप्राय को ही प्रता० तथा सा० द० ने स्पष्ट किया है । प्रता० (पृ० १८८) मे 'अभूषणेऽपि रम्यत्व माधुर्यमिति कथ्यते' तथा सा०द० (३ ६७) मे 'सर्वावस्थाविशेषेषु माधुर्यं रमणीयता'—ये लक्षण हैं । सा० द० मे धनिक के समान ही सरसिजम्' इत्यादि उदाहरण भी दिया गया है । इन सबके आधार पर दशरूपक के माधुर्य का स्वरूप है—सभी प्रकार की अवस्थाओ मे अक्षुण्ण रहने वाली रमणीयता माधुय है, जैसा कि ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है । (२) अनुल्बणत्व =रमणीयता (प्रभा), मासृण्य (अभि० भा०), Not intense (Hass) ।

४ दीप्ति—

(५६)—दीप्ति कान्तेस्तु विस्तर ।

यथा—

'देश्रा पसिश्र णिअन्तसुमुहससिजोण्हाविलुत्ततमणिवहे ।
अहिसारिआण विग्घ करोसि अण्णाण वि हआसे ।।१५४।।
('दैवाद् दृष्टा नितान्तसुमुखशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमोनिवहे ।
अभिसारिकाणा विघ्न करोष्यन्यासामपि हताशे ।।')

अथ प्रागल्भ्यम्—

(५७) निस्साध्वसत्व प्रागल्भ्यम्—

मन क्षोभपूर्वकोऽङ्गसाद साध्वस तदभाव प्रागल्भ्यम्, यथा ममैव—

'तथा व्रीडाविधेयापि तथा मुग्धापि सुन्दरी ।
कलाप्रयोगचातुर्ये सभास्वाचार्यक गता ।।१५५।।

कान्ति का विस्तार ही दीप्ति कहलाता है ।

जैसे—'नितान्त सुन्दर मुखचन्द्र की ज्योत्स्ना से अन्धकार के समूह का नाश करने वाली, हे मूख (हताश), तुम अकस्मात् इधर देखकर अन्य अभिसारिकाओ के माग मे भी विघ्न उपस्थित करोगी' ।

टिप्पणी—(१) ना०शा० (२२ २८), भा० प्र० (पृ० ८), ना०द० (४ २८४), सा० द० (३ ९६) मे भी इसी प्रकार का लक्षण है । प्रता० (पृ० १८७) मे 'दीप्ति की शृङ्गारचेष्टाओ मे गणना नही की गई। (२) सक्षेप मे रूप यौवन आदि की जो उज्वलता है उनकी तीन अवस्थाएँ है—मन्द, मध्य और तीव्र । वे ही क्रमश शोभा, कान्ति और दीप्ति कहलाती है । (मि० ना० द० ४ २८४) ।

५ प्रागल्भ्य —

साध्वस रहित होना ही प्रागल्भ्य कहलाता है ।

मानसिक क्षोभ के कारण अङ्गो मे म्लानता (अवसाद) हो जाना ही साध्वस है, उसका अभाव प्रागल्भ्य है । जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—'उतनी लज्जा परवश और उतनी अधिक मुग्धा होते हुए भी उस सुन्दरी ने सभाओ मे कला प्रयोग की निपुणता मे आचार्यपद प्राप्त किया' ।

टिप्पणी—ना० शा० (२२ ३१) के अनुसार 'प्रयोगनिस्साध्वसता प्रागल्भ्य' समुदाहृतम्' यह लक्षण है । अभिनवगुप्त के अनुसार 'प्रयोग का अभिप्राय है—६४ कामकला इत्यादि (प्रयोग इति कामकलादौ चातु षष्टिक इत्यथ) । भा० प्र० (पृ० ८) मे इसी प्रकार का लक्षण है । दशरूपक के लक्षण का भाव स्पष्ट नही किन्तु धनिक के उदाहरण को देखने से दशरूपक के लक्षण का भी नाट्यशास्त्र के लक्षण के समान ही तात्पर्य प्रतीत होता है । इस प्रकार कलाओ के प्रयोग मे किसी प्रकार का मन क्षोभ तथा मुख आदि की मलिनता न होना ही प्रागल्भ्य है । ना०

अथौदार्यम्—

(५८)—औदार्यं प्रश्रय सदा ॥३६॥

यथा—'दिअह खु दुक्खिआए सअल काऊण गेहवावारम् ।
गरुएवि मण्णुदुक्खे भरिमो पाअन्तसुत्तस्स ॥१५६॥'
('दिवस खलु दु खिताया सकल कृत्वा गृहव्यापारम् ।
गुरुण्यपि मन्युदु खे भरिमा पादान्ते सुतस्य ॥')

यथा वा—'भ्रूभङ्गे सहसोद्गता' इत्यादि ।

अथ धैर्यम्—

(५९) चापलाऽविहता धैर्यं चिद्वृत्तिरविकत्थना ।

चापलानुपहता मनोवृत्तिरात्मगुणानामनाख्यायिका धैर्यमिति । यथा मालतीमाधवे—

द० (४ २८६) के अनुसार 'प्रागल्भ्य कौशल रते' अर्थात् रतिक्रीडा मे निपुणता ही प्रागल्भ्य है। सा० द० (३ ९७) मे यद्यपि दशरूपक का लक्षण ही लिया गया है तथापि उदाहरण से प्रतीत होता है कि उसका अभिप्राय ना० द० के समान ही है।

६ औदार्य—

सभी अवस्थाओ मे (सदा) विनम्र रहना (=प्रश्रय) ही औदार्य कहलाता है।

जैसे (गाथासप्तशती ३ २६) 'दिनभर गृहकार्य करके दु खी हुई उस नायिका के भारी क्रोधयुक्त क्लेश मे पादतल मे सोये हुए प्रिय की प्रभुता (भरिमा) है। अर्थात् प्रिय के चरणतल मे सो जाने से वह क्रोधयुक्त दु ख शान्त हो गया है (?)। (इसका अर्थ स्पष्ट नहीं, गाथा० मे पाठान्तर हे)।

और, जैसे 'भ्रूभङ्गे' इत्यादि (रत्नावली २ २१)।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२२ ३१) मे 'औदार्यं प्रश्रय प्रोक्त सर्वावस्थानुगो बुधै' यह लक्षण है। इसका भाव है—'अमष, ईर्ष्या, क्रोध आदि सभी अवस्थाओ मे जो कठोर वचन आदि न कहना है, वही औदार्य है'। भा० प्र० (पृ० ८) मे भी ना० शा० के समान ही लक्षण है। ना० द० के अनुसार सतप्त होने पर भी विनय आदि उचित बातो का त्याग न करना ही औदार्य है। सा० द० (३ ९७) मे 'औदाय विनय सदा' यह लक्षण है। (२) भ्रूभङ्ग इत्यादि मे यह दिखलाया गया है कि वासवदत्ता कुपित हो गई तथापि उसने विनय नही छोडा।

७ धैर्य—

चञ्चलता से रहित तथा आत्म श्लाघा से शून्य चित्त-वृत्ति धैर्य कहलाती है।

अर्थात् जो चित्तवृत्ति चञ्चलता से युक्त नहीं है, जो अपने गुणो का बखान करने वाली नहीं है, वह धैर्य है। जैसे मालतीमाधव (२ २) मे (मालती अपनी सखी

'ज्वलतु गगने रात्रौ रात्रावखण्डकल शशी
दहतु मदन किंवा मृत्यो परेण विधास्यति ।
मम तु दयित॰ श्लाघ्यस्तातो जनन्यमलान्वया
कुलममलिन न त्वेवाय जनो न च जीवितम् ॥१५७॥'

अथ स्वाभाविका दश, तत्र—

(६०) प्रियानुकरण लीला मधुराङ्गविचेष्टितै ॥३७॥

प्रियकृताना वाग्वेषचेष्टाना शृङ्गारिणीनामङ्गनाभिरनुकरण लीला ।

यथा ममैव—दिट्ठ तह भणिअ ताए णिअद तहा तहासीणम् ।
अवलोइअ सइण्ह सविब्भम जह सवत्तीहिं ॥१५८॥'
('तथा दृष्ट तथा भणित तथा नियत तथा तथासीनम् ।
अवलोकित सतृष्ण सविभ्रम यथा सपत्नीभि ॥')

यथा वा—'तेनोदित वदति याति यथाऽसौ' आदि ॥१५९॥

से कहती है) 'प्रत्येक रात्रि मे आकाश मे सम्पूर्ण कलाओ वाला चन्द्रमा (भले ही) जला करे, कामदेव भी मुझे जला दे । मृत्यु स अधिक ये दोनो मेरा क्या करेंगे ? मुझे तो अपने श्लाघ्य पिता, पवित्र वश वाली माता और अपना निर्मल कुल ही प्रिय है । न तो यह जन (माधव) और न अपना जीवन प्रिय है' ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२२ ३०), भा० प्र० (पृ० ८), ना० द० (४ २८६), काव्यानु० (७ ५०) तथा सा० द० (३ ९८) मे इसी प्रकार का लक्षण है । भा० प्र० (पृ० ८) मे 'मानग्रहो दृढो यस्तु तद् धैर्यम् तथा प्रता० (पृ० १९९) मे 'शीलाद्यलङ्घन नाम धैर्यम्' यह कहा गया है । (२) उपर्युक्त उदाहरण मे मालती के धैर्य का वर्णन है ।

इस प्रकार सात अयत्नज अलङ्कार कहे गये हैं ।

अब दस स्वाभाविक अलङ्कारो का वर्णन करते हैं, उनमे—

१ लीला—

मधुर अङ्ग-चेष्टाओ द्वारा प्रियतम का अनुकरण करना ही लीला कहलाती है ॥३७॥

अर्थात् प्रियतम की बोली तथा वेष भूषा आदि की जो शृङ्गार-सम्बन्धी चेष्टाएँ हैं उनका अङ्गनाओ के द्वारा अनुकरण किया जाना ही लीला है । जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—'उस नायिका ने उसी प्रकार (नायक के समान) ही देखा, उसी प्रकार बातें कीं, उसी प्रकार नियन्त्रण किया तथा वह उसी प्रकार बैठी, जिससे सपत्नियो ने विभ्रम और तृष्णा के साथ उसे देखा' ।

अथवा जैसे '(नायिका) उस प्रियतम की कही बात को कहती है और जैसे वह चलता है, वैसे ही चलती है' ।

टिप्पणी—ना० शा० (२२ १४), भा० प्र० (पृ० ९), ना० द० (४ २७६), प्रता० (पृ० १८९), सा० द० (३ ९८–९९) मे भी प्रायः इसी प्रकार का लक्षण है ।

अथ विलास —

(६१) तत्कालिको विशेषस्तु विलासोऽङ्गक्रियोक्तिषु*।

दायितावलोकनादिकालेऽङ्गे क्रियाया वचने च सातिशयविशेषोत्पत्तिर्विलास ।

यथा मालतीमाधवे—

'अत्रान्तरे किमपि वाग्विभवातिवृत्त-
वैचित्र्यमुल्लसितविभ्रममायताक्ष्या ।
तद्भूरिसात्त्विकविकारविशेषरम्य-
माचार्यक विजयि मान्मथमाविरासीत् ॥१६०॥'

अथ विच्छित्ति —

(६२) आकल्परचनाऽल्पापि विच्छित्ति कान्तिपोषकृत् ॥३८॥

स्तोकोऽपि वेषो बहुतरकमनीयताकारी विच्छित्ति । यथा कुमारसम्भवे—

'कर्णार्पितो रोध्रकषायरूक्षे गोरोचनाभेदनितान्तगौरे ।
तस्या कपोले परभागलाभाद्बबन्ध चक्षू षि यवप्ररोह ॥१६१॥'

---

२ विलास—

प्रिय के दर्शन आदि के अवसर पर (नायिका के) अङ्ग चेष्टा तथा, वचनो मे जो एक विशेषता आ जाती है, वही विलास कहलाता है ।

अर्थात् प्रिय के अवलोकन आदि के अवसर पर (नायिका के अङ्ग (मुख, नेत्र आदि) मे, क्रिया (उठना बैठना आदि मे तथा बोलने मे जो चमत्कार पूर्ण विशेषता उत्पन्न हो जाती है, वही विलास है। जैसे मालतीमाधव (१ २६) मे (माधव अपने मित्र मकरन्द से कह रहा है) 'इसी समय विशाल नेत्रो वाली (मालती) के लिये कामदेव का विजयशील अनूठा आचार्यत्व (आचार्यकम् = आचार्यभाव विविध शृङ्गार चेष्टाओं का उपदेश करना) प्रकट हुआ, जिसकी विचित्रता का वर्णन करना वाणी की शक्ति से बाहर है, जिसमे अनेक विभ्रम (शृङ्गार-चेष्टाएँ) उद्भावित हो रहे थे तथा जो अत्यधिक सात्त्विक विकारो के कारण रमणीय हो रहा था'।

टिप्पणी - ना० शा० (२२ १५), भा० प्र० (पृ० ६), ना० द० (४ २७४), प्रता० (पृ० १८६), सा० द० (३ ६६) ।

३ विच्छित्ति—

यदि थोडी सी वेश रचना (आकल्परचना) भी शोभा को बढा देती है तो वहाँ विच्छित्ति नामक भाव होता है ॥३८॥

अर्थात् अल्प भी प्रसाधन यदि अत्यधिक कमनीयता उत्पन्न करता है तो विच्छित्ति कही जाती है। जैसे कुमारसम्भव (७ १७) मे 'उस (पार्वती) के कान मे लगाया गया यवाङकुर लोध्रचुर्ण से रूक्ष तथा गोरोचना के मलने से अत्यधिक गोरे कपोल पर विशेष शोभा प्राप्त कर (लोगो की) आँखो को खींच रहा था'।

---

*क्रियादिषु, इत्यपि पाठ ।

अथ विभ्रम —

(६३) विभ्रमस्तवरया काले भूषास्थानविर्यय ।

यथा—

'अभ्युद्गते शशिनि पेशलकान्तदूती–
सलापसवलितलोचनमानसाभि ।
अग्राहि मण्डनविधिर्विपरीतभूषा–
विन्यासहासितसखीजनमङ्गनाभि ॥१६२॥'

यथा वा ममैव—

'श्रुत्वाऽऽयात बहि कान्तमसमाप्तविभूषया ।
भालेऽञ्जन दृशोर्लाक्षा कपोले तिलक कृत ॥१६३॥'

अथ किलकिञ्चितम्—

(६४) क्रोधाश्रुहर्षभीत्यादे सङ्कर किलकिलञ्चितम् ॥३९॥

यथा ममैव —

टिप्पणी—ना० शा० (२२ , ६), भा० प्र० (पृ० ९), ना० द० (४.२७५) प्रता० (पृ० १९०), सा० द० (३ १००), अभिनवगुप्त के अनुसार विच्छित्ति का निमित्त सौभाग्य का गर्व होता है ।

विभ्रम—

प्रिय के आगमन आदि के समय (=काले) शीघ्रता के कारण आभूषणो के स्थान का उलट-फेर हो जाना विभ्रम कहलाता है ।

जैसे—'चन्द्रमा के उदित होने पर प्रिय नायक की दूती के वार्तालाप मे मग्न नेत्र तथा मन वाली अङ्गनाओ ने ऐसा प्रसाधन कर लिया कि उनके विपरीत भूषण धारण के कारण सखियाँ हँसने लगीं' ।

टिप्पणी—(१) ना०शा० (२२ १७), भा०प्र० (पृ० ९), ना०द० (४ २७३), प्रता० (पृ० १९०), सा० द० (३ १०४) । (२) सक्षेप मे प्रियतम के आगमन आदि के अवसर पर राग तथा हर्ष आदि के कारण शीघ्रतावश कार्यों का उलट फेर ही विभ्रम है, जैसे किसी बात के स्थान पर दूसरी कह देना, कटि मे पहनने योग्य आभूषण को गले मे पहन लेना इत्यादि । अभिनवगुप्त के अनुसार विभ्रम का कारण भी सौभाग्य का गर्व होता है ।

५ किलिकिञ्चत—

क्रोध, अश्रु, हर्ष तथा भय इत्यादि का एक साथ होना (सङ्कर) किलकिञ्चित कहलाता है ॥३९॥

रतिक्रीडाद्यूते कथमपि समासाद्य समय
मया लब्धे तस्या क्वणितकलकण्ठाधमधरे ।
कृतभ्रूभङ्गासौ प्रकटितविलक्षार्धरुदित–
स्मितक्रोधोद्भ्रान्त पुनरपि विदध्यान्मयि मुखम् ॥१६४॥

प्रथ मोट्टायितम्—

(६५) मोट्टायित तु तद्भावभावनेष्टकथादिषु ।

इष्टकथादिषु प्रियतमकथानुकरणादिषु प्रियानुरागेण भावितान्तःकरणत्व मोट्टायितम् ।

यथा पद्मगुप्तस्य—

'चित्रवर्तिन्यपि नृपे तत्त्वावेशेन चेतसि ।
व्रीडार्धवलित चक्रे मुखेन्दुमवशैव सा ॥१६५॥'

यथा वा—

'मात क हृदये निधाय सुचिर रोमाञ्चिताङ्गी मुहु–
र्जृम्भामन्थरतारका सुललितापाङ्गा दधाना दृशम् ।
सुप्तेवालिखितेव शून्यहृदया लेखावशेषीभव–
स्यात्मद्रोहिणि किं ह्रिया कथय मे गूढो निहन्ति स्मर ॥१६६॥'

जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—(नायक अपने मित्र से कहता है)—'रतिक्रीडा के द्यूत मे किसी प्रकार दाव (समय) पाकर मैने उसके अधर को पा लिया जबकि उसका कण्ठ अस्फुट और मधुर ध्वनि कर रहा था । फिर भौहे टेढी करती हुई और लज्जा प्रकट करती हुई उस (नायिका) ने अपना मुख कुछ रोदन, मुस्कराहट तथा क्रोध से युक्त कर लिया । अच्छा हो कि वह फिर भी मेरे प्रति ऐसा मुख करे' ।

टिप्पणी—ना० शा० (२२ १८), भा० प्र० (पृ० ९), ना० द० (४ २८२), प्रता० (पृ० १९०), सा० द० (३ १०१) ।

६ मोट्टायित—

प्रियतम की चर्चा इत्यादि के अवसर पर उस (प्रिय) के भाव मे मग्न हो जाना मोट्टायित कहलाता है ।

इष्टकथा अर्थात् प्रिय की चर्चा और उसके अनुकरण आदि के अवसर पर प्रिय के प्रेम मे मन का तल्लीन (भावित) हो जाना मोट्टायित है । जैसे पद्मगुप्त का पद्य है–'राजा के चित्रलिखित होने पर भी, चित्त मे राजा के भाव का आवेश हो जाने के कारण उस (नायिका) ने अपने मुखचन्द्र को लज्जा से कुछ वक्र कर लिया ।'

अथवा जैसे—'अरी, (मात =आदरणीय, as a term of respect आप्टे) किसको अपने हृदय मे रखकर बहुत देर से रोमाञ्चित हुई, बार-बार जम्भाई से मन्द (नेत्र के) तारो वाली, सुन्दर अपाङ्गो वाली दृष्टि को धारण करती हुई, सोई सी, चित्रलिखी सी, शून्य हृदय वाली होकर रेखामात्र शेष रह गई हो (अत्यन्त कृश हो गई हो) ? हे अपने साथ द्रोह करने वाली, लज्जा से क्या लाभ ? मुझे बतलाओ तो क्या छिपा कामदेव तुम्हे मार रहा हैं' ।

यथा वा ममैव—

'स्मरदवथुनिमित्त गूढमुन्नेतुमस्या
सुभग तव कथाया प्रस्तुताया सखीभि ।
भवति विततपृष्ठोदस्तपीनस्तनाग्रा
ततवलयितबाहुर्जृम्भितैः साङ्गभङ्गैः ॥१६७॥'

अथ कुट्टमितम् —

(६६) सानन्दान्त कुट्टमित कुप्येत्केशाधरग्रहे ॥४०॥

यथा—

'नान्दीपदानि रतिनाटकविघ्नमाणा–
माज्ञाक्षराणि परमाण्यथवा स्मरस्य ।

और जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—'कोई दूती नायक से कहती है) 'हे सुभग जब सखियाँ उस (नायिका) की काम वेदना (दवथ=पीडा, अग्नि) के गूढ निमित्त को जानने के लिये तुम्हारी चर्चा करती हैं तब वह अङ्गभङ्गिमा के साथ जम्भाइयाँ लेती है जिनसे उसकी पीठ फैल जाती है, पीन स्तनो के अग्रभाग उठ जाते हैं, तथा भुजाएँ आगे फैलकर वलयाकार हो जाती हैं'।

टिप्पणी—धनञ्जय तथा धनिक के शब्दो से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रिय की बात चलने आदि के समय नायिका के मन का भाव मग्न हो जाना ही मोट्टायित है। इसी प्रकार का लक्षण भा० प्र० (पृ० ९) मे भी है। किन्तु ना०शा० (२२ १९), ना० द० (४ २८१), प्रता० (पृ० १९१) सा० द० (३ १०२) के अनुसार 'जब नायक की चर्चा चलने आदि के समय नायिका का चित्त उसके भाव मे मग्न हो जाता है तब उसकी जो कान खुजलाना, अङ्ग मोडना, आदि शारीरिक चेष्टाएँ होती है वे ही मोट्टायित कहलाती है,। अभिनवगुप्त के अनुसार भी मोट्टायित का यही स्वरूप है—(अङ्गमोडनात् मोट्टायितम्)। वस्तुत दशरूपक के लक्षण का भी यही अभिप्राय होना चाहिये, क्योकि तद्भाव-भावना तो शरीर चेष्टाओ से ही प्रकट होती है। धनिक द्वारा दिये गये उदाहरणो से भी यही अभिव्यक्त होता है। अत दशरूपक के 'तद्भावभावना' शब्द का तात्पर्य है—तद्भावभावनाकृतम (ना० शा०), अर्थात् उसके भाव मे मग्न होकर की गई शारीरिक चेष्टा।

७ कुट्टमित—

(रतिक्रीडा मे प्रियतम के द्वारा) केश और अधर का ग्रहण किये जाने पर (नायिका) जो हृदय मे प्रसन्न होकर भी कोप प्रकट करती है, वही कुट्टमित कहलाता है ॥४०॥

जैसे—'प्रियतम द्वारा ओठ काट लिया जाने पर (रोकने के लिये) हाथ के अग्रभाग को हिलाती हुई नारी के सीत्कारयुक्त सूखे रुदन विजयी (सर्वोत्कृष्ट) हैं,

दष्टेऽधरे प्रणयिना विधुताग्रपाणेः
सीत्कारशुष्करुदितानि जयन्ति नार्याः ॥१६८॥'

अथ बिब्बोकः—

(६७) गर्वाभिमानादिष्टेऽपि बिब्बोकोऽनादरक्रिया ।

यथा ममैव—

'सव्याजं तिलकालकान्विरलयल्लोलाङ्गुलिः संस्पृशन्
वारंवारमुदञ्चयन्कुचयुगप्रोदञ्चिनीलाञ्चलम् ।
यद्भ्रूभङ्गतरङ्गिताञ्चितदृशा सावज्ञमालोकितं
तद्गर्वादवधीरितोऽस्मि न पुनः कान्ते कृतार्थीकृतः ॥१६९॥'

अथ ललितम्—

(६८) सुकुमाराङ्गविन्यासो मसृणो ललितं भवेत् ॥४१॥

वे (रुदन) रतिक्रीडा की नाटकीय चेष्टाओं के नान्दीपाठ हैं अथवा कामदेव के आदेश के बड़े-बड़े लेख हैं'।

टिप्पणी—(१) द्र०, ना० शा० (२२.२०), भा० प्र० (पृ० ६), ना० द० (४.२८०), प्रता० (पृ० १९१), सा० द० (३.१०३)। **केशाधरग्रहे** प्रियतमेन इति शेषः (अभि० भा०); **सानन्दान्तः**=सानन्दम् अन्तः (अन्तःकरणम्) यस्मिन् कर्मणि तत् तथा; कुप्येत् का क्रियाविशेषण है (प्रभा)। **शुष्क**—सूखा, झूठमूठ, बनावटी।

८. बिब्बोक—

गर्व और अभिमान के कारण इष्ट वस्तु के प्रति भी अनादर दिखलाना बिब्बोक कहलाता है।

जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—(नायक नायिका से कहता है)—'हे प्रियतमे (कान्ते), तिलक के बालों को विरल करके कपटपूर्वक चञ्चल अङ्गुलियों से तुम्हारा स्पर्श करते हुए तथा बार-बार कुच-युगल पर फहराते नीले आंचल को उठाते हुए मुझ को तुमने जो ठेढी भौहों वाली वक्र दृष्टि से अवज्ञापूर्वक देखा, उस गर्व से मैं अपमानित हो गया हूँ, किन्तु तुमने मुझे कृतार्थ नहीं किया'।

टिप्पणी—(१) द्र०, ना० शा० (२२.२१), भा० प्र० (पृ० ६), काव्यानु०, (७.३६), ना० द० (४.२७७), प्रता० (पृ० १९२), सा० द० (३.१००)। (२) **इष्टेऽपि**—प्रिय में भी; प्रियतम अथवा अभीष्ट वस्त्र, अलङ्कार आदि का अनादर। **गर्व**—सौभाग्य का गर्व, हर्ष। **अभिमान**—चित्त का चढ़ा होना (ना० द०); रूपादेर्गर्वः, यौवनादेश्चाभिमानः (प्रभा०)।

९. ललित—

सुकुमार अङ्गों को स्निग्धतापूर्वक चलाना ललित कहलाता है ॥४१॥

यथा ममैव—

'सभ्रूभङ्ग करकिसलयावर्तनैरालपन्ती
सा पश्यन्ती ललितललित लोचनस्याञ्चलेन ।
विन्यस्यन्ती चरणकमले लीलया स्वैरयातै-
र्निस्सङ्गीत प्रथमवयसा नर्तिता पङ्कजाक्षी ॥१८०॥

अथ विहृतम्—

(६९) प्राप्तकाल न यद् ब्रूयात् व्रीडया विहृत हि तत् ।

प्राप्तावसरस्यापि वाक्यस्य लज्जया यदवचन तद् विहृतम् यथा—

पादाङ्गुष्ठेन भूमि किसलयरुचिना सापदेश लिखन्ती
भूयो भूय क्षिपन्ती मयि सितशबले लोचने लोलतारे ।
वक्त्र ह्रीनम्रमीपत्स्फुरदधरपुट वाक्यगर्भ दधाना
यन्मा नोवाच किञ्चिन्स्थितमपि हृदये मानस तद् दुनोति ॥१७१॥

जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—'भ्रुभङ्ग के साथ कर-पल्लव को घुमाकर बातें करती हुई, नेत्रो के कोनो से अत्यन्त सुन्दरता के साथ देखती हुई, स्वच्छन्दता के साथ लीलापूर्वक चरण-कमलो को रखती हुई उस कमलनयनी को यौवन का प्रादुर्भाव बिना सङ्गीत के ही नचा रहा है ।'

टिप्पणी—(१) द्र०, ना० शा० (२२ २२), भा० प्र० (पृ० ९), प्रता० (पृ० १९२) सा० द० (३ १०५) । (२) ना० द० (४ २७९) के अनुसार 'व्यर्थ ही सुकुमारतापूर्वक अङ्गो का चलाना ललित कहलाता है (ललित गात्रसञ्चार सुकुमारो निरर्थक) यहाँ सुकुमार=अतिमनोहर, निरथक=निष्प्रयोजन, जैसे बिना द्रष्टव्य के ही दृष्टि डालना, बिना ग्राह्य के ही हाथ फैलाना आदि । (३) निष्प्रयोजन व्यापार ललित कहलाता है और सप्रयोजन विलास, यही दोनो का अन्तर है । (४) दशरूपक मे भी सुकुमारोऽङ्ग-विन्यास , यही पाठ उचित प्रतीत होता है, अर्थात् सुकुमार तथा स्निग्ध अङ्गविन्यास ललित है ।

१०. विहृत—

जो अवसर आने पर भी (नायिका) लज्जा के कारण नही बोलती वही विहृत है ।

अर्थात् जिसका अवसर हो ऐसे वाक्य का भी जो लज्जा के कारण न बोलना है वही विहृत कहलाता है । जैसे (अमरुशतक १३६)—'किसलय के समान कान्ति वाले पैर के अगूठे से किसी बहाने भूमि को कुरेदती हुई, चञ्चल तारो वाले श्वेत एव शबल नेत्रो को बार-बार मुझ पर डालती हुई, लज्जा से झुके, कुछ फडकते अधरपुट वाले, भीतर किसी बात को लिये हुए मुख को धारण करती हुई उस (नायिका) ने मन मे होते हुए भी जो मुझ से कुछ नही कहा, वही बात मेरे मन को दुखी कर रही है ।'

अथ नेतु कार्यान्तिरसहायानाह—

(७०) मन्त्री स्व वोभय वापि सखा तस्यार्थचिन्तने ।।४२।।

तस्य नेतुरर्थचिन्तायां तन्त्रावपादिलक्षणाया मन्त्री वाऽस्मा वोभय वा सहाय । तत्र विभागमाह—

(७१) मन्त्रिणा ललित , शेषा मन्त्रिस्वायत्तसिद्धय ।

उक्तलक्षणो ललितो नेता मन्त्र्यायत्तसिद्धि । शेषा धीरोदात्तादय अनियमेन मन्त्रिणा स्वेन वोभयेन वाऽङ्गीकृतसिद्धय इति ।

टिप्पणी—(१) द्र०, ना० शा० (२२ २४–२५), भा० प्र० (पृ० ६), ना० द० (४ २७८), प्रता० (पृ० १६३), सा० द० (३ १०६)। यहाँ 'व्रीडया यह पद उपलक्षण मात्र है अत अवसर पर भी लज्जा, मुग्धता बालस्वभाव, अन्यमनस्कता या किसी कपटभाव आदि के कारण प्रिय मधुर वचन न कहना ही 'विहृत' है (मि०, ना० शा० तथा ना० द०)।

नायक के अन्य सहायक

[नायक के शृङ्गारी सहायक विदूषक आदि का ऊपर वर्णन किया जा चुका है] अब नायक के अन्य कार्यों मे सहायको का वर्णन करते है—

उस (नायक) के अर्थ चिन्तन मे मन्त्री सहायक (सखा) होता है, अथवा स्वय ही, या दोनो (नायक या मन्त्री) ही ।।४२।।

उस नायक की अर्थ-चिन्ता अर्थात् तन्त्र (=अपने राज्य मे किया गया कार्य) तथा आवाप (गुप्तचर भेजना आदि दूसरे राज्य मे किया गया काय) इत्यादि मे मन्त्री या वह स्वय अथवा मन्त्री और वह दोनो ही साधक होते है ।

उनका विभाग करते है—

धीरललित नायक की सिद्धि मन्त्र द्वारा होती है और अन्य नायको (धीरोदात्त, धीरप्रशान्त और धीरोद्धत) की सिद्धि मन्त्री तथा स्वय के द्वारा होती है ।

जिसका ऊपर (२ ३) लक्षण किया गया है उस धीर ललित नायक की सिद्धि मन्त्री के अधीन होती है । शेष जो धीरोदात्त आदि नायक है वे कभी मन्त्री द्वारा, कभी स्वय ही, कभी दोनो के द्वारा (कार्य मे) सिद्धि प्राप्त कर लेते है, इसमे कोई नियम नही है ।

टिप्पणी—(१) द्र०, ना० शा० (२४ ७४), भा० प्र० (पृ० ६३), ना० द० (४ २५३), सा० द० (३ ४३)। (२) अर्थ-चिन्तन=तन्त्रावापादि, अपने राज्य मे किया जाने वाला कर्म तन्त्र कहलाता है और दूसरे राज्य मे गुप्तचर आदि नियुक्त करना आवाप है । यहाँ 'आदि' शब्द से 'शत्रु को दण्ड देना' आदि का ग्रहण होता

धर्मसहायास्तु—

(७२) ऋत्विक्पुरोहितौ धर्मे तपस्विब्रह्मवादिनः ॥४३॥

ब्रह्म=वेदस्तं वदन्ति व्याचक्षते वा तच्छीला ब्रह्मवादिनः, आत्मज्ञानिनो वा। शेषाः प्रतीताः।

दुष्टदमनं दण्डः। तत्सहायास्तु—

(७३) सुहृत्कुमाराटविका दण्डे सामन्तसैनिकाः।

स्पष्टम्।

है, (मि०, प्रभा०)। सखा=सहाय, साधक। (३) 'मन्त्री स्व' इत्यादि कथन की विश्वनाथ ने (सा० द० ३ ४३) इस प्रकार आलोचना की है—(।) अर्थ-चिन्तन के उपायो के सन्दर्भ मे यह कथन उचित हो सकता था नायक के सहायको के सन्दर्भ मे नही, (॥) नायक के अर्थचिन्तन मे मन्त्री सहायक होता हे, केवल इतना कहना ही पर्याप्त है, इसी से नायक का भी कार्य मे भाग लेना स्वत सिद्ध है फिर 'स्व' तथा 'उभय' इत्यादि कथन व्यर्थ ही है। (४) 'मन्त्रिणा ललित इत्यादि की भी विश्वनाथ ने (सा० द० ३ ४३) आलोचना की हे कि (।) 'निश्चिन्तो धीरललित' (ऊपर २ ३) इस लक्षण से ही यह सिद्ध हे कि ललित नायक की सिद्धि मन्त्री के अधीन होती है, फिर यहाँ उसका कथन करना व्यर्थ है, किञ्च (॥) मन्त्री अर्थ-चिन्तन मे ललित नायक का सहायक नही होता अपि तु वह स्वय ही उसके अर्थ का साधक होता है, ललित नायक तो अर्थ चिन्तन आदि करता ही नही अत मन्त्री को सहायक कहना ठीक नही।

नायक के धर्मकार्य मे सहायक ये है—

यज्ञ करने वाले (ऋत्विक्), पुरोहित, तपस्वी और ब्रह्मज्ञानी या (वेदपाठी) धर्म मे सहायक होते है ॥४३॥

ब्रह्म का अर्थ हे—वेद, उसका प्रवचन या व्याख्या करने के स्वभाव वाले ब्रह्मवादी कहलाते है, अथवा आत्मज्ञानी। शेष (ऋत्विक् आदि) प्रसिद्ध ही हे—

दुष्टो का दमन करना दण्ड कहलाता है। उसमे ये सहायक होते है—

मित्र, राजकुमार, वन-विभाग के कर्मचारी अथवा अरण्यवासी (आटविक), सामन्त तथा सैनिक दण्ड मे सहायक होते हे।

यह स्पष्ट ही है।

टिप्पणी—ना० शा० (२४ ७४), भा० प्र० (पृ० ६३), ना० द० (४ २५३), सा० द० (३ ४५)।

एव तत्तत्कार्यान्तरेषु सहायान्तराणि योज्यानि । यदाह—

(७४) अन्त पुरे वर्षवरा किराता मूकवामना ।।४४।।
म्लेच्छाभीरशकाराद्या स्वस्वकार्योपयोगिन ।

शकारो राज्ञ श्यालो हीनजाति ।

विशेषान्तरमाह—

(७५) ज्येष्ठमध्याधमत्वेन सर्वेपा च त्रिरूपता ।।४५।।
तारतम्याद्यथोक्ताना गुणाना चोत्तमादिता ।

एव प्रागुक्ताना नायकनायिकादूतदूतीमन्त्रीपुरोहितादीनामुत्तममध्यमाधमभावेन त्रिरूपता, उत्तमादिभावश्च न गुणसख्योपचयापचयेन कि तर्हि गुणातिशयतारतम्येन ।

इसी प्रकार भिन्न-भिन्न कार्यो मे अन्य सहायको को नियुक्त करना चाहिये । जैसे कि कहा है—

अन्त पुर मे वर्षवर (नपु सक जन), किरात, गू गे, बौने, म्लेच्छ, अहीर तथा शकार आदि अपने अपने कार्य मे उपयोगी होते हे ।।४४-४५।।

राजा का साला जो नीच जाति का होता है, शकार हुआ करता है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२४ ६८ तथा आगे), ना० द० (४ २५१), सा० द० (३ ४३-४४) । (२) वर्पवर, किरात और वामन आदि का रत्नावली (२ ३) मे भी चित्रण किया गया है । शकार मूर्ख ओर घमण्डी होता है, नीच कुल का तथा ऐश्वर्य-सम्पन्न होता ह, वह राजा की अविवाहिता (रखेल) पत्नी का भाई होता है (सा० द०), वह हास्य का हेतु होता है और राजा का परिचारक भी (ना० द०) । मृच्छकटिक मे शकार की योजना की गई हे ।

इन (नायक आदि) के अन्य भेद बतलाते हैं—

इन सभी (नायक आदि) के ज्येप्ठ, मध्यम तथा अधम भेद से तीन-तीन प्रकार होते है । और, इनकी उत्तमता (मध्यमता तथा अधमता) आदि ऊपर कहे गये गुणो के तारतम्य (न्यूनता और अधिकता) से होती है ।।४५-४६।।

अर्थात् इसप्रकार ऊपर कहे गये नायक, नायिका, दूत, दूती, मन्त्री, पुरोहित इत्यादि के उत्तम, मध्यम और अधम भेद से तीन-तीन प्रकार होते हैं । और, यह उत्तमता इत्यादि गुणो की सख्या की अधिकता और न्यूनता के आधार पर नहीं होती अपि तु गुणो की मात्रा (विशेषता) के न्यूनाधिक्य से होती ।

टिप्पणी—(१) नायक आदि मे से प्रत्येक तीन प्रकार का होता है, जिस प्रकार नायक उत्तम, मध्यम तथा अधम कोटि का हो सकता है, इसी प्रकार नायिका

(७५) एव नाट्ये विधातव्यो नायक सपरिच्छद * ॥४६॥

उक्तो नायक, तद्व्यापारस्तूच्यते—

(७७) तद्व्यापारात्मिका वृत्तिश्चतुर्धा,

दूत, दूती, मन्त्री आदि मे से भी प्रत्येक तीन प्रकार का हो सकता है। धीरोदात्त आदि प्रत्येक नायक के भी तीन-तीन प्रकार होते ह (ऊपर १ ७) मि०, सा०, द० ३ ३८, ३ ८७, ३ १३० ।

(२) **उत्तमादिभावश्च न गुणसख्योपचयापचयेन**—प्रश्न यह हे कि इस उत्तमता आदि की व्यवस्था का आधार क्या है? एक तो यह हो सकता हे कि किसी नायक आदि के जो गुण बतलाये गये हे, वे सभी गुण जिनमे हो वह उत्तम, जिसमे कुछ गुणो की कमी हो वह मध्यम और जिसमे बहुत से गुणो की कमी हो वह अधम कहलायेगा (द्र०, भा० प्र० पृ० ६१-६२) जैसे महासत्त्व, अतिगम्भीर, आदि ७ गुण धोरोदात्त नायक के बतलाये गये हे (ऊपर २ ४)। उन सातो गुणो वाला **उत्तम, छ पाँच** या चार गुणो वाला मध्यम और शेप तीन, दो या एक गुण वाला अधम धीरोदात्त होगा। दूसरी व्यवस्था यह हो सकती है कि ये महासत्त्व आदि जिसमे अधिक मात्रा मे हो या उत्कृष्ट अवस्था मे हो वह उत्तम होगा। गुणो की मात्रा अल्प तथा अल्पतर होने पर मध्यम तथा अधम होगा। धनञ्जय तथा धनिक का मन्तव्य है कि दूसरे प्रकार से उत्तम आदि की व्यवस्था माननी चाहिये। (३) इसके अतिरिक्त उत्तम, मध्यम तथा अधम पात्रो की एक अन्य व्यवस्था भी हे जिसका उल्लेख विष्कम्भक और प्रवेशक के लक्षण (ऊपर १ ५९-६०) मे किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वहाँ पुरोहित, अमा य, कञ्चुकी (ना० शा० १९ १०९) तथा विट विदूषक (सा० द० ३ ४६) आदि मध्यम पात्र है और शकार, चेट (सा० द० ३ ४६) आदि नीच पात्र माने गये है।

इस प्रकार रूपक मे परिच्छद (परिवार, सहायको) सहित नायक की योजना करनी चाहिये ॥४६॥

टिप्पणी—'परिच्छद' का अर्थ हे—सेवक, सहायक, परिवार, परिजन (Attendants, circle of dependents आप्टे)। नायक और नायिका के सहायको का वर्णन करना रूपको की परम्परा रही हे, विशेषकर राज-परिच्छद का वणन करना। इसी हेतु नाट्यशास्त्र से लेकर प्राय सभी नाट्य के ग्रन्थो मे नायक का परिच्छद सहित विवेचन किया गया हे।

भारती आदि वृत्तियाँ (नाटयवृत्तियाँ)

नायक का वणन किया जा चुका है अब उस (नायक) के व्यापार (प्रवृत्ति) का वर्णन किया जाता हे—

उस (नायक आदि) का व्यापार ही वृत्ति कहलाता है। यह वृत्ति चार प्रकार की हे।

---

*'सपरिग्रह' इत्यपि पाठ ।

प्रवृत्तिरूपो नेतृव्यापारस्वभावो वृत्ति, सा च कैशिकी-सात्त्वती-आरभटी-भारतीभेदाच्चतुर्विधा ।

प्रवृत्तिरूप नायक (आदि के) व्यापार का स्वभाव ही वृत्ति कहलाता है । वह वृत्ति कैशिकी, सात्वती, आरभटी तथा भारती के भेद से चार प्रकार की होती है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२२ २३–२५), भा० प्र० (पृ० १२), ना० द० (३ १५५), प्रता० (२ १५), सा० द० (६ १२२–१२३) । (२) नेतृव्यापारस्वभाव — नायकस्य व्यापारानुकूल स्वभावो वृत्ति (प्रभा), वस्तुतस्तु नेतृव्यापारस्य स्वभाव स्वरूपविशेष एव वृत्ति, कीदृग स्वरूपविशेष ? प्रवृत्तिरूप । प्रवृत्ति का अर्थ है—मानसिक, वाचिक और कायिक चेष्टा । सामान्यत नायक आदि के व्यापार अनेक प्रकार के होते हैं । वाचिक आदि चेष्टाओ के साथ-साथ वह देश भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार की भाषा बोलता हैं, भिन्न भिन्न प्रकार का वेष धारण करता है और अन्य भी नाना प्रकार के क्रिया-कलाप मे व्यस्त रहता है किन्तु वे सभी व्यापार नाटय-वृत्तियाँ नही कहलाते । इसीलिये विश्वनाथ ने 'नायकादिव्यापारविशेषा नाटकादिषु' (सा० द० ६ १२३) मे 'विशेष' शब्द का ग्रहण किया है तथा धनिक ने 'प्रवृत्तिरूप' यह विशेषण दिया है । फलत नायक आदि का मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापार नाटय मे वृत्ति कहलाता है ।

इन वृत्तियो को 'काव्याना मातृका वृत्तय (ना० शा० १८ ४) 'नाटयमातर' (ना० द० ३ १५५) नाटयस्य मातृका (सा० द० ६ १२३)कहा गया हे क्योकि कवि नायक आदि के कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापारो को वर्णनीय रूप से अपने हृदय मे रखकर ही काव्यरचना करता है । इसी से वृत्तियाँ कव्य की जननी है ।

(३) ये वृत्तियाँ चार मानी गई हैं—सात्त्वती, भारती और कैशिकी तथा आरभटी । इनमे सात्त्वती वृत्ति विशेपत मानस व्यापार-रूप होती है भारती वाचिक व्यापर-रूप और कैशिकी तथा आरभटी दोनो वृत्तियाँ विशेषकर कायिक व्यापार-रूप हैं । किन्तु मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापारो का असकीएा रूप से होना तो असम्भव है, क्योकि कायिक और वाचिक चेष्टाये तो सर्वदा मानस चेष्टाओ पर ही आश्रित रहती हे । इसलिये किसी एक अश की प्रधानता के कारण ही वृत्तियो का यह भेद किया गया है, जैसे जिस वृत्ति मे वाक्चेष्टा की प्रधानता है उसे भारती कह दिया गया है (द्र०, ना० द० वृत्ति ३ १५५ तथा अभि० भा० २० २५) । इसके अतिरिक्त रस-भेद तथा अभिनय भेद आदि भी वृत्तियो के भेदक माने जाते हैं, नाटच मे सभी व्यापार रस, भाव तथा अभिनय से युक्त होता है । अत ये वृत्तियाँ भी रस, भाव तथा अभिनय का अनुसरण करती है (रसभावाभिनयगा, ना० द० ३,१५५) । अभिनवगुप्त ने चारो वृत्तियो का स्वरूप सक्षेप मे इस प्रकार

अथ विभ्रम —

(६३) विभ्रमस्त्वरया काले भूषास्थानविपर्यय ।

यथा—

अभ्युदगते शशिनि पेशलकान्तदूती-
सलापसवलितलोचनमानसाभि ।
अग्राहि मण्डनविधिर्विपरीतभूषा-
विन्यासहासितसखीजनमङ्गनाभि ॥१६२॥

यथा वा ममव—

श्रुत्वाऽऽयात बहि कान्तमसमाप्तविभूषया ।
भालेऽञ्जन दृशोर्लाक्षा कपोले तिलक कृत ॥१६ ॥

अथ किलकिञ्चितम्—

(६४) क्रोधाश्रुहषभीत्यादे सङ्कर किलकिञ्चितम् ॥३९॥

यथा ममव —

टिप्पणी—ना० शा० (२२ ६) भा० प्र० (पृ० ६) ना० द० (४ २७५) प्रता (पृ० १६०) सा द० (३ १००) अभिनवगुप्त के अनुसार विच्छित्ति का निमित्त सौभाग्य का गव होता है।

विभ्रम—

प्रिय के आगमन आदि के समय (=काले) शीघ्रता के कारण आभूषणो के स्थान का उलट फर हो जाना विभ्रम कहलाता है।

जसे— चन्द्रमा के उदित होने पर प्रिय नायक की दूती के वार्तालाप मे मग्न नेत्र तथा मन वाली अङ्गनाओ ने ऐसा प्रसाधन कर लिया कि उनके विपरीत भूषण धारण के कारण सखिया हसने लगीं ।

टिप्पणी—(१) ना०शा० (२२ १७) भा०प्र० (पृ० ६) ना०द० (४ २७३) प्रता० (पृ० १६०) सा० द० (३ १०४)। (२) सक्षेप मे प्रियतम के आगमन आदि के अवसर पर राग तथा हष आदि के कारण शीघ्रतावश कार्यों का उलट फर ही विभ्रम है जसे किसी बात के स्थान पर दूसरी कह देना कटि मे पहनने योग्य आभूषण को गले मे पहन लेना इत्यादि। अभिनवगुप्त के अनुसार विभ्रम का कारण भी सौभाग्य का गव होता है।

५ किलिकिञ्चत—

क्रोध, अश्रु, हष तथा भय इत्यादि का एक साथ होना (सङ्कर) किलकिञ्चित्त कहलाता है ॥३९॥

रतिक्रीडाद्यूते कथमपि समासाद्य समय
मया लब्धे तस्याः क्वणितकलकण्ठाधमधरे ।
कृतभ्रूभङ्गासौ प्रकटितविलक्षाधरुदित-
स्मितक्रोधोद्भ्रान्त पुनरपि विदध्यान्मयि मुखम् ।।१६४।।

अथ मोट्टायितम्—

(६५) मोट्टायित तु तद्भावभावनेष्टकथादिषु ।

इष्टकथादिषु प्रियतमकथानुकरणादिषु प्रियानुरागेण भावितान्तःकरणत्व मोट्टायितम् ।

यथा पद्मगुप्तस्य—

चित्रवर्तिन्यपि नृपे तत्त्वावेशेन चेतसि ।
व्रीडार्धवलित चक्रे मुखेन्दुमवशव सा ।।१६५।।

यथा वा—

मात क हृदये निधाय सुचिर रोमाञ्चिताङ्गी मुहु-
जृम्भामन्थरतारका सुललितापाङ्गा दधाना दृशम् ।
सुप्तेवालिखितव शून्यहृदया लेखावशेषीभव-
स्यात्मद्रोहिणि कि ह्रिया कथय मे गूढो निहन्ति स्मर ।।१६६।।'

जसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—(नायक अपने मित्र से कहता है)—रतिक्रीडा के द्यूत मे किसी प्रकार दाव (समय) पाकर मैने उसके अधर को पा लिया जबकि उसका कण्ठ अस्फुट और मधुर ध्वनि कर रहा था । फिर भौंहे टेढी करती हुई और लज्जा प्रकट करती हुई उस (नायिका) ने अपना मुख कुछ रोदन मुस्कराहट तथा क्रोध से युक्त कर लिया । अच्छा हो कि वह फिर भी मेरे प्रति ऐसा मुख करे ।

टिप्पणी—ना० शा० (२२ १८) भा० प्र० (पृ० ६) ना० द० (४ २८२), प्रता० (पृ० १६०) सा० द० (३ १०१) ।

६ मोट्टायित—

प्रियतम की चर्चा इत्यादि के अवसर पर उस (प्रिय) के भाव मे मग्न हो जाना मोट्टायित कहलाता है ।

इष्टकथा अर्थात प्रिय की चर्चा और उसके अनुकरण आदि के अवसर पर प्रिय के प्रेम मे मन का तल्लीन (भावित) हो जाना मोट्टायित है । जसे पद्मगुप्त का पद्य है– राजा के चित्रलिखित होने पर भी, चित्त मे राजा के भाव का आवेश हो जाने के कारण उस (नायिका) ने अपने मुखचन्द्र को लज्जा से कुछ वक्र कर लिया ।

अथवा जसे—अरी (मात =आदरणीय as a term of respect आप्ट) किसको अपने हृदय मे रखकर बहुत देर से रोमाञ्चित हुई बार बार जम्भाई से मन्द (नेत्र के) तारो वाली सुन्दर अपाङ्गो वाली दृष्टि को धारण करती हुई सोई सी, चित्रलिखी सी शून्य हृदय वाली होकर रेखामात्र शेष रह गई हो (अत्यन्त कृश हो गई हो) ? हे अपने साथ द्रोह करने वाली लज्जा से क्या लाभ ? मुझे बतलाओ तो क्या छिपा कामदेव तुम्हे मार रहा है ।

यथा वा ममव—

'स्मरदवथुनिमित्त गूढमुन्नेतुमस्या
　सुभग तव कथाया प्रस्तुताया सखीभि ।
भवति विततपृष्ठोदस्तपीनस्तनाग्रा
　ततवलयितबाहुज म्भित साङ्गभङ्ग ॥१६७॥

अथ कुट्टमितम् —

(६६) सान दा त कुट्टमित कुप्येत्केशाधरग्रहे ॥४०॥

यथा—

'ना दीपदानि रतिनाट्कविभ्रमाणा—
　माज्ञाक्षराणि परमाण्यथवा स्मरस्य ।

और जसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—(कोई दूती नायक से कहती है) हे सुभग जब सखिया उस (नायिका) की काम वेदना (दवथ=पीडा अग्नि) के गूढ निमित्त को जानने के लिये तुम्हारी चर्चा करती हैं तब वह अङ्गभङ्गिमा के साथ जम्भाइया लेती है जिनसे उसकी पीठ फल जाती है पीन स्तनो के अग्रभाग उठ जाते हैं तथा भुजाएँ आगे फलकर वलयाकार हो जाती हैं'।

टिप्पणी—धनञ्जय तथा धनिक के श दो से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रिय की बात चलने आदि के समय नायिका के मन का भाव मग्न हो जाना ही मोट्टायित है। इसी प्रकार का लक्षण भा० प्र० (पृ० ९) मे भी है। कि तु ना०शा० (२२ १९), ना० द० (४ २८१) प्रता० (पृ० १९१) सा० द० (३ १०२) के अनुसार जब नायक की चर्चा चलने आदि के समय नायिका का चित्त उसके भाव मे मग्न हो जाता है तब उसकी जो कान खुजलाना अङ्ग मोडना आदि शारीरिक चेष्टाएँ होती है वे ही मोट्टायित कहलाती हैं। अभिनवगुप्त के अनुसार भी मोट्टायित का यही स्वरूप है—(अङ्गमोडनात् मोट्टायितम्)। वस्तुत दशरूपक के लक्षण का भी यही अभिप्राय होना चाहिये क्योकि तद्भाव-भावना तो शरीर चेष्टाओ से ही प्रकट होती है। धनिक द्वारा दिये गये उदाहरणो से भी यही अभि यक्त होता है। अत दशरूपक के तद्भावभावना श द का ता पय है—तद्भावभावनाकृतम (ना० शा०) अर्थात् उसके भाव मे मग्न होकर की गई शारीरिक चेष्टा।

७ कुट्टमित—

(रतिक्रीडा मे प्रियतम के द्वारा) केश और अधर का ग्रहण किये जाने पर (नायिका) जो हृदय मे प्रसन्न होकर भी कोप प्रकट करती है वही कुट्टमित कहलाता है ॥४०॥

जसे—'प्रियतम द्वारा ओठ काट लिया जाने पर (रोकने के लिये) हाथ के अग्रभाग को हिलाती हुई नारी के सीत्कारयुक्त सूखे रुदन विजयी (सर्वोत्कृष्ट) हैं

दष्टेऽधरे प्रणयिना विधुताग्रपाणे
सीत्कारशुष्करुदितानि जयन्ति नार्या ॥१६८॥

अथ बिब्बोक —

(६७) गर्वाभिमानादिष्टेऽपि बिब्बोको नादरक्रिया।

यथा ममैव—

सव्याजं तिलकालकान्विरलयल्लोलाङ्गुलिः संस्पृशन्
वारंवारमुदञ्चयन्कुचयुगप्रोदञ्चिनीलाञ्चलम्।
यद्भ्रूभङ्गतरङ्गिताञ्चितदृशा सावज्ञमालोकितं
तद्गर्वादवधीरितोऽस्मि न पुनः कान्ते कृतार्थीकृतः ॥१६९॥'

अथ ललितम्—

(६८) सुकुमाराङ्गविन्यासो मसृणो ललितं भवेत् ॥४१॥

वे (रुदन) रतिक्रीडा की नाटकीय चेष्टाओं के नान्दीपाठ हैं अथवा कामदेव के आदेश के बड़े बड़े लेख हैं।

टिप्पणी—(१) द्र० ना० शा० (२२.२०) भा० प्र० (पृ० ६) ना० द० (४.२८०) प्रता० (पृ० १६१) सा० द० (३.१०३)। **केशाधरग्रहे** प्रियतमेन इति शेषः (अभि० भा०) **सानन्दान्तः**=सानन्दम् अन्तः (अन्तःकरणम्) यस्मिन् कर्मणि तत् तथा कुप्येत् का क्रियाविशेषण है (प्रभा)। **शुष्क**—सूखा, झूठमूठ, बनावटी।

८ बिब्बोक—

गर्व और अभिमान के कारण इष्ट वस्तु के प्रति भी अनादर दिखलाना बिब्बोक कहलाता है।

जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—(नायक नायिका से कहता है)—'हे प्रियतमे (कान्ते) तिलक के बालों को विरल करके कपटपूर्वक चञ्चल अङ्गुलियों से तुम्हारा स्पर्श करते हुए तथा बार-बार कुच युगल पर फहराते नीले आंचल को उठाते हुए मुझ को तुमने जो टेढ़ी भौंहों वाली वक्र दृष्टि से अवज्ञापूर्वक देखा, उस गर्व से मैं अपमानित हो गया हूँ किन्तु तुमने मुझे कृतार्थ नहीं किया'।

टिप्पणी—(१) द्र० ना० शा० (२२.२१) भा० प्र० (पृ० ६) काव्यानु०, (७.३६) ना० द० (४.२७७) प्रता० (पृ० १६२) सा० द० (३.१००)। (२) **इष्टेऽपि**—प्रिय में भी, प्रियतम अथवा अभीष्ट वस्त्र, अलङ्कार आदि का अनादर। **गर्व**—सौभाग्य का गर्व, हर्ष। **अभिमान**—चित्त का चढ़ा होना (ना० द०) रूपादेर्गर्वः, यौवनादेश्चाभिमानः (प्रभा०)।

९ ललित—

सुकुमार अङ्गों को स्निग्धतापूर्वक चलाना ललित कहलाता है ॥४१॥

यथा ममव—

सभ्रूभङ्ग करकिसलयावतनरालपन्ती
सा पश्यन्ती ललितललित लोचनस्याञ्चलन ।
विन्यस्यन्ती चरणकमले लीलया स्वरयात-
निस्सङ्गीत प्रथमवयसा नर्तिता पङ्कजाक्षी ॥१७०॥

अथ विहृतम—

(६८) प्राप्तकाल न यद् ब्रूयात् व्रीडया विहृत हि तत ।

प्राप्तावसरस्यापि वाक्यस्य लज्जया यदवचन तद् विहृतम यथा—

पादाङ्गुष्ठेन भूमि किसलयरुचिना सापदेश लिखन्ती
भूयो भूय क्षिपन्ती मयि सितशबले लोचने लालतारे ।
वक्त्र ह्रीनम्रमीषत्स्फुरदधरपुट वाक्यगर्भ दधाना
यन्मा नोवाच किञ्चित्स्थितमपि हृदये मानस तद दुनोति ॥१७१॥

जसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है— भ्रूभङ्ग के साथ कर पल्लव को घुमाकर बातें करती हुई, नेत्रो के कोनो से अत्यन्त सुन्दरता के साथ देखती हुई, स्वच्छन्दता के साथ लीलापूवक चरण कमलो को रखती हुई उस कमलनयनी को यौवन का प्रादुर्भाव बिना सङ्गीत के ही नचा रहा हे ।'

टिप्पणी—(१) द्र० ना० शा० (२२ २२) भा० प्र० (पृ० ६), प्रता० (पृ० १६२) सा० द० (३ १०५) । (२) ना द० (४ २७६) के अनुसार व्यथ ही सुकुमारतापूवक अङ्गो का चलाना ललित कहलाता है (ललित गात्रसञ्चार सुकुमारो निरथक) यहाँ सुकुमार=अतिमनोहर निरथक=निष्प्रयोजन जसे बिना द्रष्टव्य के ही दृष्टि डालना बिना ग्राह्य के ही हाथ फलाना आदि । (३) निष्प्रयोजन व्यापार ललित कहलाता है और सप्रयोजन विलास यही दोनो का अन्तर है । (४) दशरूपक मे भी सुकुमारोऽङ्ग विन्यास यही पाठ उचित प्रतीत होता हे अथात् सुकुमार तथा स्निग्ध अङ्गविन्यास ललित है ।

१० विहृत—

जो अवसर आने पर भी (नायिका) लज्जा के कारण नही बोलती वही विहृत है ।

अर्थात जिसका अवसर हो ऐसे वाक्य का भी जो लज्जा के कारण न बोलना है वही विहृत कहलाता है । जसे (अमरुशतक १३६)— किसलय के समान कान्ति वाले पर के अगूठे से किसी बहाने भूमि को कुरेदती हुई, चञ्चल तारो वाले श्वेत एव शबल नेत्रो को बार बार मुझ पर डालती हुई, लज्जा से झुके, कुछ फडकते अधरपुट वाले, भीतर किसी बात को लिये हुए मुख को धारण करती हुई उस (नायिका) ने मन मे होते हुए भी जो मुझ से कुछ नहीं कहा, वही बात मेरे मन को दुखी कर रही है ।

अथ नेतु कार्यान्तरसहायानाह—

(७०) मन्त्री स्व वोभय वापि सखा तस्यार्थचिन्तने ॥४२॥

तस्य नेतुरर्थचिन्ताया तन्त्रावपादिलक्षणाया मन्त्री वा स्व वोभय वा सहाय । तत्र विभागमाह—

(७१) मन्त्रिणा ललित , शेषा मन्त्रिस्वायत्तसिद्धय ।

उक्तलक्षणो ललितो नेता मन्त्र्यायत्तसिद्धि । शेपा धीरोदात्तादय अनियमेन मन्त्रिणा स्वेन वोभयेन वाऽङ्गीकृतसिद्धय इति ।

टिप्पणी—(१) द्र० ना० शा० (२२ २४–२५) भा० प्र (पृ० ९) ना० द० (४ २७८) प्रता० (पृ० १९३) सा० द० (३ १०६) । यहा व्रीडया यह पद उपलक्षण मात्र है अत अवसर पर भी लज्जा मुग्धता बालस्वभाव अन्यमनस्कता या किसी कपटभाव आदि के कारण प्रिय मधुर वचन न कहना ही विहृत' है (मि०, ना० शा० तथा ना० द०) ।

नायक के अन्य सहायक

[नायक के शृङ्गारी सहायक विदूषक आदि का ऊपर वर्णन किया जा चुका है] अब नायक के अन्य कार्यों मे सहायको का वर्णन करते हैं—

उस (नायक) के अर्थ चिन्तन मे मन्त्री सहायक (सखा) होता है, अथवा स्वय ही, या दोनो (नायक या मन्त्री) ही ॥४२॥

उस नायक की अर्थ चिन्ता अर्थात् तन्त्र (=अपने राज्य मे किया गया कार्य) तथा आवाप (गुप्तचर भेजना आदि दूसरे राज्य मे किया गया कार्य) इत्यादि मे मन्त्री या वह स्वय अथवा मन्त्री और वह दोनो ही साधक होते हे ।

उनका विभाग करते है—

धीरललित नायक की सिद्धि मन्त्र द्वारा होती है और अन्य नायको (धीरोदात्त, धीरप्रशान्त और धीरोद्धत) की सिद्धि मन्त्री तथा स्वय के द्वारा होती है ।

जिसका ऊपर (२ ३) लक्षण किया गया है उस धीर ललित नायक की सिद्धि मन्त्री के अधीन होती है । शेष जो धीरोदात्त आदि नायक है वे कभी मन्त्री द्वारा, कभी स्वय ही, कभी दोनो के द्वारा (कार्य मे) सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं, इसमे कोई नियम नहीं है ।

टिप्पणी—(१) द्र० ना० शा० (२४ ७४) भा० प्र० (पृ० ९३) ना० द० (४ २५३) सा द० (३ ४३) । (२) अर्थ चिन्तन=तन्त्रावापादि अपने राज्य मे किया जाने वाला कर्म तन्त्र कहलाता है और दूसरे राज्य मे गुप्तचर आदि नियुक्त करना आवाप है । यहा आदि शब्द से शत्रु को दण्ड देना आदि का ग्रहण होता

धमराहायास्तु—

(७२) त्र ि यवपु ाहि ाौ वम तपस्विब्रह्मत्राि ि ॥४३॥

ब्रह्म=वदस्त त्दति गाचक्षते वा त च्छी ना ह्मवादिन ग्रा मनानिनो वा। शेषा प्रतीता ।

दुष्टदगन दण्ड । तत्महायास्तु—

(७३) सुहृत्कुमाराटविका दण्डे साम तसनिका ।

स्पष्टम ।

है (मि०, प्रभा०)। सखा=सहाय साधक। (३) म त्री स्व इत्यादि कथन की विश्वनाथ ने (सा० द० ३ ४३) इस प्रकार ग्रालोचना की है—(i) ग्रथ चि तन के उपायो के स दभ मे यह कथन उचित हो सकता था नायक के सहायको के स दभ मे नही (ii) नायक के ग्रथचि तन मे म त्री सहायक होता है केवल इतना कहना ही पर्याप्त है इसी से नायक का भी काय मे भाग लेना स्वत सिद्ध है फिर 'स्व' तथा 'उभय इ यादि कथन यथ ही है। (४) मन्त्रिणा ललित इत्यादि की भी विश्वनाथ ने (सा० द० ३ ४३) ग्रालो ना की हे कि (i) निश्चि त धीरललित' (ऊपर २ ३) इस लक्षण से ही यह सिद्ध है कि ल लत नायक की सिद्धि म त्री के ग्रधीन होती है, फिर यहा उसका कथन करना यथ है, किञ्च (ii) म त्री ग्रथ–चि तन मे ललित नायक का सहायक नही होता ग्रपि तु वह स्वय ही उसके ग्रथ का साधक होता है ललित नायक तो ग्रथ चिन्तन ग्रादि करता ही नही ग्रत म त्री को सहायक कहना ठीक नही।

नायक के धमकाय मे सहायक ये हैं —

यज्ञ करने वाले (ऋत्विक), पुरोहित, तपस्वी ग्रौर ब्रह्मज्ञानी या (वेदपाठी) धम मे सहायक होते है ॥४३॥

ब्रह्म का ग्रथ है—वेद उसका प्रवचन या याख्या करन के स्वभाव वाले ब्रह्मवादी कहलाते है, ग्रथवा ग्रात्मज्ञानी। शेष (ऋत्विक ग्रादि) प्रसिद्ध ही हैं—

दुष्टो का दमन करना दण्ड कहलाता है। उसमे ये सहायक होते है—

मित्र, राजकुमार, वन विभाग के कमचारी ग्रथवा ग्ररण्यवासी (ग्राट विक), साम त तथा सनिक दण्ड मे सहायक होते है।

यह स्पष्ट ही है।

टिप्पणी—ना० शा० (२४ ७४) भा० प्र० (पृ० ६३), ना० द० (४ २५३), सा० द० (३ ४५)।

एव तत्तत्कार्यान्तरेषु सहायान्तराणि योज्यानि । यदाह—

(७४) अन्तपुरे वषवरा किराता मूकवामना ॥४४॥
म्लच्छाभीरशकाराद्या स्वस्वकार्योपयोगिन ।

शकारो राज्ञ श्यालो हीनजाति ।

विशेषान्तरमाह—

(७५) ज्येष्ठमध्याधमत्वेन सर्वेपा च त्रिरूपता ॥४५॥
तारतम्याद्यथोक्ताना गुणाना चोत्तमादिता ।

एव प्रागुक्ताना नायकनायिकादूतदूतीमन्त्रीपुराहितादीनामुत्तममध्यमाधमभावन त्रिरूपता उत्तमादिभावश्च न गुणसख्योपचयापचायेन किं तर्हि गुणातिशयतारतम्येन ।

इसी प्रकार भिन्न भिन्न कार्यों मे अन्य सहायको को नियुक्त करना चाहिये। जसे कि कहा है—

अन्त पुर मे वषवर (नपुसक जन), किरात गूगे, बौने, म्लेच्छ, अहीर तथा शकार आदि अपने अपने काय मे उपयोगी होते है ॥४४ ४५॥

राजा का साला जो नीच जाति का होता है, शकार हुआ करता है ।

टिप्पणी—(१) ना शा० (२४ ६८ तथा आगे) ना० द० (४२५१) सा० द० (३ ४३ ४४)। (२) वषवर किरात और वामन आदि का रत्नावली (२ ३) मे भी चित्रण किया गया है। शकार मूख और घमण्डी होता हे नीच कुल का तथा ऐश्वय सम्पन्न होता है वह राजा की अविवाहिता (रखेल) पत्नी का भाई होता है (सा० द०) वह हास्य का हेतु होता है और राजा का परिचारक भी (ना० द०)। मृच्छकटिक मे शकार की योजना की गई है ।

इन (नायक आदि) के अन्य भेद बतलाते है—

इन सभी (नायक आदि) के ज्येष्ठ, मध्यम तथा अधम भेद से तीन तीन प्रकार होते है। और, इनकी उत्तमता (मध्यमता तथा अधमता) आदि ऊपर कहे गये गुणो के तारतम्य (न्यूनता और अधिकता) से होती है ॥४५-४६॥

अर्थात् इसप्रकार ऊपर कहे गये नायक नायिका, दूत, दूती मन्त्री, पुरोहित इत्यादि के उत्तम, मध्यम और अधम भेद से तीन तीन प्रकार होते हैं। और, यह उत्तमता इत्यादि गुणो की सख्या की अधिकता और न्यूनता के आधार पर नहीं होती अपि तु गुणो की मात्रा (विशेषता) के न्यूनाधिक्य से होती ।

टिप्पणी—(१) नायक आदि मे से प्रत्येक तीन प्रकार का होता है जिस प्रकार नायक उत्तम मध्यम तथा अधम कोटि का हो सकता है, इसी प्रकार नायिका

(७५) एव नाटये विधातव्यो नायक सपरिच्छद * ।।४६।।

उक्तो नायक, तद्वयापारस्तूच्यते—

(७७) तद्वयापारात्मिका वत्तिश्चतुधा,

दूत दूती, मन्त्री आदि म से भी प्रत्येक तीन प्रकार का हो सकता है। धीरोदात्त आदि प्रत्यक नायक के भी तीन तीन प्रकार होते है (ऊपर १ ७) मि० सा० द० ३ ३८ ३ ८७, ३ १३० ।

(२) उत्तमादिव्यवस्था न गुणसख्योपचयापचयेन—प्रश्न यह हे वि इस उत्त मता आदि की व्यवस्था का आधार क्या है ? एक तो यह हो सकता हे कि किसी नायक आदि के जो गुण बतलाये गय है, वे सभी गुण जिनम हा वह उत्तम जिसमे कुछ गुणो की कमी हो वह मध्यम और जिसमे बहुत से गुणो की कमी हो वह अधम कहलायेगा (द्र० भा० प्र० पृ ९१ ९२) जसे महासत्त्व अतिगम्भीर आदि ७ गुण धोरोदात्त नायक व बतलाये गये है (ऊपर २ ४)। उन सातो गुणो वाला उत्तम, छ पाच या चार गुणो वाला मध्यम और शेष तीन दो या एक गुण वाला अधम धीरोदात्त होगा। दूसरी व्यवस्था यह हो सकती है कि ये महासत्त्व आदि जिसमे अधिक मात्रा म हो या उत्कृष्ट अवस्था म हो वह उत्तम होगा। गुणो की मात्रा अल्प तथा अल्पतर होने पर म यम तथा अधम होगा। धनञ्जय तथा धनिक का मन्तव्य है कि दूसरे प्रकार से उत्तम आदि की यवस्था माननी चाहिये। (३) इसके अतिरिक्त उत्तम मध्यम तथा अधम पात्रो की एक अन्य व्यवस्था भी हे जिसका उल्लेख विष्कम्भक और प्रवेशक के लक्षण (ऊपर १ ५९ ६०) मे किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वहाँ पुरोहित अमात्य कञ्चुकी (ना० शा १९ १०९) तथा विट विदूषक (सा० द० ३ ४६) आदि मध्यम पात्र है और शकार चेट (सा० द ३ ४६) आदि नीच पात्र मान गये है।

इस प्रकार रूपक मे परिच्छद (परिवार, सहायको) सहित नायक की योजना करनी चाहिये ।।४६।।

टिप्पणी—परिच्छद का अथ हे—सवक सहायक परिवार परिजन (Attendants circle of dependents आप्टे)। नायक और नायिका के सहायको का वणन करना रूपको की परम्परा रही हे विशेषकर राज परिच्छद का वणन करना। इसी हेतु नाटयशास्त्र से लेकर प्राय सभी नाटय के ग्रन्था मे नायक का परिच्छद सहित विवेचन किया गया है।

भारती आदि वत्तिया (नाटयवृत्तिया)

नायक का वणन किया जा चुका है अब उस (नायक) के व्यापार (प्रवृत्ति) का वर्णन किया जाता हे—

उस (नायक आदि) का व्यापार ही वत्ति कहलाता है। यह वत्ति चार प्रकार की है।

---

* सपरिग्रह ' इत्यपि पाठ ।

प्रवृत्तिरूपो नेतृव्यापारस्वभावो वृत्ति सा च कशिकी सात्त्वती आरभटी भारतीभेदाच्चतुर्विधा ।

प्रवृत्तिरूप नायक (आदि के) व्यापार का स्वभाव ही वृत्ति कहलाता है । वह वृत्ति कशिकी, सात्वती, आरभटी तथा भारती के भेद से चार प्रकार की होती है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२२ २३–२५) भा० प्र० (पृ० १२) ना० द० (३ १५५) प्रता० (२ १५) सा० द० (६ १२२–१२३) । (२) नेतृ यापारस्वभाव — नायकस्य व्यापारानुकूल स्वभावो वृत्ति (प्रभा) वस्तुतस्तु नेत यापारस्य स्वभाव स्वरूपविशेष एव वृत्ति कीदृश स्वरूपविशेष ? पवृत्तिरूप । प्रवृत्ति का अथ है— मानसिव वाचिक और कायिक चेष्टा । सामा यत नायक आदि के यापार अनेक प्रकार के होते हैं । वाचिक आदि चेष्टाओ के साथ साथ वह देश भेद से भिन्न भिन्न प्रकार की भाषा बोलता है भिन्न भिन्न प्रकार का वेष धारण करता है और अ य भी नाना प्रकार के क्रिया कलाप मे यस्त रहता है कि तु वे सभी व्यापार नाटच– वृत्तियाँ नही कहलाते । इसीलिये विश्वनाथ ने नायकादि यापारविशेषा नाटकादिषु' (सा० द० ६ १२३) मे विशेष श द का ग्रहण किया है तथा धनिक ने प्रवृत्तिरूप यह विशेषण दिया है । फलत नायक आदि का मानसिक वाचिक और कायिक व्यापार नाटच मे वृत्ति कहलाता है ।

इन वृत्तियो को का याना मालका वृत्तय (ना० शा० १८ ४) नाटचमातर' (ना० द० ३ १५५) नाटचस्य मातका (सा० द० ६ १२३)कहा गया है क्योकि कवि नायक आदि के कायिक वाचिक और मानसिक व्यापारो को वर्णनीय रूप से अपने हृदय मे रखकर ही काव्यरचना करता है । इसी से वृत्तियाँ क य की जननी हैं ।

(३) ये वृत्तियाँ चार मानी गई हैं—सात्त्वती भारती और कैशिकी तथा आरभटी । इनमे सात्त्वती वृत्ति विशेषत मानस ब्यापार रूप होती है भारती वाचिक व्यापर रूप और कशिकी तथा आरभटी दोनो वृत्तिया विशेषकर कायिक व्यापार रूप हैं । कि तु मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापारो का असकीण रूप से होना तो असम्भव है क्योकि कायिक और वाचिक चेष्टाये तो सवदा मानस चेष्टाओ पर ही आश्रित रहती है । इसलिये किसी एक अश की प्रधानता के कारण ही वृत्तियो का यह भेद किया गया है जसे जिस वृत्ति मे वाकचेष्टा की प्रधानता है उसे भारती कह दिया गया है (द्र० ना द० वृत्ति ३ १५५ तथा अभि० भा० २० २५) । इसके अतिरिक्त रस भेद तथा अभिनय भेद आदि भी वृत्तियो के भेदक माने जाते हैं नाटच मे सभी व्यापार रस, भाव तथा अभिनय से युक्त होता है । अत ये वृत्तियाँ भी रस भाव तथा अभिनय का अनुसरण करती है (रसभावाभिनयगा, ना० द० ३,१५५) । अभिनवगुप्त ने चारो वृत्तियो का स्वरूप सक्षेप मे इस प्रकार

(७७ क)—तत्र कशिकी ।

गीतनत्यविलामाद्य मृदु शृङ्गारचेष्टित ॥४७॥

तासा गीतनत्यविलासकामोपभोगाद्युपलक्ष्यमाणो मदु शृङ्गारी कामफलावच्छिन्नो "यापार" कशिकी सा तु—

(७८) नमतत्स्फिञ्जतत्स्फोटतदगभश्चतुरङ्गिका ।

तदित्यनन सवत्र नम परामश्यत ।

तत्र—

बतलाया है—पाठ्य प्रधाना भारती अभिनयप्रधाना सात्त्वती अनुभावद्यावाशमयरस प्रधानारभटी, गीतवाद्योपरञ्जकप्रधाना कशिकीति (अभि भा० २ २३) । इन चारो वृत्तिया का विशद वणन आगे किया जा रहा है ।

१ कशिकी वत्ति—

उनमे गीत, नत्य, विलास आदि शृङ्गारिक चेष्टाओ से कोमल वत्ति कशिकी होती है ॥४७॥

अर्थात् उन (चार प्रकार की वत्तियो) मे गीत, नत्य, विलास कामोपभोग इत्यादि से युक्त अतएव मृदु (सुकुमार) तथा शृङ्गार पूण अर्थात कामरूपी फल की प्राप्ति से सम्बद्ध (नायक आदि का) व्यापार कशिकी वत्ति है ।

और उसके—

(क) नम, (ख) नमस्फिञ्ज, (ग) नमस्फोट और (घ) नमगभ । भेद से चार अङ्ग होते है ।

(कारिका मे) तत (वह) शब्द के द्वारा सब जगह नम का ग्रहण होता है (अर्थात तत्स्फिञ्ज = उस नम का स्फिञ्ज या नम स्फिञ्ज इत्यादि) ।

टिप्पणी—(१) द्र०, ना० शा० (२० ५२–५३) भा० प्र (पृ० १२) ना० द० (३ १६१) सा० द० (६ १२४) । (२) सा० द० मे ना० शा० के कशिकी लक्षण का अनुसरण करते हुए इसे अधिक स्पष्ट किया गया हे । तदनुसार जो विशष प्रकार की वेश भूषा से चित्रित हो जिसमे स्त्री पात्रो की बहुलता हो नत्य गीत की प्रचुरता हो शृङ्गारप्रधान "यवहार हो वह चारु विलासो से युक्त वृत्ति कशिकी है । ना० द० वृत्ति (३ १६१) के अनुसार कशिकी शब्द की युत्पत्ति इस प्रकार है—लम्बे केश होने के कारण स्त्री कशिका कही जाती है और स्त्रियो का प्राधान्य होने के कारण इसे कशिकी वृत्ति कहते है ।

नम—

उन (कशिकी के चार अङ्गो) मे—

(७६) वदग्ध्यक्रीडित नम प्रियोपच्छ दनात्मकम ॥४८॥

हास्येनव सश्रृङ्गारभयेन विहित त्रिधा ।
आत्मोपक्षेपसग्भोगमान श्रृङ्गायपि िधा ॥४९॥
शुद्धमङ्ग भय द्व धा त्रेधा वाग्वेपचेष्टित ।
सव सहास्यमित्येव नर्माष्टादशधादितम ॥५०॥

अग्राम्य इष्टजनावजनरूप परिहासा नम तच्च शुद्धहास्यन सश्रृङ्गारहास्यन सभयहास्येन रचित त्रिविधम श्रृङ्गारवदपि स्वानुरागनिवदन—सम्भागेच्छाप्रकाशन सापराधप्रियप्रतिभेदनस्त्रिविधमेव भयनर्मापि शुद्धरसान्तराङ्गभावाद द्विविधम । एव षडविधस्य प्रत्येक वाग्वेपचेष्टाव्यतिकरेणाष्टादशविधत्वम ।

प्रिय को प्रसन्न करने वाली विदग्धता से युक्त क्रीडा को नम कहा जाता है ॥४८॥

वह नम (प्रथमत) तीन प्रकार का होता है—(i) केवल हास्य से किया गया, (ii) श्रृङ्गार सहित हास्य से किया गया और (iii) भय सहित हास्य से किया गया। इनमे (ii) श्रृङ्गारयुक्त (हास्य से किया गया) भी तीन प्रकार का होता है—(अ) आत्मोपक्षेप, (आ) सम्भोग और (इ) मान ॥४९।

भययुक्त (iii) (हास्य से किया गया) भी दो प्रकार का है— शुद्ध और अङ्ग। फिर हास्य नम सहित ये सब (अर्थात् कुल ६ प्रकार के नम) वाक वेष और चेष्टा के भेद से तीन तीन प्रकार के होते है। इस प्रकार नम अट्ठारह प्रकार का कहा गया है ॥५०॥

प्रियजन को आकृष्ट करने वाला विदग्ध (अग्राम्य = शिष्ट) परिहास ही नम कहलाता है। वह शुद्ध हास्य श्रृङ्गारसहित हास्य तथा भयसहित हास्य से किया जाने के कारण तीन प्रकार का होता है। श्रृङ्गारसहित हास्य से किया गया नम भी—नायिका द्वारा अपने अनुराग का निवेदन (= आत्मोपक्षेप) नायिका द्वारा सहवास की इच्छा प्रकट करना (= सम्भोग) तथा अपराध करने वाले प्रिय के प्रति कोप करना (प्रतिभेदन मान)—तीन प्रकार का होता है। भयसहित हास्य से किया गया नम भी —शुद्ध भय और अन्य रस के अङ्ग रूप भय के भेद से—दो प्रकार का होता है। इस प्रकार ६ प्रकार के नम के वाक वेष और चेष्टा के भेद से अटठारह भेद हो जाते हैं।

तत्र वचोहास्यनम यथा—

पत्यु शिरश्च द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूवम ।
सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन ता निवचन जघान ॥१७२॥

वेपनम यथा नागान दे विदूपकशेखरक यतिकरे । क्रियानम यथा मालविकाग्नि मित्र उत्स्वप्रायमानस्य विदूषकस्योपरि निपुणिका सपभ्रमकारण दण्डकाष्ठ पातयति । एव वक्ष्यमाणेष्वपि वाग्वेषचेष्टापरत्वमुदाहायम ।

शृङ्गारवदात्मोपक्षपनम यथा—

मध्याह्न गमय त्यज श्रमजल स्थित्वा पय पीयता
मा शू येति विमुञ्च पा थ विवश शीत प्रपामण्डप ।
तामेव स्मर घस्मरस्मरशरत्रस्तां निजप्रेयसी
त्वच्चित्त तु न रञ्जयति पथिक प्राय प्रपापालिका ॥१७३॥

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२० ५६–६१) ना० द० (३ १६१ तथा वृत्ति) सा० द० (६ १२५–१२८)। (२) १८ भेदो की गणना सम्भप मे इस प्रकार है— हास्य नम १+शृङ्गार सहित हास्य (आत्मोपक्षेप, सम्भोग मान) ३+भयसहित हास्य (शुद्ध अङ्ग) २=६। नम को प्रकट करने वाले वाणी वेष और चेष्टा है अत इन ६ मे से प्रत्येक के तीन भेद होकर ६×३=१८। इनके नाम वचोहास्य नम, वेषहास्य नर्म इत्यादि होगे ।

उनमे से वचोहास्यनम यह है जसे (कुमारसम्भव ७ १९)— 'चरणो में लाली लगाकर सखी ने पावती को परिहासपूर्वक यह आशीस दी कि 'इससे पति के सिर की च द्रकला का स्पश करो' तब पार्वती ने बिना कुछ बोले ही माला से उसे पीटा ।

वेष हास्य नम नागान द मे विदूषक और शेखरक के स दर्भ (व्यतिकर) मे है । चेष्टा हास्य नम यह है, जसे मालविकाग्निमित्र नाटक मे निपुणिका नामक चेटी स्वप्न देखते हुए विदूषक के ऊपर साँप का भ्रम उत्पन्न करने के लिये लकडी का डण्डा डाल देती है । इसी प्रकार आगे कहे जाने वाले भेदो मे भी वाक्, वेष और चेष्टा के उदाहरण दिये जा सकते है ।

(ii) (अ) शृङ्गारसहित आत्मोपक्षेप नम यह है, जसे—(कोई प्याऊ देने वाली किसी पथिक के प्रति अपना अनुराग प्रकट करती हुई कहती है) 'हे पथिक दोपहरी बिता लो, पसीना सुखा लो, बठकर पानी पीलो, 'यह सूना है' ऐसा समझकर बरबस इसे छोड न जाओ । यह प्रपामण्डप (प्याऊ का झोपडा) तो शीतल है । यहाँ (ठहरकर) काम के घातक (घस्मर) बाणो से त्रस्त अपनी उस प्रियतमा को ही याद करते रहना क्योकि हे पथिक, प्याऊ देने वाली तो प्राय तुम्हारे चित्त को प्रसन्न नहीं कर सकती ।

सम्भोगनम यथा—

'सालोए 'विश्र सूरे घरिणी घरसामिश्रस्स घेत्तूण।
णेच्छ तस्स वि पाए धुग्रइ हसन्ती हस तस्स ॥१७४॥
(सालोके एव सूर्ये गृहिणी गृहस्वामिकस्य गृहीत्वा।
अनिच्छतोऽपि पादौ धुनोति हसन्ती हसत ॥)

माननम यथा—

तदवितथमवादीय मम त्व प्रियेति
प्रियजनपरिभुक्त यद्दुकूल दधान ।
मदधिवसतिमागा कामिना मण्डनश्री—
व्रजति हि सफलत्व वल्लभालोकनेन ॥१७५॥

भयनम यथा रत्नावल्यामालेरयदशनावसरे सुसङ्गता—जाणिदो मए एम। स वो वुत्त तो सम चित्तफलएण ता देवीए णिवेदइस्सम (ज्ञातो मयष सर्वो वत्तान्त सह चित्रफलकेन तद्देव्य निवेदयिष्यामि।) इत्यादि।

शृङ्गाराङ्ग भयनम यथा ममव—

अभि यक्तालीक सकलविफलोपायविभव—
श्चिर ध्यात्वा सद्य कृतकृतकसरम्भनिपुणम ।

(आ) शृङ्गारसहित सम्भोग नम यह है, जसे (गाथासप्तशती २ ३०) 'सूय के प्रकाशयुक्त रहते हुए ही हसती हुई गृहिणी न चाहते हुए भी हसते हुए गृहस्वामी के चरणो को पकडकर हिला रही है।'

(इ) शृङ्गारसहित माननम यह है, जसे (माघ ११, कोई नायक किसी नायिका का वस्त्र धारण करके दूसरी नायिका के पास पहुच गया उसे देखकर वह नायिका मानपूवक परिहास करती हुई बोली)— जो तुमने कहा कि 'तुम मेरी प्रियतमा हो यह सत्य ही है। तभी तो तुम अपनी प्रिया के वस्त्र को धारण करके मेरे वासस्थान पर आये हो। क्योकि कामीजनो की शृङ्गार शोभा प्रियतमा के द्वारा देख लिये जाने पर ही सफल होती है।

(iii) भयनम (शुद्ध) यह है जसे रत्नावली (२ १५—१६) मे चित्र दशन के अवसर पर सुसङ्गता—(राजा से परिहास करती है) मैने चित्रफलक सहित यह समस्त वत्तान्त जान लिया है तो अब जाकर महारानी से कह दूगी' इत्यादि।

शृङ्गार का अङ्ग भयनम यह है, जसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है— "जिस नायक का अपराध प्रकट हो चुका था फिर (मानवती नायिका को मनाने के) समस्त उपायो का सामथ्य भी विफल हो गया था, उस नायक ने देर तक सोचकर

इत पृष्ठे पृष्ठे किमिदमिति स त्रास्य सहसा

कृताश्लेष धूत स्मितम ुरमालिङ्गति वधूम ॥१७६॥

अथ नमस्फिञ्ज —

(८०) नमस्फिञ्ज सुखारम्भा भया तो नवसङ्गमे ।

यथा मालविकाग्निमित्र सङ्क ते नायकमभिसृताया नायिकाया नायक —

विसृज सु दरि सङ्गमसाध्वस न तु चिरात्प्रभृति प्रणयो मुख ।

परिगृहाण गते सहकारता त्वमतिमुक्तलताचरित मयि ॥१७७॥

मालविका—भटटा देवीए भयेण अतणो वि पिअ काउ ण पारमि । (भत्त देव्या भयेनात्मनोऽपि प्रिय कतु न पारयामि ।) इत्यादि ।

अथ नमस्फोट —

(८१) नमस्फोटस्तु भावाना सूचितोऽल्परसो लव ॥५१॥

एकदम निपुणतापूवक कृत्रिम (कृतक) उदवेग को दिखलाते हुए यह पीछे क्या है, पीछे क्या है !' इस प्रकार नायिका को डरा दिया । और, उस धूत ने पास को सटते हुए मुसकराहट पूवक मधुरता के साथ नायिका का आलिङ्गन किया'

नमस्फिञ्ज—

यदि (नायिका को) प्रथम समागम के समय आरम्भ मे सुख होता है और अ त मे भय तो वह नमस्फिञ्ज कहलाता है ।

जसे मालविकाग्निमित्र (४ १३) मे जब नायिका (मालविका) सङ्क तस्थल पर नायक के पास पहुचती है तो नायक (राजा) कहता है—हे सु दरी समागम के भय को छोड दो बहुत समय से तुम्हारे प्रम की प्रतीक्षा करने वाले अतएव सहकार (आम्रवक्ष) के समान हो जाने वाले मेरे प्रति तुम माधवी लता का सा आचरण करो (जसे माधवी लता आम्र से लिपट जाती है, उसी प्रकार) । मालविका—स्वामी देवी के भय से मै अपना चाहा भी करने मै समथ नही' । इत्यादि ।

टिप्पणी—ना० शा० (२० ८६) सा द० (६ १२७) म भी लक्षण तथा उदाहरण दश० के समान ही हे । ना० शा० मे इसका नाम नमस्फुञ्ज है । अभि० भा० के अनुसार इसकी व्युत्पत्ति हे—नमण स्फुञ्ज विघ्न इत्यथ । सा० द० मे 'नमस्फूज नाम है ।

नमस्फोट—

जहा पर भावो के कुछ अशो द्वारा (लव) अल्प रस सूचित होता है, वह नमस्फोट कहलाता है ॥५१॥

यथा मालतीमाधवे— मकरन्द —

गमनमलसं शून्या दृष्टिः शरीरमसौष्ठवं
श्वसितमधिकं किं त्वेतत्स्यात्किमन्यदितोऽथवा ।
भ्रमति भुवने कन्दर्पाज्ञा विकारि च यौवनं
ललितमधुरास्ते ते भावाः क्षिपन्ति च धीरताम् ॥१७८॥

इत्यत्र गमनादिभिर्भावलेशैर्माधवस्य मालत्यामनुरागः स्तोकः प्रकाश्यते ।

अथ नर्मगर्भः —

(८२) छन्ननेतृप्रतीचारो नर्मगर्भोऽर्थहेतवे ।

यथाऽमरुशतके—

दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा—
देकस्या नयने निमील्य विहितक्रीडानुबन्धच्छलः ।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा—
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति ॥१७९॥

यथा (च) प्रियदर्शिकायां गर्भाङ्के वत्सराजवेषसुसङ्गतास्थाने साक्षाद्वत्सराजप्रवेशः ।

जैसे मालतीमाधव नाटक (१ २०) मे मकरन्द—(माधव की दशा का वर्णन करते हुए कहता है) इसका गमन आलस्ययुक्त, दृष्टि सूनी शरीर सौन्दर्यहीन, श्वास अधिक चलता हुआ है यह क्या है ? अथवा इससे भिन्न क्या हो सकता है ? ससार मे कामदेव की आज्ञा विचरण कर रही है और यौवन विकारशील है अत नाना प्रकार के ललित एव मधुर भाव धैर्य को नष्ट कर देते है।

यहा पर (अलस) गमन इत्यादि भावलेशो के द्वारा माधव का मालती के प्रति थोडा सा प्रेम प्रकट होता है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२० ६) सा० द० (६ १२८)। (२) अभि० भा० के अनुसार नर्मस्फोट शब्द की व्युत्पत्ति है—नर्मण इति तदुपलक्षितस्य शृङ्गारस्य स्फोटो वचिन्य चमत्काराल्लासकृतस्फुटत्व यत्रेति । (३) यहा भाव शब्द से भय हास हर्ष त्रास रोष आदि लिये जाते हैं। उनके अशो के द्वारा जहा अल्प सा अनुराग सूचित होता है वहा नर्म स्फोट है (अभि० भा०) भावाना लव = अल्प सात्त्विकादिभाव (प्रभा)।

नर्मगर्भ—

किसी प्रयोजन (अर्थ) की सिद्धि के लिये नायक का गुप्त व्यवहार (प्रतीचार) ही नर्मगर्भ कहलाता है ।

जैसे अमरुशतक (१९) मे 'दृष्ट्वैकासन०' इत्यादि (ऊपर उदा०) ।

और जैसे प्रियदर्शिका नाटिका के गर्भाङ्क मे वत्सराज के वेष मे सुसङ्गता का प्रवेश होने के स्थान पर स्वय वत्सराज का ही प्रवेश होता है ।

(८२ क) अङ्ग सहास्यनिहास्यरेभिरेषाऽत्र कशिकी ।।५२।।

अथ सात्त्वती—

(८३) विशोका सात्वती सत्त्वशौयत्यागदयाजव ।
सलापोत्थापकावस्या साङ्घात्य परिवतक ।।५३।।

शोकहीन सत्त्वशौयत्यागदयाहर्षादिभावोत्तरो नायवव्यापार सात्त्वती तदङ्गानि च सलापोत्थापकसाङ्घात्यपरिवतकाख्यानि ।

टिप्पणी—(१) ना० शा (२० ६१) सा० द० (६ १२८)। (२) **छन्नेतृप्रतीचार**—नायक का छिपकर व्यवहार करना जसे गुप्त रूप से **सङ्क त स्थल** पर जाना इत्यादि (अभि० भा०), **प्रतीचार** = व्यवहार प्रवेश (प्रभा) approach (Haas), **अथहेतवे** = प्रयोजन के लिये काय की सिद्धि के लिये नव समागम की सिद्धि के लिये (अभि० भा०)।

इस प्रकार हास्य युक्त और हास्य रहित अङ्गो के साथ यह कशिकी वृत्ति यहा प्रतिपादित की गई है ।

२ सात्त्वती वत्ति—

सात्त्वती वत्ति शोक रहित होती है, यह सत्त्व, शौय, त्याग, दया और सरलता (आदि भावो) से युक्त होती है । इसमे सलापक, उत्थापक, साघात्य और परिवत्तक (ये चार अङ्ग) होते है ।।५३।।

अर्थात शोकरहित तथा सत्त्व, शौय त्याग, दया, हष आदि भावो के अनन्तर होने वाला नायक का व्यापार सात्त्वती वत्ति है । (क) सलापक, (ख) उत्थापक, (ग) साघात्य और (घ) परिवत्तक नाम से उसके (चार) अङ्ग होते है ।

टिप्पणी—(१) द्र० ना० शा० (२० ४१—४४) भा० प्र० (पृ० १२) ना० द० (३ १५), सा० द० (६ १२८—१३०)। (२) सत्त्व का अथ है—मन उसका व्यापार अर्थात् मानस व्यापार ही सात्त्वती वत्ति ह। यह मानस व्यापार सत्त्व शौय त्याग, दया हष आदि भावो के रूप मे होता हे और इसको सात्त्विक, वाचिक तथा आङ्गिक अभिनय के द्वारा प्रकट किया जाता है। किन्तु इसमे सात्त्विक अभिनय की ही प्रधानता होती है। इसीलिए नाटय मे इस नायक व्यापार को सात्त्वती वत्ति कहा जाता है (द्र० ना० शा० अभि० भा० तथा ना० द० ।) (३) मानसिक व्यापार अनेक प्रकार का होता है। उन सबकी गणना करना असम्भव ही है। फिर भी नाटयाचार्यो ने उन मानस व्यापारो का चार भागो मे विभाजन किया है। ये ही सात्त्विक वत्ति के चार अङ्ग कहे गये है। ना० शा० मे इन चारो का वणन है किन्तु भा० प्र० तथा ना० द० म नही। आगे चलकर सा० द० मे भी इनका विवेचन है। (४) आजव = ऋजुता कुटिलता का अभाव। हर्षादि

तत्र—

(८४) सलापको गभीरोक्तिर्नानाभावरसा मिथ ।

यथा वीरचरिते– राम —अय स य किल सपरिवारकार्तिकेयविजयावर्जितेन भगवता नीललोहितेन परिवत्सरसहस्रा तेवासिने तुभ्य प्रसादीकृत परशु । परशु-राम —राम राम दाशरथे स एवायमाचायपादाना प्रिय परशु —

शस्त्रप्रयोगखुरलीकलहे गणाना
स यव ता विजित एव मया कुमार ।
एतावतापि परिरभ्य कृतप्रसाद
प्रादादमु प्रियगुणो भगवा गुरुर्मे ॥१८०॥

इत्यादिनानाप्रकारभावरसेन रामपरशुरामयोरन्योयगभीरवचसा सलाप इति ।

अथोत्थापक —

(८५) उत्थापकस्तु यत्रादौ युद्धायोत्थापयेत्परम् ॥५३॥

भावोत्तर यह नायक यापार का विशेषण है हर्षादिभावप्रधान (प्रभा) वस्तुत हर्ष आदि भाव के पश्चात् होने वाला नायक–व्यापार यह अर्थ सङ्गत प्रतीत होता है ।

(क) सलापक—

उनमे—अनेक प्रकार के भावो तथा रसो से युक्त (पात्रो की) पारस्परिक उक्ति (कथोपकथन) मे सलापक (नामक सात्त्वती वृत्ति का अङ्ग) होता है ।

जसे वीरचरित (२ ३५) मे राम—यही वह परशु है जो सेनापति कार्ति-केय की विजय से प्रभावित (आकृष्ट) होकर भगवान शिव (नीललोहित) ने एक सहस्र वर्ष तक शिष्य रहने वाले आपको उपहार मे दिया था ? परशुराम—राम, राम दशरथपुत्र यह वही पूज्य आचाय का प्रिय परशु है—

शस्त्र प्रयोग की परीक्षा (खुरली) के विवाद मे मैने गणो की सेना से युक्त कुमार कार्तिकेय को जीत लिया । इतने पर भी गुणो को प्यार करने वाले मेरे गुरु भगवान शकर ने प्रसन्न होकर मुझे गले लगाकर यह परशु मुझे दिया था ॥१८०॥

इत्यादि अनेक प्रकार के भाव और रस से युक्त राम तथा परशुराम के पारस्परिक गम्भीर कथन मे सलापक (नामक सात्त्वती वृत्ति का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२० ४८) सा० द० (६ १३१) । (२) नाना-भावरसा मिथ गभीरोक्ति सलापक यह वाक्य योजना है । खुरली—लक्ष्यभेद-परीक्षा (Military exercise or practice आप्टे) ।

(ख) उत्थापक—

जहा एक पात्र दूसरे को पहले पहल (आदौ) युद्ध के लिये उत्तेजित करे वहा उत्थापक (नामक सात्त्वती वृत्ति का अङ्ग) होता है ॥५३॥

यथा वीरचरिते—

> आनन्दाय च विस्मयाय च मया दृष्टोऽसि दुःखाय वा
> वैतृष्ण्यं तु कुतोऽद्य सम्प्रति मम त्वद्दर्शने चक्षुषः ।
> त्वत्साङ्गत्यसुखस्य नास्मि विषयः किं वा बहुव्याहृतै-
> रस्मिन्विश्रुतजामदग्न्यविजये बाहौ धनुर्जृम्भताम् ॥१८१॥

अथ साङ्घात्य —

(८६) मन्त्रार्थदैवशक्त्यादेः साङ्घात्यः सङ्घभेदनम् ।

मन्त्रशक्त्या यथा मुद्राराक्षसे राक्षससहायादीनां चाणक्येन स्वबुद्ध्या भेदनम् । अर्थशक्त्या तत्रैव यथा पर्वतकाभरणस्य राक्षसहस्तगमनेन मलयकेतुसहोत्थायिभेदनम् । दैवशक्त्या तु यथा रामायणे रामस्य दैवशक्त्या रावणाद्विभीषणस्य भेद इत्यादि ।

जैसे वीरचरित (५.४६ बाली की राम के प्रति उक्ति) में—हे राम, मुझे तुम आनन्द के लिये दिखलाई दिये हो या विस्मय के लिये अथवा दुःख के लिये (कहना कठिन है) किन्तु अब तुम्हारे दर्शन से मेरे नेत्रों की तृप्ति (वैतृष्ण्य) कैसे हो सकती है ? तुम्हारी सङ्गति के सुख का तो मैं पात्र नहीं हूँ। अतः व्यर्थ की बातों से क्या लाभ ? जमदग्नि के पुत्र (परशुराम) के दमन से प्रसिद्ध इस (तुम्हारे) हाथ में धनुष जृम्भित हो जाये (जृम्भताम् =अगड़ाई ले) ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२०.४५) सा० द० (६.१३०) । (२) उदा० १८१ में पहले बाली राम को युद्ध के लिये उत्तेजित करता है अतः यहाँ उत्थापक है।

(ग) साघात्य—

जहा मन्त्रशक्ति, अर्थशक्ति या दैवशक्ति आदि के द्वारा (प्रतिपक्षी के) संघ का भेदन किया जाता है, वहा साघात्य (नामक सात्त्वती वृत्ति का अङ्ग) होता है ।

मन्त्रशक्ति से (संघभेदन का उदाहरण है), जैसे मुद्राराक्षस नाटक में चाणक्य ने अपनी बुद्धि से राक्षस के सहायक इत्यादि में भेद (फूट) उत्पन्न कर दिया। अर्थशक्ति से (संघभेदन का उदाहरण है) जैसे वहीं पर्वतक के आभूषणों के राक्षस के हाथ में पहुंच जाने के कारण मलयकेतु के साथियों में भेद उत्पन्न हो गया । दैवशक्ति से (संघभेदन का उदाहरण है) है, जैसे रामायण में राम की दैवी शक्ति के द्वारा रावण से विभीषण का भेद कर दिया गया। इत्यादि ।

टिप्पणी—ना० शा० (२०.५०), सा० द० (६.१३१) । (२) मन्त्रशक्ति=मन्त्रणा, जो राजनीति का अङ्ग है ।

अथ परिवर्तक—

(८७) प्रारब्धोत्थानकार्यान्यकरणात्परिवर्तक ॥५५॥

प्रस्तुतस्याद्योगकार्यस्य परित्यागेन कार्यान्तरकरण परिवर्तक । यथा वीरचरिते—

'हेरम्बदन्तमुसलोल्लिखितैकभित्ति
वक्षोविशाखविशिखव्रणलाञ्छन मे ।
रोमाञ्चकञ्चुकितमद्भुतवीरलाभाद्
यत्सत्यमद्य परिरब्धुमिवेच्छति त्वाम् ॥१८२॥

राम—भगवन् परिरम्भणमिति प्रस्तुतप्रतीपमेतत् । इत्यादि ।

(८७ क) एभिरङ्गैश्चतुर्धेय सात्वती

सात्त्वतीमुपसहरन्नारभटीलक्षणमाह—

(८८) आरभटी पुन ।
मायेन्द्रजालसग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टित ॥५६॥

(घ) परिवर्तक—

आरम्भ किये गये उत्थान (पौरुष, पराक्रम) कार्य से भिन्न कार्य करने लगना परिवर्तक (नामक सात्वती का अङ्ग) है ॥५५॥

प्रस्तुत जो उद्योग (उत्थान, पौरुष) का कार्य है उसका त्याग करके अन्य कार्य करने लगना परिवर्तक (Change of action) कहलाता है, जैसे वीरचरित (२ ३८) में (राम के प्रति परशुराम की उक्ति)—'सच कहता हूँ, जिसका एक भाग गणेश के दाँत रूपी मूसल से खरोंचा गया है, जो कार्तिकेय के बाण के व्रण से चिह्नित है, वह मेरा हृदय आज (तुम जैसे) अद्भुत वीर के मिल जाने के कारण रोमाञ्च रूपी कञ्चुक से युक्त होकर तुमसे गले मिलना चाहता है। राम—गले मिलना, यह तो प्रस्तुत के विपरीत है।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२० ४६), सा० द० (६ १३२)। (२) प्रारब्धोत्थान०—प्रारब्धात् = समारब्धात, उत्थानकार्यात्—पौरुषकार्यात, युद्धादे, यदन्यस्य = तद्विरुद्धस्य प्रीत्यानुकूल्यादे करण सम्पादन तत् परिवर्तक, परिवर्तनमिति यावत् (प्रभा), whose development is already begun (Haas)। दशरूपक अभि० भा० तथा सा० द० के उदाहरणों के आधार पर प्रभा टीका का अर्थ ही उपयुक्त प्रतीत होता है, अर्थात पौरुष कार्य को छोडकर अन्य कार्य करना ही परिवर्तक है। ऊपर के उदा० में परशुराम युद्ध को छोड़कर राम से गले मिलना चाहता है, यही परिवर्तक है।

इन अङ्गो सहित यह चार प्रकार की सात्वती वृत्ति कही गई है।

सात्वती का उपसहार करके आरभटी वृत्ति का लक्षण करते हैं—

४ आरभटी वृत्ति—

माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, उद्भ्रान्ति आदि चेष्टाओ के द्वारा आरभटी वृत्ति होती है ॥५६॥

संक्षिप्तिका स्यात्सफेटो वस्तूत्थानावपातने ।

माया = मन्त्रबलेनाविद्यमानवस्तुप्रकाशनम तन्त्रबलादिन्द्रजालम ।

तत्र—

(८६) सक्षिप्तवस्तुरचना सक्षिप्ति शिल्पयोगत ॥५७॥
पूवनेतनिवत्त्याऽये नेत्रन्तरपरिग्रह ।

मृद्वशदलचर्मादिद्रव्ययोगेन वस्तूत्थापन सक्षिप्ति, यथोदयनचरिते किलिञ्ज हस्तियोग । पूवनायकावस्थानिवत्त्यावस्थान्तरपरिग्रहमन्ये सक्षिप्तिका मन्यन्ते । यथा बालिनिवत्त्या सुग्रीव यथा च परशुरामस्यौद्धत्यनिवत्त्या शान्तत्वापादनम पुण्या ब्राह्मणजाति — इत्यादिना ।

इसमे—(क) सक्षिप्तिका, (ख) सफेट, (ग) वस्तूत्थान और (घ) अवपातन (ये चार अङ्ग) होते है।

माया का अथ है—मन्त्र की शक्ति से अविद्यमान वस्तु को दिखला देना, किन्तु तन्त्र शक्ति से अविद्यमान वस्तु को दिखला देना इन्द्रजाल है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२० ६४–६५) ना० द० (३ १६२) सा० द० (६ १३२–१३४) । (२) ना० शा० के अनुसार जहा प्रचुरता से आरभट के गुण हो जो बहुत प्रकार के कपट तथा वञ्चना से युक्त हो दम्भ तथा अनत व न से युक्त हो, वह आरभटी वत्ति होती है । आर अर्थात अकुश (प्रतोद) क समान उद्धत योद्धा ही आरभट कहलाते हे । (आरेण प्रतोदकेन तुल्या भटा उद्धता पुरुषा आरभटा ना० द०) । यह आरभटी वत्ति सब प्रकार (आङ्गिक वाचिक मानसिक)के यापारो से युक्त होती है तथा इसमे सभी प्रकार के (आङ्गिक वाचिक, सात्त्विक और आहाय) अभिनय भी होते है (ना० द०) । इसके चारो अङ्गो का आगे निरूपण किया जा रहा है—

(क) सक्षिप्तिका—

उनमे—शिल्प के द्वारा सक्षिप्त रूप मे किसी वस्तु की रचना कर देना सक्षिप्ति कहलाती है। अन्य आचाय कहते है कि पूव नायक के हट जाने पर दूसरे नायक का आ जाना ही सक्षिप्ति है।

मिट्टी बास, पत्ते, चमडा आदि पदार्थों को जोडकर किसी वस्तु को उत्पन्न कर देना सक्षिप्ति है, जसे उदयन के चरित्र मे चटाई (किलिञ्ज) के बने हाथी का प्रयोग है । अन्य आचाय मानते है कि नायक की प्रथम अवस्था के हट जाने पर दूसरी अवस्था का आ जाना ही सक्षिप्ति है, जसे बालि के हट जाने पर सुग्रीव नायक होता है और जसे परशुराम के उदधत भाव की निवृत्ति हो जाने पर 'ब्राह्मण' जाति पवित्र है (वीरचरित ४ २२) इत्यादि कथन के द्वारा (परशुराम मे) शान्त भाव की उत्पत्ति दिखलाई गई है ।

अथ सफेट —

(९०) सफेटस्तु समाघात क्रुद्धसरब्धयोद्व यो ॥५८॥

यथा माधवाऽघोरघण्टयोर्मालतीमाधवे । इन्द्रजिल्लक्ष्मणयोश्च रामायणप्रति बद्धवस्तुषु ।

अथ वस्तूत्थापनम—

(९१) मायाद्युत्थापित वस्तु वस्तूत्थापनमिष्यते ।

यथोदात्तराघवे—

जीयन्ते जयिनोऽपि सान्द्रतिमिरव्रातैर्वियद्व्यापिभि
भास्वन्त सकला रवेरपि रुच कस्मादकस्मादमी ।
एतैश्चोग्रकबन्धरन्ध्ररुधिरराध्मायमानोदरा
मुञ्चत्याननकन्दरानलमितस्तीव्राऽऽरवा फेरवा ॥१८३॥

इत्यादि ।

टिप्पणी—(१) द्र० ना० शा० (२ ६८) सा० द० (६ १३५–१३६)। (२) **नेत्रन्तरपरिग्रह**—धनञ्जय के अनुसार एक नायक के स्थान पर दूसरे नायक का आ जाना । इसका उदाहरण है बालि के स्थान पर सुग्रीव का आगमन । धनिक की व्याख्या के अनुसार नायक की एक अवस्था के हट जाने पर दूसरी अवस्था का आ जाना । इसका उदाहरण है—परशुराम की उद्धतावस्था के स्थान पर शान्तावस्था का आ जाना । इस अर्थ म धनञ्जय के मत का भी समावश हो जाता है ।

(ख) सफेट—

क्रुद्ध तथा उत्तेजित दो व्यक्तियो का एक दूसरे पर प्रहार करना (समाघात) सफेट (नामक आरभटी वृत्ति का अङ्ग) है ॥५८॥

जसे मालतीमाधव मे माधव तथा अघोरघण्ट का और रामायण मे वर्णित कथा प्रसङ्गो मे मेघनाद और लक्ष्मण का एक दूसरे पर प्रहार है ।

टिप्पणी—(१) द्र०, ना०शा० (२० ७१) सा० द० (६ १३४)। (२) समाघात =परस्परमधिक्षप रामायणप्रतिबद्धवस्तुषु= रामायणोक्तचरित्रेषु (प्रभा)।

(ग) वस्तूत्थापनम—

माया आदि के द्वारा वस्तु को उपस्थित कर देना वस्तूत्थापन (नामक आरभटी वत्ति का अङ्ग) है ।

जसे उदात्तराघव नाटक मे '(अन्धकार को) जीतने वाली, दीप्तियुक्त सूय की किरणें भी अकस्मात् आकाश मे व्याप्त होने वाले घने अन्धकार के समूह के द्वारा न जाने कसे जीत ली गई है ? और क्यो ? भयानक रुण्ड-मुण्डो के छिद्रो से निकले रुधिर के द्वारा फूले उदर वाले सियार जोर से चिल्लाते हुए अपने मुखरूपी कन्दरा से इधर आग छोड रहे है । इत्यादि ।

टिप्पणी—द्र० ना० शा० (२० ७०) सा० द० (६ १३४)।

अथाऽवपात —

(९२) अवपातस्तु निष्क्रामप्रवेशत्रासविद्रवैः ॥ ५९ ॥

यथा रत्नावल्याम—

कण्ठे कृत्वाऽवशेष कनकमयमधः शृङ्खलादाम कषन्
क्रान्त्वा द्वाराणि हेलाचलचरणवलत्किङ्किणीचक्रवाल ।
दत्तातङ्को गजानामनुसृतसरणि सम्भ्रमादश्वपालै
प्रभ्रष्टोऽय प्लवङ्ग प्रविशति नृपतेर्मन्दिर मन्दुरात ॥१८४॥
नष्ट वर्षवरैर्मनुष्यगणनाभावादकृत्वा त्रपा—
मन्त कञ्चुकिकञ्चुकस्य विशति त्रासादय वामन ।
पर्यन्ताश्रयिभिर्निजस्य सदृश नाम्न किरातै कृत
कुब्जा नीचतयैव यान्ति शनकैरात्मेक्षणाशङ्किन ॥१८५॥
यथा च प्रियदर्शिकायाम* प्रथमेऽङ्के विन्ध्यकेत्ववस्कन्दे ।

(घ) अवपात—

(पात्रो के) निष्क्रमण, प्रवेश, त्रास तथा (आग लगने आदि के द्वारा की गई) भगदड (=विद्रव) आदि के (वर्णन) द्वारा अवपात (नामक) आरभटी वृत्ति का अङ्ग) होता है ॥५९॥

जैसे रत्नावली (२ २) मे (अश्वशाला से भागे हुए वानर को देखकर अन्त पुर के लोगों की भगदड का वर्णन है) 'सुवर्ण की जजीर की माला को गले मे डालकर बची हुई को नीचे (पृथिवी पर) घसीटता हुआ, द्वारो को लांघकर उछलकूद (हेला) से चञ्चल चरणों मे बजते हुए घुघरु समूह (किङ्किणी चक्रवाल) वाला, हाथियों को भयभीत करने वाला अश्व रक्षको के द्वारा घबराहट के साथ पीछा किया जाता हुआ यह वानर अश्वशाला से भागकर राजा के भवन मे प्रवेश कर रहा है ।

(रत्ना० २ ३, भागते वानर को देखकर) हिजडे (वर्षवर) तो मनुष्यों मे गिनती न होने के कारण लज्जा न करके छिप गये, यह बौना डर से कञ्चुकी के कञ्चुक मे घुस रहा है, कोनो (पर्यन्त) का आश्रय लेने वाले किरातो ने अपने नाम के अनुकूल ही किया (किर पर्यन्तभूमिम अतन्ति इति किराता), और कुबडे लोग अपने देख लिये जाने को आशङ्का से और अधिक झुककर धीरे धीरे जा रहे है ।'

और, जैसे प्रियदर्शिका के प्रथम अङ्क मे विन्ध्यकेतु का आक्रमण होने पर (भगदड का वर्णन है) ।

टिप्पणी—प्र०, ना० शा० (२० ९१), सा० द० (६ १३६–१३७) ।

* 'प्रियदर्शनायाम्' इत्यपि पाठ ।

उपसहरति—

(६३) एभिरङ्ग श्चतुर्धेयम्—

(६४) —नाथर्वात्तरत परा।

चतुर्थी भारती सापि वाच्या नाटकलक्षणे ॥६०॥

कशिकी सात्त्वती चाथवृत्तिमारभटीमिति।

पठन्त पञ्चमी वृत्तिमौद्भटा प्रतिजानते ॥६१॥

सा तु लक्ष्ये क्वचिदपि न दृश्यते न चोपपद्यते रसेषु हास्यादीना भारत्यात्मकत्वात नीरसस्य च काव्याथस्याभावात्। तिस्र एवता अथवृत्तय। भारती तु श द वत्तिरामुखाङ्गत्वात्तत्रव वाच्या।

(आरभटी वत्ति क) उपसहार करते हैं—

इन अङ्गो के द्वारा यह (आरभटी वृत्ति) चार प्रकार की होती है।

उदभट के अनुयायियो के मत का निराकरण

इन (कशिकी, सात्त्वती तथा आरभटी) से भिन्न कोई अथवृत्ति (नाम की वृत्ति) नही है। चतुर्थी भारती वृत्ति है, उसका नाटक लक्षण मे वणन किया जायेगा ॥६०॥

किन्तु उदभट के अनुयायी (भारती वृत्ति के साथ) कशिकी सात्त्वती अथवृत्ति तथा आरभटी इनका निर्देश करते हुए पाचवी (अथवृत्ति नामक) वृत्ति को स्वीकार करते है ॥६१॥

वह (पञ्चमी वृत्ति) तो लक्ष्य ग्र थो (रूपको) मे कहीं भी दिखलाई नहीं देती और वह रसो मे बन भी नहीं सकती, क्योकि सभी हास्य आदि रसो का स्वरूप भारती आदि (चार वत्तियो) मे ही समा जाता है। (यदि पूवपक्षी कहे कि यह अथवत्ति रसो का अनुसरण न करती हुई भी पञ्चमी वत्ति है, तो इस पर कहते है—) और कोई नीरस वस्तु का याथ नहों हो सकती। इसलिये ये तीनो (कशिकी, सात्त्वती और आरभटी) ही अथवत्तिया हे (इनसे भि न अथवत्ति नाम की कोई वृत्ति नहीं)। भारती नामक वत्ति तो श द वत्ति है वह आमुख का अङ्ग है, इसलिये उसका वहीं (आमुख के प्रकरण मे) वणन करना है।

टिप्पणी—(१) उपयु क्त कारिकाओ तथा धनिक की वत्ति का व्याख्याकारो ने विविध प्रकार से अथ किया है। इस विषय मे विद्वज्जन स्वय निणय कर सकते है। (२) उदभट के अनुयायियो (?) ने पाच वृत्तिया मानी है—भारती कशिकी, सात्त्वती, आरभटी और अथवत्ति जसा कि भावप्रकाशन (पृ० १२) मे कहा गया है—

भारती सात्त्वती चैव कशिक्यारभटीति च।

औदभटा पञ्चमीमथर्वात्त च प्रतिजानते ॥

बत्तिनियममाह्—

(६५) शृङ्गारे कशिकी, वीरे सात्त्वत्यारभटी पुन ।
रसे रोद्रे च बीभत्से, वृत्ति सवत्र भारती ॥६२॥

इस पर धनञ्जय एव धनिक का कथन है कि चार ही वत्तिया है । अथवत्ति नाम की कोई पृथक अथवृत्ति नही अपि तु कशिकी, सात्त्वती और आरभटी ये तीनो ही अथवतिया हे तथा चौथी वत्ति भारती है जो श दवत्ति है । अपनी स्थापना की सिद्धि के लिये धनिक ने दो युक्तिया दी है- (1) कशिकी आदि से भि न अथवत्ति नामक कोई वत्ति रूपको मे दृष्टिगोचर नही होती (11) सभी रूपक रसाश्रित होते है । जसा कि अभी आगे (२ ६२) बतलाया जा रहा है सभी रसो का वणन भारती आदि चारो वत्तियो के अ तगत ही आ जाता है फिर वह पाचवी वृत्ति कहा रहेगी ? यदि कहो कि वह नीरस रूपक मे रहेगी तो ठीक नही क्योकि नीरस वस्तु रूपक या काव्य मे हो ही नही सकती । (३) **भारत्यात्मकत्वात**—इसके स्थान पर 'भारत्याद्यात्म कत्वात पाठ शुद्ध प्रतीत होता है, तभी यह सद हेतु बन सकता है । भाव यह है कि काव्य के जितने रस हे उनके क्षेत्र मे इन चारो मे से कोई न कोई वृत्ति अवश्य रहती है फिर ऐसा कोई स्थल नही शेष रहता जिसमे अथवृत्ति नाम की अ य वत्ति मानी जा सके । (४) रसाणवसुधाकर (१ २८६) मे भी कशिकी आदि को ही अथवृत्ति कहा गया है—

आसा तु मध्ये वृत्तीना श दवृत्तिस्तु भारती ।
तिस्रोऽथवृत्तयश्शेषा तच्चतस्रो हि वत्तय ॥

रस तथा वत्तियो का परस्पर सम्ब ध

वृत्तियों के प्रयोग की व्यवस्था बतलाते हैं—

शृङ्गार रस मे कैशिकी, वीर मे सात्त्वती और रौद्र तथा बीभत्स रस मे आरभटी का प्रयोग होता है । भारती वृत्ति का सभी रसो मे प्रयोग होता है (क्योकि यह शब्दवृत्ति है) ।

टिप्पणी—(१) द्र०, ना० शा० (२० ७२–७४) भा० प्र० (पृ० १२), **ना० द०**(३ १५५—१६२), **प्रता०** (२ १७–१८) सा० द० (६ १२२) । (२) यहा शृङ्गार से हास्य का वीर से अद्भुत का, रौद्र से करुण का तथा बीभत्स से भयानक का भी ग्रहण होता है क्योकि जसा आगे (४ ४३–४५) कहा जायेगा हास्य आदि को क्रमश शृङ्गार आदि से उत्प न ही कहा गया है । नाटयशास्त्र (२० ७३—७४) मे स्पष्टत शृङ्गार आदि नव रसो के साथ कशिकी आदि चारो वृत्तियो का सम्ब ध दिखलाया गया है—

देशभेदभिन्नवेषादिस्तु नायकादिव्यापार प्रवत्तिरित्याह—

(९६) देशभाषाक्रियावेषलक्षणा स्यु प्रवत्तय ।
लोकादेवावगम्यैता यथोचित्य प्रयोजयेत ॥६३॥

हास्यश्रृङ्गारबहुला कशिकी परिचक्षिता ।
सात्त्वती चापि विज्ञेया वीराद्भुतशमाश्रया ॥
रौद्रे भयानके चव विज्ञयारभटी बुध ।
बीभत्से करुणे चव भारती सम्प्रकीर्तिता ॥

किन्तु इस प्रकार का सम्बन्ध भी प्रामाणिक नही प्रतीत होता क्योकि (i) ना० शा० का उपयुक्त पाठ विवादग्रस्त है (ii) उत्तरकालीन आचार्यो ने प्राय इस प्रकार के सम्बन्ध को स्वीकार नही किया (iii) ना० द० (३ १५६ वृत्ति) मे बीभत्से करुणो चव भारती इस मत का निराकरण किया गया है। फलत दश० तथा सा० द० मेभारती वृत्ति को सवरसविषयक ही कहा गया है। किन्तु इन दोनो का भी एतद्विषयक विवेचन अधूरा ही है। अत यह निर्धारित करना कठिन ही है कि नवो रसो मे से किन किन के साथ किस वत्ति का सम्बन्ध हे। हा, ना० शा० के पाठ-भेदो मे से यदि निम्न पाठ ले लिये जाये तो एक स्पष्ट रूप रेखा अवश्य तयार हो सकती है—

हास्यश्रृङ्गारकरुणव त्ति स्यात् कशिकी रस ।
सात्त्वती चापि विज्ञेया वीराद्भुतशमाश्रया ॥
भयानके च बीभत्से रौद्रे चारभटी भवेत ।
सर्वेषु रसभावेषु भारती सम्प्रकीर्तिता ॥

नाटय प्रवत्तिया

देश के भेद से नायको का जो भिन्न प्रकार का वेष आदि काय (व्यापार) है, होता वह प्रवत्ति कहलाती है, यह बतलाते है—

देश के अनुसार (पात्रो की क्रिया) भाषा, क्रिया और वेष आदि का होना ही प्रवत्तिया कहलाती है। इन्हे लोक से जानकर इनका यथोचित प्रयोग करना चाहिये ॥६३॥

टिप्पणी—यहा वृत्ति के समान प्रवत्ति भी एक पारिभाषिक शब्द है। जसा कि ऊपर कहा गया है नाटक आदि मे नायक आदि का कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापार ही वत्ति कहलाता है। प्रवत्ति भी नायक आदि का व्यापार ही है किन्तु यह व्यापार भिन्न प्रकार का है। देश के भेद से जो नायक आदि के भिन्न-भिन्न प्रकार के भाषा, वेष और आचार (क्रिया) होते है वे ही नाटक आदि मे प्रवृत्ति कहलाते हैं। उदाहरणाथ वाणी से परिहास करना एक वाचिक यापार है। वह कशिकी (वचोहास्य

तत्र पाठ्यं प्रति विशेष —

(६७) पाठ्यं तु संस्कृतं नृणामनीचानां कृतात्मनाम् ।
लिङ्गिनीनां महादेव्या मन्त्रिजावेश्ययोः क्वचित् ॥६४॥

क्वचिदिति देवीप्रभृतीनां सम्बन्धः ।

धर्म) वृत्ति के अन्तर्गत है, किन्तु कौन पात्र किस भाषा में परिहास करे यह विचार करने पर देश आदि के भेद से जो भाषा भेद होगा वह प्रवृत्ति के अन्तर्गत आयेगा। एक विशेष प्रदेश के रहने वाले एक वर्ग के सभी पात्र एक सी भाषा, वेष और आचार का प्रकटन किया करते हैं अतः प्रवृत्ति को वर्गगत व्यापार भी कहा जा सकता है। नाट्य शास्त्र (१३ ३८ गद्य) में प्रवृत्ति का स्वरूप इस प्रकार दिखलाया गया है— 'प्रवृत्तिरिति कस्मात् ? उच्यते, पृथिव्यां नानादेशवेषभाषाचारवार्ताः ख्यापयतीति ।' अर्थात् प्रवृत्ति वह है जो पृथिवी के भिन्न भिन्न प्रदेशों के वेष, भाषा और आचार तथा कृषि आदि व्यवसायों (वार्ता) को प्रकट करती है। इस भिन्न भिन्न भाषा आदि का ज्ञान कवि लोक से प्राप्त करता है और उसी के अनुसार नाटक आदि में इनका निरूपण करता है। यहाँ धनञ्जय ने पात्रों के भाषा प्रयोग और सम्बोधन प्रकार को प्रवृत्ति के अन्तर्गत रक्खा है। नाट्यशास्त्र के विस्तृत विषय का यहाँ अत्यन्त संक्षेप में वर्णन किया गया है। भा० प्र० (पृ० १२) में दश० का प्रवृत्ति लक्षण ही दिया गया है। ना० द० (४२ २६ २६८) तथा सा० द० (६ १४४ १४६) में भाषा प्रयोग एवं सम्बोधन प्रकार का विस्तारपूर्वक विवेचन करते हुए भी इन्हें 'प्रवृत्ति' नाम से नहीं कहा गया।

पाठ्य (भाषा)-सम्बन्धी प्रवृत्ति

यहाँ भाषा के विषय में यह विशेष बात है—

नीच भिन्न अर्थात् मध्यम और उत्तम शिष्ट (कृतात्मनाम्) पुरुषों की भाषा संस्कृत होती है, (संन्यास आदि का) चिह्न धारण करने वाली तपस्विनियों की भाषा संस्कृत होती है और कहीं कहीं महारानी, मन्त्री पुत्री तथा वेश्या की भी भाषा संस्कृत होती हैं ॥६४॥

'क्वचित्' (कहीं) इस शब्द का 'देवी महादेवी' शब्द से लेकर आगे के साथ सम्बन्ध है।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१७ ३१–६४), ना० द० (४ २८६), सा० द० (६ १५८, १६७, १६६)। (२) यहाँ 'कृतात्मनाम्' शब्द के अर्थ की तीन सम्भावनाएँ हैं —(i) यह एक स्वतन्त्र पद है इसका अभिप्राय है—कृतात्मा (—devotee, Haas) जनों की भाषा संस्कृत होती है। (ii) यहाँ 'कृतात्मनाम्' 'लिङ्गिनीनाम्' का विशेषण है जो आत्म संयम करने वाली या व्रतधारण करने वाली संन्यासिनी आदि हैं उनकी भाषा संस्कृत होती है किन्तु जो कपटवेष धारण करने वाली (व्याजलिङ्गिनी) हैं उनकी भाषा प्राकृत ही होती है, मि० ना० शा० (१७ ३६,३८) तथा ना० द० (अव्याजलिङ्गिनाम् (४ २८६)। (iii) यह 'नृणाम्' का विशेषण

(६८) स्त्रीणा तु प्राकृतं प्राय सौरसेन्यधमेषु* च ।

प्रकृतेरागतं प्राकृतम । प्रकृति संस्कृतं तद्भव तत्सम देशीत्यनेकप्रकारम । सौरसेनी मागधी च स्वशास्त्रनियते ।

(६६) पिशाचात्य तनीचादौ पैचाचं मागधं तथा ॥६५॥
यद्देशं नीचपात्रं यत्तद्देशं तस्य भाषितम् ।
कायतश्चोत्तमादीना कार्यो भाषाव्यतिक्रम ॥६६॥

है । भाव यह है कि नीच भिन्न उन पुरुषों की भाषा भी सस्कृत होती है जो कृतात्मा (आत्मसंयमी शिष्ट सुशिक्षित या स्वस्थ) है । इसीलिये मत्त ग्रहग्रस्त दारिद्रय या ऐश्वर्य से मोहित या अशिक्षित मध्यम एवं उत्तम पुरुषों की भाषा भी संस्कृत नहीं होती अपितु प्राकृत होती है । वस्तुत देहलीदीपक न्याय से 'कृतात्मनाम को नणाम' और लिङ्गिनीनाम दोनो का विशेषण मानना उचित प्रतीत होता है ।

स्त्रियो की भाषा तो प्राय प्राकृत होती है और अधम पुरुष पात्रो की सौरसेनी भाषा होती है ।

प्रकृति से आने वाली भाषा प्राकृत है । प्रकृति संस्कृत है । उससे उत्पन्न (तद्भव), उसके समान (तत्सम) तथा देशी इत्यादि अनेक प्रकार की (प्राकृत) है । सौरसेनी और मागधी (दोनो) अपने अपने शास्त्र (व्याकरण आदि) के द्वारा नियत है ।

टिप्पणी (१) ना० शा० (१७ ३१ ६४), ना० द० (४ २६० २६१) सा० द० (६ १५६ १६४) । (२) नाठय शास्त्र (१४ ५) के अनुसार पाठ्य दो प्रकार का है—सस्कृत तथा प्राकृत । प्राकृत के तीन प्रकार हैं—समान शब्द, विभ्रष्ट और देशीगतम (१०७ ३) । इनमें से देशी को देशभाषा भी कहा गया है । ये देशभाषाए सात है—मागधी अवन्तिजा प्राच्या शौरसेनी अर्धमागधी, बाह्लीका दाक्षिणात्या । इनके अतिरिक्त शकारी आदि उपभाषाए भी है । आगे चलकर इन देशी भाषाओ को अपभ्रंश नाम दिया गया है । (मि० ना० द० ४ २६०) । इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि यहा जो स्त्रियो की भाषा प्राकृत कही गई है, उसका अर्थ है—तद्भव प्राकृत । कहीं कहीं स्त्रियों की भाषा शौरसेनी भी कही गई है । (ना० शा० ७ ५२ तथा सा० द० ७ १५६) । (३) अधम पात्रों की भाषा शौरसेनी या सौरसेनी है । शौरसेनी भाषा कौन सी है ? इसके उत्तर में धनिक ने बतलाया है कि शौरसेनी और मागधी का स्वरूप उनके व्याकरण आदि शास्त्रों द्वारा निश्चित ही है ।

पिशाच और अत्यन्त नीच आदि पात्रो की भाषा क्रमश पैशाच (प्राकृत) तथा मागध (प्राकृत) होती है ॥६५॥

जो नीच पात्र जिस देश का होता है उसी देश की उसकी भाषा होती है । और, कभी–कभी कार्यवश उत्तम आदि पात्रो मे भी भाषा परिवर्तन करना होता है ॥६६॥

*शूरसेनी शौरसेनी इत्यपि पाठौ ।

स्पष्टार्थमेतत् ।

आम न्त्राम न्त्रकौचित्येनाम न्त्रणमाह—

(१००) भगव न्तो वरवाच्या विद्वद्देवर्षिलिङ्गिन ।
विप्रामात्याग्रजाश्चार्या नटीसूत्रभृतौ मिथ ।।६७।।

आर्याविति सम्ब न्ध ।

(१०१) रथी सूतेन चायुष्मा पूज्य शिष्यात्मजानुजा ।
वत्सेति तात पूज्योऽपि सुगहीताभिवस्तु तै ।।६८।।

अपिशब्दात्पूज्येन शिष्यात्मजानुजास्तातेति वाच्या सोऽपि तस्तातेति सुगृहीतनामा चेति ।

इसका अर्थ स्पष्ट ही है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१७ ३१ ६४), ना० द० (४ २६१) सा० द० (६ १५६ १६४) (२) पिशाचा०—भाव यह है कि पिशाचो की भाषा पशाची होती है, अत्य त नीच पात्रो की मागधी । किन्तु इनकी भाषा मागधी तभी होती है जब इनके देश का निश्चय नही होता । यदि किसी अत्य त नीच पात्र के देश का ज्ञान होता है, तो उसकी बोली उसी देश की भाषा होती है=(यद्देशम् इत्यादि) । कार्यत—प्रयोजन या परिस्थिति के अनुसार इस भाषा विभाग मे परिवर्तन भी हो जाते है जसा कि ना० शा०, ना० द० और सा० द० मे दिखलाया गया है ।

आम न्त्रण (सम्बोधन) सम्ब धी प्रवति—

सम्बोध्य और सम्बोधन कर्ता के औचित्य के अनुसार सम्बोधन शब्द (आम न्त्रण) बतलाते हैं—

उत्तम पात्र (वरै) विद्वान, देव ऋषि, स यासी आदि को 'भगवन कहकर सम्बोधित करे और ब्राह्मण, अमात्य तथा बडे भाई को आय कहकर । नटी और सूत्रधार भी एक दूसरे को आय शब्द से सम्बोधित करे ।।६७।।

नटी और सूत्रधार के साथ भी 'आय' शब्द का सम्ब न्ध है, अर्थात वे एक दूसरे को आर्य कहे ।

सारथि (सूत) रथ के स्वामी को 'आयुष्मान' कहकर सम्बोधित करे और गुरुजन शिष्य, पुत्र तथा छोटे भाई को 'वत्स' कहकर । शिष्य, पुत्र तथा छोटा भाई पूज्य जनो को 'तात या 'सुगहीतनामा' शब्दो से सम्बोधित करे ।।६८।।

'पूज्योऽपि' मे अपि' (भी) शब्द से तात्पर्य यह है कि गुरुजन (पूज्य) भी शिष्य, पुत्र तथा छोटे भाई को 'तात' कहकर पुकारें और वे (त, शिष्य आदि) भी उस (पूज्य) को 'तात या 'सुगृहीतनामा' कहकर सम्बोधित करें ।

(१०२) भावोऽनुगेन सूत्री च मार्षेत्येतेन सोऽपि च ।
सूत्रधार पारिपाश्वकेन भाव इति वक्तव्य । स च सूत्रिणा माष इति ।

(१०३) देव स्वामीति नपतिभ त्यैभृटटेति चाधमै ॥६६॥
आम त्रणीया पतिवज्ज्येष्ठमध्याधम स्त्रिय ।
विद्वद्देवादिस्त्रियो भत वदेव देवरादिभिर्वाच्या ।

तन स्त्रिय प्रति विशेष —

(१०४) समा हलेति, प्रेष्या च हञ्जे, वेश्याऽज्जुका तथा ॥७०॥
कुटिट यम्बेत्यनुगत पूज्या वा जरती जन ।
विदूषकेण भवती राज्ञी चेटीति शब्द्यते ॥७१॥

पूज्या जरती अम्बेति । स्पष्टम यत ।

पारिपाश्वक (=अनुग) सूत्रधार (=सूत्री) को 'भाव शब्द से सम्बोधित करे और उस (परिपाश्विक) को यह (सूत्रधार) माष शब्द से ।

अर्थात पारिपाश्विक सूत्राधार को 'भाव कहे और सूत्रधार परिपाश्विक को 'माष ।

भृत्य (सेवक) राजा को 'देव या 'स्वामी' शब्द से तथा अधम पात्र भटट शब्द से सम्बोधित करें । ज्येष्ठ, मध्यम और अधम पात्र स्त्रियो को भी उनके पति के समान शब्दो से सम्बोधित करे ॥६६॥

अर्थात विद्वान और देव आदि की स्त्रियो को देवर आदि उसी प्रकार सम्बोधित करें जिस प्रकार उनके पति को करते हैं । (जसे उत्तम जन विद्वान आदि की पत्नी को 'भगवती' श द से तथा विप्र आदि की पत्नी को 'आर्या शब्द से सम्बोधित करें)

यहा स्त्री के (सम्बोधन के) विषय मे यह विशेष बात है —

बराबर की स्त्री परस्पर 'हला' सेविका को 'हञ्जे वेश्या को 'अज्जुका' शब्द से सम्बोधित करे । अनुचर जन 'कुटिटनी 'अम्ब शब्द से तथा सभी लोग पूज्य वद्धा स्त्री को 'अम्ब शब्द से पुकारें । और, विदूषक रानी तथा सेविका (चेटी) को 'भवती शब्द से पुकारे ॥७०।७१॥

सभी जन पूज्य वद्धा को 'अम्ब श द से पुकारें । अन्य स्पष्ट ही हैं ।

टिप्पणी—द्र० ना० शा० (१७ ६५–६४), ना० द० (४ २६४–२६७), सा० द० (६ १४४–१५७) इन सभी मे सम्बोधन प्रकार का विस्तारपूवक वगन किया गया है । साथ ही काव्य मे कवियो को किस प्रकार के नाम रखने चाहिय इसका भी वणन किया गया है ।

कुट्टि यनुगतै पूज्या अम्बेतिजरतीजन ' इति पाठा तरम ।

(१०५) चेष्टागुणोदाहृतिसत्त्वभावा—
नशेषतो नेतृदशाविभिन्नान ।
को वक्तुमीशो भरतो न यो वा
यो वा न देव शशिखण्डमौलि ॥७२॥

॥ इति धनञ्जयकृतदशरूपकस्य द्वितीय प्रकाश समाप्त ॥

दिङ मात्र दर्शितमित्यर्थ । चेष्टा लीलाद्या गुणा विनयाद्या, उदाहृतय सस्कृतप्राकृताद्या उक्तय, सत्त्व निर्विकारात्मक मन भाव सत्त्वस्य प्रथमो विकारस्तेन हावादयो ह्यु पलक्षिता ।

इति श्रीविष्णुसूनोधनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके
नेतप्रकाशो नाम द्वितीय प्रकाश समाप्त ।

द्वितीय प्रकाश का उपसहार करते हुए कहते हैं—

भरत मुनि या चद्रकला को मस्तक पर धारण करने वाले शिव के अतिरिक्त कौन ऐसा है जो नायक की अवस्था के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार की चेष्टा, गुण, उदाहृति (उक्ति) सत्त्व और भाव आदि का पूणरूप से वणन करने मे समथ हो सकता है ? ॥७२॥

॥ इस प्रकार धनञ्जयकृत दशरूपक का द्वितीय प्रकाश समाप्त हुआ ॥

भाव यह है कि यहा (उपयु क्त विषयो का) दिग्दशन मात्र कराया गया है। (कारिका मे) चेष्टा=लीला इत्यादि (ऊपर २ ३२ आदि)। गुण=विनय आदि (ऊपर २ १ तथा आगे), उदाहृति=सस्कृत और प्राकृत आदि की उक्तिया (ऊपर २ ६४ आदि), सत्त्व=विकार रहित मन (ऊपर २ ४ तथा २ ३०,३३ आदि) भाव=सत्त्व का प्रथम विकार (२ ३३) इस 'भाव' शब्द के द्वारा हाव इत्यादि का भी ग्रहण होता है (२ ३४ तथा आगे)।

टिप्पणी—इस प्रकाश मे नायक के स्वरूप प्रकार सहायक–सात्त्विक गुण तथा नायिका के भेद-सहायिका-यौवन के अलङ्कार और कशिकी आदि वृत्तियो तथा प्रवत्तियो इत्यादि का विवेचन किया गया है।

इति द्वितीय प्रकाश

तत्र—

(२) पूवरङ्ग विधायादौ सूत्रधारे विनिगते ।
प्रविश्य तद्वदपर काव्यमास्थापयेन्नट ॥२॥

पूव रज्यतेऽस्मिन्निति पूवरङ्गो नाटचशाला तत्स्थप्रथमप्रयोग युत्थापनादौ पूव रङ्गता त विधाय विनिगते प्रथम सूत्रधारे तद्वदेव वष्णवस्थानकादिना प्रविश्या यो नट का याथ स्थापयेत् । स च काव्याथस्थापनात् सूचनात्स्थापक ।

है कि इसके शेष धम नाटक के समान ही होते हे (भा० प्र० पृ० २२१ २२२) । इस लिये नाटक को प्रकृति कहा जाता है और प्रकरण आदि को उसकी विकृति। वस्तुत नाटक के लक्षण मे वस्तु नेता और रस का यथावश्यक परिवतन करके ही प्रकरण आदि के लक्षण बन जाते हैं। इसी बात का धनिक ने 'उद्दिष्टधमक्म' इत्यादि द्वारा स्पष्ट किया है 'उद्दिष्टा साकल्येनोक्ता धर्मा यस्य तद् उद्दिष्ट धमकम (प्रभा)। (ii) **भूयो रसपरिग्रहात्**—नाटच मे जो आठ रस माने गये है वे सभी अङ्ग या अङ्गी रस के रूप में नाटक मे हुआ करते है (भा० प्र० पृ० २२१)। इसमे शृङ्गार या वीर प्रधान (अङ्गी) रस हो सकता है और शेप रस अङ्ग—रूप मे (आगे ३ ३३)। (iii) **सम्पूणलक्षणत्वात्**—नाटच के जो लक्षण प्रथम तथा द्वितीय प्रकाश मे कहे गये है और जो रस आदि के विषय मे आगे कहा जायेगा। वे सभी लक्षण पूणत नाटक मे ही घटित होते है अ य रूपक मे नही। उदाहरणाथ अथप्रकृतिया अवस्थाए सधि स ध्यङ्ग विष्कम्भक आदि अर्थोपक्षपक पूणतया नाटक मे ही उपल ध होते है (भा० प्र०, पृ० २२२)।

फलत ऊपर (१ ८) कहे गये दस रूपको—१ नाटक २ प्रकरण ३ भाण ४ प्रहसन, ५ डिम ६ व्यायाग, ७ समवकार, ८ वीथी, ९ अङ्क, १० ईहा ¿ ा— मे मे यहा प्रथमत नाटक के विषय मे कहा जाता है।

१ नाटक

उस (नाटक) मे

आरम्भ मे पूवरङ्ग का काय करके सूत्रधार चला जाता है। फिर उसी के जसा दूसरा नट (=अभिनेता) प्रविष्ट होकर का य की स्थापना करता है ॥२॥

जिसमे पहिले सामाजिको का अनुरञ्जन (आन द) किया जाता है वह पूवरङ्ग कहलाता है, अर्थात् नाटचशाला। उस नाटचशाला मे जो (अभिनय सम्ब धी) प्रथम प्रयोग युत्थापन इत्यादि किया जाता है वह भी पूवरङ्ग (पूवरङ्ग का काय) कहलाता है। उस काय को करके पहले सूत्रधार निकल जाता है। तब उस (सूत्रधार) जसा ही दूसरा अभिनेता (नट) वष्णवस्थानक नासक चाल से प्रविष्ट होकर का य—वस्तु की स्थापना करता है। और, वह का य—वस्तु की स्थापना करने या सूचना देने के कारण स्थापक कहलाता है।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (५ १६२) भा० प्रा० (पृ० २००–२२८) सा० द० (६ २६)। भा० प्र० तथा सा० द० मे कारिका भी ली गई है। (२) दशरूपक मे विशेषकर रूपक के रचना विधान का विवेचन किया गया है नाट्य प्रयोग का नही। किन्तु इस प्रकार के सन्दर्भों मे नाट्य प्रयोग का उल्लेख कर दिया गया है। यहाँ पूवरङ्ग का स्वरूप नही बतलाया गया है। धनिक की व्याख्या मे भी यह स्पष्ट नही। सा० द० (६ २२–२३) मे केवल इतना कहा गया है कि नाट्य मण्डप के विघ्नो की शान्ति के लिये अभिनेय वस्तु के प्रयोग से पहिले जा अभिनेता लोग मङ्गल आदि करते है वह पूवरङ्ग कहलाता है। ना० शा० (अ० १ ३) मे इसका विस्तृत वणन है तथा भा प्र (पृ० १६४) मे सक्षिप्त और स्पष्ट वणन ह। तदनुसार जहा गायक वादक नटी नट तथा सभापति और सामाजिक सभी का मनोरञ्जन किया जाता है वह 'रङ्ग अर्थात् नाट्यशाला है। नाटक के प्रयोग से पहले वहा जो गीत वाद्य आदि का काय किया जाता है वही पूवरङ्ग कहलाता है। इसके प्रत्याहार आदि बारह अङ्ग होते है जिनमे नान्दी तथा प्ररोचना आदि भी है। (३) **सूत्रधार**—वह प्रमुख नट जो रङ्गमञ्च पर किसी नाटक आदि के अभिनय का प्रबन्ध करता है (Stage manager)—सूत्र प्रयोगानुष्ठान धारयतीति सूत्रधार। (४) **वष्णवस्थानकादिना**—वष्णव वेशादिना (प्रभा), दीघपादविक्षपेण परिक्रमो वैष्णवस्थानकम (इति कश्चित्)। वस्तुत वष्णवस्थानक एक प्रकार की शरीर की अवस्था (कायसन्निवेश) है जो चलने के समय, चलने से पूव तथा चलने के पश्चात् भी होती है। ना० शा० (१०–५१) मे काय सन्निवेश की ६ अवस्थाए बतलाई गई है जिनमे वष्णवस्थानक भी एक है। इस अवस्था मे दोनो पर ढाई ताल (एक माप) के अन्तर से रहते है उनमे एक समस्थित दूसरा कुछ तिरछा, अङ्गुलिया पार्श्वो की ओर उन्मुख रहती है जानु (घुटने) कुछ मुडे रहते हैं तथा शरीर सीधा (ना शा० १० ५२–५३)। (५) **तद्वद्**—उस (सूत्रधार) के समान। स्थापक या सूत्रधार भिन्न भिन्न व्यक्ति है या एक ही यह विवाद का विषय हैं। दशरूपक भा० प्र० (पृ० २२८) तथा सा० द० (६ २६) से तो यही प्रतीत होता है कि ये दो व्यक्ति होते थे। सा० द० (६ २६ वत्ति) से यह भी विदित होता है कि कालान्तर मे एक ही व्यक्ति दोनो के काय करने लगा था। अभि० भा० (५ १६२) के अनुसार तो सूत्रधार पूवरङ्ग का काय करके बाहर चला जाता था और फिर वही स्थापक के रूप मे प्रवेश करता था।

(३) दिव्यमर्त्ये स तद्रूपो मिश्रमन्यतरस्तयोः ।
सूचयेद्वस्तु बीजं वा मुखं पात्रमथापि वा ॥३॥

स स्थापको दिव्यं वस्तु दिव्यो भूत्वा मर्त्यं च मर्त्यरूपो भूत्वा मिश्रं च दिव्यमर्त्ययोरन्यतरो भूत्वा सूचयेत् । वस्तु बीजं मुखं पात्रं वा ।

वस्तु यथोदात्तराघवे—

'रामो मूर्ध्नि निधाय काननमगान्मालामिवाज्ञां गुरो-
स्तद्भक्त्या भरतेन राज्यमखिलं मात्रा सहैवोज्झितम् ।
तौ सुग्रीवविभीषणावनुगतौ नीतौ परां संपदं
प्रोद्वृत्ता दशकन्धरप्रभृतयो ध्वस्ताः समस्ता द्विषः ॥१८६॥

बीजं यथा रत्नावल्याम्—

'द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ॥१८७॥

वह (स्थापक) दिव्य और मर्त्य वस्तु (या बीज या मुख या पात्र) को उस (देव और मनुष्य) के ही रूप में होकर तथा मिश्रित (वस्तु आदि) को उनमें से किसी एक के रूप में होकर सूचित करे ।।३।।

अर्थात् स्थापक देवता सम्बन्धी (दिव्य) वस्तु को देव रूप में होकर तथा मानव सम्बन्धी को मानव रूप में होकर और मिश्रित (दिव्यादिव्य = देवता और मानव के गुणों से मिश्रित जैसे राम आदि की कथा) वस्तु को देव या मानव में से किसी एक रूप में होकर सूचित करे । इस प्रकार वह कथावस्तु (वस्तु), बीज (बीज नामक अर्थ प्रकृति), मुख या पात्र की सूचना दे ।

टिप्पणी—ना० शा० (५ १६७–१६८), भा० प्र० (पृ० २८८), सा० द० (६ २७) । सा० द० में चारों प्रकार के सूचनीय अर्थ के उदाहरण भी दशरूपक के समान ही दिये गये हैं ।

वस्तु की सूचना, जैसे उदात्तराघव में—'पिता की आज्ञा को माला के समान सिर पर धारण करके राम वन को चले गये । राम की भक्ति के कारण भरत ने माता कैकेयी सहित समस्त राज्य को छोड़ दिया । राम ने अपने अनुचर सुग्रीव और विभीषण दोनों को बड़ी सम्पत्ति प्राप्त करा दी और उद्धत आचरण वाले रावण आदि समस्त शत्रुओं को नष्टकर दिया ।'

टि०—इस पद्य में नाटक की कथावस्तु की संक्षेप में सूचना दी गई है ।

बीज की सूचना, जैसे रत्नावली (१ ६) में 'द्वीपादन्यस्मादपि' (ऊपर उदा०) ।

टि०—रत्नावली की प्राप्ति रूप फल का बीज है—अनुकूल दैव से युक्त यौगन्धरायण का प्रयत्न । उसकी यहाँ सूचना दी गई है ।

मुख यथा—

'आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहास
　　प्राप्त शरत्समय एष विशुद्धकान्त ।
उत्खाय गाढतमस घनकालमुग्र
　　रामो दशास्यमिव सम्भृतबन्धुजीव ॥१८८॥

पात्र यथा शाकुन्तले—

'तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभ हृत ।
एष राजेव दुष्यन्त सारङ्गेणातिरहसा ॥१८९॥

(४) रङ्ग प्रसाद्य मधुर श्लोकै काव्यार्थसूचकै ।
　　ऋतु कञ्चिदुपादाय भारती वृत्तिमाश्रयेत ॥४॥

रङ्गस्य प्रशस्ति काव्यार्थानुगतार्थै श्लोक कृत्वा—
　'औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया

मुख की सूचना, जैसे—जिसे उज्ज्वल और निर्मल चन्द्रहास (१ चन्द्रमा की चन्द्रिका २ चन्द्रहास नामक रावण की तलवार) प्राप्त हो गया है जो शुद्ध कान्ति वाला है तथा जिसने बन्धुजीव (१ बोपहरिया के पुष्प २ बन्धुओ का जीवन) को धारण किया है ऐसा यह राम सदृश शरद का समय गाढ अन्धकार वाले (रावण के पक्ष मे–अत्यधिक अज्ञानान्धकार वाले) उग्र (१ प्रचण्ड २ भयङ्कर) रावण—सदृश वर्षाकाल को नष्ट करके आ गया है ।

टिप्पणी—दशरूपक मे 'मुख का स्वरूप नही बतलाया गया। सा० द० (६–२७ वृत्ति) के अनुसार श्लेष इत्यादि के द्वारा प्रस्तुत वस्तु की सूचना देने वाला वचन ही मुख कहलाता है (मुख श्लेषादिना प्रस्तुतवृत्तान्तप्रतिपादको वाग्विशेष)। उपर्युक्त पद्य मे शरत्काल का वर्णन किया जा रहा है। साथ ही श्लेष आदि के द्वारा प्रस्तुत कथा (राम द्वारा रावण का वध) की भी सूचना दी जा रही है।

पात्र की सूचना, जैसे शकुन्तला नाटक (१ ५) मे (नटी से नट कहता है)—मन को हरने वाले तुम्हारे गीत–राग के द्वारा मैं उसी प्रकार बलपूर्वक आकृष्ट हो गया हूँ जिस प्रकार अत्यन्त वेग वाले (दूर तक) ले जाने वाल हरिण के द्वारा यह राजा दुष्यन्त ।

टिप्पणी—इसके द्वारा हरिण का पीछा करते हुए दुष्यन्त के आगमन की सूचना दी जा रही है।

स्थापक काव्य के अर्थ को सूचित करने वाले मधुर श्लोको के द्वारा रङ्ग (=रङ्ग मे स्थित सामाजिको) को प्रसन्न करके किसी ऋतु का प्रसङ्ग लेकर भारती वृत्ति का आश्रयण करे ॥४॥

अर्थात् काव्य–वस्तु से सम्बद्ध (अनुगत=अन्वित) अर्थ वाले श्लोको के द्वारा रङ्ग की प्रशस्ति करके स्थापक 'औत्सुक्येन इत्यादि के द्वारा भारती वृत्ति का आश्रयण करे। औत्सुक्येन० (रत्नावली १ २) 'प्रथम मिलन के अवसर पर उत्सु

तस्तब ध्रुवधूजनस्य वचनर्नीताभिमुख्य पुन ।
दृष्टवाऽग्र वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे सङ्गमे
सरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवा पातु व ।।१६०।।
इत्यादिभिरेव भारती वत्तिमाश्रयेत् ।

सा तु—

(५) भारती सस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रय ।
भेदै प्ररोचनायुक्तर्वीथीप्रहसनामुख ।।५।।

पुरुषविशेषप्रयोज्य सस्कृतबहुलो वाक्यप्रधानो नटाश्रयो यापारो भारती, प्ररोचनावीथीप्रहसनाऽऽमुखानि चास्यामङ्गानि ।

कता के कारण शीघ्रता करती हुई सहज लज्जा के कारण लौटती हुई, फिर ब ध्रुवग की स्त्रियो के अनेक प्रकार के वचनों से सामने लाई गई पति को सामने देखकर भय तथा आनन्द का अनुभव करती हुई तथा रोमाञ्चित हुई और हँसते हुए शिव द्वारा आलिङ्गित की गई वह पार्वती तुम्हारी (सामाजिको) की रक्षा करे ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (५ १६५), भा० प्र० (पृ० २२८), प्रता० (३–३७ वृत्ति), सा० द० (६ २८–२९)। (२) विद्वानो का विचार है कि इस कारिका की प्रथम पक्ति नान्दी की ओर सकेत करती है (Haas) । (नान्दी का स्वरूप दश० मे नही बतलाया गया तदथ द्र० प्रता० ३ ३७ सा० द० ६ २४ २५)। वस्तुत नान्दी से इस पक्ति का कोई सम्बन्ध नही प्रतीत होता। नान्दी तो पूवरङ्ग का अङ्ग है (भा० प्र० पृ० ९७ सा० द० ६ २३)। पूवरङ्ग का काय सूत्रधार करता है। उसके चले जाने पर स्थापक आता है और काव्याथ की स्थापना करता है। इस स्थापना मे कई काय करने होते हैं। वह पहले रङ्गप्रशस्ति या रङ्ग प्रसादन करता है—जय आशीर्वाद आदि के क्रम से सामाजिको के हृदय को प्रसन्न (निमल) कर देता है जिससे यह रसास्वाद के योग्य हो जाये (अभि० भा० ५ १६५)। इस प्रशस्ति मे वह यथासम्भव कथा की वस्तु बीज मुख अथवा पात्र को भी सूचित कर देता है। फिर काव्याथ की स्थापना करता है। इस स्थापना के लिये ही भारती वत्ति का आश्रय लिया जाता है। (३) यहाँ रङ्गस्य प्रशस्ति का यार्थानुगत श्लोक कृत्वा'—इसके उदाहरण रूप मे ही 'औत्सुक्येन० इत्यादिभिरेव यह कहा गया है (इत्यादिभि श्लोकैरेव कृत्वा)।

भारती वत्ति

वह (भारती वत्ति) तो यह है—

प्राय सस्कृत भाषा मे नट द्वारा किया गया वाचिक व्यापार भारती वृत्ति कहलाता है जो प्ररोचना, वीथी, प्रहसन और आमुख (चार) अङ्गो से युक्त होता है ।।५।।

अर्थात् जो नियत पुरुषो द्वारा किया जाता है जिसमे प्राय सस्कृत भाषा ही होती है, वाचिक व्यापार की प्रधानता होती है वह नट का काय भारती वृत्ति है। इसके (चार) अङ्ग हैं—१ प्ररोचना, २ वीथी, ३ प्रहसन, ४ आमुख ।

यथोद्देश लक्षणमाह—

(६) उ मुखीकरण तत्र प्रगसात प्ररोचना।

प्रस्तुतार्थप्रशसनेन श्रोतणा प्रवृत्त्यु मुखीकरण प्ररोचना। यथा रत्नावल्याम्—

श्रीहर्षो निपुण कवि परिषदप्येषा गुणग्राहिणी
लोके हारि च वत्सराजचरित नाटये च दक्षा वयम्।
वस्त्वेककमपीह वाञ्छितफलप्राप्ते पद किं पुन—
मद्भाग्योपचयादय समुदित सर्वो गुगाना गण ॥१६१॥

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२ २६ २७) भा० प्र० (पृ २२८) प्रता० (पृ० ६५) सा० द० (६ २६ ३०)। (२) सक्षप मे (i) पुरुष विशष अर्थात् नटो का वाचिक यापार ही भारती वत्ति है इसके अ तगत कायिक या मानसिक व्यापार नही आता इसलिये यह श दवृत्ति कहलाती है। साथ ही स्त्री पात्रो (नटी आदि) का वाचिक व्यापार भी भारती वृत्ति के अ तगत नही आता। (ii) वह वाचिक यापार प्राय सस्कृत भाषा मे हुआ करता है यहाँ प्राय शब्द इसलिये दिया गया है कि कही-कही रूपको मे प्राकृत भाषा मे भी भ रती वत्ति देखी जाती है (ना० द० २ १५६ वृत्ति)। (३) कारिका मे भेद (भेद) श द का अथ अङ्ग हैं। नाम निर्देश के क्रम से (अङ्गो के) लक्षण बतलाते हैं—

१ प्ररोचना—

उन (चार अङ्गो) मे प्रशसा के द्वारा (श्रोताओ को) उन्मुख करना प्ररोचना है।

अर्थात प्रस्तुत काव्याथ की प्रशसा करके श्रोताओ की प्रवत्ति उसकी ओर करा देना ही प्ररोचना है। जसे रत्नावली (१ ५) मे (इस नाटिका कर्त्ता) श्रीहष निपुण कवि है यह सभा भी गुणो का ग्रहण करने वाली है वत्सराज उदयन का चरित लोक मे मनोहर माना जाता है और (इस नाटिका के प्रस्तुतकर्ता) हम सब भी अभिनय मे कुशल हैं। इनमे से एक एक वस्तु भी वाञ्छित फल प्राप्ति का निमित्त हो सकती है फिर यहा तो मेरे भाग्य के उत्कष से सभी गुणो का समूह एकत्र हो गया है।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२० २८) भा० प्र० (पृ० १६७) ना० द० (२ १५६) सा० द० (६ ३०)। (२) ना० शा० भा० प्र० तथा ना० द० आदि मे प्ररोचना' का पूवरङ्ग के अङ्गो मे भी उल्लेख किया गया है। दोनो स्थलो पर लक्षण मे भी समानता है। अभिनवगुप्ताचाय का कथन है कि पूवरङ्ग का काय कर लेने के पश्चात् जो प्ररोचना की जाती है वह भारती वृत्ति का अङ्ग है (अभि० भा० २० २८)।

(७) वीथी प्रहसन चापि स्वप्रसडगेऽभिधास्यते ॥६॥
वीथ्यङ्गा यामुखाङ्गत्वादुच्य तऽत्रव, तत्पुन ।
(८) सूत्रधारो नटी ब्रूत माष बाऽथ विदूषकम ॥७॥
स्वकाय प्रस्तुताक्षपि चित्रोक्त्या यत्तदामुखम ।
प्रस्तावना वा ।
(९) तत्र स्यु कथोदघात प्रवत्तकम ॥८।
प्रयोगातिशयश्चाथ वीथ्यङ्गानि त्रयोदश ।

---

२ वीथी ३ प्रहसन—

वीथी और प्रहसन का इनके प्रकरण मे वणन किया जायेगा ॥६॥ किन्तु (तत्पुन) वीथी के अङ्गो का यही वणन किया जा रहा है, क्योकि वीथी के अङ्ग आमुख के भी अङ्ग होते है।

४ आमुख--

जहा सूत्रधार (=स्थापक) विचित्र उक्ति के द्वारा नटी, पारिपार्श्विक (माष) या विदूषक को प्रस्तुत अर्थ का आक्षेप करने वाला अपना काय बतलाता है वह आमुख या प्रस्तावना कहलाती है ॥७-८॥

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२० ३० ३१), भा० प्र० (पृ० २२९) ना० द० (३ १५७) प्रता० (३ २७) सा० द० (६ ३१ ३२)। (२) यहाँ सूत्रधार= स्थापक (सा० द० वत्ति ६ ३१) क्योकि वह सूत्रधार के समान ही होता है अथवा दूसरे मत के अनुसार सूत्रधार ही स्थापक के रूप मे प्रविष्ट होता है। माष=पारिपार्श्विक। (सा० द० ३१)। विदूषक=विदूषक का वेष धारण करने वाला नट (पारिपार्श्विक) यहाँ नाटक आदि मे प्रसिद्ध विदूषक नही लिया जाता (ना० द० वत्ति ३ १५७)।

आमुख या प्रस्तावना के अङ्ग

उस (आमुख या प्रस्तावना) मे (क) कथोदघात, (ख) प्रवृत्तक (ग) प्रयोगातिशय, और वीथी मे होने वाले १३ अङ्ग होते है ।८॥

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२० ३३) भा० प्र० (पृ० २२९) प्रता० (३ २८ ३३) सा० द० (६ ३३)। (२) ना० शा० तथा सा० द० मे आमुख के पाँच अङ्ग बतलाये गये है—उद्घातक कथोद्घातक प्रयोगातिशय, प्रवतक और अवलगित। धनञ्जय का कथन है कि वीथी के जो १३ अङ्ग होते है वे आमुख के भी अङ्ग होते हैं। ना० शा० मे कहे गये उद्घातक और अवलगित वीथी के अङ्ग है अतएव दश० मे इन्हे आमुख के अङ्ग के रूप मे पृथक नही दिया गया। इस प्रकार दश० के अनुसार आमुख के कुल १६ अङ्ग हैं। इनमे तीन ऐसे हैं जो केवल आमुख के ही अङ्ग होते हैं और १३ ऐसे हैं जो वीथी तथा आमुख दोनो के समान रूप से अङ्ग होते है। भा०प्र० तथा प्रता० मे इस आशय को स्पष्ट किया गया है।

तत्र कथोद्धात —

(१०) स्वेतिवत्तसम वाक्यमथ वा यत्र सूत्रिण ॥९॥
गहीत्वा प्रविशत्पात्र कथोदघातो द्विधव स ।

वाक्य यथा रत्नावल्याम्— यौग धरायण —द्वीपादन्यस्मादपि—' इति ।

वाक्याथ यथा वेणीसहारे— सूत्रधार —

निर्वाणवरिदहना प्रशमादरीणा
न द तु पाण्डुतनया सह केशवेन ।
रक्तप्रसाधितभुव क्षतविग्रहाश्च
स्वस्था भव तु कुरुराजसुता सभृत्या ॥१९२॥

ततोऽर्थेनाह्—'भीम —

लाक्षागृहानलविषा नसभाप्रवेश
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च न प्रहृत्य ।
आकृष्टपाण्डववधूपरिधानकेशा
स्वस्था भव तु मयि जीवति धातराष्ट्रा ॥१९३॥

(क) कथोदघात—

उनमे से कथोदघात यह है —

जहाँ पात्र अपनी कथावस्तु से समानता रखने वाले सूत्रधार के वाक्य या वाक्याथ को लेकर प्रविष्ट हो जाता है वह दो प्रकार का कथोद्घात होता है ॥९-१०॥

वाक्य को लेकर (पात्र प्रवेश), जसे रत्नावली (१६) मे सूत्रधार के द्वीपाद यस्मादपि इस वाक्य को बोलता हुआ यौग धरायण प्रविष्ट होता है ।

वाक्याथ को लेकर (पात्र प्रवेश), जसे वेणीसहार (१७) मे सूत्रधार कहता है—शत्रुओ के शा त हो जाने से जिनकी शत्रु रूपी अग्नि बुझ गई है वे पाण्डुपुत्र श्रीकृष्ण सहित आन द करें, और, जि होने पृथिवी को प्रसन्न एव अलङ्कृत कर दिया है तथा झगडो (विग्रह) को शा त कर दिया है वे कुरुराज के पुत्र (कौरव) भत्यो सहित स्वस्थ रहें [सूचित अथ है—जि होने रुधिर से पृथिवी को अलङ्कृत कर दिया है जिनके शरीर (विग्रह) नष्ट हो गये हैं, वे कौरव भृत्यो सहित स्वग मे स्थित (स्वस्थ) होवें] ।

तब इसके अथ को लेकर भीम (यह कहते हुए प्रविष्ट होता है)—'लाक्षागृह मे आग, विष मिला भोजन एव सभा मे प्रवेश के द्वारा हमारे प्राणो और धन पर प्रहार करके और पाण्डवो की वधू (द्रौपदी) के वस्त्र एव केशो को खींचकर भी क्या मेरे जीते जी धतराष्ट्र के पुत्र जीवित रह सकते हैं ?

टिप्पणी—ना० शा० (२० ३५) भा० प्र० (पृ० २२९), प्रता० (३ २९) सा० द० (६ ३५) ।

---

* वाक्य वाक्याथमथवा प्रस्तुत यत्र सूत्रिण' इति पाठा तरम् ।

अथ प्रवृत्तकम—

(११) कालसाम्यसमाक्षिप्तप्रवेश स्यात्प्रवर्त्तकम् ॥१०॥

प्रवृत्तकालसमानगुणवर्णनया सूचितपात्रप्रवेश प्रवृत्तकम यथा—

आसादितप्रकटनिमलचन्द्रहास
प्राप्त शरत्समय एष विशुद्धकान्त ।
उत्खाय गाढतमस घनकालमुग्र
रामो दशास्यमिव सम्भृतबन्धुजीव ॥१६४॥

अथ प्रयोगातिशय —

(१२) एषोऽयमित्युपक्षपात्सूत्रधारप्रयोगत ।
पात्रप्रवेशो यत्रष प्रयोगातिशयो मत ॥११॥

यथा 'एष राजेव दुष्यन्त' इति ।

(ख) प्रवर्त्तक —

जहा काल (ऋतु) के वणन की समानता के द्वारा (पात्र के) प्रवेश की सूचना दी जाती है वह प्रवत्तक होता है ॥१०॥

अर्थात प्रारम्भ हुए (प्रवत्त) किसी काल (वसन्त आदि ऋतु) के समान गुणो के वणन द्वारा जहाँ पात्र का प्रवेश सूचित होता है वह प्रवत्तक है, जसे 'आसादित० इत्यादि (ऊपर उदा० १८८) ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२० ३०) भा० प्र० (पृ० २२९) प्रता० (३ ३०), सा० द० (६ ३७) । (२) भाव यह है कि किसी वसन्त आदि ऋतु के ऐसे गुणो का वणन किया जाता है जो किसी पात्र के गुणो के समान ही होते है। इसी वणन के द्वार। पात्र प्रवेश सूचित हो जाता है। यही प्रवृत्तक नामक आमुख का अङ्ग है । जसे आसादित० इत्यादि मे शरद ऋतु के गुणो का वणन करते हुए राम के गुणो का भी वणन कर दिया गया है । इसी से राम के प्रवेश की सूचना दी गई है ।

(ग) प्रयोगातिशय —

'यह वह है' इस प्रकार के सूत्रधार के वचन से सूचित होकर जहाँ पात्र का प्रवेश होता है वहा प्रयोगातिशय नामक (आमुख का अङ्ग) माना गया है ॥११॥

जसे शकुन्तला (१ ५) मे 'इस राजा दुष्यन्त के समान' [सूत्रधार की इस उक्ति से दुष्यन्त का प्रवेश सूचित होता है] ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२० ३६) भा० प्र० (पृ०२२९), प्रता० (३ ३१), सा० द० (६ ३६) । (२) ना० शा० तथा सा० द० का प्रयोगातिशय का लक्षण यह है—जहाँ सूत्रधार अपने आरम्भ किये हुए प्रस्तावना के प्रयोग को छोडकर नाटय प्रयोग का निर्देश कर देता है और उससे पात्र का प्रवेश हो जाता है, वहाँ प्रयोगातिशय होता है (सा० द० ६ ३६) । यहाँ पात्र प्रवेश से पहला अश प्रस्तावना या आमुख है और बाद का अश नाट्य है [ना० द० सूत्र १५८ वृत्ति]

अथ वीथ्यङ्गानि—

(१३) उदघात्यकावलगिते प्रपञ्चत्रिगते छलम ।
वाक्केल्यधिबले गण्डमवस्यन्दितनालिके ॥ १२ ॥
असत्प्रलापव्याहारमदवानि त्रयोदश ।

तत्र—

(१४) गूढाथपदपर्यायमाला प्रश्नोत्तरस्य वा ॥ १३ ॥
यत्रान्यो य समालापो द्वेधोदघात्य तदुच्यत ।

गूढाथ पद तत्पर्यायश्चेत्येव माला प्रश्नोत्तर चेत्येव वा माला द्वयोरुक्तिप्रत्युक्ती तद्द्विविधमुद्घात्यकम् । तत्राद्य विक्रमोवश्या यथा–विदूषक —भो वअस्स को एसो कामो जेण तुम पि दूमिज्जसे सो किं पुरिसो आदु इत्थिअत्ति । (भो वयस्य क एष कामो येन त्वमपि दूयसे स किं पुरुषोऽथवा स्त्रीति ।') राजा—सखे ।

मनोजातिरनाधीना सुखेष्वेव प्रवतते ।
स्नेहस्य ललितो माग काम इत्यभिधीयते ॥१६५॥

वीथी के अङ्ग—

वीथी के (१३) अङ्ग है—(१) उदघात्यक (२) अवलगित, (३) प्रपञ्च (४) त्रिगत, (५) छल (६) वाक्केलि, (७) अधिबल (८) गण्ड (९) अवस्यन्दित (१०) नालिका, (११) असत्प्रलाप, (१२) व्याहार, और (१३) मदव ॥१२–१३॥

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८ ११३ ११४), भा० प्र० (पृ० २३०) प्रता० (३ ३२ ३३), सा० द० (६ २५५ २५६)। (२) ना० शा० तथा सा० द० मे इन अङ्गो का प्रस्तावना के सन्दभ मे वणन नही किया गया, अपितु वीथी नामक रूपक के प्रकरण मे वणन किया गया है। सा०द० (६ ३९) का यह भी कथन है कि प्रस्तावना (या आमुख) मे उद्घात्यक तथा अवलगित इन दो वीथी के अङ्गो का प्रयोग तो हुआ ही करता है। वीथी के अन्य ११ अङ्गो का प्रयोग भी यथावसर किया जा सकता है।

१ उदघात्यक—

जहाँ (दो पात्रो का) परस्पर वार्तालाप या तो गूढाथ पद तथा उसके पर्यायो की माला के रूप मे होता है अथवा प्रश्न और उत्तर की माला के रूप मे होता है, वह दो प्रकार का उदघात्यक कहलाता है ॥१३–१४॥

अर्थात् जहाँ दो पात्रो की उक्ति और प्रत्युक्ति मे (1) (एक पात्र द्वारा) गूढ अथ वाला पद कहा जाये और फिर (दूसरे पात्र द्वारा) उसका समानाथक शब्द कहा जाये इस प्रकार की माला (कई बार प्रयोग) अथवा (11) प्रश्न हो फिर उत्तर दिया जाये इस प्रकार की माला होती है, वह दो प्रकार का उदघात्यक है।

विदूषक —एव पि ण जाणे (एवमपि न जानामि ।') राजा—वयस्य इच्छा प्रभव स इति ।

विदूषक —किं जो ज इच्छादि सो त कामेदित्ति । ('किं यो यदिच्छति स यत्कामयतीति ।) राजा —अथ किम् ।

विदूषक —ता जाणिद जह अह सूअआरसालाए भोअण इच्छामि । ('तज्ज्ञात यथाऽह सूपकारशालाया भोजनमिच्छामि ।

द्वितीय यथा पाण्डवानन्दे—

'का श्लाघ्या गुणिना क्षमा परिभव को य स्वकुल्य कृत
किं दु ख परसश्रयो जगति क श्लाघ्यो य आश्रीयते ।
को मृत्युर्व्यसन शुच जहति के यैर्निर्जिता शत्रव
कैर्विज्ञातमिद विराटनगरे छन्नस्थित पाण्डवै ॥१९६॥

---

(1) उनमे से प्रथम उदघात्यक विक्रमोवशी मे है जसे विदूषक—हे मित्र यह कामदेव कौन है जिससे तुम भी दु खी हो रहे हो ? वह पुरुष है या स्त्री ? राजा—मित्र जो मन से उत्पन्न होता है चिन्ता रहित (अनाधीना) सुखों मे ही प्रवत्त हुआ करता है और स्नेह का सुन्दर माग है, वह काम कहा जाता है । विदूषक—इस प्रकार भी मै नहीं समझा । राजा—मित्र जो इच्छा से उत्पन्न होता है । विदूषक—क्या ? जो जिसकी इच्छा करता है उसकी कामना करता है। राजा—और क्या ? विदूषक—तो समझा जसे मैं भोजनशाला (सूपकार=पाचक रसोइया) मे भोजन की इच्छा करता हू' ।

(ii) द्वितीय उद्घात्यक यह है जसे पाण्डवानन्द मे—'श्लाघनीय क्या है ? गुणी जनो की क्षमा । तिरस्कार क्या है ? जो अपने परिवार वालों द्वारा किया जाता है। दु ख क्या है ? दूसरे की अधीनता । ससार मे प्रशसनीय कौन है ? जिसका आश्रय लिया जाता है। (आश्रय देने वाला)। मृत्यु क्या है ? व्यसन (=आपत्ति या बुरी लत)। शोक रहित कौन होते हैं ? जिन्होंने शत्रुओ को जीत लिया। यह सब किन्होने जान लिया है ? विराट नगर मे गुप्त रूप से रहने वाले पाण्डवों ने' ।

टिप्पणी—ना० शा० (१८ ११५–११६) भा० प्र० (पृ० २३०), प्रता० (पृ० ८५), सा० द० (६ ३४) । ना० शा० के अनुसार लक्षण यह है—

पदानि त्वगतार्थानि ये नरा पुनरादरात् ।
योजयन्ति पदरन्यस्तदुद्घात्यकमुच्यते ॥

सा० द० मे भी इसी का अनुसरण किया गया है ।

अथावलगितम् —

(१५) यत्रकत्र समावेशात्कायम यत्प्रसाध्यते ॥ १४ ॥
प्रस्तुतेऽयत्र वाऽन्यत्स्यात्तच्चावलगित द्विधा ।

तत्राद्य यथोत्तरचरिते समुत्पन्नवनविहारगभदोहदाया सीताया दोहदकार्येऽनु प्रविश्य जनापवादादरण्ये त्या । द्वितीय यथा छलितरामे— राम —लक्ष्मण तात वियुक्तामयोध्या विमानस्थो नाह प्रवेष्टु शक्नोमि । तदवतीय गच्छामि ।

कोऽपि सिंहासनस्याध स्थित पादुकयो पुर ।
जटावानक्षमाली च चामरी च विराजते ॥१६७॥

इति भरतदशनकायसिद्धि ।

अथ प्रपञ्च —

(१६) असदभूत मिथ स्तोत्र प्रपञ्चो हास्यकृमत ॥ १५ ॥

---

(२) अवलगित—

(i) जहा एक काय मे समावेश करके (या एक काय के बहाने से) दूसरा काय सिद्ध किया जाता है, अथवा (ii) एक काय के प्रस्तुत होने पर दूसरा काय सिद्ध हो जाता है, वह दो प्रकार का अवलगित होता है ॥ १४–१५ ॥

(i) उनमें से प्रथम है जसे उत्तररामचरित मे सीता को वनविहार का गभ दोहद (गभवती की इच्छा) उत्पन्न हुआ उस दोहद काय के बहाने से (सीता को ले जाकर) लोकापवाद के कारण वन मे छोड दिया गया ।

(ii) द्वितीय यह है जसे छलितराम नाटक मे—'राम—हे लक्ष्मण, मैं पिता से विहीन अयोध्या मे विमान पर बठकर नहीं प्रवेश कर सकता अत उतर कर जाता हू ।

यह कोई सिंहासन के नीचे पादुकाओ के सामने बठा हुआ जटाधारी अक्षमाला तथा चामर वाला व्यक्ति विराजमान है ।

इस प्रकार भरत दशन रूप काय की सिद्धि हो जाती है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८ ११६), भा० प्र० (पृ० २३०), प्रता० (पृ० ८५), सा० द० (६ ३८) । (२) यहाँ प्रथम प्रकार मे तो दूसरा काय प्रयत्न पूवक किया जाता है किन्तु द्वितीय प्रकार मे दूसरा काय प्रसङ्ग से हो जाया करता है । दोहदकार्येऽनुप्रविश्य=दोहद काय मे समावेश करके । भाव यह है कि प्रथम प्रकार मे एक काय मे दूसरा काय भी सम्मिलित कर लिया जाता है ।

(३) प्रपञ्च—

(पात्रो द्वारा) एक दूसरे की हास्य उत्पन्न करने वाली मिथ्या प्रशसा करना प्रपञ्च (नामक वीथी का अङ्ग) माना गया है ॥ १५ ॥

असद्भूतेनार्थेन पारदार्यादिनपुण्यादिना याऽयो यस्तुति स प्रपञ्च । यथा कपू रमञ्जर्याम—भरवान द —

रण्डा चण्डा दिक्खिदा धम्मदारा मज्ज मस पिज्जए खज्जए अ ।
भिक्खा भोज्ज चम्मखण्ड च सेज्जा कोलो धम्मो कस्स णो होइ रम्मो ।
(रण्डा चण्डा दीक्षिता धमदारा मद्य मास पीयते खाद्यते च ।
भिक्षा भोज्य चर्मखण्ड च शय्या कौलो धम कस्य न भवति रम्य ॥१६८॥)

अथ त्रिगतम्—

(१७) श्रुतिसाम्यादनेकाथयोजन त्रिगत त्विह ।
नटादित्रितयालाप पूवरङगे तदिष्यत ॥ १६ ॥

यथा विक्रमोवश्याम्—

'मत्ताना कुसुमरसेन षटपदाना
श दोऽय परभृतनाद एष धीर ।

असद्भूत बात अर्थात् परस्त्रीगमन (=पारदाय) आदि मे निपुणता इत्यादि के द्वारा जो एक दूसरे की प्रशसा करना है वही प्रपञ्च है । जसे कपू रमञ्जरी (१ २३) मे 'भरवान द—जहा प्रचण्ड रण्डाए ही दीक्षा प्राप्त धमपत्नियाँ हैं मद्य और मास खाया पिया जाता है भिक्षा ही भोजन है चम खण्ड ही शय्या है ऐसा कौल धम किसे रमणीय न लगेगा ?

टिप्पणी—(१) ना० शा० (पृ० ४५६ १८ १२०), भा० प्र० (पृ० २३१) ना० द० (२ १४५), प्रता० (पृ० ८६), सा० द० (६ ×५७) । (२) ना० द० के अनुसार किसी एक को लाभ प्राप्त कराने वाला स्तुति सहित मिथ्या हास्य प्रपञ्च है—प्रपञ्च सस्तव हास्य मिथो मिथ्यकलाभकृत् । यह लक्षण ना० शा० का अधिकाश मे अनुसरण करता है । ना० द० मे 'केचित्' (कोई) कहकर धनिक के मत को उद्धत किया गया है । (३) 'असद्भूत मिथ्या असत्य (अभि० भा०), untrue (Haas) । यहाँ धनिक की दृष्टि से असदभूत' श द का क्या अथ है, यह स दिग्ध है । व्याख्याकारो ने इसका अथ नि दनीय, अनुचित असत्कम आदि किया है । वस्तुत धनिक का भाव यह प्रतीत होता है कि मिथ्या ही परदाराभिगमन आदि मे निपुणता आदि बतलाकर जो हास्य उत्प न करने वाली परस्पर स्तुति की जाती है वह प्रपञ्च है ।

(४) त्रिगत—

शब्द की समानता से अनेक अर्थों की योजना करना ही यहाँ त्रिगत कहलाता है । जो नट इत्यादि तीनो के वार्तालाप को त्रिगत कहा गया है वह तो पूवरङ्ग मे अभीष्ट है ॥ १६ ॥

जसे विक्रमोवशी (१ ३) मे—'पुष्पो के रस से मतवाले भ्रमरो का यह शब्द है, यह कोयलो की गम्भीर ध्वनि है देवगण के द्वारा सब ओर से सेवित कलास पर कि नरियाँ रमणीय और मधुर अक्षरों मे गा रही है ।

कलासे सुरगणसेविते समन्तात्
किन्नय कलमधुराक्षर प्रगीता ॥१९९॥

अथ छलनम्—

(१८) प्रियाभैरप्रियैर्वाक्यैर्विलोभ्य * छलनाच्छलम ।

यथा वेणीसहारे— भीमार्जुनौ

कर्ता द्यूतच्छलाना जतुमयशरणोद्दीपन साऽभिमानी
राजा दु शासनादेगुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रम् ।
कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटु पाण्डवा यस्य दासा
क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत पुरुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्व ॥२००॥

टिप्पणी—(१) ना० शा० (अ० १८ पृ० ४५८), भा० प्र० (पृ० २३१) ना० द० (२ १४६), प्रता० (पृ० ८६), सा० द० (६ २५७)। ना० द० मे त्रिगत के कई प्रकार के लक्षण तथा उदाहरण दिये गये है। (२) त्रिगत मे त्रि=अनेक, अनेकम अनेकम् अथ गतम् इति त्रिगतम (अभि० भा०) । श्रुतिसाम्यात्—शब्द सारूप्यात (अभि० भा०) अर्थात ध्वनि की समानता से जसे ऊपर के उदाहरण मे ध्वनि की समानता से यह भ्रमरो का शब्द है कोयल की कूक है किन्नरियो का गीत है ये अर्थ लिये गये हैं। (३) नटादि० पूवरङ्ग का अङ्ग भी त्रिगत कहलाता है। किन्तु उसका स्वरूप इस वीथी के अङ्गभूत त्रिगत से भिन्न है। वहाँ तो सूत्रधार नटी और पारिपार्श्विक इन तीनो का वार्तालाप ही त्रिगत कहलाता है।

(५) छलन –

(ऊपर से) प्रिय लगने वाले किन्तु (वस्तुत) अप्रिय वाक्यो के द्वारा लुभाकर छलना ही छल कहलाता है।

जसे वेणीसहार (५ २६) मे भीम और अर्जुन दुर्योधन के भृत्यो से कहते हैं— द्यूत कपट करने वाला, लाक्षागृह (जतुमय शरण) को जलाने वाला अत्यन्त अभिमानी राजा दु शासन आदि सौ अनुजो का अग्रज (गुरु) अङ्गराज कर्ण का मित्र, द्रौपदी के केश तथा वस्त्रो के हरण मे निपुण पाण्डवो को दास कहने वाला (पाण्डव जिसके दास है) वह दुर्योधन कहा है ? अरे मनुष्यो, बतलाओ, हम दोनो उसे देखने आये हैं।

टिप्पणी –(१) ना० शा० (अ० १८ पृ० ४५७), भा० प्र० (पृ० २३१) ना० द० (२ १४७) प्रता० (पृ० ८६), सा० द० (६ २५८)। (२) ना० शा० के अनुसार लक्षण यह है अन्याथमेव वाक्य छलमभिसन्धान हास्य रोष करणम् । इसी का स्पष्ट रूप ना० द० के इस लक्षण मे है वचोऽन्याथ छल हास्य वञ्चना-रोष कारणम् । सम्भवत सा० द० (६ २५८ २५९) मे इसे अन्ये तु कहकर दिखलाया गया है। दश० के लक्षण का क्या आधार है, यह विचारणीय ही है।

* छलना इत्यपि पाठ ।

अथ वाक्केली–

(१९) विनिवर्त्यास्य वाक्केली द्विस्त्रिः प्रत्युक्तितोऽपि वा ॥१७॥

अस्येति वाक्यस्य प्रक्रान्तस्य साकाङ्क्षस्य विनिवर्तनं वाक्केली द्विस्त्रिर्वा उक्तिप्रत्युक्तय, तत्राद्या यथोत्तरचरिते वासन्ती

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं
त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे ।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां
तामेव शान्तमथवा किमतः परेण ॥२०१॥

उक्तिप्रत्युक्तितो यथा रत्नावल्याम् विदूषक—भोदि मअणिए म पि एदं चच्चरिं सिक्खावेहि। (भवति मदनिके, मामप्येतां चर्चरीं शिक्षय') मदनिका—हदास ण क्खु एसा चच्चरी। दुवदिखण्डअं क्खु एदम्। (हताश न खल्वेषा चर्चरी द्विपदीखण्डकं खल्वेतत्।) विदूषक—भोदि किं एदिणा खण्डेण मोदआ करीअन्ति। (भवति किमेतेन खण्डेन मोदकाः क्रियन्ते?') मदनिका—णहि पढीअदि क्खु एदम्।' (नहि पठ्यते खल्वेतत्।) इत्यादि।

---

६ वाक्केली—

(i) इस (आरम्भ किये हुए वाक्य) को रोक लेने से अथवा (ii) दो तीन बार की उक्ति प्रत्युक्ति से वाक्केली (वीथी का अङ्ग) हुआ करती है ॥१७॥

कारिका मे अस्य (इसका)=वाक्य का अर्थात् प्रारम्भ किये हुए (प्रक्रान्त =प्रस्तुत) आकाक्षा-युक्त (अपरिसमाप्त) वाक्य को रोक लेना (पूर्ण न करना), यह (एक प्रकार की) वाक्केली है। अथवा दो या तीन बार कथन प्रतिकथन करना, यह (दूसरे प्रकार की) वाक्केली है।

(i) इनमे से पहिली, जैसे उत्तररामचरित (३ २६) मे ('वनदेवी वासन्ती सीता के साथ राम के वर्ताव का वर्णन करते हुए राम से कह रही हैं)— तुम मेरा जीवन हो, तुम दूसरा हृदय हो तुम नेत्रो मे चन्द्रिका हो, तुम मेरे अङ्गो के लिये अमृत हो, इत्यादि सकडो प्रिय वचनो से भोली (मुग्धा) सीता को फसलाकर (अनुरुध्य) उसको ही तुमने अथवा शान्त हो, इससे आगे कहने से क्या लाभ ?'

(ii) उक्ति प्रत्युक्ति से होने वाली वाक्केली, जैसे रत्नावली (१ १६ १७) मे विदूषक—हे मदनिका, मुझे भी यह चर्चरी सिखा दो। मदनिका—मूर्ख, यह चर्चरी नहीं, यह तो द्विपदखण्डक है। विदूषक—अरी, क्या इस खण्ड (खाड) से लड्डू बनते हैं। मदनिका— नहीं यह तो पढ़ी जाती है।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (अ० १८ पृ० ४५६), भा० प्र० (पृ० २३१–२३२) ना० द० (२ १४९), प्रता० (पृ० ८६), सा० द० (६ २५९)। (२) ना० शा० मे 'एकद्विप्रतिवचना वाक्केली स्यात प्रयोगेऽस्मिन्' यह लक्षण है। इसके आधार

अथाधिबलम्

(२०) अ`योन्यवाक्याधिक्योक्ति स्पर्धयाऽधिबल भवेत् ।

यथा वेणीसहारे— अर्जुन —

सकलरिपुजयाशा यत्र बद्धा सुतस्ते
तृणमिव परिभूतो यस्य गर्वेण लोक ।
रणशिरसि निह`ता तस्य राधासुतस्य
प्रणमति पितरौ वा मध्यम पाण्डुपुत्र ॥२०२॥

इत्युपक्रमे राजा—अरे नाह भवानिव विकत्थनाप्रगल्भ । कि`तु—

द्रक्ष्य`ि न चिरात्सुप्त बा`धवास्त्वा रणाङ्गणे ।
मद्गदाभि`नवक्षोस्थिवेणिकाभङ्गभीषणम् ॥२०३॥'

इत्य`तेन भीमदुर्योधनयोर यो`यवाक्यस्याधिक्योक्तिरधिबलम् ।

पर लक्षणकारो ने विविध लक्षण प्रस्तुत किये हैं। अभिनवगुप्ताचाय के अनुसार अनेक प्रश्नो का एक उत्तर ही वाक्केल है। सा० द० के अनुसार ह्स्य उत्पन्न करने वाली दो-तीन बार की उक्ति प्रत्युक्ति ही वाक्केली है। सा० द० का लक्षण दश० की द्वितीय वाक्केली के समा`ा है। सा० द० ने दश० की प्रथम वाक्केली को 'केचित्' कहकर और अभि० के वाक्केली के लक्षण को अन्ये कहकर उद्धत किया गया है। (३) त्व जीवितम् इत्यादि मे तामेव के पश्चात् निर्वासितवान् यह होना चाहिये अत वाक्य साकाक्ष है।

७ अधिबल—

(दो पात्रो का) स्पर्धा के कारण एक दूसरे की बान से बढकर बात कहना अधिबल कहलाता है।

जसे वेणीसहार (५ २७) मे 'अर्जु न—सकल० (ऊपर उदा० ५१) इत्यादि से आरम्भ करके 'राजा—अरे मैं आपकी तरह से आत्मश्लाघा मे निपुण नहीं हूँ किन्तु द्रक्ष्य`ि (ऊपर उदा० ४६)' यहा तक के वणन मे भीम और दुर्योधन (दोनों) की एक दूसरे की बात से बढकर बात दिखलाई गई है अत यह अधिबल (नामक वीथी का अङ्ग) है।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (अ० १८, पृ ४५७) भा० प्र० (पृ० २३२) ना० द० (२ १४३) प्रता० (पृ० ८६) सा० द० (६ २६०)। (२) ना० शा० तथा ना० द० का लक्षण इससे भि`न है। ना० द० मे दश० के लक्षण को 'केचि त' कहकर उद्धत किया गया है। सा० द० आदि मे दश० के लक्षण का ही अनुसरण किया गया है। (३) गभसधि के अङ्गो मे (१ ४०) भी अधिबल है, वह इससे भि`न है।

अथ गण्ड —

(२१) गण्ड प्रस्तुतसम्बन्धि भिन्नार्थ सहसोदितम ॥१८॥

यथोत्तरचरिते—'राम —

इय गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिनयनयो—
रसावस्या स्पर्शो वपुषि बहलश्चन्दनरस ।
अय बाहु कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसर
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरह ॥२०४॥

(प्रविश्य) प्रतिहारी—देव उअत्थिदो। (देव उपस्थित ।) राम —अयि क ? । प्रतिहारी—देवस्स आसण्णपरिचारओ दुम्मुहो । (देवस्यासन्नपरिचारको दुर्मुख ।)।

अथावस्यन्दितम्—

(२२) रसोक्तस्यान्यथा व्याख्या यत्रावस्यन्दित हि तत ।

---

८ गण्ड—

जब भिन्न अर्थ वाला होने पर भी प्रस्तुत से सम्बन्ध हो सकने वाला वाक्य अकस्मात कह दिया जाता है तो वहा गण्ड (नामक वीथ्यङ्ग) होता है ॥१८॥

जसे उत्तररामचरित (१ ३८) मे 'राम—(सीता को देखकर)—यह घर मे लक्ष्मी है यह मेरे नेत्रों के लिये अमृत की शलाका है इसका यह स्पर्श शरीर मे घना चन्दन रस है, इसकी यह भुजा गले मे शीतल और कोमल मोतियो की माला है। इसकी क्या वस्तु प्रिय नहीं है ? यदि कुछ असह्य है तो इसका वियोग ही। (प्रविष्ट होकर) प्रतिहारी—देव, उपस्थित है। राम—अरे, कौन ? प्रतिहारी आपका निकटवर्ती सेवक दुर्मुख ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (अ० १८, पृ ४५८) भा० प्र० (पृ० २३२), ना० द० (२ १४४) प्रता० (पृ० ८६) सा० द० (६ २६०)। (२) यहा प्रतिहारी का वचन अन्यार्थक है, अर्थात् वह दुर्मुख के आगमन की सूचना देने वाला है। किन्तु उसका राम के प्रस्तुत वचन से भी सम्बन्ध हो जाता है। राम ने जो कहा है यदि परमसह्यस्तु विरह' इस कथन का 'उपस्थित (विरह उपस्थित) से सम्बन्ध जुड जाता है। अत यहाँ गण्ड नामक वीथ्यङ्ग है।

९ अवस्यन्दित—

जहा सहज स्वभाव (रस) से कहे गये वाक्य की दूसरे प्रकार से व्याख्या कर दी जाती है, वह अवस्यन्दित (नामक वीथ्यङ्ग) है।

यथा छलितरामे— सीता—जाद कल्ल क्खु तुम्हेहिं अजुज्झाए गन्तव्वं तहिं सो राआ विणएण णमिदव्वो। (जात, कल्य खलु युवाभ्यामयोध्याया गन्तव्य तहिं स राजा विनयेन नमित य । लव —अम्ब किमावाभ्या राजोपजाविभ्या भ ित ्यम् ? सीता—जाद, सो क्खु तुह्माण पिदा। (जात स खल युवयो पिता।) लव किमावयो रघुपति पिता ? । सीता—(साशङ्कम्) जाद ण क्खु पर तुह्माण सअलाए ज्जे व पुहवीए।' (जात, न खलु प० युवयो सकलाया एव पृथिव्या ।) इति ।

अथ नालिका—

(२३) सोपहासा निगूढार्था नालिकव प्रहेलिका ॥१६॥

यथा मुद्राराक्षसे— चर —हहो बह्मण मा कुप्प किं पि त॰ उअज्झाओ जाणादि किं पि अह्मारिसा जणा जाणन्ति। (हहो ब्राह्मण मा कुप्य ि मपि तवो पाध्यायो जानाति किमप्यस्मादृशा जना जानन्ति।) शिष्य —किमस्मदुपाध्यायस्य सवज्ञत्वमपहत मिच्छसि ? चर —यदि दे उवज्झाओ स॰व जाणादि ता जाणादु

जसे छलितराम नाटक मे सीता—पुत्र कल सवेरे (कल्य) तुम दोनो को अयोध्या जाना है वहा उस राजा को नम्रता से प्रणाम करना। लव—माता क्या हमको राजा के आश्रित होना पडेगा। सीता—पुत्र वह तो तुम्हारे पिता हैं। लव—क्या रघुपति (राम) हमारे पिता हैं ? सीता (आशकापूवक)—पुत्र केवल तुम्हारे ही नहीं समस्त पृथिवी के ही ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८ ११७) भा० प्र० (पृ० २३२) ना० द० (२ १५३) प्रता० पृ० ८६) सा० द० (६ २६१) ना० शा० तथा ना० द० मे इसका नाम अवस्पन्दित है । (२) रसोक्तस्य के स्थान पर भा० प्र० मे यथोक्तस्य ना० द० मे स्वेच्छोक्तस्य' तथा सा० द० मे 'स्वरसोक्तस्य' श॰द दिया गया है। अत यहाँ 'रसोक्त' का अथ है—बिना कि ी अभिप्राय के सहज स्वभाव से सस्कारवश या भाववश कहा गया। रस=Sent'ment (Haas)। (३) सीता ने सहज स्वभाव से ही 'राम तुम्हारे पिता हैं—यह कह दिया। फिर उसकी दूसरे प्रकार से ॰याख्या की।

१० नालिका—

उपहास से युक्त गूढ अथ वाली पहेली ही नालिका कहलाती है ॥१६॥

जसे मुद्राराक्षस (१ १८-१६) मे 'चर—हे ब्राह्मण क्रोध न करो। कुछ तुम्हारे उपाध्याय जानते हैं कुछ हम जसे लोग भी जानते हैं। शिष्य—क्या हमारे उपाध्याय की सवज्ञता को छीनना चाहता है। चर—यदि तुम्हारे उपाध्याय सब कुछ जानते हैं तो जान लें कि च॰द्रमा किसे अच्छा नहीं लगता। शिष्य—इसके जानने से क्या लाभ ?—इस स॰दभ मे चाणक्य (समझ लेता है)—च॰द्रगुप्त से अप्रसन्न लोगों को जानता हू।' (चर के द्वारा) यह कहा गया है।

दाव कस्स चन्दो अणभिप्पेदो त्ति। (यदि ते उपाध्याय सर्व जानाति तज्जानातु तावत् कस्य चन्द्रोऽनभिप्रेत इति।') शिष्य—किमनेन ज्ञातेन भवति ? इत्युपक्रमे चाणक्य—चन्द्रगुप्तादपरक्तान्पुरुषाञ्जानामि। इत्युक्त भवति।

अथाऽसत्प्रलाप—

(२४) असम्बद्धकथाप्रायोऽसत्प्रलापो *यथोत्तर।

ननु चासम्बद्धार्थत्वेऽसङ्गतिर्नाम वाक्यदोष उक्त। तन्न—उत्स्वप्नायितमदोन्मादशैशवादीनामसम्बद्धप्रलापितव विभाव। यथा—

अर्चिष्मन्ति विदार्य वक्त्रकुहराण्यासृक्कतो वासुके-
रङ्गुल्या विषकर्बुरान्गणयत संस्पृश्य दन्ताङ्कुरान्।
एक त्रीणि नवाष्ट सप्त षडिति प्रध्वस्तसंख्याक्रमा
वाच क्रौञ्चरिपो शिशुत्वविकला श्रेयांसि पुष्णन्तु व ॥२०५॥

यथा च—

हंस प्रयच्छ मे कान्ता गतिस्तस्यास्त्वया हृता।
विभावितैकदेशेन देय यदभियुज्यते ॥२०६॥

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८ ११८) भा० प्र० (पृ० १३२), ना० द० (२ १५०) प्रता० (पृ० ८६), सा० द० (६ २६१)। (२) प्रहेलिका=पहेली (Enigmatical remark—Haas)। 'संवरणकायुत्तर प्रहेलिका (सा० द०)। प्रहेलिका परवितारणकारि गदुत्तरम् (अभि० भा०) अर्थात् जिसका उत्तर दूसरो को असमञ्जस मे डाल देता है वह पहेली है। यहाँ चन्द्र का गूढ अर्थ चन्द्रगुप्त है।

११ असत्प्रलाप—

एक के बाद दूसरी (यथोत्तर) असम्बद्ध बात से युक्त वर्णन असत्प्रलाप कहलाता है।

यदि कोई शङ्का करे (ननु) कि असम्बद्ध अर्थ वाली बात होने पर तो असङ्गति नामक वाक्य दोष बतलाया गया है। तो वह शका) ठीक नहीं क्योंकि स्वप्न देखना, मद, उन्माद और शैशव आदि का तो असम्बद्धप्रलाप ही विभाव होता है, अर्थात् ये असम्बद्ध प्रलाप द्वारा जाने जाते है। जसे (शशव के कारण होने वाला कार्तिकेय का असम्बद्ध प्रलाप) वासुकि के प्रकाशमय मुख छिद्रो को ओष्ठ के कोनों पर से (आसृक्कत सृक्क=ओष्ठप्रान्त) फाडकर विष के कारण रग बिरगे दातो के अङ्कुरों को अङ्गुलि से छूकर एक तीन, नौ आठ, सात छह इस प्रकार गिनते हुए क्रौञ्च के शत्रु कार्तिकेय की सख्या के क्रम से रहित तथा तथा शिशुता के कारण टूटी फूटी बातें तुम्हारे कल्याण की वृद्धि करें।

और, जसे (विक्रमोर्वशी ४ ३३ मे उर्वशी के विरह मे उन्मत्त पुरुरवा का प्रलाप है)—'हे हंस मेरी प्रिया को लौटा दो, उसकी चाल तुमने चुरा ली है। और जिसके पास (चोरी के माल का) एक भाग पहचान लिया जाता है उसे वह सब देना होता है जिसका दावा (अभियोग) किया जाता है। अर्थात् जसे (यह

---

१ 'यथोत्तरम्' इत्यपि पाठ।

यथा वा—

'भुक्ता हि मया गिरय स्नातोऽहं वह्निना पिबामि वियत्।
हरिहरहिरण्यगर्भा मत्पुत्रास्तेन नृत्यामि ॥२०७॥

अथ व्याहार —

(२५) अन्यार्थमेव व्याहारो हास्यलोभकरं वचः ॥२०॥

यथा मालविकाग्निमित्रे लास्यप्रयोगावसाने—(मालविका निर्गन्तुमिच्छति) विदूषक —मा दाव उवएससुद्धा गमिस्ससि।' (मा तावद् उपदेशशुद्धा गमिष्यसि') इत्युपक्रमे गणदासः—(विदूषकं प्रति) आर्य उच्यतां यस्त्वया क्रमभेदो लक्षितः। विदूषक —पढमं पच्चूसे बह्मणस्स पूआ भोदि सा तए लङ्घिदा (मालविका स्मयते)। (प्रथमं प्रत्यूषे ब्राह्मणस्य पूजा भवति। सा तया लङ्घिता।) इत्यादिना नायकस्य विश्रब्धनायिकादर्शनप्रयुक्तेन हास्यलोभकारिणा वचनेन व्याहारः।

उन्मादपूर्ण कथन है —'मैंने पर्वत खा लिये मैंने आग से स्नान किया मैं आकाश को पीता हूँ, विष्णु शिव और ब्रह्मा मेरे पुत्र हैं। इसलिये मैं नाच रहा हूँ।'

टिप्पणी——(१) ना० द० (१८ ११६) भा० प्र० (पृ० २३२) ना० द० (२ १४८) प्रता० (पृ० ८६) सा० द० (६ २६)। (२) दश० का यह लक्षण ना० शा० के आधार पर नही है। इसका आधार क्या है ? यह चिन्तनीय है। भा० प्र० ना० द० तथा सा० द० मे असत्यप्रलाप के कई प्रकार बतलाये गये हैं उनमे यह भी एक प्रकार है। सा० द० के असत्प्रलाप के लक्षण मे प्राय सभी पूर्वाचार्यों के लक्षणो का सग्रह हो जाता है। तदनुसार असत्प्रलाप तीन प्रकार का है—(i असम्बद्ध वाक्य (मि० दश० तथा प्रता०) (ii) असम्बद्ध उत्तर और (iii) न समझने वाले मूर्ख के प्रति हितकारी वचन कहना (मि०, ना० शा० ना० द० तथा भा० प्र०)।

१२ व्याहार—

हास्य के लोभ को उत्पन्न करने वाला ऐसा वाक्य जिसका प्रयोजन कुछ और ही होता है, व्याहार (नामक वीथ्यङ्ग) है ॥२०॥

जैसे मालविकाग्निमित्र (२ ५—१०) मे लास्य प्रयोग की समाप्ति पर (मालविका जाना चाहती है) विदूषक—अभी नहीं शिक्षा मे शुद्ध होकर जाओगी' इस सन्दर्भ में 'गणदास (विदूषक के प्रति)—आर्य कहिये जो आपने क्रम भेद देखा है। विदूषक—पहिले तो प्रात काल ब्राह्मण की पूजा होती है उसका इसने उल्लङ्घन कर दिया (मालविका मुसकराती है)।

इत्यादि वचन नायक को आश्वस्त (विश्रब्ध) नायिका का दर्शन कराने के लिये प्रयुक्त हुआ है (अन्यार्थ है) किन्तु हास्य के लोभ को उत्पन्न करता है अत यहाँ व्याहार (नामक वीथ्यङ्ग) है।

अथ मदवम्—

(२६) दोषा गुणा गुणा दोषा यत्र स्युम दव हि तत्त।

यथा शाकु तले—

मेदश्छेन्कृशोदर लघु भवत्युत्थानयोग्य वपु
सत्त्वानामुपलक्ष्यते विकृतिमच्चित्त भयक्रोधयो ।
उत्कष स च धन्विना यदिषव सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्यव व्यसन वदन्ति मृगयामीदृग्वि नोद कुत ॥२०८॥

इति मृगयादोषस्य गुणीकार ।

यथा च—

सततमनिवृ तमानसमायाससहस्रसङ्कु लक्लिष्टम् ।
गतनिद्रमविश्वास जीवति राजा जिगीषुरयम् ॥२०९॥

इति राज्यगुणस्य दोषीभाव ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (अ० १८ पृ० ४५८) भा० प्र० (पृ० २३२) ना० द० (२ १४२), (प्रता० (पृ० ८६) सा० द० (६ २६३) । (२) दश० का यह लक्षण ना० शा० से भिन्न है। ना० द० मे ना० शा० तथा दश० दोनो के आधार पर दो प्रकार का व्यवहार बतलाया गया है भा० प्र० प्रता० तथा सा०द० मे दश० का अनुसरण किया गया है। (३) अभि० भा० के अनुसार व्याहार शब्द की व्युत्पत्ति है— विविधोऽर्थोऽभिनीयते येन । ना० द० के अनुसार विविधोऽर्थं आह्रियतेऽनया (वाण्या) इति व्याहार'।

१३ मृदव—

जहा दोष, गुण और गुण, दोष हो जाते हैं वह (कथन) मदव (नामक वीथ्यङ्ग) है।

जसे शाकुन्तल (२ ५) मे (सेनापति मृगया के विषय मे कहता है)— लोग मृगया (आखेट) को व्यथ ही व्यसन (बुरी आदत) बतलाते हैं। भला ऐसा विनोद कहाँ है ? इससे शरीर, चरबी (मेद) के छट जाने से कृश उदर वाला, हल्का और परिश्रम के योग्य हो जाता है, भय और क्रोध के समय भि न भिन्न विकारो से युक्त जगली जन्तुओ का चित्त भी दिखलाई दे जाता है। और यह तो धनुर्धारियो का उत्कर्ष है कि उनके बाण चञ्चल लक्ष्य पर भी सफल हो जाते है'।

यहाँ मृगया के दोषो को गुण बना दिया गया है।

और, जसे—'यह विजय की इच्छा वाला राजा ऐसा जीवन व्यतीत करता है कि जिसमें मन निरन्तर अशान्त (अनिवृत) रहता है सहस्रो कठिनाइयो (आयास) से भरे रहने के कारण क्लेश रहता है, निद्रा नहीं आती तथा किसी का विश्वास नहीं होता'।

उभय वा—

'ध त सच्चरितोदयव्यसनिन प्रादुभवद्य त्रणा
सवत्रव जनापवादचकिता जीवन्ति दु ख सदा।
अव्युत्पन्नमति कृतेन न सता नवासता याकुलो
युक्तायुक्तविवेकशून्यहृदयो धन्यो जन प्राकृत ॥२१०॥

इवि प्रस्तावनाङ्गानि।

(२७) एषाम-यतमेनाथ पात्र वाक्षिप्य सूत्रभत ॥२१॥
प्रस्तावना ते निगच्छेत्ततो वस्तु प्रपञ्चयेत्।

तत्र—

(२८) अभिगम्यगुणैर्यक्तो धीरोदात्त प्रतापवान ॥२२॥
कीर्तिकामो महोत्साहस्त्रय्यास्त्राता महीपति।
प्रख्यातवशो राजर्षिर्दिव्यो वा यत्र नायक ॥२३॥
तत्प्रख्यात विधातव्य वत्तमत्राधिकारिकम।

इस प्रकार राज्य के गुणों को दोष रूप में बतलाया गया है। अथवा दोनो (अर्थात् एक साथ ही गुणों को दोष के रूप में तथा दोषो को गुण के रूप में कहा जाता है), जसे—'जिन्हें सच्चरित के उदय का व्यसन होता है और इसीलिए कष्ट उत्पन्न होते रहते हैं वे सत्पुरुष सवत्र ही लोक निन्दा से आशकित रहते हैं और सदा दुःखपूवक जीवन व्यतीत करते हैं। किन्तु जिसकी बुद्धि कुछ नहीं समझती (अव्युत्पन्नमति =मूख) जो न तो अच्छे कम से न ही बुरे कम से व्याकुल होता है और जिसका हृदय भले बुरे के ज्ञान से शून्य है, वह साधारण (प्राकृत) जन धन्य है।

(यहा सज्जनता रूप गुण को दोष बना दिया गया है और मूखता रूप दोष को गुण बना दिया गया है)

टिप्पणी—ना० शा० (अ० १८ पृ० ४५७) भा० प्र० (पृ० २३३), ना० द० (२ १५०) प्रता० (पृ०८६), सा० द० (६ २६३)।

ये (१६) प्रस्तावना के अङ्ग हैं।

इनमे से किसी एक के द्वारा वस्तु या पात्र को सूचित करके सूत्रधार प्रस्तावना के अन्त मे चला जावे और तब (नाटय) कथावस्तु (के अभिनय) की व्यवस्था करे ॥२१-२२॥

टिप्पणी—भा० प्र० (पृ० २३३)।

उस (नाटक) में—

जिस (इतिवत्त) मे उत्कृष्ट (अभिगम्य=रमणीय, सेवन करने योग्य) गुणो से यक्त, धीरोदात्त, प्रतापशाली कीर्ति का इच्छुक, अत्यन्त उत्साही, तीनो वेदो का रक्षक, पृथिवी का पालक प्रसिद्ध वश वाला कोई राजर्षि अथवा दिव्य जन नायक हो, ऐसे इतिहास प्रसिद्ध (प्रख्यात) इतिवत्त को आधिकारिक कथावस्तु बनाना चाहिये ॥२२-२३-२४॥

यत्रेतिवृत्ते सत्यवागसवादकारिनीतिशास्त्रप्रसिद्धाभिगामिकादिगुणयुक्तो रामायणमहाभारतादिप्रसिद्धो धीरोदात्तो राजर्षिदिव्यो वा नायकस्तत्प्रख्यातमेवात्र नाटक अधिकारिक वस्तु विधेयमिति ।

(२६) यत्तत्रानुचित किञ्चिन्नायकस्य रसस्य वा ॥२४॥
विरुद्ध तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत ।

अर्थात जिस इतिवृत्त में सत्यवादिता प्रवञ्चना न करना (?) तथा नीति शास्त्र में प्रसिद्ध सेवनीय (आभिगामिक) आदि गुणो से युक्त रामायण महाभारत आदि में प्रसिद्ध धीरोदात्त राजर्षि अथवा दिव्य जन नायक होता है, ऐसे इतिहास प्रसिद्ध (प्रख्यात) इतिवत्त को ही इस नाटक में आधिकारिक (प्रधान) कथावस्तु बनाना चाहिये ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८ १०) भा० प्र० (पृ० २३३), ना० द० (१ ४) प्रता० (३ ३५—३६) सा० द० (६ ७,६) । (२) उदात्त नायक का लक्षण (ऊपर २ ४–५) । (३) प्रख्यात वृत्त का अभिप्राय है कि जो वृत्त रामायण आदि मे प्रसिद्ध हो (सा० द०) । (४) यहाँ नाटक का दो प्रकार का नायक बतलाया गया है—राजर्षि तथा दिव्य । राजर्षि (राज+ऋषि) का अर्थ है ऐसा क्षत्रिय जो अपने पवित्रता आदि गुणो से ऋषि–तुल्य हो गया हो । सा० द० में नाटक के तीन प्रकार के नायको का निर्देश किया गया है—(1) राजर्षि जसे शाकुंतल का नायक दुष्यत आदि (11) दिव्य जसे श्रीकृष्ण इत्यादि दिव्य पुरुष, इन दोनो के इतिवृत्त महाभारत मे हैं अत ये प्रख्यात हैं । और (11) दिव्यादिव्य अर्थात् जो दिव्य पुरुष होते हुए भी मानव के समान व्यवहार करत हैं, जसे उत्तररामचरित आदि मे राम हैं, उनका इतिवृत्त रामायण–प्रसिद्ध है । इसके विपरीत नाट्य दपणकार ने नाटक मे (दिव्य) देव नायक को स्वीकार नही किया । उनका मत है कि नाटक तो 'राम के समान आचरण करना चाहिये, रावण के समान नहीं इस प्रकार का सरस उपदेश देने के लिये होता है । और, देवता तो अत्यन्त कठिन काय को भी इच्छा मात्र से कर लेते हैं । इसलिये उनके चरित का अनुसरण करना मनुष्यों के लिये असम्भव है और वह उपदेशप्रद नही हो सकता । (५) अभिगम्यगुणै =अभिरम्यगण उत्कृष्ट गुणरू इति यावत् (प्रभा) Attractive qualities (Haas) । 'असवादकारि' के स्थान पर 'अविसवादकारि (प्रवञ्चना न करने वाला) पाठ शुद्ध प्रतीत होता है ।

उस (प्रख्यात) इतिवृत्त मे जो कुछ नायक के लिये अनुचित हो या रस के विरुद्ध हो, उसे छोड देना चाहिये अथवा उसकी अन्य रूप में कल्पना कर लेनी चाहिये ॥२४॥

यथा छद्मना बालिवधो मायुराजेनोदात्तराघवे परित्यक्त । वीरचरित तु रावणसौहृदेन वाली रामवधार्थमागतो रामेण हत इत्यन्यथा कृत ।

(३०) आद्यन्तमेव निश्चित्य पञ्चधा तद्विभज्य च ॥२५॥
खण्डश सधिसज्ञाश्च विभागानपि खण्डयेत् ।
चतु षष्टिस्तु तानि स्युरङ्गानीति—

अनौचित्यरसविरोधपरिहारपरिशुद्धीकृतसूचनीयदर्शनीयवस्तुविभागफलानुसारेणोपक्लृप्तबीजबिन्दुपताकाप्रकरीकार्यलक्षणार्थप्रकृतिक पञ्चावस्थानुगुण्येन पञ्चधा विभजेत् । पुनरपि चैककस्य भागस्य द्वादश त्रयोदश चतुर्दशेत्येवमङ्गसज्ञान् सन्धीनां विभागान् कुर्यात् ।

जैसे मायुराज ने उदात्तराघव नामक नाटक मे (राम के) छल से बालि वध (की घटना) को छोड दिया है । महावीरचरित मे (भवभूति ने) तो इस प्रकार परिवर्तित कर दिया है कि रावण की मित्रता के कारण बाली राम का वध करने के लिये आया था तब राम ने उसे मार दिया ।

टिप्पणी—(१) भा० प्र० (पृ० २३३–२३४) ना० द० (१ १५) सा० द० (६ ५०) । (२) । भा० प्र० मे भी दश० की कारिका दी गई है । सा० द० मे तनिक सा परिवर्तन करके दश० की कारिका तथा धनिक की टीका को ले लिया गया है । किन्तु नाट्यदर्पण मे इस भाव को अधिक विस्तृत किया गया है, तदनुसार—

अयुक्त च विरुद्ध च नायकस्य रसस्य वा ।
वृत्त यत्तत् परित्याज्य प्रकल्प्यमथवाऽन्यथा ॥

अर्थात् जो बात नायक के अथवा रस के लिये अनुचित और विपरीत हो उसका परित्याग कर देना चाहिये अथवा उसकी अन्य प्रकार से कल्पना कर लेनी चाहिये । यहा अनुचित और विरुद्ध दोनो का नायक और रस दोनो के साथ सम्बन्ध है । उदाहरणार्थ धीरललित नायक के लिये परस्त्री समागम अनुचित है तथा धीरोद्धतता का धीरललितता से विरोध है । इसी प्रकार शृङ्गार मे आलिङ्गन चुम्बन आदि का प्रत्यक्ष दिखलाना अनुचित है और शृङ्गार का बीभत्स से विरोध है (ना० द० वृत्ति) । विचारणीय यह है कि क्या दश० की कारिका का तात्पर्य भी ना० द० के समान ही तो नही है ।

(नाटककार) इस प्रकार (इतिवृत्त के) आदि और अन्त का निश्चय करके और उसको (सधि नामक) पाच भागो में विभक्त करके उन सधि नामक भागो को भी खण्डो (सन्ध्यङ्गो) मे विभक्त करे । इस प्रकार ये (आधिकारिक इतिवृत्त के) ६४ अङ्ग होते हैं ॥२५–२६॥

(भाव यह है कि) जब (नायक के) अनौचित्य और रस विरोध के परिहार से वस्तु शुद्ध हो जाये और उसमे सूच्य एव दृश्य का विभाग कर लिया जाये तब नाटककार उसमे फल के अनुसार बीज बिन्दु पताका प्रकरी और कार्य नामक

(३१) अपर तथा ॥२६॥
पताकावृत्तमप्यूनमेकाद्यैरनुसन्धिभिः ।
अङ्गान्यत्र यथालाभमसन्धिं प्रकरीं न्यसेत् ॥२७॥

अपरमपि प्रासङ्गिकमितिवृत्तमेकाद्यैरनुसन्धिभिर्न्यूनमिति प्रधानेतिवृत्तादेक द्वित्रिचतुर्भिरनुसन्धिभिर्न्यून पताकेतिवृत्त न्यसनीयम्। अङ्गानि च प्रधानाविरोधेन यथालाभ न्यसनीयानि। प्रकरीतिवृत्त त्वपरिपूर्णसन्धि विधेयम्।

तत्रैव विभक्ते—

(३२) आदौ विष्कम्भक कुर्यादङ्क वा कार्ययुक्तितः।

पाच अर्थप्रकृतियो की कल्पना करे। फिर इस प्रकार की कथावस्तु को पाच कार्यावस्थाओ (आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम) के अनुकूल पाच भागो (=मुख आदि पाँच सन्धियो) मे विभक्त करे। और फिर भी एक एक भाग के (प्रथम प्रकाश मे बतलाये गये) बारह तेरह या चौदह इत्यादि सभी सन्धियो के अङ्ग (सन्ध्यङ्ग) नाम के विभाग करना चाहिये।

टिप्पणी—ना० शा० (१९ १३९) भा० प्र० (पृ० २३४)।

इसी प्रकार दूसरा जो पताका वृत्त है उसमे भी एक दो आदि अनुसन्धियो की न्यूनता रखनी चाहिये तथा इस (पताका वृत्त) मे यथा प्राप्त सन्ध्यङ्ग (=अङ्ग) रखने चाहिये। किन्तु प्रकरी (नामक प्रासङ्गिक इतिवृत्त) को तो सन्धि-रहित ही रखना चाहिये ॥ २६-२७ ॥

दूसरा (अपरम्=आधिकारिक इतिवृत्त से भिन्न) जो पताका नामक प्रासङ्गिक इतिवृत्त है, वह एक आदि अनुसन्धि से न्यून होना है अर्थात् (जिसमे पाँचो सन्धिया होती हैं उस) प्रधानवृत्त की अपेक्षा पताका नामक इतिवृत्त मे एक दो, तीन या चार अनुसन्धियाँ कम रखनी चाहियें। और, उसमे वे ही अङ्ग रखने चाहियें जो प्राप्त हो (बन सकें) तथा जिनका प्रधान इतिवृत्त से विरोध न हो। प्रकरी नामक जो प्रासङ्गिक इतिवृत्त है वह तो सन्धि से रहित (अपरिपूर्ण) ही रखना चाहिये।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१९ २८) भा० प्र० (पृ० २३४)। (२) अनुसन्धि—आधिकारिक वृत्त के समान पताका नामक प्रासङ्गिक वृत्त का भी सन्धियो मे विभाजन किया जाता है। किन्तु पताकावृत्त की सन्धियाँ आधिकारिक वृत्त का अनुसरण करती हैं अत वे अनुसन्धि कही जाती हैं जसा कि ना० शा० (१९ २८) मे कहा गया है—

एकोऽनेकोऽपि वा सन्धि पताकाया तु यो भवेत्।
प्रधानार्थानुयायित्वादनुसन्धि प्रकीर्त्यते ॥

तब इस प्रकार इतिवृत्त का विभाग कर लेने पर—

आरम्भ मे (नाटककार) कार्य के औचित्य के अनुसार (कार्ययुक्तित) विष्कम्भक अथवा अङ्क की रचना करे।

इयमत्र काययुक्ति —

(३३) अपेक्षित परित्यज्य नीरस वस्तुविस्तरम् ॥२८॥
यदा स दशयच्छेष कुर्याद्विष्कम्भक तदा ।

(३४) यदा तु सरस वस्तु मूलादेव प्रवतते ॥२९॥
आदादेव तदाङ्क स्यादामुखाक्षपसश्रय ।

स च—

(३५) प्रत्यक्षनेतृचरितो बि दुव्याप्तिपुरस्कृत ॥३०॥
अङ्को नानाप्रकाराथ सविधानरसाश्रय ।

इस विषय मे काययुक्ति यह है—

जब (नाटककार) नीरस किन्तु (कथा वस्तु के विकास के लिये) आवश्यक वस्तु विस्तार को छोडकर शष भाग को (रङ्गमञ्च पर) दिखलाना चाहे, तब वह (उस नीरस वस्तु की सूचना देने के लिये) विष्कम्भक की रचना करे ॥ २८–२९ ॥

टिप्पणी—(१) भा० प्र० (पृ० २३४), सा० द० (६६१) । (२) विष्कम्भक पाच अर्थोपक्षपको में से एक है (ऊपर १ ५८) । जब कथा के आरम्भ मे ही कोई वस्तु नीरस होती है किन्तु कथा-सूत्र जोडने के लिये अपेक्षित होती है तब उसकी सूचना देने के लिये नाटक के आरम्भ मे विष्कम्भक रखना आवश्यक हो ज ता है । यह विष्कम्भक आमुख के पश्चात् हुआ करता है । जसे रत्नावली मे यौगन्धरायण द्वारा प्रयुक्त विष्कम्भक है ।

किन्तु जब आरम्भ से ही कथावस्तु सरस होती है तब तो (नाटक के) आदि मे ही अङ्क रख दिया जाता है और उस अङ्क का आधार आमुख (प्रस्तावना) मे सूचित पात्र प्रवश हुआ करता है ॥ २९–३० ॥

टिप्पणी—(१) भा० प्र० (पृ० २३४), सा० द० (६६२–६३) । (२) शाकुन्तल मे आमुख के पश्चात् अङ्क की ही योजना की गई है वहाँ आरम्भ में विष्कम्भक नही रक्खा गया । (३) आमुखेन पात्राक्षप सश्रयो यस्य स आमुखाक्षेप सश्रय इत्यङ्कविशेषणम् (प्रभा) ।

और, वह—

जिसमे नायक का चरित प्रत्यक्ष रूप से प्रस्तुत किया जाता है जो बिन्दु की व्याप्ति से युक्त होता है और अनेक प्रकार के प्रयोजन (अथ), सविधान तथा रसो का आश्रय होता है, वह अङ्क है ॥ ३०–३५ ॥

रङ्गप्रवेशे साक्षान्निर्दिश्यमाननायकव्यापारो बिन्दूपक्षेपार्थपरिमितोऽनकप्रयोजनसविधानरसाधिकरण उत्सङ्ग इवाङ्क ।

जहा रङ्गमञ्च पर नायक का प्रवेश होने पर साक्षात् रूप से नायक के व्यापार (कार्यों) का निर्देश किया जाता है जो बिन्दु के उपक्षेप रूप अर्थ से परिछिन्न होता है (टि०) तथा अनेक प्रकार के प्रयोजन सविधान एव रसो का उत्सङ्ग (गोद) के समान आधार होता है वह अङ्क है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८ १३–१८), भा० प्र० (पृ० २३५) ना० द० (१ १६) प्रता० (३ २६), सा० द० (६ १२–१४) । (२) प्रत्यक्षनेतृचरित—प्रत्यक्ष रङ्गप्रवेशेन साक्षान् निर्दिश्यमान नेतृचरित नायकव्यापारो यत्र भाव यह है कि अङ्क मे रङ्गमञ्च पर नायक का प्रवेश कराके उसके कार्यों का साक्षात् रूप से (दृश्य रूप मे) चित्रण किया जाता है । नायक व्यापार का अभिप्राय यह है कि नायक जो फल प्राप्ति के लिये उपाय करता है (चरित) तथा उसे जो फल (उपभोग) प्राप्त होता है, उन दोनो का ही साक्षात् रूप से निर्देश करना चाहिये तभी सामाजिक को नाटक आदि से उपदेश प्राप्त हो सकता है (मि० प्रत्यक्षचरित सम्भोग, ना० शा० १८ १७ तथा दृश्यार्थ ना० द० १ १६) । (३) बिन्दुव्याप्ति पुरस्कृत—बिन्दु याप्ति पुरस्कृता यत्र (=बिन्दूपक्षेपार्थपरिमित—बिन्दो उपक्षेप रूपेण अर्थेन परिमित) भाव यह है कि अङ्क मे बिन्दु के व्याप्ति रूप व्यापार का ध्यान रक्खा जाता है । जहाँ कोई एक प्रारम्भ आदि कार्यावस्था समाप्त हो जाती है अथवा कार्यावस्था तो समाप्त नही होती किन्तु ऐसी घटनाए आ जाती हैं कि जिनका एक दिन मे अभिनय करना सम्भव नही होता और अङ्क को समाप्त करना पडता है वहाँ समाप्त होने वाले अङ्क का अग्रिम अङ्क से सम्बन्ध जोडने के लिये पूर्व अङ्क के अन्त मे बिन्दु की योजना करनी होती है । इस बिन्दु के उपक्षेप पर्यन्त ही अङ्क हुआ करता है अत धनिक ने 'बिन्दु—उपक्षेपार्थ—परिमित' कहा है । यहाँ अर्थ=सक्षिप्त वृत्त, कथाश, कथा का स्वल्प भाग, उसी के द्वारा बिन्दु का उपक्षेप हुआ करता है अत उसे बिन्दूक्षेपार्थ कहा गया है । इस कथाश पर ही पूर्व अङ्क समाप्त हो जाता है (द्र० आगे ३ ३७ बिन्दुरन्ते च) और उस उपक्षिप्त बिन्दु का अग्रिम अङ्क मे विस्तार हुआ करता है । (मि० सबिन्दु, ना० द० १ १६) । प्रता० मे बिन्दुव्यक्तिपुरस्कृत' पाठ है । (४) नानाप्रकारार्थसविधान रसाश्रय—अङ्क (i) अनेक प्रकार के अवान्तरप्रयोजनो (अर्थ) (ii) विशेष प्रकार के कथासन्निवेश या वस्तु सघटन (=सविधान) तथा (iii) अङ्ग एवं अङ्गी होने वाले रसो का आश्रय होता है—नानाप्रकारार्थानाम्=अनेकावान्तरप्रयोजनानाम्, सविधानानाम्= कथासन्निवेशविशेषादीनाम् रसानाम्=अङ्गभूतानम् अङ्गिनो वा रसस्य (आश्रय) — प्रता० टीका । अनेकप्रकारप्रयोजनसम्पादनस्य रसस्य चाश्रय (प्रभा) । ना० शा० (१८ १४ तथा आगे) मे भी 'अर्थ एव नानाविधान आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है । किन्तु वहाँ इनके अभिप्राय अस्पष्ट से हैं ।

अङ्क योजना के लिये कुछ आवश्यक बाते आगे दी जा रही हैं —

तत्र च—

(३६) अनुभावविभावाभ्या स्थायिना व्यभिचारिभि ॥३१॥
गृहीतमुक्त कत यमङ्गिन. परिपोषणम ।

अङ्गिन इत्यङ्गिरसस्थ यिन सग्रहात्स्थायिनेति रसा तरस्थायिनो ग्रहणम् । गृहीतमुक्त परस्पर यतिकीर्णैरित्यथ ।

(३७) न चातिरसतो वस्तु दूर विच्छिन्नता नयेत ॥३२॥
रस वा न तिरोदध्याद्वस्त्वलङ्कारलक्षणै ।

कथास ध्यङ्गोपमादिलक्षणभू पणादिभि ।

और उस (अङ्ग) मे—

अनुभाव, विभाव, (अन्य रस के) स्थायी भाव तथा व्यभिचारी भावो का ग्रहण करते हुए छोडत हुए, उनके द्वारा अङ्गी (प्रधान) रस का परिपोषण करना चाहिये ॥३१-३२॥

क्योकि (कारिका मे) अङ्गिन इस पद से अङ्गी रस के (साथ साथ उसके) स्थायीभाव का भी ग्रहण हो जाता है इसलिये स्थायिना इस पद से अन्य (अङ्गी से भिन्न) रस के स्थायी का ग्रहण होता है। गृहितमुक्त का अथ है—एक दूसरे को लांघकर रक्खे गये (?)।

टिप्पणी -(१) भा० प्र० (पृ० २३५)। (२) गृहीतमुक्त —पूव गृहीत पश्चात् मुक्त इति गृहीतमुक्त त अर्थात् किसी अनुभाव आदि का ग्रहण करके उससे प्रधान रस के स्थायी भाव को पुष्ट करे फिर उसको छोड दे। फिर दूसरे अनुभाव आदि का ग्रहण करे। धनिक के परस्पर यतिकीर्ण पद का भी यही भाव प्रतीत होता है वि+अति+कीर्ण —लाघकर या बचाकर रक्खे गये)। कि तु प्रभा टीका के अनुसार परस्पर यतिकीर्ण =परस्पर मिश्रित सापेक्षर्वा। (३) अनुभाव आदि का स्वरूप देखिये आगे (४ २ ३ ७)।

अत्यधिक रस (पोषण) के द्वारा कथावस्तु को अत्यन्त विच्छि न न कर देना चाहिये और न ही वस्तु, अलङ्कार तथा लक्षणो के द्वारा रस को तिरोहित कर देना चाहिये ॥३२-३३॥

कथा स ध्यङ्ग (वस्तु) उपमा आदि अलङ्कार तथा भूषण आदि नाटच लक्षणों के द्वारा रस का तिरोधान न कर देना चाहिए।

टिप्पणी—(१) भा० प्र० (पृ० २३५-२३६) ना० द० (१ १५), सा० द० (६ ६४)। (२) विच्छिन्नता—कथावस्तु के प्रवाह का भङ्ग हो जाना (disconne ction)। वस्त्वलङ्कारलक्षण —ऐसा प्रतीत होता है कि धनिक के अनुसार वस्तु का अथ है—कथा तथा कथावस्तु के विभाग जो स ध्यङ्ग कहलाते हैं। अलङ्कार से उपमा आदि अलङ्कारो का ग्रहण होता है। लक्षण का अभिप्राय है—भूषण, अक्षर

(३८) एको रसोऽङ्गीकर्तव्यो वीर शृङ्गार एव वा ॥३३॥
अङ्गमन्ये रसा सर्वे कुर्यान्निर्वहणेऽद्भुतम् ।

ननु च रसान्तरस्थायिनेत्यनेनैव रसान्तराणामङ्गत्वमुक्तम्, तन्न यत्र रसान्तरस्थायी स्वानुभावविभावव्यभिचारियुक्तो भूयसोपनिबध्यते तत्र रसान्तराणामङ्गत्वम्, केवलस्थाय्युपनिबन्धे तु स्थायिनो व्यभिचारितैव ।

सघात इत्यादि ३६ नाट्य लक्षण (सा० द० १७१–१७५)। भावप्रकाशन के अनुसार आक्रन्द आदि नाट्यालङ्कारो का भी यहा ग्रहण होता है। ( ) कारिका का भाव यह है कि रस और वस्तु दोनो का सन्तुलन ही वाञ्छनीय है। यहाँ अवलोक टीका का पाठ सन्देहास्पद है।

नाटक मे एक रस वीर अथवा शृङ्गार को अङ्गी (प्रधान) रखना चाहिये अन्य सभी रसो को अङ्ग रूप मे, और निर्वहण सन्धि मे अद्भुत रस रखना चाहिये।

(शङ्का) कारिका ३१ मे स्थायिना (=रसान्तरस्थायिना) इस पद के द्वारा ही अन्य रस (प्रधान रस के) अङ्ग होते हैं यह कह दिया गया है (फिर यहा कहने की क्या आवश्यकता है ?) (समाधान) ऐसी शङ्का करना ठीक नहीं (तन्न) क्योकि जहा किसी अन्य रस का स्थायी भाव अपने अनुभाव विभाव और व्यभिचारी भावो के साथ भली भाति (भूयसा) दिखलाया जाता है (उपनिबध्यते) वहा तो अन्य रस (प्रधान रस के) अङ्ग होते हैं (यह बात 'अङ्गमन्ये रसा सर्वे मे कही जा रही है)। किन्तु जहा (अन्य रस के) स्थायी का अनुभाव आदि के बिना (=केवल) ही निरूपण किया जाता है वहा तो वह अन्य रस का स्थायी (प्रधान रस का) व्यभिचारी भाव ही हो जाता है (यह बात का० ३१ मे 'स्थायिना' पद द्वारा कही गई थी)।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८ ४३), भा० प्र० (पृ० २३६), ना० द० (१ १५), प्रता० (३ ३–४), सा० द० (६ १०) (२) ननु'० इत्यादि शङ्का का आशय यह है कि ३१ वी कारिका मे 'स्थायिना शब्द के द्वारा यह कहा गया है कि प्रधान (अङ्गी) रस का अन्य रसो के स्थायी भावो द्वारा पोषण करना चाहिये। इस कथन से स्पष्ट है कि अन्य रस प्रधान रस के अङ्ग होते है फिर यही बात 'अङ्गमन्ये० इत्यादि द्वारा कहना पुनरुक्ति मात्र ही है। 'तन्न०' इत्यादि समाधान का अभिप्राय यह है—३१ वी कारिका मे तो (अन्य रसो के) केवल स्थायी भावो को प्रधान रस का पोषक (अङ्ग) कहा गया है। केवल स्थायी भाव का अभिप्राय है—अनुभाव आदि से रहित स्थायी भाव। वह वस्तुत प्रधान रस का व्यभिचारी भाव ही हो जाता है। वह पहले किसी रस का स्थायी भाव था इसीलिये उसे स्थायी कह दिया जाता है। इसके विपरीत 'अङ्गमन्ये०' इत्यादि मे अन्य रसो को प्रधान रस का अङ्ग बतलाया जा रहा है। जब कोई स्थायी भाव अनुभाव आदि से पुष्ट होता

(३९) दूराध्वान वध युद्ध राज्यदेशादिविप्लवम् ॥३४॥
सरोध भोजन स्नान सुरत चानुलेपनम ।
*अम्बरग्रहणादीनि प्रत्यक्षाणि न निर्दिशेत ॥३५॥

अङ्के नैवोपनिबध्नीत प्रवेशकादिभिरेव सूचयेदित्यथ ।

(४०) नाधिकारिवध क्वापि त्याज्यमावश्यक न च ।

अधिकृतनायकवध प्रवेशकादिनापि न सूचयेत, आवश्यक तु देवापितृकार्याद्य वश्यमेव क्वचित्कुर्यात् ।

(४१) एकाहाचरितकाथमित्थमासन्ननायकम ॥३६॥
पात्र स्त्रिचतुररङक तेषाम तेऽस्य निगम ।

है तभी वह रस कहलाता है और अनुभाव आदि से युक्त अन्य रसो के स्थायी भाव जब प्रधान रस का पोषण करते है तब अन्य रस प्रधान रस के अङ्ग कहे जाते है। इस प्रकार पुनरुक्ति नही हैं।

अङ्को मे अदर्शनीय वस्तु—

दूर की यात्रा वध, युद्ध राज्य विप्लव और देश विप्लव आदि घेरा डालना (=सरोध), भोजन स्नान, रतिक्रीडा अनुलेपन, वस्त्र-ग्रहण इत्यादि को प्रत्यक्ष रूप से नही दिखलाना चाहिय ॥३४-३५॥

अर्थात् अङ्को के द्वारा इन्हे नहीं दिखलाना चाहिये प्रवेशक आदि के द्वारा ही सूचित कर देना चाहिये।

अधिकारी नायक के वध का कही भी निर्देश न करना चाहिय और आवश्यक वस्त का त्याग न करना चाहिय।

भाव यह है कि आधिकारिक वस्त के नायक का वध प्रवेशक आदि के द्वारा भी न सूचित करना चाहिये। किन्तु देव पितृ काय आदि जो आवश्यक वस्तु हैं उनका अवश्य ही कहीं न कहीं निर्देश करना चाहिये।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८ ३८), भा० प्र० (पृ० २३६), ना० द० (१ २१-२२) सा० द० (६-१६-१८)। (२) अधिकारिवधम्—आधिकारिक इतिवृत्त के नायक का वध प्रधान नायक का वध।क्वापि—कही भी, न तो अङ्क मे न प्रवेशक आदि मे।

अङ्को मे वर्णनीय वस्तु एव पात्र—

इस प्रकार (नाटककार को) ऐसा अङ्क रखना चाहिये जो एक प्रयोजन के लिये किये गये एक दिन के कार्यो से युक्त हो, जिसमे नायक उपस्थित हो, जो तीन या चार पात्रो से युक्त हो और, उन पात्रो का (अङ्क के) अन्त मे (रङ्गमञ्च से) निकल जाना दिखलाना चाहिये।

---

*अस्त्रस्य इत्यपि पाठ ।

एकदिवसप्रवृत्तकप्रयोजनसम्बद्धमासन्ननायकमबहुपात्रप्रवेशमङ्कं कुर्यात् तेषां पात्राणामवश्यमङ्कस्यान्ते निर्गमं कार्य ।

(४२) पताकास्थानका यत्र बिन्दुरन्ते च बीजवत् ॥३७॥
एवमङ्का प्रकर्तव्या प्रवेशादिपुरस्कृता ।
(४३) पञ्चाङ्कमेतदवरं दशाङ्कं नाटकं परम् ॥३८॥

अर्थात् जो एक दिन में होने वाले एक प्रयोजन से सम्बद्ध हो जिसमे नायक उपस्थित हो, बहुत से पात्रों का प्रवेश न किया गया हो, ऐसा अङ्क रखना चाहिये । और, उन (अङ्क के) पात्रो का अङ्क के अन्त मे अवश्य ही निष्क्रमण कर देना चाहिये ।

टिप्पणी –(१) ना० शा० (१८ २१–२४ २८), भा० प्र० (पृ० २३), सा० द० (६ १४ १५ १६) । (२) पाश्चात्य नाटय समीक्षा के अनुसार जो नाटक मे अन्वितित्रय—(i) कालान्विति (unity of time) (ii) कार्यान्विति (unity of action) और (iii) स्थानान्विति (unity of place) मानी गई है उनका भारतीय नाटकशास्त्र मे स्पष्टत विवेचन नही किया गया। फिर भी इस प्रकार के नाटय सम्बन्धी नियमो मे उनकी कुछ झलक देखी जा सकती है। (३) आसन्ननायक—(ना० शा० १८–२८ सन्निहितनायक) – अङ्क मे नायक के उपाया–नुष्ठान (चरित) और फलभोग को साक्षात रूप से दिखलाना चाहिये (मि०, अभि० भा०)।

इस (अङ्क) मे पताकास्थानक होने चाहिये और अन्त मे बीज के समान ही बिन्दु रखना चाहिये । इस प्रकार पात्र प्रवेश आदि करते हुए अङ्को की रचना करनी चाहिय ॥३७–३८॥

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८ १६), भा० प्र० (पृ० २३६) । (२) पताकास्थानक बिन्दु तथा बीज का लक्षण ऊपर (१ का० १४ १७) दिया जा चुका है। (३) बिन्दुरन्ते च बीजवत्—यह कथन दरूह सा है। अन्ते च बीजवत्—अन्ते बीजपरामर्शयुक्त कुर्याद् इत्यर्थ (प्रभा) At the end the Expansion (Bindu) Just like the Germ (Bija) at the beginning ? —Haas वस्तुत इसका भाव यह प्रतीत होता है कि समस्त कथावस्तु मे अनुस्यूत जो बीज रूप अर्थ है उसका परामर्श तो अङ्क के अन्त मे आवश्यक है ही, कथा–प्रवाह को अविच्छिन्न बनाये रखने के लिये बीज के समान बिन्दु भी वहाँ अवश्य होना चाहिये ।

नाटक में अङ्को कीसख्या —

यह नाटक न्यून से न्यून पाँच अङ्को का और अधिक से अधिक दस अङ्को का होना चाहिय ॥३८॥

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८ २९), भा० प्र० (पृ० २३७), ना० द० (१ १७), सा० द० (६ ८)। (२) पाँच से लेकर दस अङ्को तक के नाटक सस्कृत

इत्युक्त नाटक लक्षणम ।

(४४) अथ प्रकरणे वृत्तमुत्पाद्य लोकसश्रयम् ।
अमात्यविप्रवणिजामेक कुर्याच्च नायकम ॥३९॥
धीरप्रशान्त सापाय धमकामार्थतत्परम ।
शेष नाटकवत्सन्धिप्रवेशकरसादिकम ॥४०॥

कविबुद्धिविरचितमितिवृत्त लोकसश्रयम—अनुदात्तम अमात्याद्यन्यतम धीरप्रशान्तनायक विपद तरितार्थसिद्धि कुर्यात प्रकरणे । मन्त्री अमात्य एव । सार्थवाहो वणिग्विशेष एवेति स्पष्टम यत ।

साहित्य मे है जसे विक्रमोर्वशीय पाँच अङ्कों का है वेणीसहार छह अङ्कों का है अभिज्ञानशाकुन्तल सात अङ्कों का है। इस प्रकार ८, ९ अङ्कों वाले नाटक भी हैं । बालरामायण दस अङ्कों का नाटक है ।

इस प्रकार नाटक का लक्षण कहा गया ।

प्रकरण—

प्रकरण मे लोक स्तर का कवि कल्पित (उत्पाद्य) इतिवृत्त तथा अमात्य, विप्र और वणिक मे से कोई एक नायक रखना चाहिये जो धीर प्रशान्त हो एव धम काम और अथ (त्रिवग) मे तत्पर हो किन्तु उसकी काय सिद्धि विघ्नो से युक्त हो (सापायम) प्रकरण मे शष सन्धि प्रवेशक और रस आदि नाटक के समान ही रखने चाहिये ॥३९-४०॥[1]

प्रकरण के इतिवृत्त कवि बुद्धि-कल्पित (=उत्पाद्य) तथा लोकसश्रय अर्थात् अनुदात्त रखना चाहिये तथा अमात्य आदि मे से कोई एक जो धीरप्रशान्त हो जिसकी कार्यसिद्धि आपत्तियों से व्यवहित हो (अर्थात सिद्धि प्राप्ति मे विघ्न हो) नायक रखना चाहिये । मन्त्री अमात्य ही होता है और सार्थवाह विशेष प्रकार का वणिक (व्यापारी) ही होता है (टि०) । अन्य स्पष्ट ही है ।

टिप्पणी—(१) ना शा० (१८ ४४ ५७) भा० प्र० (पृ० २४१) ना० द० (२ १०७) प्रता० (३ ३८) सा० द० (६ २२४ २२५) । ( ) प्रकरण का प्रसिद्ध उदाहरण मृच्छकटिक है। उसका नायक चारुदत्त विप्र है धीरप्रशान्त है धम तथा काम मे तत्पर । उसकी कायसिद्धि शकार की दुश्चेष्टाओ से विघ्नयुक्त है । इसी प्रकार मालतीमाधव नामक प्रकरण का नायक अमात्य है तथा पुष्पदूषितक नामक प्रकरण का नायक वणिक है । (३) ना० द० (२ ११७ वृत्ति) मे यह सिद्ध किया गया है कि प्रकरण मे सेनापति और अमात्य धीरोदात्त नायक होत हैं धीरप्रशान्त नही । किन्तु दश० सा०द० आदि के अनुसार ये धीरप्रशान्त ही होते है । (४) **लोकसश्रयम्**—लौकिक लोक सामान्य का लोक स्तर का—लोक सश्रयो यस्य तत् (वृत्तम) । धनिक ने इसका अथ 'अनुदात्त किया है। इनका अभिप्राय है कि प्रकरण का नायक उदात्त कोटि का नही होता। ना० शा० (१८ ४९) मे भी

(४५) नायिका तु द्विधा नेतु कुलस्त्री गणिका तथा।
क्वचिदेकव कुलजा वश्या क्वापि द्वय क्वचित ॥४१॥
कुलजाभ्य-तरा बाह्या वेश्या, नातिक्रमोऽनयो ।
आभि प्रकरण त्रधा सङ्कीण धूतसङकुलम ॥४२॥

वेशो भृति सोऽस्या जीवनमिति वेश्या तद्विशेषो गणिका । यदुक्तम—
आभिरभ्यर्थिता वेश्या रूपशीलगुणान्विता ।
लभत गणिकाश-द स्थान च जनससन्ि ॥'

एव च कुलजा वेश्या उभयमिति त्रेधा प्रकरणे नायिका । यथा वेश्यव तरङ्ग दत्ते, कुलजव पुष्पदूषितके त द्वे अपि मृच्छकटिकायामिति । कितवद्यूतकारादिधूत सङ्कुल तु मृच्छकटिकादिवत्सङ्कीर्णप्रकरणमिति ।

उदात्तनायक और दि यचरित का प्रकरण मे निषेध किया गया है । (५) ना० शा० (१८ ४८) म अमात्य से पृथक सचिव (म त्री) तथा वणिक से पृथक 'साथवाह' का ग्रहण किया गया है । दश० मे ऐसा नही किया गया । इसीलिये धनिक ने मन्त्री अमात्य एव' इत्यादि कहा है । भाव यह है कि म त्री का भी अमात्य' श द से ही ग्रहण हो जाता है ।

प्रकरण के नायक की नायिका तो दो प्रकार की होती है—कुलीन नारी तथा गणिका । किसी प्रकरण मे अकेली कुलीन नारी ही होती है । किसी मे अकेली वश्या और किसी मे कुलोन नारी और वेश्या दोनो ही (यही सङ्कीण है) । इनमे कुलीन नारी आभ्य तर (Indoo s) और वश्या बाह्य (out doors) नायिका होती है इनका व्यतिक्रम नही होता (टि०) । इन तीन प्रकार को नायिकाओ के द्वारा (आभि) तीन प्रकार का हो जाता है । उ त तीन प्रकारो मे जो सकाण (प्रकरण) है वह धूत पात्रो (जुआरी, शकार आदि) से युक्त होता ह ॥४१-४२॥

वेश का अथ है भति (पालन पोषण) वह वेश ही उसका जीवन है अत वह वेश्या कहलाती है । उस (वेश्या) का एक भेद ही गणिका है । जसा कि कहा गया है—इन (?) के द्वारा प्रार्थित, रूप, शील आदि गुणो से युक्त वेश्या गणिका सज्ञा को प्राप्त करती है (=गणिका कहलाती है) तथा जन सभाओ मे स्थान प्राप्त करती है ।

इस प्रकार कुलीन नारी या वेश्या अथवा दोनो—यह तीन प्रकार की नायिका प्रकरण में होती है । जसे तरङ्गदत्त नामक प्रकरण मे केवल वेश्या ही नायिका है, पुष्पदूषित मे कुलीन नारी ही और मृच्छकटिक मे वे दोनो (प्रकार की) नायिकाएँ हैं । मृच्छकटिक आदि जसा सङ्कीर्ण प्रकरण तो कितव, जुवारी आदि धूर्तों से युक्त होता है ।

अथ नाटिका—

(४६) लक्ष्यते नाटिकाप्यत्र सङ्कीर्णान्यनिवृत्तये।

अत्र केचित—

अनयोश्च बन्धयोगादेको भेद प्रयोक्तृभिर्ज्ञेय ।
प्रख्यातस्त्वितरो वा नाटीसज्ञाश्रिते काव्ये ॥'

इत्यमु भरतीय श्लोकम एको भेद प्रख्यातो नाटिकाख्य इतरस्त्वप्रख्यात प्रकरणिकासज्ञो नाटीसज्ञया द्वे काव्ये आश्रित इति व्याचक्षाणा प्रकरणिकामपि मन्यन्ते। तदसत। उद्देशलक्षणयोरनभिधानात्। समानलक्षणत्वे वा भेदाभावात्।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८५०-५३) भा० प्र० (पृ० २४२, ना० द० (२११८) सा० द० (६ २२६-२२७)। (२) नातिक्रमोऽनयो नायिका के भेद से प्रकरण तीन प्रकार के होते है—जहाँ नायिका (i) कुलीन नारी हो (ii) वेश्या हो (iii) कुलीन नारी तथा वेश्या दोनो हो। इनमे से पहिले दोनो शुद्ध प्रकरण कहलाते हैं और तीसरा सकीर्ण प्रकरण कहलाता है क्योकि इसमे दो प्रकार की नायिकाओ का सकर होता है। इस तृतीय भेद मे कुलीन नारी को आभ्यन्तरा (घर के अन्दर रहने वाली गृहिणी) और वेश्या को बाह्या (घर के बाहर रहने वाली गृह कार्यों से सम्बन्ध न रखने वाली) रखना चाहिये। यह नियम अनिवार्य है इसका भङ्ग नही होना चाहिये। (३) सकीर्ण धूर्तसङ्कुलम्—नायिका के भेद से जो प्रकरण के तीन भेद किये गये हैं उनमे तृतीय सकीर्ण प्रकरण कहलाता है। वह जुआरी शकार आदि धूर्तों से युक्त होता है। धनिक की वृत्ति मे अन्वय इस प्रकार होगा—सङ्कीर्णप्रकरण तु कितवद्यूतकारादिधूतसङ्कुल मृच्छकटिकादिवत् अथवा मृच्छकटिकादिवत सङ्कीर्ण०। ना० द० (२११८ वृत्ति) प्रना०—टीका (तृतीय धूतसङ्कुलम्) तथा सा० द० (तत्र भेदस्तृतीयक कितवद्यूतकारादिविटचेट सङ्कुल ६ २२६-२२७) आदि के अनुशीलन से यही अर्थ सङ्गत है। (४) पुष्प दूषितक' के स्थान पर ना० द० मे पुष्पदूतिक सा० द० मे पुष्पभूषित पाठ है। अभि० भा० (पृ० ४३२) मे पुष्पदूषिनक पाठ ही हैं। यह प्रकरण अनुपलब्ध है।

नाटिका

यहा (रूपक के) अन्य सकीर्ण भेदो की निवृत्ति के लिये नाटिका का भी लक्षण किया जा रहा है।

कुछ (व्याख्याकार) सङ्कीर्ण रूपको मे (अत्र) प्रकरणिका नामक भेद को भी मानते हैं। वे अनयोश्च० [अर्थात् इन दोनो नाटक और प्रकरण की सघटना के योग से प्रयोक्ताओं को नाटीसज्ञक काव्य मे एक भेद जानना चाहिये प्रख्यात अथवा अप्रख्यात] इत्यादि भरतमुनि (१८५७) के श्लोक की इस प्रकार व्याख्या करते हैं—एक भेद प्रसिद्ध है जो नाटिका कहलाता है और दूसरा अप्रसिद्ध है जो प्रकरणिका कहलाता है। इस तरह दो प्रकार के काव्य नाटी सज्ञा के आधार हैं।'

वस्तुरसनायकाना प्रकरणाभेदात् प्रकरणिकाया । अतोऽनुद्दिष्टाया नाटिकाया य मुनिना लक्षण कृत तत्रायमभिप्राय —शुद्धलक्षणसङ्करादेव तल्लक्षणे सिद्ध लक्षणकरण सङ्कीर्णाना नाटिकव कर्तव्येति नियमार्थ विज्ञायते ।

किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि प्रकरणिका का न तो नामनिर्देश किया गया है (उद्देश और न लक्षण ही बतलाया गया है। यदि कोई कहे कि नाटिका और प्रकरणिका का समान ही लक्षण है तब तो दोनो मे भेद नहीं होगा। वस्तुत प्रकरणिका के वस्तु रस और नायक का प्रकरण से कोई भेद नहीं होता अत वह प्रकरण से भिन्न नहीं (?) [क्योंकि वस्तु नायक तथा रस ही रूपको के भेदक तत्त्व हैं]।

इस प्रकार जिसका (दस रूपको मे) नाम निर्देश नहीं किया गया था उस नाटिका का जो भरतमुनि ने लक्षण किया है इसका यह अभिप्राय है कि शुद्ध रूपको (नाटक और प्रकरण) के लक्षणो के सकर (मिश्रण स ही उस (नाटिका) का लक्षण सिद्ध है फिर उसका लक्षण इस नियम के लिये किया गया है—सकीर्ण रूपको मे विशेषत नाटिका की ही रचना करनी चाहिये (अन्यों की नहीं)।

टिप्पणी (१) यद्यपि नाटिका दस रूपको मे नही आती तथापि भरत ने इसका (१८ ५७ तथा आगे) लक्षण किया है। ना० शा० का अनुसरण करते हुए दश० मे भी इसका लक्षण दिया गया है। (२) नाटिका सकीर्ण रूपक है। जसा कि ऊपर (१ ७ वि०) कहा जा चुका है नाटक आदि दस शुद्ध रूपक है। उनमे से किसी दो या अधिक के लक्षण जिसमे होते हैं वह सकीर्ण रूपक कहलाता है। ऐसे सङ्कीर्ण रूपक अनेक प्रकार के हो सकते है। नाटिका मे नाटक तथा प्रकरण दोनो के लक्षणो का सकर होता है। (३) **अन्यनिवृत्तये**—धनञ्जय का विचार है कि भरतमुनि ने नाटिका का लक्षण इसलिये किया है कि सङ्कीर्ण रूपको मे नाटिका ही अधिक वाञ्छनीय है, अन्य सङ्कीर्ण रूपक इतने वाञ्छनीय नही। अभिनवगुप्ताचार्य का मत इससे भिन्न है। तदनुसार भरतमुनि नाटक और प्रकरण के सकर से बनने वाले सङ्कीर्ण रूपक (नाटिका) का लक्षण करके अन्य सङ्कीर्ण रूपको का भी दिग्दर्शन करा दिया है (४) **अनयोश्च०**' इत्यादि ना० शा० के श्लोक के आधार पर किन्ही (? व्याख्याकारो ने नाटिका और प्रकरणिका दो पृथक् पृथक् सङ्कीर्ण नाटक माने थे। धनिक ने उनके मत का खण्डन किया है। किन्तु आगे चलकर ना० द० (१ ५) मे नाटिका और प्रकरणिका दोनो को पृथक पृथक माना गया है और इन्हे रूपको मे जोडकर १२ रूप मान लिये गये हैं। सा० द० मे भी १८ उपरूपको मे नाटिका और प्रकरणिका दोनो को पृथक पृथक गिनाया गया है। कहना न होगा कि धनञ्जय ने नाटिका को सङ्कीर्ण रूपक माना है। यह 'डोम्बी' इत्यादि नृत्य कार्यो से नितान्त भिन्न है। सा० द० आदि मे सङ्कीर्ण रूपको तथा डोम्बी इत्यादि नृत्यो को समान रूप से उपरूपको के अन्तगत कसे रख दिया है, यह चिन्तनीय है। (५) **बन्धयोगात्**—इतिवृत्त दिसाम्यात् (प्रभा)।

(नाटिका मे) उस (नाटक और प्रकरण के) सकर को दिखलाते है—

तमेव सङ्कर दर्शयति—

(४७) तत्र वस्तु प्रकरणान्नाटकान्नायको नृप ॥४३॥
प्रख्यातो धीरललित शृङ्गाराऽङ्गी सलक्षण ।

उत्पाद्यतिवृत्तत्व प्रकरणधर्म प्रख्यातनृपनायकादित्व तु नाटकधर्म इति ।

एव च नाटकप्रकरणनाटकातिरेकेण वस्त्वादि प्रकरणिकायामभावादङ्कपात्र भेदात यदि भेदस्तत्र (तदा)—

(४८) स्त्रीप्रायचतुरङ्कादिभेदक यदि चेष्यते ॥४४॥
एकद्वित्र्यङ्कपात्रादिभेदेनान तरूपता ।

तत्र नाटिकेतिस्त्रीसमाख्ययौचित्यप्राप्त स्त्रीप्रधानत्वम् कशिकीवृत्त्याश्रयत्वाच्च । तदङ्गसख्ययाऽल्पावमर्शत्वेन चतुरङ्कत्वमप्यौचित्यप्राप्तमेव ।

नाटिका मे प्रकरण (के लक्षण) से वस्तु ली जाती है (अर्थात् वह कविकल्पित होती है)। इसका नायक नाटक (के लक्षण) से लिया जाता है। वह राजा होता है। वह प्रख्यात तथा धीर ललित होता है। नाटिका मे अपने लक्षणो सहित शृङ्गार रस अङ्गी (प्रधान) होता है ॥४३-४४॥

कल्पित इतिवृत्त होना, यह प्रकरण की विशेषता (धर्म) है और प्रख्यात राजा नायक होता है इत्यादि नाटक की विशेषता है (ये दोनो विशेषताए नाटिका मे भी होती हैं)।

टिप्पणी—ना० शा० (१८ ५८) भा० प्र० (पृ० २४३), ना० द० (२ १२१) सा० द (६ २६९)।

इस प्रकार प्रकरणिका मे नाटक प्रकरण तथा नाटिका से भिन्न वस्तु आदि नही होती। फिर भी यदि अङ्को की सख्या और पात्रो के भेद से (दोनो मे) भेद माना जाये तब तो—(रूपको के अनेक भेद हो जायेंगे, यह बतलाते हैं)—

स्त्री पात्रो का बाहुल्य चार अङ्क होना इत्यादि को यदि (प्रकरणिका और नाटिका का) भेदक माना जाय तब तो एक, दो या तीन अङ्क तथा पात्र आदि के भेद से (रूपको के) अनन्त प्रकार हो जायेंगे ॥४४-४५॥

यहा (i) नाटिका इस स्त्री वाची नाम (समाख्या) से तथा (ii) नाटिका कैशिकी वृत्ति का आश्रय होती है, इस हेतु से भी नाटिका मे स्त्री पात्रो की प्रधानता मानना उचित है। उस (कैशिकी वृत्ति) के (नर्म आदि चार) अङ्गो की सख्या के अनुसार एव अवमर्श सन्धि के अत्यल्प होने के कारण भी नाटिका मे चार अङ्क होते है यह मानना उचित है।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (स्त्रीप्राया चतुरङ्का १८ ५९) भा० प्र० (पृ० २४४) ना० द० (२ १२१) सा० द० (६ २६९)। (२) कारिका का भाव यह है कि नाटिका मे स्त्री पात्रो का बाहुल्य होता है चार अङ्क होते है यह ठीक

विशेषस्तु—

(४९) देवी तत्र भवेज्जयेष्ठा प्रगल्भा नपवशजा ॥४५॥
गम्भीरा मानिनी कृच्छात्तद्वशान्नेतृसङ्गम ।

प्राप्या तु—

(५०) * नायिका तादशी मुग्धा दिव्या चातिमनोहरा ॥४६॥

तादृशीति नपवशजत्वादिधर्मातिदेश ।

(५१) अन्त पुरादिसम्बन्धादासन्ना श्रुतिदशन ।
अनुरागो नवावस्थो नेतुस्तस्या यथोत्तरम ॥४७॥

है। किन्तु केवल अङ्को की सख्या और पात्रो के भेद से रूपको के भेद नही होते अपितु वस्तु नायक और रस के भेद से रूपको के भेद हुआ करते है। (३) **स्त्रीप्राया** (स्त्रीप्रधानत्व)=स्त्री पात्रो का बाहुल्य प्रथम ता नाटिका यह स्त्रीवाचक शब्द ही सूचित करता है कि नाटिका मे स्त्री पात्रो का बाहुल्य होता है दूसरे नाटिका मे कैशिकी वृत्ति की प्रधानता होने के कारण शृङ्गार रस की प्रमुखता होती है और इसीलिये स्त्री पात्रो की अधिकता हुआ करती है। (४) **चतुरङ्कत्वम्**=नाटिका मे चार अङ्क होते हैं (i) यहा कैशिकी वृत्ति का आश्रय लिया जाता है जिसके (नम आदि) चार अङ्ग होते है अत उन अङ्गो की सख्या के अनुसार नाटिका मे भी चार अङ्क होते है। (ii) कथावस्तु के पाँच भाग (सन्धिया) होते है अत सामान्यत रूपक मे पाच अङ्क होने चाहिये। किन्तु नाटिका मे अवमश सन्धि अत्यन्त सक्षिप्त होती है। अत अवमश सन्धि और निवहण सन्धि से सम्बद्ध इतिवृत्त को एक अङ्क मे रख दिया जाता है। इस प्रकार चार ही अङ्क होते है।

नाटिका मे (तत्र) विशेष बातें ये है—

उस (नाटिका) मे देवी (महारानी) ज्येष्ठा होती है, वह राजवशोत्पन्ना होती है, प्रगल्भा, गम्भीरा तथा मानिनी होती है। उसके अधीन होने के कारण (प्राप्य नायिका के साथ) नायक का मिलन बडी कठिनाई से होता है ॥४५-४६॥

प्राप्तव्या तो—

नायिका उसी प्रकार की (अर्थात राजवशोत्पन्ना) तथा मुग्धा होती है। वह दिव्य गुणो वाली और अत्यधिक मनोहर होती है ॥४६॥

तादृशी (वैसी) शब्द के द्वारा राजवश मे उत्पन्न होना इत्यादि विशेषताओ की समानता दिखलाई गई है।

अन्त पुर आदि से सम्बन्ध होने के कारण वह (प्राप्य नायिका) नायक के निकट होती है। उसके विषय मे सुनकर तथा उसे देखकर (श्रुति

---

* प्राप्या या इत्यपि पाठ ।

नेता तत्र प्रवर्त्तेत दवीत्रासेन शङ्कित ।

तस्या मुग्धनायिकायामन्त पुरसम्बन्धसङ्गीतकसम्बन्धादिना प्रत्यासन्नाया नायकस्य देवीप्रतिबन्धान्तरित उत्तरोत्तरा नवावस्थानुरागो निबन्धनीय ।

(५२) कशिक्यङ्गैश्चतुर्भिश्च युक्ताङकैरिव नाटिका ॥४८॥

प्रत्यङ्कापनिबद्धाभिहितलक्षणकशिक्यङ्गचतुष्टयवती नाटिकेति ।

अथ भाण —

(५३) भाणस्तु धूर्तचरित स्वानुभूत परेण वा ।
यत्रोपवर्णयेदेको निपुण पण्डितो विट ॥४६॥
सम्बोधनोक्तिप्रत्युक्ती कुर्यादाकाशभाषित ।
सूचयेद्वीरशृङ्गारौ शौर्यसौभाग्यसस्तव ॥५०॥

दर्शन) नायक का उसके प्रति (तस्याम) उत्तरोत्तर नवीन अनुराग होता जाता है । और वह नायक दवी के भय से शङ्कित हुआ उस नायिका की ओर प्रवृत्त हुआ करता है ॥४७-४८॥

अर्थात् मुग्धा नायिका अन्त पुर मे वास अथवा सङ्गीत आदि के सम्बन्ध से नायक के निकट होती है । उसके प्रति नायक का ऐसा अनुराग (नाटिका मे) दिख लाना चाहिये, जिसके बीच मे देवी की बाधा हो (देवी-रूप विघ्न से व्यवहित हो) और जो उत्तरोत्तर नया नया होता जाता हो ।

और यह नाटिका जिस प्रकार चार अङ्को से युक्त होती है, उसी प्रकार कशिकी वृत्ति के चार अङ्गो (नम, नमस्फिञ्ज, नमस्फोट तथा नमगभ) से युक्त होती है ॥४८॥

अर्थात् नाटिका के प्रत्येक अङ्क मे उपयुक्त लक्षण वाले कशिकी वृत्ति के चारो अङ्गो में से एक एक दिखलाया जाता है ।

टिप्पणी—(१) नाटिका लक्षण—ना० शा० (१८ ५७-६०) भा० प्र० (पृ० २४३ २४४) ना० द० (२ १२१ १२३) सा० द० (६ २६९-२७२) (२) कशिकी वृत्ति और उसके अङ्ग (द्र० ऊपर २ ४८-५२) । (३) हषकृत रत्नावली तथा प्रियदर्शिका आदि नाटिका के उदाहरण हैं । नाटिका का एक प्रकार सट्टक भी माना जाता है । उसमे प्रवेशक और विष्कम्भक नही होते । अङ्को के स्थान पर चार बार यवनिकापात दिखलाया जाता है और प्राकृतभाषा का ही प्रयोग होता है, जैसे राजशेखर की कपूरमञ्जरी एक सट्टक है । (मि० भा० प्र पृ० २८४) ।

भाण वह (रूपक) है, जिसमे (i) कोई कुशल एव बुद्धिमान विट (द्र० टि०) अपने द्वारा अनुभूत या किसी दूसरे के द्वारा अनुभूत धूत चरित का वणन करता है, (ii) वह आकाशभाषित के द्वारा सम्बोधन एव उक्ति प्रत्युक्ति करता है, (iii) शौय के वणन (सस्तव) द्वारा वीर रस की तथा विलास सौभाग्य) के वणन द्वारा शृङ्गार रस की सूचना देता है (iv) उसमे

भूयसा भारती वत्तिरेकाङक वस्तु कल्पितम ।
मुखनिवहण साङ्ग लास्याङ्गानि दशापि च ।।५१।।

धूर्ताश्चचौरद्यूतकारादयस्तेषा चरित यत्रक एव विट स्वकृत परकृत वोपवरण यति स भारतीवृत्तिप्रधानत्वाद्भारण एकस्य चोक्तिप्रत्युत्तय आकाशभाषितराशङ्कितोत्त रत्वेन भवति । अस्पष्टत्वाच्च वीरशृङ्गारो सौभाग्यशौर्योप रणनया सूचनीयो ।

अधिकतर भारती वत्ति होती है, (v) एक अङ्क होता है, (vi) कथावस्तु कल्पित होती है (vii) अपने अङ्गो सहित मुख और निवहण दो सधियाँ होती है और (viii) लास्य के दस अङ्ग होते है ।।४६–५१।।

(कारिका मे) धूत से अभिप्राय है चोर जुआरी इत्यादि । जहाँ अपने द्वारा किये गये (अनुभूत=कृत) अथवा दूसरे के द्वारा किये गये उन (धूर्तो) के चरित का अकेला विट ही वरणन करता है वह (रूपक) भारती वत्ति की प्रधानता होने के कारण भारा कहलाता है । एक ही व्यक्ति की उक्ति प्रत्युक्तिया आकाश भाषित (नामक नाटयोक्ति) के द्वारा (क्या कहा ? मै यहा हू इत्यादि) उत्तर की आशका करके बन जाती है । और यहा अस्पष्ट होने के कारण विलास (सौभाग्य) तथा शौय की वरणन द्वारा ही क्रमश शृङ्गार तथा वीररस की सूचना दी जाती है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८ १०७ ११०), भा० प्र० (पृ० २४४ २४५), ना० द० (२,१२६ १३०) प्रता० (३ ३६ ४०), सा० द० (६ २२७ २३०) । (२) भारतीवृत्तिप्रधानत्वात् भाण —भारती वृत्ति शब्द वृत्ति है । इसमे वाचिक अभिनय की प्रधानता होती है । विशेष रूप से वाचिक यापार (=भरणन) के कारण ही यह रूपक भाण कहलाता है । ना० द० के अनुसार— भण्यते योमोक्त्या नायकेन स्वपरवृत्त प्रकाश्यतेऽत्रति भाण,। (३) अस्पष्टत्वात—भाण मे किसी वीर रस प्रधान या शृङ्गार प्रधान चरित का वरणन नही होता अत ये रस स्पष्टत नही दिखलाये जाते, अपि तु विलास–वरणन के द्वारा शृङ्गार रस की सूचना दी जाती है और शौय वरणन द्वारा वीर रस की । अस्पष्टत्वात्=शृङ्गारवीरप्रधानचरितस्या दशनाद् भाणे । (४) आकाशभाषित का लक्षण (ऊपर १ ६७), भारतीवृत्ति (ऊपर ३ ५ तथा आगे) । (५) विट द्र० (ऊपर २ ६) ना० शा० (३५ ५५) तथा सा० द० (३ ४१) । [६] सा० द० मे लीलामधुकर' नामक भाण उदाहरण के रूप मे दिखलाया गया है ।

लास्याङ्गानि—

(५४) गेय पद स्थित पाठ्यमासीन पुष्पगण्डिका ।
प्रच्छेदकस्त्रिगूढ च स धवाख्य द्विगूढकम ॥५२॥
उत्तमोत्तमक चा यदुक्तप्रत्युक्तमेव च ।
लास्ये दशविध ह्ये तदङ्गनिर्देशकल्पनम* ॥५३॥

शेष स्पष्टमिति ।

लास्य के अङ्ग—

(१) गेयपद, (२) स्थितपाठ, (३) आसीन (४) पुष्पगण्डिका, (५) प्रच्छेदक, (६) त्रिगूढ (७) स धव (८) द्विगूढक (९) उत्तमोत मक और (१०) उक्तप्रत्युक्त – इन दस प्रकार के अङ्गो का लास्य मे निर्देश किया गया है ॥५२–५३॥

शेष स्पष्ट है ।

टिप्पणी—(१) ना०शा (१८ ११९–१३५) भा० प्र० (पृ० २४५–२४६) सा० द० (६ २१२ २४३)। (२) लास्याङ्गो के प्रयोग से नाट्य म विशेष हृदया ह लादकता (रञ्जना वचित्र्य) आ जाया करती है इसीलिये इनका रूपक मे विधान किया गया है (अभि० भा० १९ १२०)। (३) विविध ग्र थो मे निरूपित लास्याङ्गो के स्वरूप मे अ तर है। सा० द० के अनुसार इनका सक्षिप्त स्वरूप यह है —

(१) गेयपद —सामाजिको के सामने बठकर वीणा आदि वाद्य केसाथ अभिनय–शू य (शुद्ध) गाना ही गेयपद है ।

(२) स्थितपाठ्य—काम पीडित नायिका का बठकर प्राकृत भाषा मे गाना स्थितपाठ्य है ।

(३) आसीन—शोक या चि ता से युक्त नारी का बिना किसी वाद्य के और बिना आङ्गिक अभिनय के ही बठकर गाना आसीन है ।

(४) पुष्पगण्डिका—आतोद्य (वाद्य) के साथ पुरुप के वेष मे स्त्री का विविध छ दो मे गाना पुष्पगण्डिका है ।

(५) प्रच्छेदक—अपने प्रियतम को अ य नायिका मे आसक्त मानकर प्रेम विच्छेद से उत्प न क्रोध के साथ स्त्री का वीणा सहित गायन ही प्रच्छेदक है ।

(६) त्रिगूढ—स्त्रीवेशधारी पुरुषो का मधुर अभिनय त्रिगूढ है ।

(७) स धव—जब कोई पात्र रसोचित सङ्कत को भूलकर (भ्रष्टसङ्कत अभि० भा०) वीणा आदि वाद्य की क्रिया से युक्त होकर प्राकृत वचन कहता है, वह स धव है ।

(८) द्विगढ—मुख तथा प्रतिमुख से युक्त चतुरस्रपत तथा रस भाव आदि से पूण गीत द्विगूढ है (यहा मुख–प्रतिमुख एव चतुरस्रपद का अथ विवादास्पद है) ।

(९) उत्तमोत्तमक—कोप प्रसाद तथा अधिक्षेप से युक्त, उत्तरोत्तर रस का आश्रय हाव हेला से युक्त विचित्र श्लोक–रचना से मनोहर गायन उत्तमोत्तमक है ।

(१०) उक्तप्रत्युक्त—उक्ति–प्रत्युक्ति से युक्त, उपालम्भपूण झूठ से युक्त तथा विलास से यक्त गीत उक्त प्रत्यक्त है ।

---

* लक्षणम् इति पाठान्तरम् ।

अथ प्रहसनम्—

(५५) तद्वत्प्रहसन त्रेधा शुद्धवैकृतसङ्करै ।

तद्वदिति—भाणवद्वस्तुसधिस ध्यङ्गलास्यादीनामतिदेश ।

तत्र शुद्ध तावत्—

(५६) पाखण्डिविप्रप्रभतिचेटचेटीविटाकुलम ॥५४॥

चेष्टित वेषभाषाभि शुद्ध हास्यवचोन्वितम ।

पाखण्डिन =शाक्यनिग थप्रभृतय विप्राश्चात्य तमृजव जातिमात्रोपजीविनो वा प्रहसनाङ्गिहास्यविभावा । तेषा च यथावत्स्वव्यापारोपनिबन्धन चेटचेटीव्यवहार युक्त शुद्ध प्रहसनम् ।

विकृत तु—

(५७) कामुकादिवचोवेष पण्ढकञ्चुकितापस ॥५५॥

विकृत,

---

४ प्रहसन—

उस (भाण) के समान ही प्रहसन होता है। वह शुद्ध, वकृत और सङ्कर के भेद से तीन प्रकार का है ॥५४–५५॥

(कारिका मे) तद्वत् (उसके समान)=भाण के समान, इस प्रकार वस्तु, सन्धि, स ध्यङ्ग और लास्य आदि की (भाण के साथ) समानता दिखलाई गई है (अतिदेश)।

उनमे से शुद्ध प्रहसन है—

जो पाखण्डी, विप्र इत्यादि तथा चेट चेटी और विट से भरा होता है, उनके चरित वेष तथा भाषा से युक्त होता है (?) तथा हास्य वचनो से व्याप्त होता है, वह शुद्ध प्रहसन है।

पाखण्डी=बौद्ध और निग्र थ (नग्न या जैन) इत्यादि। विप्र अर्थात् अत्य त सरल स्वभाव वाले अथवा केवल जाति से जीविका चलाने वाले ब्राह्मण। ये प्रहसन के अङ्गी (प्रधान, रस हास्य के विभाव होते हैं। जहा इनके अपने चरित (व्यापार) का यथोचित निरूपण किया जाता है और जो चेट चेटी आदि के व्यवहार से युक्त होता है वह शुद्ध प्रहसन है।

विकृत प्रहसन—

जो कामुक आदि की भाषा और वेष को धारण करने वाले नपुसक कञ्चुकी तथा तपस्वी पात्रो से युक्त होता है वह विकृत प्रहसन है ॥५५॥

कामुकादयो भुजङ्गचारभटाद्या । तद्वषभाषादियोगिना यत्र षण्ढकञ्चुकि तापसवृद्धादयस्तद्विकृतम् स्वस्वरूपप्रच्युतविभावत्वात् ।

(५७ क) सङ्करादवीथ्या सङ्कीण धूतसङकुलम ।

वीथ्यङगस्तु सङ्कीणत्वात् सङ्कीणम् ।

(५८) रसस्तु भूयसा काय षडविधो हास्य एव तु ॥५६॥

इति स ष्टम् ।

कामुक इत्यादि का अथ है—कामुक (भुजङ्ग) दूत (चार) और योद्धा इत्यादि । उनके वेष भाषा आदि को धारण करने वाले नपु सक कञ्चुकी तपस्वी तथा वद्ध आदि जहा होते है वह प्रकृत प्रहसन है क्योकि वहा जो (कामुक आदि) विभाव है वे अपने अपने (नपु सक आदि) रूप को छोडकर इन विभावो के रूप मे आते हैं (यह विकृति=परिवतन है) ।

सङ्कीण प्रहसन—

वीथी (के अङ्गो) से मिश्रित तथा धर्तो से भरा हुआ प्रहसन सङ्कीण कहलाता है ।

वीथी के अङ्गो से सङ्कीण होने के कारण यह सङ्कीण कहलाता है ।

प्रहसन मे ६ प्रकार का हास्य प्रचुरता से रखना चाहिये ॥५६॥

यह स्पष्ट ही है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८ १०१–१०७) भा० प्र० (पृ० २४७), ना० द० (२ १३१–१३३) प्रता० (३ ४१–४४) सा० द० (६ २६४ २६८) । (२) ना० शा० तथा ना० द० म प्रहसन के दो भेद किये गये हैं–शुद्ध तथा सङ्कीण । सा० द० मे कहा गया है कि भरतमुनि के अनुसार विकृत का भी सङ्कीण मे ही अ तर्भाव हो जाता है । (३) प्रहसन के लक्षण तथा भेदो के स्वरूप के विषय मे विद्वानो के भिन्न–भिन्न मत है । दश० का पाठ भी अत्य त स्पष्ट नही है । दश० के अनुसार यह कहा जा सकता है कि जो भाण के समान वस्तु सन्धि सन्ध्यङ्ग और लास्याङ्गो से युक्त होता है जिसमे ६ प्रकार के हास्य का प्रचुरता से निरूपण किया जाता है वह प्रहसन नामक रूपक है । हास्य के ६ प्रकार हैं—स्मित हसित विहसित उपहसित अपहसित अतिहसित (आगे ४ ७६–७७ । प्रहसन के तीन प्रकार हैं—(i) शुद्ध–जिसमे पाखण्डी आदि मे से किसी एक के चरित का वणन किया जाता है, अर्थात् पाखण्डी विभाव होते हैं और उनके प्रति चेट चेटी विट आदि के हास्यवचनपूण व्यवहार दिखलाये जाते हैं । जसे कन्दपकेलि (सा०द०) सागर कौमुदी (भा० प्र०) शुद्ध प्रहसन हैं । (ii) विकृत—जिसमे नपु सक कञ्चुकी तपस्वी आदि कामुक आदि का वेष धारण करके उनकी भाषा मे ही उनके चरित को प्रकट करत है जैसे कलिकेलि (भा० प्र०) । (iii) सङ्कीण—जो वीथी क अङ्गो से युक्त होता है तथा जिसमे अनेक धूर्तों का चरित वर्णित होता है जसे धूतचरितम् (सा० द०) सरन्ध्रिका (भा० प्र०) । (४) चेष्टितम्–वृत्त (ना० द० २–१३), चरित ।

अथ डिम —

(५६) डिमे वस्तु प्रसिद्ध स्यादवृत्तय कशिकी विना ।
नेतारो देवग धवयक्षरसोमहोरगा ॥५७॥
भूतप्रतपिशाचाद्या षोडशात्य तमुद्धता ।
रसरहास्यश्रृङ्गार षडभिर्दीप्त समन्वित ॥५८॥
माये द्रजालसग्रामक्रोधोदभ्रा तादिचेष्टित ।
च द्रसूर्योपरागश्च याय्ये रौद्ररसेऽङ्गिनि ॥५९॥
चतुरङ्कश्चतुस्स धिर्निर्विमर्शो डिम स्मत ।

डिम सङ्घाते इति नायकसङ्घात यापारात्मकत्वाद् डिम । तत्रतिहाससिद्ध मितिवृत्तम् वृत्तयश्च कशिकीवर्जास्तिस्र रसाश्च वीररौद्रबीभत्साद्भुतकरुणभयानका षट, स्थायी तु रौद्रो यायप्रधान विमशरहिता मुखप्रतिमुखगभनिवहणाख्याश्चत्वार स धय साङ्गा, माये द्रजालाद्यनुभावसमाश्रया (य)। शेष प्रस्तावनादि नाटकवत्। एतच्च—

'इद त्रिपुरदाहे तु लक्षण ब्रह्मणोदितम् ।
ततस्त्रिपुरदाहश्च डिमसज्ञ प्रयोजित ॥

इति भरतमुनिना स्वयमेव त्रिपुरदाहेतिवृत्तस्य तुल्यत्व दर्शितम् ।

---

५ डिम —

डिम नामक रूपक मे कथावस्तु प्रसिद्ध (प्रख्यात) होती है। इसमे कैशिकी को छोडकर अ य वत्तिया (सात्त्वती, आरभटी और भारती) होती हैं। देव, ग धव, यक्ष राक्षस महासप, भूत, प्रत, पिशाच आदि १६ उदधत नायक (पात्र) होते है। यह हास्य और श्रृङ्गार से भि न ६ दीप्त रसो से युक्त होता है। इससे यायप्रधान रौद्र रस अङ्गी होता है। यह माया, इ द्र-जाल, युद्ध, क्रोध और उदभ्रा ति (उत्तजना) आदि चेष्टाओ से तथा च द्रग्रहण और सयग्रहण से युक्त होता है। चार अङ्को वाला, विमश स धि के अतिरिक्त चार स धयो वाला यह रूपक डिम कहा गया है ॥५७-५९॥

'डिम सघाते' यह धातु है। इस रूपक मे (सोलह) नायको के समुदाय का चरित दिखलाया जाता है। अत यह डिम कहलाता है। इसमे (i) इतिहास आदि मे प्रसिद्ध इतिवत्त होता है । (ii) कशिकी को छोडकर शेष तीन वृत्तियाँ होती हैं। (iii) वीर रौद्र बीभत्स अदभुत, करुण और भयानक ये ६ रस होते हैं। (iv) जिसमे न्याय की प्रधानता होती है ऐसा रौद्र प्रधान (अङ्गी) रस होता है। (v) विमश के अतिरिक्त मुख प्रतिमुख गभ और निवहण नामक चार स धियाँ अङ्गों सहित होती हैं तथा (vi) इसमे माया इ द्रजाल इत्यादि अनुभावो का आश्रय लिया जाता है। (vii) शेष प्रस्तावना आदि नाटक के समान ही होते है। और यह बात भरतमुनि ने स्वय ही त्रिपुरदाह के इतिवत्त की समानता के द्वारा इस प्रकार दिखलाई है— 'ब्रह्मा ने त्रिपुरदाह मे यह लक्षण बतलाया है इसी से त्रिपुरदाह को डिमसज्ञक कहा गया है।

अथ व्यायोग —

(६०) ख्यातेतिवृत्तो व्यायोग ख्यातोद्धतनराश्रय ॥६०॥
हीनो गर्भविमर्शाभ्या दीप्ता स्युर्डिमवद्रसा ।
अस्त्रीनिमित्तसग्रामो जामदग्न्यजये यथा ॥६१॥
एकाहाचरितकाङ्को व्यायोगो बहुभिनर ।

व्यायुज्यन्तेऽस्मिन् बहव पुरुषा इति व्यायोग । तत्र डिमवद्रसा षट हास्य शृङ्गाररहिता । वृत्त्यात्मकत्वाच्च रसानामवचने पि कशिकीरहितेतरवृत्तित्व रसवदेव

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८ ८४ ८८) भा० प्र० (पृ० २४७–२४८) ना० द (२ १३४–१२५) प्रता० (३ ४५–६७) सा० द० (६ २४१–२४४)। (२) दीप्त —वीर आदि दीप्त रस माने जाते हैं। अभि० भा० के अनुसार इस शब्द से यह प्रकट किया गया है कि डिम मे शान्त रस नही होता वीर आदि दीप्त रस ही होते है। (३) न्याय्ये रौद्ररसेऽङ्गिनि— न्याय्य शब्द का अर्थ है न्याययुक्त। धनिक ने इसे न्यायप्रधान शब्द से कहा है। भाव यह है कि डिम मे रौद्र रस की प्रधानता होती है और उसका स्थायी भाव जो क्रोध है वह न्यायपूर्ण (उचित) हुआ करता है। जसे त्रिपुरदाह मे शिव का क्रोध न्यायपूर्ण हे (मि०, न्यायमार्गीणनायकः भा० प्र०)। (४) भा० प्र० मे त्रिपुरदाह के समान वृत्रोद्धरण तारकोद्धरण दो अन्य डिमो का भी नामोल्लेख किया गया है।

६ व्यायोग—

व्यायोग की (i) कथावस्तु प्रसिद्ध (ख्यात) होती है। (ii) उसमे प्रख्यात तथा उद्धत नायक का आश्रय लिया जाता है। (iii) वह गर्भ एव विमर्श सन्धि से रहित होता है। (iv) उसमे डिम के समान ६ दीप्त रस हुआ करते है। [(v) कशिकी के अतिरिक्त वृत्तिया होती है।] (vi) उसमे ऐसे युद्ध का वर्णन होता है जो स्त्री के निमित्त नही किया जाता, जसे 'जामदग्न्यजय' (नामक व्यायोग) मे है। (vii) उसमे एक दिन के चरित को दिखलाने वाला एक अङ्क होता है और (viii) अधिक सख्या मे पुरुष पात्र होते है ॥६०–६२॥

जिसमें बहुत से पुरुष मात्र प्रयुक्त होते हैं वह व्यायोग कहलाता है (यह व्यायोग शब्द की व्युत्पत्ति है)। उसमें डिम के समान हास्य और शृङ्गार से भिन्न ६ रस होते हैं। और रस वृत्त्यात्मक हुआ करते है इसलिये यद्यपि (कारिका मे व्यायोग की वृत्तियो का) निर्देश नहीं किया गया तथापि रसो के अनुसार ही कशिकी को छोडकर अन्य वृत्तिया इसमें होती हैं यह प्रकट हो जाता है। इसमें

लभ्यते । अस्त्रीनिमित्तश्चात्र सग्रामो यथा परशुरामेण पितृवधकोपात्सहस्राजुनवधः कृत । शेष स्पष्टम् ।

अथ समवकार —

(६१) काय समवकारेऽपि आमुख नाटकादिवत ॥६२॥
ख्यात दवासुर वस्तु निर्विमर्शास्तु सन्धय ।
वत्तयो म दकशिक्यो नेतारो देवदानव ॥६३॥
द्वादश।दात्तविख्याता फल तेषा पृथक्पृथक ।

ऐसे युद्ध का वर्णन होता है जिसका निमित्त स्त्री न हो जसे परशराम ने अपने पिता के वध के क्रोध से सहस्राजु न को मार दिया था। शेष स्पष्ट ही है।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८ ९०–९३) भा० प्र० (पृ० २४८) ना० द० (२ १२५) प्रता० (३ ४८), सा० द० (६ २३१–२३३)। (२) ना० द० के अनुसार यायोग मे नायिका तथा दूती आदि पात्र नही होते। कशिकी वृत्ति के न होने से उसमे स्त्री पात्र स्वल्प होते है। (३) **वत्त्यात्मकत्वाच्च रसानाम्**—क्योकि भारती आदि जो शब्दवृत्ति एव अथवृत्ति है वे नायको के नाट्यगत यापार ही है और दश० के अनुसार रस वाक्याथ के रूप मे होता हे अत रस वृत्त्यात्मक हे वत्तियो के स्वरूप मे हुआ करत है। इसलिये जहा रस है वहा वत्तिया होती ही हैं। यायोग मे भी रसो के अनुसार वत्तिया होती हे। यहा हास्य श्रृङ्गार रस नही होते और श्रृङ्गार मे कशिकी वत्ति हुआ करती है अत वह यायोग मे नही होती। (४) किन्ही आचार्यों का मत है कि यायोग मे समवकार के समान १२ नायक होते है (द्र० अभि० भा० ना० द०)। इसका नायक राजर्षि या दिय होता है (ना० शा० तथा सा० द०)। (५) यायोग का उदाहरण है–सौगन्धिकाहरण (सा० द०)।

७ समवकार—

समवकार मे भी नाटक आदि के समान (i) आमुख रखना चाहिये। (ii) इसमे देव तथा असुरो की प्रसिद्ध कथा हाती है। (iii) विमश को छोडकर अ य चार सन्धिया होती है। (iv) कैशिको की अल्पता के साथ चारो वत्तिया होती है। (v) इतिहास प्रसिद्ध उदात्त प्रकृति के देव एव दानव बारह नायक होते है, उन सबके प्रयोजन भि न भि न हुआ करते है। (vi) उन सभी मे वीर रस की प्रचुरता होती है जसे कि समुद्रमन्थन (नामक समवकार) मे है (vii) यह तीन अङ्को का होता है। (viii) इसमे

बहुवीररसा सर्वे यद्वदम्भोधिम थने ॥६४॥
अङ्कस्त्रिभिस्त्रिकपटस्त्रिशृङ्गारस्त्रिविद्रव ।
द्विसं धिरङ्क प्रथम कार्यो द्वादशनालिक ॥६५॥
चतुर्द्विनालिकाव त्यौ नालिका घटकाद्वयम ।
वस्तुस्वभावदवारिकृता स्यु कपटास्त्रय ॥६६॥
नगरोपरोधयुद्धे वाताग यादिकविद्रवा ।
धमाथकामै शृङ्गारो नात्र बि दुप्रवेशकौ ॥६७॥
वीथ्यङ्गानि यथालाभ कुयात्प्रहसने यथा ।

समवकीय तेऽस्मिन्नर्था इति समवकार । तत्र नाटकादिवदामुखमिति समस्त रूपकाणामामुखप्रापणम् । विमशवर्जिताश्चत्वार स धय देवासुरादयो द्वादश नायका तेषा च फलानि पृथक्पृथग्भव ति यथा समुद्रम थने वासुदेवादीना लक्ष्म्यादि लाभा वीरश्चाङ्गी अङ्गभूता सर्वे रसा त्रयोऽङ्का तेषा प्रथमो द्वादशनालिका

तीन कपट, तीन शृङ्गार और तीन विद्रव होने है । (ix) प्रथम अङ्क मे (मुख तथा प्रतिमुख) दो सं धिया रखनी चाहिय तथा इसकी कथा १२ नाडी (२४ घडी) की होनी चाहिये । शेष दो अङ्क क्रमश (द्वितीय) चार नाडी (८ घडी) और (तृतीय) दो नाडी (४ घडी) के होने चाहिये । नाडी (नालिका) दो घडी की होती है । (x) समवकार मे तीन कपट होते है–वस्तु स्वभावकृत, दैवकृत और अरिकृत । इसमे नगरोपरोध युद्ध तथा वायु एव अग्नि आदि द्वारा किये गये (तीन) विद्रव (उपद्रव) होते है । धम, अथ और काम से युक्त (तीन प्रकार का) शृङ्गार होता है। (xi) इसमे बि दु (नामक अथप्रकृति) और प्रवेशक (नामक अर्थोपक्षपक) नही होता । (xii) प्रहसन के समान ही यथायोग्य वीथी के अङ्ग भी हुआ करते है ॥६२–६७॥

जिसमे अनेक प्रयोजन भली भाति निबद्ध किये जाते हैं वह समवकार है (यह समवकार श द की युत्पत्ति है) । इसमे भी नाटक आदि के समान आमुख होता है (कारिका के) इस वचन से सभी रूपको मे आमुख का होना प्रकट होता है । समवकार मे विमश को छोडकर अ य चार सं धिया होती हैं । देव असुर इत्यादि १२ नायक होते हैं उनके प्रयोजन भि न भि न हुआ करते है जसे समुद्र म थन मे विष्णु आदि को लक्ष्मी आदि की प्राप्ति होती है । उसमे वीररस अङ्गी (प्रधान) होता है और अ य सभी रस अङ्ग होत हैं । तीन अङ्क होते है । उनमे प्रथम अ ङ्क का इतिहास १२ नाडी मे समाप्त हुआ करता है । द्वितीय और तृतीय अङ्क क्रम से चार नाडो और दो नाडी के होते है । नाडी (नालिका) दो घडी (घटिका) की होती है । प्रत्येक अङ्क मे क्रमश तीन कपट (प्रथम मे वस्तु स्वभावकृत द्वितीय मे दवकृत और तृतीय मे अरिकृत) तथा नगर का घेरा, युद्ध एव वायु और अग्नि आदि के विद्रवो मे से कोई एक विद्रव दिखलाया जाता है ।

---

* नाडिक इति पाठा तरम् ।
† नाडिका इति पाठा तरम् ।

निवृत्तेतिवृत्तप्रमाण । यथासख्य चतुर्दिनालिकावर्त्यौ नालिका च घटिकाद्वयम् । प्रत्यङ्क च यथासख्य कपटा तथा नगरोपरोधयुद्धवाताग्न्यादिविद्रवाणा मध्य एकको विद्रव काय । धर्मार्थकामशृङ्गाराणामेकक शृङ्गार प्रत्यङ्कमेव विधात य । वीथ्यङ्गानि च यथालाभ कार्याणि । बि दुप्रवेशकौ नाटकोक्तावपि न विधात यौ । इत्यय समवकार

धम शृङ्गार अथ शृङ्गार और काम शृङ्गार मे से एक एक शृङ्गार प्रत्येक अङ्क मे दिखलाना चाहिये। और बीथी के अङ्गो की भी यथायोग्य योजना करनी चाहिए। यद्यपि नाटक मे बि दु और प्रवेशक का विधान किया गया है तथापि समवकार में वे नही रक्खे जाते। यही समवकार का स्वरूप है।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१ ६२–७७), भा० प्र० (पृ० ५४६– ५०) ना० द० (२ १२६–१२६) प्रता० (३ ४६–५२) सा० द० (६ २३४–२४०)। (२) सर्वेषा नायक नामथा =प्रयोजनानि समवकीय ते=एकत्रीभवर्ि । अत्रति समवकार इत्यथ (प्रभा)। (३) त्रिकपट–कपट= वञ्चना (अभि० भा०) सत्य सा प्रतीत हाने वाला मिथ्या कल्पित प्रपञ्च (ना० द०) । तीन प्रकार के कपट की अनेक प्रकार से याख्या की गई है। सक्षप मे क्रूर प्राणी आदि स उत्पन्न हाने वाला वस्तुस्वभावकृत कपट है दवयोगात या वायु आदि से उत्पन्न होने वाला दवकृत है और किसी अपकारी द्वारा किया गया शत्रुकृत है। (४) त्रिविद्रव - विद्रवा =उपद्रवा (प्रभा) अनथ जिससे लोग डरकर भागते है (अभि० भा०, ना० द०), कपटजन्य पलायन ही विद्रव है (प्रता० टीका)। इसके तीनो भेदो की याग्या भी भिन्न भिन्न प्रकार से की गई है। धनञ्जय ने ना० शा० के वचन को ही कुछ हेर फेर करके रख दिया है। अभिनवगुप्ताचाय ने अचेतनकृत (वायु आदि से किया गया) चेतनकृत (हाथी आदि से किया गया) और उभयकृत (नगरोपरोध से किया गया)—ये तीन भेद किये है। ना० द० तथा सा० द० मे अभि० भा० का ही अनुसरण किया गया है। **त्रिशृङ्गार—शृङ्गार** शृङ्गार का विषय प्रमदा (अभि० भा०) अथवा शृङ्गार का प्रसिद्ध अथ रतिभाव ही ग्राह्य है। अभि० भा० के अनुसार धर्मे शृङ्गार =धम शृङ्गार यह विग्रह है और सप्तमी विभक्ति (धर्मे) के द्वारा हेतु तथा फल दोनो प्रकट किये गये है। भाव यह है कि जहा रतिभाव (या प्रमदा) की प्राप्ति धम के द्वारा होती है और उसका फल भी धम का आचरण होता है वह धमशृङ्गार है जसे पति-पत्नी-सयोग धमशृङ्गार है। यह व्रत तथा तप आदि से प्राप्त होता है और इसका फल है परस्त्रीत्याग आदि करते हुए गृहस्थ धम का पालन करना। अथ शृङ्गार है वेश्या आदि से सयोग यह पुरुष को धन (अथ) के द्वारा प्राप्त होता है और वेश्या की अथ–प्राप्ति इसका फल है। परस्त्री आदि से सयोग कामशृङ्गार है जो कामवश किया जाता है और केवल सुख–भोग (काम) ही उसका फल है। (द्र० अभि० भा० तथा ना० द०) (५०) समवकार का उदाहरण है समुद्रमथन या अमृतमन्थन (भा० प्र०)।

अथ वीथी—

(६२) वीथी तु कशिकीवत्तौ स ध्यङ्गाङ्कैस्तु भाणवत ॥६८॥
रस सूच्यस्तु शृङ्गार स्पृशदपि रसान्तरम ।
युक्ता प्रस्तावनारयातरङगरुदघात्यकादिभि ॥६९॥
एव वीथी विघातव्या द्वय्येकपात्रप्रयोजिना ।

वीथीवद्वीथी माग अङ्गाना पङक्तिर्वा भाणवत्कार्या । विशेषस्तु रस शृङ्गारोऽपरिपूणत्वाद् भूयसा सूच्य रसा तराण्यपि स्तोक स्पशनोयानि । कशिकी वृत्ती रसौचित्यादेवति । शेष स्पष्टम् ।

---

८ वीथी—

वीथी तो कशिकी वत्ति मे होती है । इसमे स धि के अङ्ग तथा अङ्क भाण के समान होन है (अर्थात मुख और निवहण दो स धया होती है और एक अङ्क होता है) इसका (प्रधान) सूच्य रस शृङ्गार होता है कि तु अ य रसो का भी स्पश करना चाहिये । यह प्रस्तावना के उदघात्यक आदि अङ्गो से युक्त होती है । इस प्रकार एक या दो पात्रो के द्वारा प्रयक्त वीथी की योजना करनी चाहिये ॥६८–६९॥

वीथी के समान होने से यह वीथी कहलाती है । वीथी का अथ है—माग अथवा अङ्गो की पक्ति । वीथी मे अङ्गो की योजना भाण की तरह करनी चाहिये, (भाण से) भेद यह है कि यहा पूण वणन न होने के कारण शृङ्गार रस को ही बहुश सूचित करन होता है तथा अ य रसो का भी अल्पमात्रा मे स्पश किया जाता है । (शृङ्गार) रस के अनुकूल होने से ही यहा कशिकी वत्ति होती है । शष स्पष्ट है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८ १११–११३ वीथ्यङ्ग ११४), भा० प्र० (पृ० २५१) ना० द० (२ १४०–१४१) प्रता० (३ ५३–५४), सा० द० (६ २५३–२५४ वीथ्यङ्ग २५५) । (२) **विशषस्तु**=कि तु भेद यह है । भाण मे वीर और शृङ्गार दोनो को सूचित किया जाता है कि तु वीथी मे केवल शृङ्गार को । (३) **अपरिपूणत्वात्** =पूण न होने के कारण भाव यह है कि यहा शृङ्गार का पूण तया वणन नही किया जाता अत उसको बहुत स उपायो द्वारा सूचित करना होता है । (४) एक पात्र के आकाशभाषित द्वारा या दो पात्रो की उक्ति–प्रत्युक्ति द्वारा वीथी मे वस्तु–वणन किया जाता है (सा० द०) । (४) ना० द० के अनुसार वीथी मे वक्रोक्ति वचि य हुआ करता है–वक्रोक्तिमार्गेण गमनाद् वीथीव वीथी । वकुलवीथी और इ दु लखा इत्यादि वीथी रूपक हैं (भा० प्र०) ।

अथाङ्क —

(६३) उत्सृष्टिकाङ्के प्रख्यात वृत्त बुद्धया प्रपञ्चयेत ॥७०॥
रसस्तु करुण स्थायी नेतार प्राकृता नरा ।
भाणवत्सन्धिवृत्त्यङ्गान्यस्मिन् स्त्रीपरिदेवितै ॥७१॥
वाचा युद्ध विधातव्य तथा जयपराजयौ ।

उत्सृष्टिकाङ्क इति नाटकान्तर्गताङ्कव्यवच्छेदार्थम् । शेष प्रतीतमिति ।

---

६ उत्सृष्टिकाङ्क—

उत्सृष्टिकाङ्क (नामक रूपक) मे (i) कवि को इतिहास प्रसिद्ध इतिवृत्त अपनी बुद्धि से विस्तृत कर लेना चाहिये । (ii) इसमे करुण अङ्गी (स्थायी) रस होता है और (iii) साधारण जन नायक होते हैं । (iv) भाण के समान (मुख तथा निर्वहण) सधि (भारती) वृत्ति तथा उनके अङ्गो की योजना (युक्ति) होती है । (v) यह स्त्रियो के विलाप से युक्त होता है । (vi) इसमे वाग्युद्ध का वर्णन करना चाहिये तथा जय पराजय का भी ॥७०-७१॥

नाटक के अङ्क से भेद दिखलाने के लिये इसे उत्सृष्टिकाङ्क कहा जाता है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८ ९३-९६) भा० प्र० (पृ० २५१ २५३) ना० द० (२ १३६-१३७) प्रता० (३ ५५) सा० द० (६ २५०-२५२) । (२) **व्यवच्छेदार्थम्**—यह एक अङ्क का रूपक है अत इसे अङ्क भी कहा जा सकता है, किन्तु नाटक आदि मे जो अङ्क होते हैं उनसे इसका भेद दिखलाने के लिये उसे उत्सृष्टिकाङ्क कहते है (धनिक) । वस्तुत इसके तथा नाटक आदि के अङ्क के रचना-विधान मे अन्तर है । (अङ्कलक्षणम्) उल्लङ्घ्य सृष्टियस्य स उत्सृष्टिक स चासोऽङ्कश्च इति उत्सृष्टिकाङ्क (मि०, प्रता० टीका) । अथवा उत्क्रान्ता विलोमरूपा सृष्टिर्यत्रेत्युत्सृष्टिकाङ्क (सा० द०) । अभि० भा० तथा ना० द० के अनुसार तो यह उत्सृष्टिकाङ्क इसलिये कहलाता है क्योकि इसमे शोकग्रस्त नारियो का विशेष रूप से चित्रण होता है—उत्सृष्टिका शोचन्त्य स्त्रिय । ताभिरङ्कितत्वाद् उत्सृष्टिकाङ्क । (३) **भाणवत सधिवृत्त्यङ्ग युक्ति**—यहा अङ्ग के स्थान पर 'अङ्क' वाञ्छनीय प्रतीत होता है जिससे भाण के समान एक अङ्क होता है, यह अर्थ भी प्रकट हो सके ।

अथेहामृग —

(६४) मिश्रमीहामगे वत्त चतुरङ्क त्रिसधिमत ॥७२॥
नरदिव्यावनियमा नायकप्रतिनायकौ ।
ख्यातौ धीरोद्धतावन्त्यो विपर्यासादयुक्तकृत् ॥७३॥
दिव्यस्त्रियमनिच्छन्तीमपहारादिनेच्छत ।
शृङ्गाराभासमप्यस्य किञ्चित्किञ्चित्प्रदर्शयेत ॥७४॥
सरम्भ परमानीय युद्ध व्याजान्निवारयेत ।
वधप्राप्तस्य कुर्वीत वध नैव महात्मन ॥७५॥

मृगवदलभ्या नायिका नायकोऽस्मिन्नीहते इतीहामृग । ख्याताख्यात वस्तु । अन्त्य =प्रतिनायको विपर्यासाद्विपर्ययज्ञानादयुक्तकारी विधय । स्पष्टमन्यत् ।

---

१० ईहामृग—

ईहामग नामक रूपक मे (i) इतिवत्त मिश्रित (अशत ख्यात अशत कल्पित) होता है (ii) जो चार अङ्को तथा तीन सधियो (मुख, प्रतिमुख, निवहण) मे विभक्त होता है, (iii) बिना किसी नियम के नर तथा देव नायक और प्रतिनायक होते है जो इतिहास प्रसिद्ध तथा धीरोद्धत होते है। (iv) इनमे से अन्तिम (प्रतिनायक) भूल (भ्रान्ति) से अनुचित काय किया करता है। (v) वह न चाहती हुई दिव्य स्त्री को अपहरण आदि द्वारा प्राप्त करना चाहता है, इस प्रकार का वणन करके कवि को कुछ मात्रा मे शृङ्गाराभास भी प्रदर्शित करना चाहिये। (vi) युद्ध को चरमसीमा के वेग (सरम्भ) तक पहुचाकर किसी बहाने से रोक दना चाहिये तथा (vii) वध की अवस्था तक पहुचे हुए भी वीर का (महात्मन) वध नही करना चाहिये ॥७२ ७५॥

इसमे मृग के समान नायक किसी अलभ्य नायिका को चाहता है इसलिये यह ईहामृग कहलाता है। इसकी कथावस्तु अशत इतिहास प्रसिद्ध तथा अशत कल्पित होती है। (कारिका मे) अन्त्य,=प्रतिनायक, उसे विपर्यास अर्थात मिथ्याज्ञान के अनुचित काय करने वाला दिखलाना चाहिये। अन्य स्पष्ट ही है।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८ ८०–८३) भा० प्र० (पृ० २५३) ना० द० (२ १३८–१३६) प्रता० (३ ५६–५७) सा० द० (६ २४५–२५०)। ना० द तथा सा० द० मे कुछ अधिक विशद विवेचन है। (२) अभि० भा० तथा ना० द० के अनुसार जिसमे कवल स्त्री के लिये मृग के समान ईहा होती है वह ईहामृग कहलाता है—ईहा चेष्टा मृगस्येव स्त्रीमात्रार्था यत्र स ईहामृग । (३) ईहामृग एक अङ्क या चार अङ्क का होता है (ना० द० सा० द०)। (४) **शृङ्गाराभास**—जहा अनुचित रति का वणन होता हे वहा रत्याभास तथा शृङ्गाराभास होता है। ईहा मृग मे प्रतिनायक ऐसी नायिका की प्राप्ति के लिये चेष्टा करता है जो उससे प्रम नही

(६५) इत्थ विचि त्य दशरूपकलक्ष्ममाग-
मालोक्य वस्तु परिभाव्य कविप्रब धान् ।
कुर्यादयत्नवदलङ्कृतिभि प्रब ध
वाक्यरुदारमधुर स्फुटम दवत्त ॥७६॥

स्पष्टम् ।

इति श्रीविष्णुसूनोधनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके रूपकलक्षणप्रकाशो
नाम तृतीय प्रकाश समाप्त ।

करती वहा रति उभयनिष्ठ नही अत श्रृङ्गाराभास है (द्र० सा० द० ३ २६२)। (५) वधप्राप्तस्य०--चाहे कथावस्तु के मूलभूत आख्यान मे वीर का वध वर्णित हो तथापि यहा नही दिखलाना चाहिये (Haas)। नेपथ्य मे भी वध का वर्णन न करना चाहिये (ना० द०)। (६) ईहामृग का उदाहरण है--कुसुमशेखर (भा० प्र०) या कुसुमशेखर-विजय (सा० द०)।

इस प्रकार दस रूपको के लक्षणो के माग का भली-भाति विचार करके वस्तु का निरीक्षण करके तथा कवियो की रचनाओ का अनुशीलन करके (परिभाव्य) किसी कवि को अकृत्रिम (अयत्नवद) अलङ्कारो से युक्त, उदार (स्पष्ट अथ वाले) एव मधुर वाक्यो तथा स्पष्ट और सरल छ दो के द्वारा रूपक (प्रब ध) की रचना करनी चाहिये ॥७६॥

यह स्पष्ट ही है।

टिप्पणी--अयत्नवद०--'अयत्नवत् के दो अथ हो सकते है--(1) यह कुर्यात् का क्रियाविशषण है अयत्नवत् कुर्यात्=बिना आयास के प्रब ध-रचना करे, अर्थात् रचना मे स्वाभाविकता हो सहज प्रतिभा का उच्छलन हो one may produce without effort (Haas) अयत्नवत्=अनायासेन=अक्लिष्टम् इत्यथ । क्लिष्ट-रचनायामायाससभवात (प्रभा)। (II) यह अलङ्कृति का विशेषण है--यत्नपूवक लाये गये अलङ्कारो के बिना=स्वाभाविक (अकृत्रिम) अलङ्कारो से युक्त। इसके द्वारा कवियो को कृत्रिम अलङ्कारो की भरमार करने के प्रति सचेत किया गया है।

इस प्रकार इस तृतीय प्रकाश मे नाटक आदि दस रूपको के लक्षणो का विशद निरूपण किया गया हे। प्रसङ्गानुसार नाटक का वस्तु-सन्निवेश, भारती वृत्ति उसके प्रस्तावना इत्यादि अङ्ग तथा अङ्क का स्वरूप आदि भी दिखलाये गये है।

इति तृतीय प्रकाश समाप्त ।

अथ चतुर्थः प्रकाशः

अथेदानीं रसभेद प्रदश्यते—

(१) विभावरनुभावैश्च सात्त्विकव्यभिचारिभि ।
आनीयमान स्वाद्यत्व स्थायी भावो रस स्मत ॥१॥

वक्ष्यमाणस्वभावर्विभावानुभावव्यभिचारिसात्त्विक का योपात्तरभिनयोपदर्शितर्वा श्रोतृप्रेक्षकाणाम तर्विपरिवतमानो रत्यादिवक्ष्यमाणलक्षण स्थायी स्वादगोचरताम्=निभरान दसविदात्मतामानीयमानो रस । तेन रसिका सामाजिका काय तु तथाविधा दसविदु मीलनहेतुभावेन रसवद् आयुघृ तमित्यादि यपदेशवत् ।

वस्तु, नायक और रस ये तीन रूपको के भेदक तत्त्व है। इनमे से वस्तु तथा नायक का विस्तारपूवक वणन प्रथम तथा द्वितीय प्रकाश मे किया गया है। तृतीय प्रकाश मे रूपको के विविध प्रकारो का स्वरूप दिखलाया गया है। चतुथ प्रकाश मे क्रम-प्राप्त रस का विवेचन किया जाता है।

अब यहा रस के भेद दिखलाये जाते हैं—

विभाव, अनुभाव सात्त्विक भाव और व्याभिचारी भावो के द्वारा आस्वादन के योग्य किया गया स्थायी भाव ही रस कहलाता हे ॥१॥

(श्रव्य काव्य के) श्रोताओ तथा (अभिनय के) दशक के हृदय मे विशेषरूप से विद्यमान रति आदि स्थायीभाव होता है जिसका लक्षण आगे कहा जायेगा। वह (स्थायी) आगे बतलाये गये स्वरूप वाले, काव्य मे वर्णित अथवा अभिनय द्वारा प्रदर्शित विभाव, अनुभाव व्याभिचारी भाव और सात्त्विक भावो के द्वारा आस्वादन के योग्य अर्थात् अत्यधिक आन दमय अनुभति के रूप मे कर दिया जाता है तथा रस कहलाता है। इस प्रकार सामाजिक (श्रोता तथा दशक) ही रसिक (=रस युक्त रस का आस्वादन करने वाले) है। काय तो केवल उस प्रकार की आन दानुभूति के उद्बोधन का कारण होने से रसवत् (रसयुक्त सरस काव्य इत्यादि) कहलाता है जिस प्रकार (लोक मे) आयुघ तम इत्यादि यवहार हुआ करता है।

टिप्पणी—(१) इसका आधार यह रस सूत्र है— विभावानुभावव्यभिचारि सयोगाद् रसनिष्पत्ति (ना० शा० अ० ६ पृ० २७२)। तुलनाथ द्र० भा० प्र० (षष्ठोऽधिकार) का०प्र० (४ २७ २८) ना० ८० (३ १६३) प्रता० (पृ० १५५) सा० द० (३ १)। (२) आयुघ तम द य दि प्रयोग — माना जाता है कि

तत्र विभाव —

(२) ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावपोषकृत ।
आलम्बनोद्दीपनत्वप्रभेदन स च द्विधा ।।२।।

एवमयम् एवमियम् इत्यतिशयोक्तिरूपका य यापाराहितविशिष्टरूपतया ज्ञायमानो विभा यमान स नालम्बनत्वेनोद्दीपनत्वेन वा यो नायकादिरभिमतदेशकालादिर्वा स विभाव । यदुक्तम—'विभाव इति विज्ञालाथ इति ताश्च यथास्व यथावसर च रसपूपपा यिष्याम ।

घृत आयुवद्धक है। यहा घृत आयु वद्धि का हेतु है फिर भी औपचारिक रूप से यह कह दिया ज ता है—आयुघृ तम् अर्थात् घृत आयु ही है। इसी प्रकार का य या नाटच सामाजिक के रसास्वादन का हेतु हुआ करता है। वह सहृदयो के हृदय मे आन दानुभूति को उद्भावित करता है। यह आन दमय अनुभूति ही रस है। और अनुभूति चेतन का धम है। अत रस सामाजिक के हृदय मे रहा करता है। वह अचेतन का य मे नही रह सकता। इस प्रकार औपचारिक रूप से ही ऐसा यवहार हुआ करता है कि यह का य सरस (रसवत्) है।

विभाव

उनमें विभाव का स्वरूप यह है—

उन (रस के उदभावको) मे विभाव वह है जो स्वय जाना हुआ होकर (स्थायी) भाव को पुष्ट करता है। वह आलम्बन और उद्दीपन के भेद से दो प्रकार का होता है ॥२॥

टिप्पणी—ना० शा० (अ० ७ पृ० ३४६ ३४७), भा० प्र (पृ० ४) ना० द० (३ १६४) प्रता० (पृ० १५८), सा० द० (३ २८ २६)।

यह (दुष्य त आदि) ऐसा है, अथवा 'यह (शकु तला आदि) ऐसी है' इस प्रकार जो नायक आदि या अभीष्ट देश काल आदि काव्य के अतिशयोक्ति रूप वणन के द्वारा विशिष्ट रूप वाले हो जाने के कारण आलम्बन के रूप मे अथवा उद्दीपन के रूप में जाने जाते हैं (ज्ञायमान = विभाव्यमान), वे विभाव कहलाते है। जसा कि (भरतमुनि ने ना० शा० पृ० ३४६) कहा है— विभाव अर्थात् जाना हुआ अथ। जिस रस के जो विभाव होते हैं (यथास्वम्) उनका यथावसर रसों (के प्रकरण) मे प्रतिपादन करेंगे।

टिप्पणी— (१) अतिशयोक्तिरूप० = अतिशयोक्तिरूपेण का यव्यापारेण आहि ता या विशिष्टरूपता तया यहाँ अतिशयोक्ति का अथ इस नाम का अलङ्कार नही है अपि तु अनूठी उक्ति या लोकोत्तर वणन' है। इस अथ मे अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति श द का प्रयोग होता रहा है 'भामह) कवि का कम=का य-व्यापार यही है कि वह लोक के पदार्थों का लोक से ऊपर उठकर अतिशयोक्ति द्वारा वणन करता है। इसीलिये इस का य यापार के द्वारा इतिहास आदि मे प्रसिद्ध दुष्यन्त

अमीषा चानपेक्षितबाह्यसत्त्वाना श ोपधानादेवासादितत द्भावाना सामा या त्मना स्वस्वमम्बन्धित्वेन विभाविताना साक्षाद्भावकचेतसि विपरिवतमानानामाल म्बनादिभाव इति न वस्तुशू यना ।

तदुक्त भतृ हरिणा—

श दोपहितरूपास्ता बुद्धविषयता गतान् ।
प्रत्यक्षमिव कसादी साधनत्वेन म यते ॥ इति ।

षटसहस्रीकृताप्युक्तम— एभ्यश्च सामा यगुणयोगेन रसा निष्पद्य ते' इति ।

आदि एक विशिष्ट (=लोकोत्तर) रूप धारण कर लेते है और वे का य मे आलम्बन आदि के रूप मे जाने जाते है (विभा यमान)। (२) एवम् अयम् यहा अयम (=यह) दुष्य त आदि नायक के लिये है। एवम (=ऐसा है) का अभिप्राय है कि यह शकु तला आदि के प्रति अनुराग युक्त है जसा कि का य मे वर्णित इसकी वाक काय–चेष्टाओ से प्रकट हो रहा है (मि० का यप्र० शङ्कु क मत)। और यह शकु तला आदि ऐसी है (एवम इयम) कि जिसके प्रति दुष्य त आदि के मन मे अनुराग है। (३) विशिष्ट=इतिहास या लोक मे प्रसिद्ध दुष्य त आदि की अपेक्षा भि न लोकोत्तर।

और ये (नायक आदि) बाह्य सत्ता की अपेक्षा किये बिना ही शब्द की उपाधि के द्वारा अपने अपने रूप मे प्रकट होते है सामा य रूप वाले होकर सभी सहृदयों (भावक) के द्वारा अपने आपसे सम्ब ध रखते हुए से समझे जाते हैं। इस प्रकार सहृदयों के चित्त मे साक्षात् रूप से स्फुरित होते हुए आलम्बन आदि हो जाते है। इसलिये वहाँ नायक आदि का अभाव नहीं होता (न वस्तुशू यता)।

भतृ हरि ने भी कहा है (?)— शब्द के द्वारा जिनका स्वरूप प्रस्तुत कर दिया जाता है अतएव जो बुद्धि द्वारा ग्राह्य (विषय) हो जाते है उन कस आदि को बोद्धा प्रत्यक्ष के समान (कर्म आदि) कारक के रूप मे समझ लेता है।

षटसहस्री के कर्ता (भरत) ने भी कहा है— इन (विभाव आदि) से सामान्यगुण के सम्ब ध के द्वारा रसों की निष्पत्ति हो जाती है (ना० शा० ७ ६–७ के मध्य पृ० ३४८)

टिप्पणी—अमीषा न वस्तुशू यता—यहा यह शङ्का हो सकती है कि काव्य मे वर्णित नायक आदि तो वस्तुत इस समय विद्यमान नही फिर वे सहृदय के भावोद्बोधन मे आलम्बन आदि कसे हो सकते है ? इसका समाधान करते हुए धनिक ने कहा है— अमीषाम' इत्यादि। भाव यह है --(1) यह ठीक है कि का यगत नायक आदि की इस समय बाह्य जगत् मे सत्ता नही। कि तु इससे कोई दोष नही आता क्योकि उ हे रस का आलम्बन बनाने के लिए उनकी बाह्य जगत् मे सत्ता अपेक्षित नही है (अनपेक्षित बाह्य सत्त्वानाम) (11 वस्तुत उनकी बुद्धिगत

तत्रालम्बनवि ावो यथा—

अस्या सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रद
श्रृङ्गारैकनिधि स्वय नु मदनो मासो नु पुष्पाकर ।
वेदाभ्यासजड कथ नु विषय यावतकौतूहलो
निर्मातु प्रभवे मनोहरमिन्द रूप पुराणो मुनि ॥२११॥

(बौद्धिक) सत्ता अपेक्षित है और वे साक्षात् रूप से सहृदय (भावक) के चित्त मे स्थित रहते ही हैं (साक्षाद् भावकचेतसि विपरिवर्तमानानाम)। कसे ? (iii) काव्य के शब्दो द्वारा उनके अपने अपने रूप उपस्थित हो जाया करते है (शब्दरूपाद् उपधानाद्=उपाधे आसादित प्राप्त तत्तद्भाव नायकदेशकालादिरूपता य तथा भूतानाम)। किन्तु प्रश्न यह है कि यदि शब्दो के द्वारा शकुन्तला आदि के रूप मे नायिका आदि उपस्थित हो जाय तब भी वे सहृदय सामाजिको का आलम्बन आदि नही हो सकते। इसके उत्तर मे कहा गया है—सामान्यात्मनाम् अर्थात् शब्दो से सामान्य नायिका आदि के रूप मे ही उनका बोध होता है और प्रत्येक भावक को वह नायिका आदि अपने आपसे सम्बन्ध रखती सी प्रतीत हुआ करती है (स्वस्व सम्बन्धित्वेन विभावितानाम्)। इस प्रकार काव्यगत नायक आदि बाह्य जगत मे विद्यमान न होते हुए भी सामाजिको के आलम्बन आदि हो जाया करते है क्योकि शब्दो द्वारा ज्ञात होकर भी कोई पदार्थ साक्षात् रूप से चित्त मे विद्यमान रहता है। (२) शब्दोपहित०—बुद्धि मे स्थित अर्थ को भी मानव साक्षात् रूप से विद्यमान सा समझ लेता है इस मन्तव्य के समर्थन मे भर्तृहरि की यह कारिका उदधृत की गई है। इसका सन्दर्भ अज्ञात है (३) षटसहस्री—जसा कि शारदातनय (भा० प्र० दशम अधिकार पृ० २८७) ने बताया है, नाट्यशास्त्र की दो पाठ परम्परायें मानी जाती हैं। उनमे से एक बृहत् पाठ है जिसमे १२००० श्लोक हैं तथा जो द्वादश सहस्री कहलाता है दूसरा लघु पाठ है, जिसमे ६००० श्लोक हैं तथा जो षट् सहस्री कहलाता है। दोनो के कर्त्ता भरत माने जाते हैं। षटसहस्रीकार=भरत।

उनमे आलम्बन विभाव यह है जसे (विक्रमोर्वशीय १ ८ पुरूरवा की उक्ति मे वर्णित उर्वशी आलम्बन विभाव है)— इस (उर्वशी) के रचना कार्य मे क्या कान्तिदायक चन्द्रमा ही प्रजापति है ? अथवा जिसका श्रृङ्गार ही प्रधान रस हैं वह कामदेव ही स्वय इसका स्रष्टा है ? या पुष्पो का निधानभूत मास अर्थात् मधुमास (वसन्त) इसका निर्माता है ? क्योकि वेद के अभ्यास से कुण्ठित (जड) सुन्दर विषयों मे औत्सुक्य रहित (व्यावृत्त) पुरातन मुनि ब्रह्मा इस रमणीय रूप के निर्माण मे कसे समर्थ हो सकता है ?'

उद्दीपनविभावो यथा—

अयमुत्यति च द्रश्चन्द्रिकाधौतविश्व परिणतविमलिम्नि व्योम्नि कपू रगौर ।
ऋजुरजतशलाकास्पर्धिभियस्य पादजगदमलमृणालीपञ्जरस्थ विभाति ॥ २१२॥

(३) अनुभावो विकारस्तु भावससूचनात्मक ।

स्थायिभावाननुभावय न्त सामाजिकान् सभ्रू विक्षपकटाक्षादयो रसपोषकारिणऽनु भावा । एने चाभिनयका ययोरप्यनुभावयता साक्षाद्भावकानामनुभवकमतयानुभूय त इत्यनुभवनमिति चानुभावा रसिकेषु यपदिश्य ते । विकारो भावससूचनात्मक इति तु लौकिकरसापेक्षया इ तु तेपा कारणत्वमेव । यथा ममव—

उज्जम्भाननमुल्लसत्कुचतट लोलभ्रमद्भ्रू लत
स्वेदाम्भ स्नपिताङ्गयष्टिविगलद्व्रीड सरोमाञ्चया ।
धन्य कोऽपि युवा स यस्य वदने यापारिता सस्पृह
मुग्धे दुग्धमहाब्धिफनपटलप्रख्या कटाक्षच्छटा ॥' २१३ ॥

इत्यादि यथारसमुदाहरिष्याम ।

उद्दीपन विभाव वह हे जसे कपू र के समान गौर वण वाला चाँदनी से समस्त ससार को धो डालने वाला यह च द्रमा निमल आकाश मे उदित हो रहा है। और सरल रजत शलाकाओ से स्पर्धा करने वाली इसकी किरणो से यह ससार स्वच्छ मृणाल के पिंजरे में रक्खा हुआ सा शोभायमान है।

अनुभाव—

(रति आदि) भावो को सूचित करने वाला विकार (शरीर आदि का परिवतन) अनुभाव है।

सामाजिको को (रति आदि) स्थायी भाव का अनुभव कराने वाले तथा रस को पुष्ट करने वाले भ्रू विक्षेप सहित कटाक्ष आदि अनुभाव हैं। क्योकि ये अभिनय (दृश्य काव्य) तथा काव्य (श्रव्य) मे अनुभावित होने वाले (अनुभावयताम्) रसिकों को साक्षात् अनुभव के कम के रूप मे अनुभूत होते हैं इसलिये ये रसिको मे अनुभवन या अनुभाव कहलाते हैं। भाव को सूचित करने वाला विकार अनुभ व है यह कथन लौकिक रस की दृष्टि से है। यहाँ (नाटय या काव्य से आस्वादित रस मे) तो वे (अनुभाव) रस के निमित्त ही हुआ करते है।

(अनुभाव का उदाहरण है) जसे यह मेरा (धनिक) ही पद्य— हे मुग्धे रोमाञ्च युक्त ऊपर मुख किये जम्भाई लेकर स्तनतट को ऊपर उभार कर भ्रू लता को चञ्चलता से घुमाकर, स्वेद जल के द्वारा भीगे शरीर से लाज को बहाकर तुमने स्पृहापूवक जिसके मुख पर क्षीर सागर के फेन पटल के समान श्वेत कटाक्षो की छटा बिखेरी है वह अनोखा (कोऽपि = कोई) युवक ध य है ।

इत्यादि। इन अनुभावो के, रस के अनुसार, आगे उदाहरण देंगे।

(४) हेतुकार्यात्मनो सिद्धिस्तयो सव्यवहारत ॥३॥

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७ ५ पृ० ,४७) भा० प्र० (पृ० ४) ना० द० (३ १६४) प्रता० पृ० १५६) सा० द० (३ १३२–१३)। (२) यहा धनञ्जय ने केवल यह कहा है कि रति आदि भाव को सूचित करने वाले विकार अनुभाव कहलाते हैं। भाव यह है कि जब दुष्य त आदि के चित्त मे शकुतला तथा उद्यान आदि के द्वारा रति आदि भाव उद्‌बुद्ध एव उद्दीप्त हो जाता है तो दुष्य त आदि के शरीर मे भुजोत्क्षप (भुज फडकना) आदि विकार हुआ करते है जो उसके हृदय मे स्थित रति आदि को सूचित करते हे वे ही अनुभाव कहलाते हैं क्योकि ये भाव के पश्चात् उत्पन्न होने है (अनु पश्चाद् भवन्ति इति)। धनिक का कथन है कि इस प्रकार यहाँ लौकिक रस की दृष्टि से ही अनुभावो को भावसूचक विकार (=रति आदि का काय) कहा गया है। काव्यरसिको द्वारा आस्वादित रस की दृष्टि से तो अनुभाव रस के कारण होत है काय (विकार) नही। उस दृष्टि से काव्य नाट्य मे वर्णित या अभिनीत कटाक्ष आदि ही अनुभाव है। और अनुभाव शब्द की व्युत्पत्ति है—(i) 'सामाजिकान् स्थायिभावान् अनभावयन्ति इति—जो सामाजिको को स्थायी भावो का अनुभव कराते है। काव्य–नाट्य मे अनुभावो का वर्णन पढकर या अभिनय देखकर सामाजिको को दुष्यन्त आदि के रति भाव का अनुभव हो जाता है। इसी से ये अनुभाव रस पोषण के निमित्त हो जाया करते है। अथवा (ii) काव्यनाट्ययो अनुभूय ते इति अनुभावा —जिनका अनुभव किया जाता है वे अनुभाव है। (द्र० अनुवाद)। यहा भावकाना साक्षाद् अनुभवकमतया अनुभूयन्ते यह अन्वय है। धनिक द्वारा की गई अनुभाव शब्द की ये दोनो व्युत्पत्तियाँ रसस्वरूप के विश्लेषण मे विशेष महत्त्व रखती है। (३) लौकिक रस का अभिप्राय है—लोक मे दुष्यन्त आदि के हृदय मे होने वाले रति आदि भाव। काव्य–नाट्य का रस उस लौकिक रति आदि भाव से विलक्षण है अत वह अलौकिक रस कहलाता है। प्राय उस के लिये केवल रस शब्द का प्रयोग होता है और रति आदि भाव को लौकिक रस या भाव कहा जाता है।

ये दोनो (विभाव तथा अनुभाव) क्रमश (लौकिक रस के प्रति) कारण एव काय होते है अत इनका स्वरूप लौकिक व्यवहार से ही सिद्ध है।

तयोर्विभावानुभावयोर्लौकिकरस प्रति हेतुकार्यभूतयो स्यवहारादेव सिद्धत्वान्न पृथग्लक्षणमुपयुज्यते । तदुक्तम्— विभावानुभावौ लोकससिद्धौ लोकयात्रानुगामिनौ लोकस्वभावोपगतत्वाच्च न पृथग्लक्षणमुच्यते इति ।

अथ भाव —

(५) सुखदु खादिकभावैर्भावस्तद्भावभावनम ।

अनुकार्याश्रयत्वेनोपनिबध्यमान सुखदु खादिरूपर्भावैस्तद्भावस्य भावकचेतसो भावन वासन भाव । तदुक्तम्— अहो ह्यनेन रसेन गन्धेन वा सवमेतद्भावित वासितम् इति ।

(कारिका मे तयो (उन दोनो का)=विभाव तथा अनुभाव का, विभाव तथा अनुभाव क्रमश लौकिक रस (रति आदि भाव) के कारण एव काय होते है। वे लोक व्यवहार से ही जान लिये जाते ह अत उनका पृथक लक्षण करना आवश्यक नहीं। जसा कि कहा है (ना० शा० अ० ७ पृ० ३४८) विभाव और अनुभाव लोक मे प्रसिद्ध ही है, ये लोक व्यवहार का अनुसरण करने है और लोक के स्वभाव से ही इनका ज्ञान हो जाने के कारण इनका पृथक लक्षण नहीं बतलाया गया ।

टिप्पणी—(१) यहाँ ना० शा० अ० ७ श्लोक ६ तथा उससे पूव के गद्य का भावमात्र उद्धत किया गया है। (२) लोक मे जा रति आदि भाव के उत्पादक नायिका आदि तथा उद्दीपक चन्द्रिका आदि कारण है वे हा काव्य–नाट्य मे क्रमश आलम्बन एव उद्दीपन विभाव कहलाते हैं। इसी प्रकार लोक मे रति आदि भाव की उत्पत्ति के पश्चात् जो रति आदि के कायरूप कटाक्ष इत्यादि होते हैं वे ही काव्य–नाट्य मे अनुभाव कहलाते हैं। ये दोनो लोक से जान लिये जाते है अत इनका लक्षण करना आवश्यक नही समझा गया ।

भाव

(रस का स्वरूप बतलाते हुए व्यभिचारी भाव तथा स्थायी भाव का उल्लेख किया गया है अत) अब यहाँ भाव का स्वरूप बतलाते है।

सुख दुख आदि भावो के द्वारा (सहृदय के चित्त को) भावित कर देना भाव कहलाता है।

जिन सुख दु ख आदि भावो का अनुकाय (दुष्यन्त आदि) मे वणन किया जाता है उनके द्वारा सहृदय (रसिक, भावक) के चित्त को भावित करता या वासित करना भाव कहलाता है। जसा कि (ना० शा० अ० ७, पृ० ३४४) कहा गया है–– अहो इस रस या गन्ध से यह सब भावित=वासित (गन्धयुक्त) हो गया है ।

यत्तु 'रसान्भावयन्भाव इति कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भाव' इति च तत् अभिनयकाव्ययो प्रवर्तमानस्य भावशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तकथनम्। ते च स्थायिनो व्यभिचारिणश्चेति वक्ष्यमाणा ।

(६) पृथग्भावा भवन्त्यन्ये ऽनुभावत्वेऽपि सात्त्विका ॥४॥
सत्त्वादेव समुत्पत्तेस्तच्च तद्भावभावनम ।

जो (ना० शा० ७ २–३ पृ० ३४६) यह कहा गया है कि रसो को भावित करने के कारण ये भाव कहलाते है अथवा कवि के आन्तरिक भाव को प्रकट करने के कारण ये भाव कहलाते हे वह तो नाटय (अभिनय) और काव्य के लिये प्रयुक्त होने वाले भाव शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त बतलाया गया है ।

वे भाव स्थायी तथा व्यभिचारी (दो प्रकार के) होत है जिनका आगे वर्णन किया जा रहा है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (अ० ७ पृ० ३४२–३४६) भा० प्र० (पृ० १३) सा० द० (३ १८१) । (२) तदभावभावनम् = उस भाव से भावित कर देना, तद्भाव भावन नाम तन्मयत्वेनावस्थानम् (प्रता० टीका पृ० १६०), यहा सुख दुख आदि भावो का उल्लेख किया गया हे तथा भावक के चित्त का प्रकरण है इसीलिये धनिक ने यह अर्थ किया है—सुख दुख आदि भावो से भावक के चित्त को भावित कर देना । भा० प्र० (पृ० १३) मे भी यही कहा गया है—

रामाद्याश्रयदुखादेरनुभूतेस्तदात्मता ।
सामाजिकस्य मनसो या स भाव इति स्मृत ॥

(३) ना० शा० के निम्न दो श्लोको में प्रतिपादित मत को धनिक ने 'रसान् भावयन्' इत्यादि के द्वारा उद्धृत किया है जसे नानाभिनयसम्बद्धान् भावयन्ति रसा निमान् (७ २) तथा कवेरन्तर्गत भाव भावयन भाव उच्यते (७ ३)। धनिक के अनुसार ना० शा० के इन स्थलो पर उस भाव' शब्द के प्रयोग का निमित्त (प्रवृत्तिनिमित्त) बतलाया गया है जिसका भावात्मकोऽभिनय या भावात्मक काव्यम्' आदि मे प्रयोग होता है । क्योकि अभिनय रसो (रसनयोग्य रति आदि भावो) का बोध कराता है (भावयति) अत भाव (=भावात्मक) कहलाता है। इसी प्रकार काव्य कवि के हृदयगत भाव को प्रकट करता है अत भाव (=भावात्मक) कहलाता है। इसके विपरीत दशरूपक के 'भाव के लक्षण मे यह बतलाया गया है कि स्थायी भाव तथा व्यभिचारी भाव इन दोनो को भाव क्यो कहा जाता है । तदनुसार काव्य मे वर्णित या नाट्य मे अभिनीत सुख दुख आदि (अथवा रति एव चिन्ता आदि) सहृदय के चित्त को भावित करते हैं—तन्मय करते है—अत ये भाव कहलाते है ।

सात्त्विक भाव

अन्य जो सात्त्विक (भाव) है यद्यपि वे अनुभाव (भावो के पश्चात् होने वाले) ही है तथापि पृथक रूप से भाव कहलाते है, क्योकि उनकी 'सत्त्व' से ही उत्पत्ति हुआ करती है। सत्त्व' का अर्थ है किसी भाव से भावित होना (तन्मय होना) ॥४–५॥

परगतदु खहर्षादिभावनायामत्य तानुकूला त करणत्व सत्त्व यदाह— सत्त्व नाम मन प्रभव तच्च समाहितमनस्त्वादुत्पद्यते । एतदेवास्य सत्त्व यत खि नेन प्रहर्षि तेन चाश्रुरोमाञ्चादयो निवत्य ते । तेन सत्त्वेन निवृ त्ता सात्त्विकास्त एव भावा-स्तत उत्पद्यमानत्वादश्रुप्रभतयोऽपि भावा । भावाससूचनात्मकविकाररूपत्वाच्चानुभावा इति द्व रूप्यमेषाम् । इति ।

दूसरे के हृदय मे स्थित दु ख और हष की भावना मे प्राय उसी प्रकार के हृदय वाला हो जाना सत्त्व कहलाता है । जसा कि कहा गया है (ना० शा० अ० ७ श्लो० ९३ ९४ के बीच गद्य पृ० ३७४–३७५)— सत्त्व मन से उत्प न होने वाला (विशेष धम) है । वह मन के एकाग्र (समाहित) होने से उत्पन्न होता है । इस (नट ?) का सत्त्व यही है कि इसके द्वारा (दूसरे के दु ख या हष मे) दु खी होकर या हर्षित होकर अश्रु एव रोमाञ्च आदि उत्प न किये जाते है । उस सत्त्व से उत्प न होने के कारण वे (नट के दु ख हष आदि) ही भाव वस्तुत सात्त्विक होते ह । कि तु उन से उत्प न होन के कारण अश्रु इत्यादि भी सात्त्विक भाव कहलाते हैं । दूसरी ओर, ये अश्रु आदि (दु ख आदि) भाव से उत्प न होते हैं (विकार) तथा उनकी सूचना देते हैं अत अनुभाव भी कहलाते हैं । इस प्रकार इन (अश्रु आदि) के (सात्त्विक भाव तथा अनुभाव) दोनो रूप होते हैं ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (अ० ७ ९३–९४ पृ० ३७४–३७६) भा० प्र० (पृ० १३–१४), प्रता० (पृ० १५९–१६०) सा० द० (३ १३४ १३५) । (२) धनिक ने ना० शा० की सात्त्विक श द की याख्या को स्पष्ट करने का प्रयास किया है और यहा कुछ परिवतन के साथ ना० शा० को उद्धत किया है । ना० शा० मे अभिनय के स दभ मे सात्त्विक श द की याख्या की गई है । नट (अभिनेता) सत्त्व से द्वारा ही अश्रु आदि का अभिनय कर सकता है अत ये सात्त्विक कहलाते है । सामा यत सत्त्व श द का अथ है—मन या निमल मन (भा० प्र० पृ० ८ तथा ऊपर २ ३३ टि०), और सभी भावो का अभिनय मन के बिना नही किया जा सकता तथापि अश्रु आदि भावो को सात्त्विक भाव कहने का कारण यह है कि ये सत्त्वविशेष से उत्प न होते हैं । वह सत्त्व (विशेष) मन की एक अवस्था है जो एकाग्रता से उत्प न होती है । इस अवस्था मे मन दूसरे के सुख दु ख मे तद्रूप (त मय) हो जाया करता है । यही 'तद्भावभावनम्' उसके सुख दु ख आदि से भावित होना है । इस सत्त्व के आधार पर ही अभिनेता (नट) अनुकाय दुष्य त आदि के सुख दु ख की भावना मे अपने अ त करण को त मय कर लेता है । अथवा कहिये कि वह भी सुखी और दु खी सा हो जाता है तभी वह रोमाञ्च या अश्रु आदि को प्रकट कर सकता है । अभिनेता के मन मे जा सुख दु ख की भावना होती है वह सत्य–जन्य होती है अत वस्तुत उसके ये आरोपित सुख दु ख ही सात्त्विक होते है (सात्त्विकात एव भावा) । इनके

ते च—

(७) स्तम्भप्रलयरोमाञ्चा स्वेदो ववण्यवेपथू ॥५॥
अश्रु वस्वयमित्यष्टौ, स्तम्भोऽस्मिं नष्क्रियाङगता ।
प्रलयो नष्टसज्ञत्वम शेषा सु्व्यक्तलक्षणा ॥६॥

यथा—

वेवइ सेग्रदवदनी रोमञ्चिअ्र गत्तिए ववइ ।
विललुल्लु तु वलअ्र लहु वाहोग्रल्लीए रणत्ति ॥
मु०ऊ सामलि होई खण विमुच्छइ विअ्रग्घण ।
मुद्धा मुहग्रल्ली तुअ्र पेम्मरण साव ण धिज्जाइ ॥२१४॥
(वेपते स्वेदवदना रोमाञ्च गात्रे वपति ।
विलालस्ततो वलयो लघु बाहुवल्ल्या रणति ॥
मुख श्यामल भवति क्षण विमूच्छति विदग्धेन ।
मुग्धा मुखवल्ली तव प्रेम्णा सापि न धय करोति')

द्वारा ही नट अश्रु रोमाञ्च आदि को प्रकट करता है अत उसके अश्रु रोमाञ्च इत्यादि सात्त्विक भावो से उत्पन्न होने के कारण सात्त्विक भाव कहलाते है (तत उत्पद्यमानत्वाद अश्रु प्रभृतयोऽपि भावा सात्त्विका इतिशेष) । ये अश्रु इत्यादि भाव वस्तुत अनुभाव ही है क्योकि ये अनुभावो के समान ही हृदय मे स्थित हष दु ख आदि भावो के विकार होते हैं और उनकी सूचना देते है ।

और वे—

(सात्त्विक भाव) आठ है—स्तम्भ प्रलय रोमाञ्च स्वेद, ववण्य (रग फीका पड जाना), वेपथु (कम्पन), अश्रु तथा वस्वय (स्वरभङ्ग, आवाज बदल जाना) । इनमे अङ्गो का क्रिया रहित (निष्क्रिय) हो जाना स्तम्भ है, चेतना (=सज्ञा) का नष्ट हो जाना (सुध बुध खो देना) प्रलय है । शेष के स्वरूप स्पष्ट ही है ॥५-६॥

जैसे (कोई सखी नायिका की काम वेदना का वरणन करती हुई नायक से कहती है) 'तुम्हारे प्रम के कारण वह (नायिका) भी धय धारण नहीं करती, वह काँपती है, उसके मुख पर पसीना आता है शरीर पर रोमाञ्च हो जाता है फिर चञ्चल वलय (ककरण) भुज लता मे म द म द रणन करता है उसका मुख काला पड़ गया है वह वैदग्ध्य के साथ क्षण भर को मूर्च्छित हो जाती है और उसकी मुख लता भी मुग्ध सी है ।

टिप्पणी—ना० शा० (७ ६४ पृ० ३७५), भा० प्र० (पृ० १४), प्रता० (पृ० १६०), सा० द० (३ १२५-१४०) ।

अथ व्यभिचारिण, तत्र सामान्यलक्षणम्—

(८) विशेषादाभिमुख्येन चरतो व्यभिचारिण ।
स्थायिन्युन्मग्ननिमग्ना कल्लोला इव वारिधौ ॥७॥

यथा वारिधौ सत्येव कल्लोला उद्भवन्ति विलीयन्ते च तद्वदेव रत्यादौ स्थायिनि सत्येवाविर्भावतिरोभावाभ्यामाभिमुख्येन चरतो वर्तमाना निर्वेदादयो व्यभिचारिणो भावा ।

व्यभिचारी भाव

अब व्यभिचारी भाव बतलाये जाते है। व्यभिचारी भाव का सामान्य लक्षण है —

विविध प्रकार से (स्थायी भाव के) अभिमुख (अनुकूल) चलने वाल भाव व्यभिचारी भाव कहलाते हे, जो स्थायी भाव मे इसी प्रकार प्रकट होकर विलीन होत रहते है, जिस प्रकार सागर मे तरङ्ग ॥७॥

अर्थात जिस प्रकार सागर के होने पर ही तरङ्गें उत्पन्न होती है और विलीन होती हैं उसी प्रकार रति आदि स्थायीभाव के होने पर ही उसको लक्ष्य करके (=उसके पोषण के लिये) जिनका आविर्भाव और तिरोभाव हुआ करता है वे निर्वेद आदि व्यभिचारी भाव कहलाते हे।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (पृ० ३५५ ३५६) भा० प्र० (पृ० २५-२६), ना० द० (३ १६४), प्रता० (पृ० १६१), सा० द० (३ १४०)। (२) यहा प्रथम पक्ति मे व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के आधार पर व्यभिचारी भाव का स्वरूप दिखलाया गया है। इसमे ना० शा० की छाया है। वि और अभि दो उपसर्गों से युक्त √चर धातु से व्यभिचारी शब्द निष्पन्न होता है— विविधम् आभिमुख्येन रसेषु चरतीति व्यभिचारिण । पाठान्तर के अनुसार विविधाना रसानाम् आभिमुख्येन चरन्तीति। दश० तथा सा० द० आदि मे विविध या विविधाना के स्थान पर 'विशेषाद्' शब्द रक्खा गया है अत इसका भी वही अभिप्राय प्रतीत होता है। इस प्रकार यहा 'विशेषाद्' का अर्थ होगा—विविध प्रकार से अथवा विविध रसो के आभि-मुख्य=अनुकूल, लक्ष्य करके, पोषण के लिये (आभिमुख्य=पोषकत्वम् ना० द०)। दश० की कारिका की दूसरी पक्ति मे, रस प्रक्रिया मे व्यभिचारी भावो का जो कार्य होता है उसके आधार पर व्यभिचारी भाव का स्वरूप बतलाया गया है। भाव यह है कि सागर मे लहरो के समान स्थायी भाव मे उत्पन्न होकर तथा विलीन होकर जो निर्वेद आदि भाव रति आदि स्थायी भाव को विविध प्रकार से पुष्ट करते है—उसे रसरूपता की ओर ले जाते हैं वे व्यभिचारी भाव कहलाते है। इसके अतिरिक्त इनके व्यभिचारी भाव नाम का आधार यह भी है कि ये किसी स्थायी भाव के साथ नियत नही होते (ना० द०), अर्थात (1) किसी स्थायी भाव

ते च—

(९) निर्वेदग्लानिशङ्काश्रमधृतिजडताहर्षदैन्यौग्र्यचिन्ता-
स्त्रासेर्ष्यामर्षगर्वाः स्मृतिमरणमदाः सुप्तनिद्राविबोधाः ।
व्रीडापस्मारमोहाः सुमतिरलसतावेगतर्कावहित्था
व्याध्युन्मादौ विषादोत्सुकचपलयुतास्त्रिंशदेते त्रयश्च ।।८।।

तत्र निर्वेदः—

(१०) तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम् ।
तत्र चिन्ताश्रुनिःश्वासवैवर्ण्योच्छ्वासदीनताः ।।९।।

के होने पर भी कोई व्यभिचारी भाव कभी होता है कभी नहीं (II) एक ही व्यभिचारी भाव कभी किसी स्थायी भाव के साथ होता है कभी किसी दूसरे के साथ ही। इन्हें सञ्चारी भाव भी कहते हैं क्योंकि ये स्थायी भाव को रसरूपता की ओर ले जाते हैं सञ्चारयन्ति भावस्य गतिं सञ्चारिणोऽपि ते (रसार्णवसुधाकर द्वितीय विलास तथा मि० ना० शा० पृ० ३५५–३५६)।

और वे—

व्यभिचारी भाव ३३ होते हैं—निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, श्रम, धृति, जडता, हर्ष, दैन्य, औग्र्य, चिन्ता, त्रास ईर्ष्या, अमर्ष, गर्व स्मृति, मरण, मद सुप्त, निद्रा विबोध, व्रीडा, अपस्मार, मोह, सुमति, अलसता वेग, तर्क, अवहित्था, व्याधि, उन्माद विषाद, औत्सुक्य तथा चपलता ।।८।।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७ ९३ पृ० ३७४), भा० प्र० (पृ० १५), का० प्र० (४ ३१–३४) ना० द० (३ १८२) प्रता० (पृ० १६१), सा० द० (३ १४१)। (१) विद्वानो का विचार है कि ३३ व्यभिचारी भाव (त्रिंशद एते त्रयश्च) कहना उपलक्षण मात्र है अन्य भी व्यभिचारी भाव हो सकते हैं, जैसे तृष्णा मैत्री मुदिता, श्रद्धा दया उपेक्षा इत्यादि (ना० द०)। इसके अतिरिक्त रति आदि जो स्थायी भाव है वे भी अन्य रसो मे व्यभिचारी भाव हो जाया करते हैं, जैसे शृङ्गार और वीर रस मे हास हास्य करुण और शान्त मे रति वीर मे क्रोध, करुण और शृङ्गार मे भय भयानक और शान्त मे जुगुप्सा, रौद्र एवं हास्य मे उत्साह तथा प्राय सभी रसो मे विस्मय व्यभिचारी हो जाता है (काव्यप्रकाशउद्योत तथा सा० द० ३ १७२–१७३)।

इन निर्वेद इत्यादि ३३ व्यभिचारी भावो के लक्षण तथा उदाहरणो का क्रमश निरूपण करते हैं—

(१) निर्वेद

तत्त्वज्ञान, आपत्ति, ईर्ष्या आदि के कारण अपना तिरस्कार करना निर्वेद कहलाता है। इसमे चिन्ता, अश्रु, निःश्वास, वैवर्ण्य उच्छ्वास और दीनता (अनुभाव) हुआ करते हैं ।।९।।

तत्वज्ञानान्निर्वेदो यथा—

प्राप्ता श्रिय सकलकामदुघास्तत किं
दत्त पद शिरसि विद्विषदा तत किम् ।
सम्प्रीणिता प्रणयिनो विभवस्तत किं
कल्प स्थित तनुभृता तनुभिस्तत किम् ॥२१५॥

आपदो यथा—

'राज्ञो विपद्बन्धुवियोगदु ख देशच्युतिर्दु गममार्गखेद ।
आस्वाद्यतेऽस्या कटुनिष्फलाया फल मयतच्चिरजीवितायाः ॥२१६॥

ईर्ष्यातो यथा—

'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापस
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसभटाञ्जीवत्यहो रावण ।
धिग्धिक्शक्रजित प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनपर पीन किमेभिर्भुज ॥२१७॥

वीरशृङ्गारयोर्व्यभिचारी निर्वेदो यथा—

'ये बाहवो न युधि वैरिकठोरकण्ठपीठोच्छलद्रुधिरराजिविराजितासा ।
नापि प्रियापृथुपयोधरपत्रभङ्गसङ्क्रान्तकुङ्कुमरसा खलु निष्फलास्ते ॥२१८॥

तत्त्वज्ञान से होने वाला निर्वेद यह है जसे (वैराग्यशतक ७१), 'सकल मनोरथ प्रदान करने वाली सम्पदाए प्राप्त कर लीं तो क्या ? शत्रुओ के सिर पर पर रख दिया तो क्या ? मित्र आदि प्रियजनो को धन सम्पत्ति से तृप्त कर दिया तो क्या ? शरीरधारियो के शरीर कल्पपर्यन्त स्थित रहे तो क्या?

आपत्ति से होने वाला निर्वेद यह है जसे— मेरे द्वारा इस कटु तथा निष्फल चिर जीवन का यह फल भोगा जा रहा है कि राजा से विपत्ति बन्धुओ के वियोग का दु ख देश का त्याग तथा दुर्गम मार्ग मे गमन की पीडा हो रही है ।

ईर्ष्या से होने वाला निर्वेद यह है, जसे— मेरा यही अपमान है कि मेरे शत्रु हैं। उन (शत्रुओ) मे भी वह तपस्वी (राम) और वह भी मेरे समीप ही राक्षस योद्धाओ को मार रहा है। अहो ! फिर भी रावण (मै) जीवित है। इन्द्रजित् (मेघनाद) को धिक्कार है। जगाये हुए कुम्भकर्ण से क्या (लाभ) ? स्वर्ग रूपी छोटे गाव (ग्रामटिका) को लूटने मे तत्पर मेरी इन शक्तिशाली भुजाओ से भी क्या (लाभ) ?

वीर तथा शृङ्गार का व्यभिचारी भाव होने वाला निर्वेद यह है जसे— जो भुजाएँ न तो युद्ध मे शत्रु के कठोर कण्ठ स्थल से छलकते हुए रुधिर की धार से स्कन्ध प्रदेश (अस) पर सुशोभित हुई न ही प्रिया के विशाल स्तनो की पत्र रचना के कुकुम रस से युक्त हुई, निश्चय ही वे निष्फल हैं ।

आत्मानुरूप रिपु रमणी वऽलभमानस्य निर्वेदादियमुक्ति । एव रसा त राणामप्यङ्गभाव उदाहाय ।

रसानङ्ग स्वत त्रो निर्वेदो यथा—

कस्त्व भो कथयामि दवहतक मा विद्धि शाखोटक
वराग्यादिव वक्षि साधु विदित कस्मादत श्रूयताम् ।
वामेनात्र वटस्तमध्वगजन सर्वात्मना सेवते
न च्छायापि परोपकारकरणी मागस्थितस्यापि मे ॥२१६॥

विभावानुभावरसाङ्गानङ्गभेदादनेकशाखो निर्वेदो निदशनीय ।

अथ ग्लानि —

(११) रत्याद्यायासतृटक्षुद्भिर्ग्लानिर्निष्प्राणतेह च ।
वैवर्ण्यकम्पानुत्साहक्षामाङ्गवचनक्रिया ॥१०॥

अपने अनुरूप शत्रु अथवा रमणी को न प्राप्त कर सकने वाले व्यक्ति की यह निर्वेद के कारण कही गई उक्ति है । (यहाँ निर्वेद नामक भाव वीर तथा शृङ्गार का अङ्ग होकर आया है) इसी प्रकार जहा निर्वेद अ य रसो का अङ्ग हुआ करता है उसका भी उदाहरण दिया जा सकता है ।

किसी रस का अङ्ग न होने वाला स्वत त्र निर्वेद यह है जसे पथिक के प्रश्न के प्रत्युत्तर मे शाखोटक वक्ष का निर्वेद प्रकट हो रहा है)— अरे तुम कौन हो ? बतलाता हूँ—मुझे भाग्य का मारा शाखोटक (सेहुण्ड) वक्ष जानो । तुम तो वराग्य युक्त से बोल रहे हो । हाँ आपन ठीक जान लिया । किन्तु यह (वराग्य) किस कारण से है ? सुनिये—यहा (माग के) वाम भाग मे जो बट बक्ष है पथिक जन उसका सब प्रकार (छाया, आरोहण आदि) से आश्रय लेते है, कि तु माग मे स्थित होते हुए भी मेरी छाया भी दूसरे का उपकार नहीं कर सकती ।'

इस प्रकार विभाव अनुभाव रस के अङ्ग तथा स्वत त्र (अनङ्ग —अङ्ग न होने वाला) आदि भेद से निर्वेद के अनक प्रकार दिखलाये जा सकने है ।

टिप्पणी—ना० शा० (७ २८ ३०, पृ० ३५६), भा० प्र० (पृ० १५) ना० द० (३ १८३), प्रता० (पृ० १७३), सा० द० (३ १४२) । (२) विभावानुभाव०— यहा तत्त्वज्ञान आदि निर्वेद के विभाव है (मि०, ना० द०) । इनके आधार पर होने वाले प्रकार ऊपर दिखलाये गये है । इसी प्रकार अनुभावो के अनुसार भी निर्वेद के अनेक प्रकार हो जाते हैं । चि ता, अश्रु आदि इसके अनुभाव है ।

(२) ग्लानि—

रति आदि की थकान, प्यास (तृट) और भूख से होने वाली जो निष्प्राणता (शक्तिहीनता) है, वह ग्लानि कहलाती है । इसमे रग फीका पडना, अनुत्साह शरीर, वचन और क्रिया की क्षीणता आदि (अनुभाव) होते है ॥१०॥

निधुवनकलाभ्यासादिश्रमतृट्क्षुद्वमनादिभिर्निष्प्राणतारूपा ग्लानि । अस्या च ववण्यकम्पानुत्साहादयाऽनुभावा । यथा माघे—

'लुलितनयनतारा क्षामवक्त्रेन्दुबिम्बा
रजनय इव निद्राक्ल तनीलोत्पलाक्ष्य ।
तिमिरमिव दधाना स्र सिन केशपाशा-
नवनिपतिगृहेभ्यो यान्त्यमूर्वारवध्व ॥२२०॥

शेष निर्वेदवदूह्यम् ।

अथ शङ्का—

(१२) अनर्थप्रतिभा शङ्का परक्रौर्यात्स्वदुर्नयात ।
कम्पशोषाभिवीक्षादिरत्र वर्णस्वरान्यता ॥११॥

तत्र परक्रौर्याद्यथा रत्नावल्याम्—

ह्रिया सवस्यासौ हरनि विदितास्मीति वदन
द्वयोर्दृष्ट्वाऽऽलाप कलयति कथामात्मविषयाम ।

अर्थात् बार बार की रतिक्रीडा से होने वाली थकान, प्यास भूख तथा वमन आदि से उत्पन्न होन वाली शक्तिहीनता ही ग्लानि है । इसमे ववण्य (=रग फीका पड़ना) कम्पन अनुत्साह आदि अनुभाव होते हैं । जसे—माघकाव्य (११ २०) मे—'रात्रियो के समान चञ्चल नेत्र तारिकाओ वाली क्षीण मुखचन्द्र से युक्त निद्रा से बलान्त नीलकमल जसे नेत्रो वाली अन्धकार जसे खुले केशो को धारण करती हुइ ये वारवनिताए राजा के भवनो से जा रही है ।

(विभाव आदि के भेद से ग्लानि के विविध प्रकार इत्यादि) निर्वेद के समान समझने चाहियें ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७ ३१ ३२ पृ० ३५७), भा० प्र० (पृ० १४), ना० द० (३ १८४) प्रता० (पृ० १७४), सा० द० (३ १७०) । (२) लुलितनयन-तारा इत्यादि 'रजनय (रात्रियाँ) के नी विशेषण हैं जसे-चञ्चल हैं नयन के तारो के समान तारे जिसमे (लुलिता नयनतारा इव तारा यासु) इत्यादि ।

(३) शङ्का—

दूसरे की क्रूरता या अपने दुर्व्यवहार के कारण होने वाली जो अनर्थ की आशङ्का है वह शङ्का कहलाती है । इसमे कम्प शोष (सखना), इधर-उधर देखना (अभिवीक्षा) रग बदल जाना (वर्णान्यता) और स्वर भेद (स्वरान्यता) आदि (अनुभाव) होतें है ॥११॥

उनमे दूसरे की क्रूरता से होने वाली शङ्का यह है जसे रत्नावली (३ ४) में (राजा उदयन रत्नावली की अवस्था का वरणन करते हैं) – मुझे जान लिया गया है' इस प्रकार (सोचकर) वह लज्जा के कारण सबंध मुँह छिपाती है, दो के वार्तालाप

सखीषु स्मेरासु प्रकटयति वलक्ष्यमधिक
प्रिया प्रायेणास्ते हृदयनिहितातङ्कविधुरा ॥२२१॥

स्वदुनयाद्यथा वीरचरिते—

दूराद्ववीयो धरणीधराभ यस्ताटकेय तृणवद्व्यधूनोत्।
हन्ता सुबाहारपि ताडकारि स राजपुत्रो हृदि बाधते माम् ॥२२२॥

अनया दिशाऽयदनुसतव्यम्।

अथ श्रम —

(१३) श्रम खेदोऽध्वरत्यादे स्वेदोऽस्मि मदनादय ।

अध्वतो यथोत्तररामचरिते—

'अलसलुलितमुग्धान्यध्वसञ्जातखेदा—
दशिथिलपरिरम्भदत्तसवाहनानि ।
परिमृदितमृणालीदुबला यङ्गकानि
त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवाप्ता ॥२२३॥

को देखकर उसे अपनी चर्चा समझने लगती है सखियो के मुसकराने पर अत्यधिक लज्जित हो जाती है इस प्रकार प्रिया (सागरिका) हृदय मे स्थित आतङ्क से व्याकुल रहती है ।

अपन दुव्यवहार से होने वाली शङ्का जसे महावीर चरित (२ १) मे (रावण का मन्त्री माल्यवान् कहता हे) जिसने पवत के सदृश ताडका पुत्र (मारीच) को तिनके समान बहुत दूर फक दिया, जो सुबाहु का मारने वाला हे तथा ताड़का का शत्रु (सहारक) हे, वह राजपुत्र (राम) मुझे हृदय मे व्यथित कर रहा है ।

इसी प्रकार और भी समझना चाहिये ।

टिप्पणी—ना० शा० (७ ३३ ३५ पृ० ३५७ ३५८) भा० प्र० (पृ० १६), ना० द० (३ १८६) प्रता० (पृ० १७४), सा० द० (३ १६१) ।

(४) श्रम—

यात्रा (अध्व) और रति आदि से होने वाली जो थकान है, वह श्रम है । इसमे स्वेद और मदन (अङ्गो को मलना) आदि (अनुभाव) होत है ।

यात्रा से उत्पन्न होने वाला श्रम यह है, जसे उत्तररामचरित (१ २४) मे राम सीता से कहते ह, '(यह वही स्थान है) जहाँ माग मे चलने से उत्पन्न थकान के कारण आलस्ययुक्त शिथिल तथा मनोहर, मेरे गाढ़ आलिङ्गनो के द्वारा दबाये गये, परिमृदित मृणाली के समान दुबल अङ्गो को मेरे वक्ष स्थल पर रख कर तुम सो गइ थीं' ।

रतिश्रमो यथा माघे—

प्राप्य मन्मथरसादतिभूमिं दुर्वहस्तनभराः सुरतस्य ।
श्रश्रमुः श्रमजलार्द्रललाटश्लिष्टकेशमसितायतकेश्यः ॥२२४॥

इत्याद्युत्प्रेक्ष्यम् ।

अथ धृतिः—

(१४) सन्तोषो ज्ञानशक्त्यादेर्धृतिरव्यग्रभोगकृत ॥१२॥

ज्ञानाद्यथा भर्तृहरिशतके—

वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं च लक्ष्म्या
सम इह परितोषो निर्विशेषो विशेषः ।
स तु भवतु दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः ॥२२५॥

शक्तितो यथा रत्नावल्याम्—

राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तः समस्तो भरः
सम्यक्पालनपालिताः प्रशमिताशेषोपसर्गाः प्रजाः ।

रति से उत्पन्न श्रम जैसे माघ (१०.८०) में जिनको स्तन भार वहन करना कठिन था जिनके केश काले तथा लम्बे थे वे रमणियाँ काम के रस से सुरत की हद (अतिभूमि) को पहुँचकर पसीने से भीगे ललाट पर चिपके केशों से युक्त होती हुई थक गईं।

इत्यादि समझना चाहिये ।

टिप्पणी—ना० शा० (७.४७, पृ० ३६०) भा० प्र० (पृ० १८), ना० द० (३.१८९) प्रता० (पृ० १७६), सा० द० (३.१४६) ।

(५) धृति—

ज्ञान और शक्ति आदि से होने वाला जो सन्तोष है, वह धृति कहलाती है। वह व्यग्रता रहित भोग कराने वाली है, (=व्यग्रतारहित भोग उसका अनुभव है) ॥१२॥

ज्ञान से होने वाली धृति, जैसे भर्तृहरि के वैराग्यशतक (५३) में (सम्पत्तिशाली से कोई सन्तुष्ट जन कहता है)— हम तो वल्कल वस्त्रों से सन्तुष्ट हैं और तुम लक्ष्मी से। हम दोनों की तृप्ति समान ही है कोई विशेष भेद नहीं है। वस्तुतः वही दरिद्र होता है जिसकी तृष्णा बढ़ी हुई है। मन के सन्तुष्ट होने पर कौन धनी है और कौन दरिद्र ?

शक्ति से उत्पन्न होने वाली धृति, जैसे रत्नावली (१.९) में (विदूषक के प्रति राजा उदयन की उक्ति में धृति प्रकट होती है)— जिसमें सब शत्रुओं को जीत लिया गया है ऐसा राज्य है समस्त (राज्य का) भार योग्य मन्त्री पर रख दिया गया है, जिनके सब उपद्रव शान्त कर दिये गये हैं तथा जो भली भाँति

प्रद्योतस्य सुत वसन्तसमयस्त्व चेति नाम्ना धृति
काम काममुपत्वय मम पुनमन्ये महानुत्सव ।।२२६।।

इत्याद्यूह्यम् ।

अथ जडता—

(१५) अप्रतिपत्तिजडता स्यादिष्टानिष्टदशनश्रुतिभि ।
अनिमिषनयननिरीक्षणतूष्णीभावादयस्तत्र ।।१३।।

इष्टदशनाद्यथा—

एवमालि निगृहीतसाध्वस शङ्करो रहसि सेव्यतामिति ।
सा सखीभिरुपदिष्टमाकुला नास्मरत्प्रमुखवर्तिनि प्रिये ।।२२७।।

अनिष्टश्रवणाद्यथोदात्तराघवे— राक्षस —

ताव तस्ते महात्मानो निहता केन राक्षसा ।
येषा नायकता यातास्त्रिशिर खरदूषणा ।।२२८।।

द्वितीय —गृहीतधनुषा रामहतकेन । प्रथम —किमेकाकिनव ? । द्वितीय —

पालन क द्वारा समृद्ध हुई है ऐसी प्रजाए है प्रद्योत की पुत्री (वासवदत्ता पत्नी है, वसन्त ऋतु का (रमणीय) समय है और तुम (जसा मित्र) है। इस प्रकार कामदेव (मदनमहोत्सव) नाम होने से ही चाहे सन्तोष को प्राप्त कर ले किन्तु मै तो समझता हू कि यह मेरा ही उत्सव है ।

इत्यादि समझना चाहिये ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७ ५६–५७ पृ ६३) भा० प्र० (पृ० २०), ना० द० (३ १६६) प्रता० (पृ० १७८), सा० द० (३ १६८)। (२) अव्यग्रभोग कृत=अ यग्रतापूवक भोग करान वाला धय होने हर यग्रता नही रहती ।

(६) जडता

इष्ट या अनिष्ट वस्तु के देखने या सुनने से (कत्तव्य तथा अकर्त्तव्य का) ज्ञान न रहना (अप्रतिपत्ति) जडता है। उसमे अपलक नेत्रो से देखना, चुप रहना आदि (अनुभाव होते) है ।।१३।।

इष्ट क दशन से होने वाली जडता जसे (कुमारसम्भव ८ ५)—'जब प्रियतम (शिव) सम्मुख उपस्थित हुए तो पावती (सा) व्याकुल हो गई तथा सखियो के इस उपदेश का स्मरण न कर पाई कि 'हे सखी, भय तथा सकोच को दबाकर इस प्रकार एकान्त में शङ्कर के साथ व्यवहार करना ।

अनिष्ट के श्रवण से होने वाली जडता जसे उदात्तराघव नाटक में— "राक्षस–त्रिशिर, खर और दूषण जिनके नायक थे, उन शक्तिशाली (=महात्मान) बहुसख्यक (तावन्त =उतने) राक्षसो को किसने मार दिया ? द्वितीय—धनुष धारण किये हुए दुष्ट हतक=मर जाना, मरा) राम ने। प्रथम—क्या अकेले (राम) ने ही ? द्वितीय— बिना देखे कोई विश्वास करता है ? देखो हमारी उतनी

अदृष्टवा क प्रत्येति ? पश्य तावतोऽस्मद्वलस्य—

सद्यश्छिन्नशिर श्वभ्रमज्जत्कङ्कुलाकुला ।
कबन्धा केवल जातास्तालात्ताला रणाङ्गणे ।।२२६।।

प्रथम —सखे यद्येव तदाहमेवविध कि करवाणि । इति ।

अथ हर्ष —

(१३) प्रसत्तिरुत्सवादिभ्यो हर्षो श्रुस्वेदगदगदा ।

प्रियागमनपुत्रजननोत्सवादिविभावश्चेत प्रमादो हर्ष । तत्र चाश्रुस्वेदगद्गदाद योऽनुभावा यथा—

आयाते दयिते मरुस्थलभुवामुत्प्रेक्ष्य दुलङ्घता
गेहिन्या परितोषबाष्पकलिलामासज्य दृष्टि मुखे ।
दत्त्वा पीलुशमीकरीरकवला स्वेनाञ्चलेनादरा—
दुन्मृष्ट करभस्य केसरसटाभाराग्रलग्न रज ।।२३०।।

निर्वेदवदितरदुन्नेयम् ।

सेना क कवल ये रुण्ड (कबन्ध ही समरभूमि में बचे हे जो तुरत कटे हुए सिरो के गडढो में गिरते हुए कङ्क नामक पक्षियो से घिरे हुए हैं ताड के समान ऊचे है । प्रथम—मित्र यदि ऐसा है तो मै इस दशा में क्या करू ?

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७ ६६, पृ० ३५६) भा० प्र० (पृ० २१), ना० द० (३ २१३), प्रता० (पृ० १८०) सा० द० (३ १४८) । (२) कुछ ग्रथो मे जडता के स्थान पर जाड्य कहा गया है । (३) अप्रतिपत्ति—अज्ञान, कर्तव्य का ज्ञान न होना किंकर्तव्य-विमूढता ।

(७) हर्ष

उत्सव आदि से होने वाली जो प्रसन्नता है, वह हर्ष कहलाती है। इसमे अश्रु, स्वेद और गदगद होना आदि (अनुभाव) होते हे ।

प्रिय का आगमन तथा पुत्र-जन्म क उत्सव आदि विभावों से उत्पन्न होने वाली चित्त की प्रसन्नता ही हर्ष है । इसमें अश्रु स्वेद गद्गद होना आदि अनुभाव होते ह । जसे—

जब प्रियतम (घर लौटकर) आया तो गृहणी ने मरुस्थल की भूमि को पार करने की कठिनाई को समझकर (प्रियतम के) मुख पर सन्तोष के आसुओ से भरी दृष्टि डाली और (मरुभूमि को पार करने वाले) ऊट क बच्चे को (करम) पीलु शमी तथा करीर की पत्तियो के ग्रास देकर उसकी केसर-सटा (गदन के बाल) पर लगी हुई धूल को आदरपूवक अपने आचल से पोछ दिया ।

अन्य बातें निर्वेद के समान समझ लेनी चाहियें ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७ ६१ पृ० ३६४) भा० प्र० (पृ० २०) ना० द० (३ २०३), प्रता० (पृ० १८६), सा० द० (३ १ ५) । (२) प्रसत्ति = प्रसाद, प्रसन्नता, चित्त की प्रफुल्लता ।

अथ द य म्—

(१७) दौगत्याद्यरनोजस्य द य काष्ण्यामजादिमत् ॥१४॥

दारिद्रच्यक्कारादिविभावरनौजस्कता चेतसो द य। तत्र च कृष्णतामलिन वसनदशनादयोऽनुभावा । यथा—

'वद्धोऽय पतिरेष मञ्चकगत स्थूणावशेष गृह
बालोऽभ्यणजलागम कुशलिनी वत्सस्य वार्तापि नो ।
यत्नात्सञ्चिततलबि दघटिका भग्नेति पर्याकुला
दृष्टवा गभभरालसा सुतवधू श्वश्रूश्चिर रोदिति ॥२३१॥

शेष पूववत् ।

अथौग्रचम्—

(१८) दुष्टेऽपराधदौमु रयक्रौर्यैश्चण्डत्वमुग्रता ।
तत्र स्वदशिर कम्पतजनाताडनादय ॥१५॥

---

(८) द य

दुगति आदि के कारण निस्तेज हो जाना ही द य है। यह (मुख की) मलिनता (काष्ण्य=कालिमा) तथा वस्त्रो की अस्वच्छता (अमजा) आदि (अनुभावो) से युक्त हाता है ॥१४॥

दरिद्रता तथा अपमान (यक्कार=नीचा दिखाना) आदि विभावो से जो चित्त में ओजस्विता का अभाव हो जाता है वह दै य कहलाता है। इसमें (मुख का) कालापन वस्त्रो तथा दातो की मलिनता इत्यादि अनुभाव होते ह । जसे (भोज प्रब ध २५५, किसी वद्धा के दरिद्रता से उत्प न द य का वणन है) यह वद्ध और अ धा पति है जो खटिया पर पडा है घर की थूणी मात्र शेष हे वर्षा का समय निकट है पत्र की कुशल वार्ता भी नहीं मिली बडे यत्न से तेल का एक एक बि दु करक जोडी गई घडिया फूट गई। इन बातो से याकुल हुई सास पत्र वधू को गभ भार से अलसाई देखकर बहुत समय तक रोती रही ।

शेष पहिले क समान ही है।

टिप्पणी—ना० शा० (७ ४६ पृ० ३ १) भा० प्र० (पृ० १८), ना० द० (३ २०६) प्रता० (पृ० १८६), सा० द० (३ १४५)।

(६) उग्रता

अपराध दुमु खता (जली कटी बात कहना) क्रूरता आदि के कारण जो दुष्ट के प्रति क्रोध (प्रचण्डता) होता है वह उग्रता कहलाती है। उसमे पसीना सिर को हिलाना धमकाना (तजन) और पीटना (ताडन) आदि अनुभाव होते है ॥१५॥

यथा वीरचरिते— जामदग्न्य —

उत्कृत्योत्कृत्य गर्भानपि शकलयत क्षत्रसन्तानरोषा—
दुद्दामस्यैकविंशत्यवधि विशसत सर्वतो राजवंश्यान् ।
पित्र्यं तद्रक्तपूर्णह्रदसवनमहानन्दमन्दायमान—
क्रोधाग्ने कुर्वतो मे न खलु न विदित सर्वभूत स्वभाव ॥२३२॥

अथ चिन्ता—

(१९) ध्यानं चिन्तेहितानाप्तेः शून्यताश्वासतापकृत् ।

यथा—

'पक्ष्माग्रग्रथिताश्रुबिन्दुनिकरैर्मुक्ताफलस्पर्धिभि
कुर्वन्त्या हरहासहारि हृदये हारावलीभूषणम् ।
बाले बालमृणालनालवलयालङ्कारकान्ते करे ।
विन्यस्याननमायताक्षि सुकृती कोऽयं त्वया स्मर्यते ॥२३३॥

जैसे वीरचरित (२ ४८) मे परशुराम (=जामदग्न्य) राम से कहते हैं— 'क्षत्रियो की सन्तान के प्रति रोष के कारण गर्भ पिण्डो को भी काट काट कर खण्ड खण्ड करने वाले राजवंश मे उत्पन्न जनो का इक्कीस बार नाश करने वाले और उनके रक्त से भरे हुए सरोवर मे स्नान (सवन) करने के अत्यधिक आनन्द से क्रोध की अग्नि को शान्त करके पितृ तर्पण करने वाले उत्कट तेज से युक्त (उद्दाम) मेरा स्वभाव समस्त प्राणियो ने नहीं जाना है ऐसा नहीं ।

टिप्पणी—ना० शा० (७ ८१ पृ० ३७०) भा० प्र० (पृ० २३), ना० द० (३ २०२) प्रता० (पृ० १८४) सा० द० (३ १४९) ।

(१०) चिन्ता

इष्ट वस्तु की प्राप्ति न होने के कारण जो (उसका) ध्यान किया जाता है, वह चिन्ता कहलाती है। यह शून्यता (बुद्धि तथा इन्द्रियो की विकलता) श्वास (की अधिकता) तथा ताप आदि (अनुभाव) उत्पन्न करने वाली होती है।

जैसे (कोई सखी नायिका से कहती है)— हे विशाल नेत्रो वाली सुन्दरी पलकों के अग्रभाग पर फले, मोतियो से स्पर्धा करने वाले अश्रु बिन्दुओं के समूह से अपने हृदय पर महादेव के हास के समान हार का आभूषण रचती हुई, मृदु मृणाल नाल के कङ्कण नामक अलङ्कार से शोभित हाथ पर अपना मुख रखकर तुम किस पुण्यवान् की याद कर रही हो ?

यथा वा—

अस्तमितविषयसङ्गा मुकुलितनयनोत्पला बहुश्वसित ॥
ध्यायति किमप्यलक्ष्य बाला योगाभियुक्तेव ॥२३४॥

अथ त्रास —

(२०) गर्जितादेमन क्षोभस्त्रासोऽत्रोत्कम्पितादय ॥१६॥

अथ माघे—

त्रस्य ती च नशफरीविघट्टितोरु-
र्वामोरूरतिशयमाप विभ्रमस्य ।
क्षुभ्यन्ति प्रसभमहो विनापि हेतो-
र्लीलाभि किमु सति कारणे रमण्य ॥२३५॥

अथासूया—

(२१) परोत्कर्षाक्षमाऽसूया गर्वदौज यम युजा ।
दोषोक्त्यवज्ञ भ्रुकुटिम युक्रोधङ्गितानि च ॥१७॥

अथवा जसे— (रूप आदि) विषया का सम्यक त्याग कर नेत्र कमल को ब द किये बहुल श्वास लेती हुई यह बाला योगिनी (योगाभियुक्ता=योग मे स्थित) के समान किसी अलक्ष्य (वस्तु) का ध्यान कर रही है ।

टिप्पणी—ना० शा० (७ ५० पृ० २६१) भा० प्र० (पृ० १८), ना० द० (३ १६०) प्रता० (पृ० १७७) सा० द० (३ १७१)।

(११) त्रास

(बादल की) गजना आदि से होने वाला मन का क्षोभ त्रास कहलाता है। इसमे कम्पन आदि (अनुभाव) होते है ॥१६॥

जसे माघ (जल बिहार वणन, ८ २४) मे— उस सु दर उरुओ वाली एक सु दरी के उरु मे चलती हुई मछली टकरा गई इससे डरती हुई वह अत्यधिक अङ्ग भङ्गिमाए (विभ्रम) प्रकट करने लगी । अहो रमणिया तो बिना कारण के केवल लीलाओ से भी बलात् क्षुब्ध हो जाया करती है फिर यदि कारण हो तो (उनके क्षोभ का) क्या कहना ?'

टिप्पणी—ना० शा० (७ ६१, पृ० ३७३ ३७४), भा० प्र० (पृ० २४), ना० द० (३ २०८) प्रता० (पृ० १८६), सा० द० (३ १६४) ।

(१२) असूया

दूसरे की उन्नति को न सह सकना ही असूया है। यह गव दुजनता तथा क्रोध से उत्पन्न होती है। और, इसमे (दूसरे का) दोष-कथन, अनादर, भौहे चढाना म यु, तथा क्रोध की चेष्टाएँ आदि (अनुभाव) होते है ॥१७॥

गर्वेण यथा वीरचरिते—

अर्थित्वे प्रकटीकृतेऽपि न फलप्राप्ति प्रभो प्रत्युत
द्रुह्य दाशरथिविरुद्धचरितो युक्तस्तया कन्यया ।
उत्कर्ष च परस्य मानयशसाविस्रंसन चात्मन
स्त्रीरत्न च जगत्पतिर्दशमुखो दृप्त कथ मृष्यते ॥२३६॥

दौर्जन्याद्यथा—

यदि परगुणा न क्षम्यन्ते यतस्व गुणार्जने
नहि परयशो निन्दाव्याजरल परिमार्जितुम् ।
विरमसि न चेदिच्छाद्वेषप्रसक्तमनोरथो
दिनकरकरान् पाणिच्छत्रैर्नुदञ्छममेष्यसि ॥२३७॥

मन्युजा यथाऽमरुशतके—

पुरस्तन्व्या गोत्रस्खलनचकिताऽह नतमुख
प्रवृत्तो वलक्ष्यात्किमपि लिखितु दैवहतक ।
स्फुटो रेखान्यास कथमपि स तादृक्परिणतो
गता येन व्यक्ति पुनरवयवै सैव तरुणी ॥२३८॥

गर्व से उत्पन्न होने वाली असूया, जैसे वीरचरित (२ ६) मे (माल्यवान् रावण की राम के प्रति असूया का वर्णन करता है)— (जनक से सीता के लिये) याचना करने पर भी स्वामी (रावण) को फल प्राप्ति न हुई प्रत्युत द्रोही एव विरुद्ध कार्य करने वाले दशरथ पुत्र (राम) ने उस कन्या को पा लिया। इस प्रकार शत्रु का उत्कर्ष, अपने मान और यश का ह्रास और स्त्री रत्न का चला जाना— इन सबको ससार का स्वामी गर्वीला रावण कैसे सहन करेगा ?'

दुर्जनता से होने वाली असूया, जैसे (सुभाषितावलि ४५३ महेन्द्र कवि का पद्य) 'यदि तुम दूसरे के गुणो को नहीं सहन कर सकते तो गुणो के अर्जन के लिये यत्न करो। निन्दा के बहाने से तो दूसरे का यश साफ (समाप्त) नहीं किया जा सकता। यदि इच्छा द्वेष मे लगे मनोरथ वाले तुम (पर निन्दा से) नहीं रुकते हो तब तो हाथो के छत्र से सूर्य की किरणो को रोकते हो अत (व्यर्थ ही) थक जाओगे।

मन्यु से उत्पन्न असूया, जैसे अमरुशतक (५१ ५२) मे (कोई नायक कुपित प्रिया को मनाने मे असफल होकर अपने मित्र से कहता है)— उस कृशाङ्गी के समक्ष अपने मुख से दूसरी नायिका का नाम निकल जाने (गोत्र स्खलन) से मैं चकित हो गया और लज्जा (वलक्ष्य) से नीचा मुख करके भाग्य का मारा मैं कुछ योंही रेखा खींचने लगा। किन्तु वह रेखा न्यास भी स्पष्ट रूप से इस प्रकार का हो गया कि वही तरुणी अपने समस्त अङ्गों से प्रकट हो उठी।

ततश्चाभिज्ञाय स्फुरदरुणगण्डस्थलरुचा
मनस्विन्या रोषप्रणयरभसाद् गद्गदगिरा ।
अहो चित्रं चित्रं स्फुटमिति निगद्याश्रुकलुषं
रुषा ब्रह्मास्त्रं मे शिरसि निहितो वामचरणः ॥२३९॥

अथामर्षः—

(२२) अधिक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता ।
तत्र स्वेदशिरःकम्पतर्जनाताडनादयः ॥१८॥

यथा वीरचरिते—

'प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात् ।
न त्वेवं दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम् ॥२४०॥

यथा वा वेणीसंहारे—

'युष्मच्छासनलङ्घनाम्भसि मया मग्नेन नाम स्थितं
प्राप्ता नाम विगर्हणा स्थितिमतां मध्येऽनुजानामपि ।
क्रोधोल्लासितशोणितारुणगदस्योच्छिन्दतः कौरवा-
नद्यैकं दिवसं ममासि न गुरुर्नाहं विधेयस्तव ॥२४१॥

तब उसे पहचान कर मानिनी के कपोल फड़कने लगे, उनकी कान्ति लाल हो गई, क्रोध और प्रणय के आवेग से उसकी वाणी गद्गद हो गई। और, उस मानिनी ने अश्रु-जल से मलिन होते हुए 'स्पष्ट ही यह अनोखा चित्र है' यह कहते हुए क्रोधपूर्वक ब्रह्मास्त्र जैसे अपने वामचरण को मेरे सिर पर रख दिया'।

टिप्पणी—ना० शा० (७. ३६-३७, पृ० ३५८-३५९), भा० प्र० (पृ० १६) ना० द० (३. १८७), प्रता० (पृ० १७५), सा० द० (३. १६६)।

(१३) **अमर्ष**

धिक्कार अधिक्षेप (abuse) तथा अपमान आदि से उत्पन्न होने वाला अभिनिवेश अमर्ष कहलाता है। उसमें स्वेद, सिर हिलाना, तर्जना तथा ताडना आदि (अनुभाव) होते हैं ॥१८॥

जैसे वीरचरित (३.८) में ऊपर उदा० ७२।

और, जैसे वेणीसंहार (१. १२) में (भीमसेन सहदेव के द्वारा युधिष्ठिर से कहला रहा है)—मैं आपकी आज्ञा के उल्लंघन के जल में डूब गया हूँ, मैंने आपकी आज्ञा में स्थित रहने वाले अनुजों के बीच में भी निन्दा प्राप्त कर ली है। अब मैं क्रोधपूर्वक गदा उठाकर उसे रुधिर से लाल करता हुआ कौरवों का नाश करने वाला हूँ। आज एक दिन के लिये आप मेरे बड़े भाई नहीं हैं और न मैं आपका आज्ञाकारी (विधेय) हूँ।'

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७. ७८-७९, पृ० ३६९-३७०), भा० प्र० (पृ० २२); ना० द० (३. १९७), प्रता० (पृ० १८३,) सा० द० (३. १५६)। (२) अभिनिविष्टता=अभिनिवेशः, असहनामति यावत् (प्रभा), Resoluteness

अथ गव —

(२३) गर्वोऽभिजनलावण्यबलश्वर्यादिभिमद ।
कर्माण्याधषणावज्ञा सविलासाङ्गवीक्षणम ॥१६॥

यथा वीरचरिते—

मुनिरयमथ वीरस्तादृशस्तत्प्रिय मे
विरमतु परिकम्प कातरे क्षत्रियासि ।
तपसि विततकीर्तेदपकण्डूलदोष्ण,
परिचरणसमर्थो राघव क्षत्रियोऽहम ॥२४२॥

यथा वा तत्रव—

ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये ।
जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथा दुमनायते ॥२४३॥

(Haas), determination of purpose (Apte) यह शब्द यहाँ अस्पष्ट सा है। ना० द० मे अमष का रूप अधिक स्पष्ट है— तिरस्कार आदि के कारण उत्पन्न होने वाली बदला लेने की इच्छा अमष है (क्षेपादे प्रतिकारेच्छाऽमष)। काव्यानुशासन (२ ४५) मे भी प्रतिचिकीर्षारूपोऽमष' यही कहा गया है। ना० द० मे प्रतिकारेच्छा (=अमष) और क्रोध का अन्तर यह बतलाया गया है कि अपकारी के प्रति अपकार करने की इच्छा अमष है और दूसरे के द्वारा अपकार न किये जाने पर भी दूसरे को हानि पहुचाने का भाव क्रोध है।

(१४) गव

उच्चकुल, सौन्दय बल, ऐश्वय आदि से उत्पन्न होने वाला मद ही गव है। दूसरे को तग करना (अधषण=annoying), तिरस्कार करना तथा विलासपूवक (शान के साथ) अपने अङ्गों को देखना आदि इसके (अनुभाव) होते हैं ॥१६॥

जसे वीरचरित (२ २७) मे (परशुराम से डरी हुई सीता के प्रति राम की उक्ति)– यह (मुनि परशुराम) ऐसा वीर है यह मेरे लिये प्रसन्नता की बात है। हे सीता काँपना छोड दो, तुम तो क्षत्रिया हो और मैं भी तपस्या मे कीर्ति का प्रसार करने वाले तथा दप से भुजाओ मे खुजलाहट वाले (इस परशुराम की) सेवा मे (दोनो प्रकार से) समथ रघुवशी राम हू।

और जसे वहीं (महावीरचरित २ १०) ऊपर २ ६ उदा० ८३ ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७ ६७, पृ० ३६६), भा० प्र० (पृ० २२), ना० द० (३ २१०) प्रता० (पृ० १८०), सा० द० (३ १५४)। (२) कर्माणि= काय, विकार, अर्थात अनुभाव।

अथ स्मृति —

(२४) सदृशज्ञानचिन्ताद्यैः संस्कारात्स्मृतिरित्र च ।
ज्ञातत्वेनार्थभासिन्या भ्रूसमुन्नयनादयः ॥२०॥

यथा—

'मैनाकः किमयं रुणद्धि गगने मन्मार्गमव्याहतं
शक्तिस्तस्य कुतः स वज्रपतनाद्भीतो महेन्द्रादपि ।
तार्क्ष्यः सोऽपि समं निजेन विभुना जानाति मां रावणः—
मा ! ज्ञातं स जटायुरेष जरसा क्लिष्टो वधं वाञ्छति ॥२४४॥

यथा वा मालतीमाधवे— माधवः —मम हि प्राक्तनोपलम्भसंभावितात्मजन्मनः संस्कारस्यानवरतप्रबोधात् प्रतायमानस्तद्विसदृशैः प्रत्ययान्तरैरतिरस्कृतप्रवाहः प्रियतमास्मृतिप्रत्ययोत्पत्तिसंतानस्तन्मयमिव करोति वृत्तिसारूप्यतश्चैतन्यम् ।

---

(१५) स्मृति

समान वस्तु का ज्ञान या चिन्ता आदि के कारण संस्कार (के उद्बुद्ध होने) से स्मृति उत्पन्न होती है यह स्मृति "मैंने पहले यह जानी थी" (ज्ञात) इस रूप में किसी वस्तु का भास कराती है। इसमें भौंहों को ऊँचा उठाना आदि (अनुभाव) होते हैं ॥२०॥

जैसे [महानाटक ५, ७६ पृ० १२८ (Haas) में सीता हरण करके आकाश मार्ग से जाता हुआ रावण जटायु को देखकर सोचता है]— क्या आकाश में मेरे अबाधित मार्ग को यह मैनाक पर्वत रोक रहा है ? किन्तु उसकी ऐसी शक्ति कहाँ ? वह तो इन्द्र से भी वज्रपात से डरा हुआ है। फिर क्या यह गरुड (तार्क्ष्य) है ? किन्तु वह भी अपने स्वामी (विष्णु) के सहित मुझ रावण को जानता है। अच्छा, समझा, यह वह जटायु है, जो बुढ़ापे से दुःखी हुआ (मेरे द्वारा) अपना वध चाहता है।

और, जैसे मालतीमाधव (५.१०) में – माधव—जो (स्मृति) पहले ज्ञान (उपलम्भ) से अपना जन्म पाने वाले संस्कार के निरन्तर प्रबुद्ध होने के कारण प्रतीत हो रही है अन्य ज्ञानों के द्वारा जिसका प्रवाह नहीं रोका गया है, ऐसी यह प्रियतमा (मालती) की स्मृति रूपी ज्ञान की उत्पत्ति की परम्परा (सन्तान) मेरी चेतना को वृत्ति के समान रूप वाली करती हुई मालतीमय (तन्मय) ही कर रही है।

'लीनेव प्रतिबिम्बितेव लिखितेवोत्कीर्णरूपेव च
प्रत्युप्तेव च वज्रसारघटितेवान्तर्निखातेव च ।
सा नश्चेतसि कीलितेव विशिखैश्चेतोभुवः पञ्चभि-
श्चिन्तासंततितन्तुजालनिबिडस्यूतेव लग्ना प्रिया ॥२४५॥

मरणम्—

(२५) मरणं सुप्रसिद्धत्वादनर्थत्वाच्च नोच्यते ।

यथा—

संप्राप्तेऽवधिवासरे क्षणमनु त्वद्वर्त्मवातायनं
वारंवारमुपेत्य निष्क्रियतया निश्चित्य किञ्चिच्चिरम् ।
संप्रत्येव निवेद्य केलिकुररीं सास्रं सखीभ्यः शिशो-
र्माधव्याः सहकारकेण करुणः पाणिग्रहो निर्मितः ॥२४६॥

यह प्रिया (मालती) लीन सी प्रतिबिम्बित सी चित्रित सी, खोद (उत्कीर्ण) कर बनाई सी जड़ी गई सी (प्रत्युप्ता) वज्र लेप से रची गई सी, अन्तःकरण में गड़ी सी कामदेव के (चेतोभुव) पांच बाणों के द्वारा कील दी गई सी, चिन्ता सन्तान रूपी तन्तुओं से मजबूती के साथ सिली सी हमारे चित्त में लगी है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७ ४६ पृ० ३६१) भा० प्र० (पृ० १८), ना० द० (३ २०६) प्रता० (पृ० १७६) सा० द० (३ १४५) । (२) प्राक्तनेति०—प्राक्तनेन उपलम्भेन ज्ञानेन साम्भावित जातम् आत्मजन्म स्वोत्पत्तिर्यस्य तथाभूतस्य संस्कारस्य । (३) वृत्तिसारूप्यत —सांख्य योग के अनुसार चित्त (बुद्धि) का विषय रूप में जो परिणाम होता है वही वृत्ति होती है । चैतन्य (पुरुष) जो कि बुद्धि में प्रतिबिम्बित हुआ करता है वह बुद्धि से अपना विवेक न करता हुआ अपने आपको ही वृत्ति से युक्त या वृत्ति के सदृश समझ लेता है । यही वृत्ति सारूप्य है (वृत्तिसारूप्य-मितरत्र, योगसूत्र १ ४) । यहाँ मालती विषयक स्मृति (वृत्ति) हो रही है, अतः माधव का चैतन्य मालतीमय हो रहा है ।

(१६) मरण

मरण का लक्षण नहीं कहा क्योंकि (i) वह प्रसिद्ध ही है तथा (ii) वह अनर्थ रूप होता है ।

जैसे (किसी प्रोषितपतिका की दूती घर लौटते हुए नायक से कह रही है)—'(आगमन की) अवधि का दिवस आने पर प्रतिक्षण बार बार तुम्हारे आने के मार्ग की खिड़की पर आकर निष्क्रिय होकर देर तक कुछ निश्चय करके अभी अभी क्रीडा की कुररी (एक पक्षिणी) को आंसुओं के साथ सखियों को समर्पित करके उसने अल्प आयु वाली माधवी (लता) का सहकार (आम्र) के साथ करुण पाणि-ग्रहण कर दिया ।'

इत्यादिवच्छृङ्गाराश्रयालम्बनत्वेन मरणे यवसायमात्रमुपनिबन्धनीयम् ।

अन्यत्र कामचारो यथा वीरचरिते—पश्यन्तु भवन्तस्ताडकाम्—

हृन्ममभेदिपतदुत्कटकङ्कपत्रसवेगतत्क्षणकृतस्फुरदङ्गभङ्गा ।

नासाकुटीरकुहरद्वयतुल्यनिर्यदुद्बुदबुदुदध्वनदसृक्प्रसरा मतव ॥२४७॥

अथ मद—

(२६) हर्षोत्कर्षो मद पानात्स्खलदङ्गवचोगति ॥२१॥
निद्रा हासोऽत्र रुदित ज्येष्ठमध्याधमादिषु ।

इत्यादि के समान शृङ्गार के आश्रय (रतिभाव के आश्रय प्रिया अथवा प्रिय) को लक्ष्य करके (आलम्बनत्वेन) जो मरण होता है उसमे कवल मरण की तयरी । का ही वणन करना चाहिये (साक्षात् मरण का नहीं)। अन्य रसो मे इच्छानुसार (मरण की तयारी या साक्षात् मरण का) वणन किया जा सकता है। जसे वीरचरित (१ ,९) में [ताडका क साक्षात मरण का वणन किया गया है]—आप ताडका को देखें हृदय मम का भेदन करने वाले गिरते हुए (राम क) तेज बाणो ने वेगपूवक तत्काल ही उसका अङ्ग भङ्ग कर दिया है। उसके नासिकारूपी कुटीर के दोनो छिद्रो (कुहर) से समान रूप से बुदबुदो से भरी शब्द करती हुई रुधिर की धारा बह रही है लो यह मर ही गई।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७ ८६ ९० पृ० ३७२–३७३) भा० प्र० (पृ० २४), ना० द० (३ १९८) प्रता० (पृ० १८५) सा० द० (३ १५५)। (२) शृङ्गाराश्रय०—शृङ्गारस्य य आश्रय प्रियो वा प्रिया वा तादृशालम्बनत्वेन नाम तादृशशृङ्गाराश्रयमुद्दिश्य मरणे (प्रभा)। व्यवसाय=उद्योग निश्चय, तयारी भाव यह है कि शृङ्गार के वणन मे साक्षात् मरण का वणन नही किया जाता अपितु मरण की तयारी का ही वणन किया जाता है। अत ना० द० मे मत्युसकल्पो मरणम्, तथा प्रता० मे 'मरण मरणाथस्तु प्रयत्न परिकीर्तित ऐसा कहा गया है। ना० शा० आदि मे जो मरण के प्रकार तथा अभिनय आदि का विस्तृत वणन किया गया है वह शृङ्गार से अन्य रसो के सदभ मे समझना चाहिये।

(१७) मद

(मद्य) पान से उत्पन्न होने वाली हष की ऐसी अधिकता, जिसमें शरीर, वाणी और चाल लडखडाने लगते है, मद कहलाती है। इसमे उत्तम, मध्यम तथा अधम जनो मे क्रमश निद्रा, सना हृतथा रुदन (अनुभाव) हुआ करते है ॥२१॥

यथा माघे—

'हावहारि हसित वचनाना कौशल दृशि विकारविशेषा ।
चक्रिरे भृशमृजोरपि वध्वा कामिनेव तरुणेन मदेन ॥२४८॥

इत्यादि ।

अथ सुप्तम—

(२७) सुप्त निद्रोद्भव तत्र श्वासोच्छ वासक्रिया परम ॥२२॥

यथा—

लघुनि तृणकुटीरे क्षेत्रकोणे यवाना
नवकलमपलालस्रस्तरे सोपधाने ।
परिहरति सुषुप्त हालिकद्वन्द्वमाराद्
कुचकलशमहोष्माबद्धरेखस्तुषार ॥२४९॥

अथ निद्रा—

(२८) मनस्समीलन निद्रा चि तालस्यक्लमादिभि ।
तत्र जम्भाङ्गभङ्गाक्षिमीलनोत्स्वप्नतादय * ॥२३॥

जसे माघ (१ १३) मे—कामी युवक के समान मद ने भोली (मुग्धा) वधू मे भी हाव से मनोहर हसी, वचनो का कौशल तथा दृष्टि में विशेष प्रकार के विकार अधिक मात्रा मे उत्प न कर दिये'। इत्यादि ।

टिप्पणी—ना० शा० (७ ३८ ४६ पृ० ३५९ ३६०), भा० प्र० (पृ० १६ १८), ना० द० (३ १८८) प्रता० (पृ० १७५) सा० द० (३ १४६ १४७)।

(१८) सुप्त

निद्रा से उत्पन्न होने वाला भाव सुप्त कहलाता है। उसमे श्वास तथा उछ वास क्रिया (अनुभाव) मुख्यरूप से (परम) होती है ॥२२॥

जसे (सुभाषितावलि १८४० कमलायुद्ध नामक कवि का पद्य—Hass) जौ के खेत के एक कोने में बनी हुइ छोटी सी झोंपडी म नये धानो के पुआल के तकिये सहित विस्तरे पर सोई हुई हालिक की जोडी दम्पती) को—स्तन कलश की अत्यधिक उष्णता क कारण रेखा बद्ध तुषार—निकट से ही बचा रहा है (समीप में स्थित होकर भी उस पर प्रभाव नहीं डाल रहा)।

टिप्पणी—ना० शा० (७ ७५ ७६, पृ० ३६८ २६९) भा० प्र० (पृ० २३) ना० द०(३ २०१) प्रता० (पृ० १८२) सा० द० (३ १५२)। सा० द० मे इसे 'स्वप्न' कहा गया है तथा स्वरूप मे भी भेद है ।

(१९) निद्रा

चि ता आलस्य और थकान आदि के कारण मन का सम्मीलन (बाह्य इ द्रियो से सम्ब ध न होना) ही निद्रा है। उसमे जम्भाई, अगडाई (अङ्गभङ्ग), आखे मुदना तथा सोते मे बडबडाना (उत्स्वप्न) आदि (अनुभाव) होते है ॥२३॥

---

* उच्छ वसनादय इति पाठा तरम् ।

यथा—

'निद्राधमीलितदृशो मदमन्थराणि
नाप्यर्थवन्ति न च यानि निरथकानि ।
अद्यापि मे मृगदृशो मधुराणि तस्या-
स्तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनन्ति ॥२५०॥

यथा च माघे—

'प्रहरकमपनीय स्व निदिद्रासतोच्च
प्रतिपदमुपहूत केनचिज्जागृहीति ।
मुहुरविशदवर्णा निद्रया शून्यशून्या
दददपि गिरमन्तबुध्यते नो मनुष्य ॥२५१॥

अथ विबोध —

(२९) विबोध परिणामादेस्तत्र जम्भाक्षिमदने ।

जसे (सुभाषितावलि १२८०, कोई नायक किसी नायिका की निद्रावस्था का वणन करते हुए कहता है)— आधे मु दे नेत्रो वाली उस मृगनयनी के मद के कारण म द म द कहे गये, न अथयुक्त और न ही निरथक वे मधुर अक्षर अब भी मेरे हृदय मे कुछ गुनगुना रहे हैं।

और जसे माघ (११ ४) मे किसी (पहरेदार) ने अपना पहरा समाप्त करके नींद लेने की इच्छा करते हुए (दूसरे पहरेदार को) पग पग पर (प्रतिपदम्) यह आवाज लगाई— जागो जागो'। कि तु वह मनुष्य निद्रा के कारण अस्पष्ट अक्षरो वाला सूना सूना (अथशून्य) सा उत्तर देते हुए भी भीतर (मन) से नहीं जागता ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७ ७१-७२ पृ० ३६७ ३६८) भा० प्र० (पृ० २२), ना० द० (३ २००) प्रता० (पृ० १८२) सा० द० (३ १७५)। (२) मन सम्मीलनम्—मन का बाह्य इन्द्रियो से सम्बन्ध न होना मन निमीलन बाह्येन्द्रियसम्बन्धविरह (प्रता० टीका। (३) ना० द० (३ २१) के अनुसार निद्रा और सुप्त का अन्तर यह है कि निद्रा मे मन की वृत्ति रहती है केवल बाह्य इन्द्रियो से उसका सम्ब ध नही होता, कि तु सुप्न मे मन की वृत्ति भी रुक जाती है।

(२०) विबोध

परिणाम (टि०) आदि से विबोध (=जागरण) उत्पन्न होता है। उसमे जम्भाई लेना, आँखे मलना आदि (अनुभाव) होते हैं।

यथा माघे—

चिररतिपरिखेदप्राप्तनिद्रासुखाना
चरममपि शयित्वा पूर्वमेव प्रबुद्धा ।
अपरिचलितगात्रा कुर्वते न प्रियाणा
मशिथिलभुजचक्राश्लेषभेद तरुण्य ॥२५२॥

अथ व्रीडा—

(३०) दुराचारादिभिर्व्रीडा धाष्टर्याभावस्तमुन्नयेत ।
साचीकृताङ्गावरणववर्ण्याधोमुखादिभि ॥२४॥

यथाऽमरुशतके—

पटालग्ने पत्यौ नमयति मुख जातविनया
हठाश्लेष वाञ्छत्यपहरति गात्राणि निभृतम् ।

जसे माघ (११ १३) मे— बाद मे सोकर भी पहिले ही जग जाने वाली तरुणिया अपने शरीर को नहीं हिलातीं तथा चिरकालीन रति की थकान से निद्रा के आनन्द को प्राप्त करने वाले अपने प्रियतमों की भुजाओ के दृढ आलिङ्गन को भी, भङ्ग नहीं करती (कहीं उनकी निद्रा भङ्ग न हो जाये ?)' ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७ ७७ पृ० ६६) भा०प्र० (पृ०२३) ना० द० (३ २१५), प्रता० (पृ० १८३) सा० द० (३ १५१) । (२) कायानुशासन आदि मे इसे प्रबोध कहा गया है । (३) परिणाम—परिणामोऽवस्थान्तरप्राप्तिस्तथा च निद्रापगमावस्थया विबोधो जायत इत्यभिप्राय (प्रभा) अर्थात् निद्रा भङ्ग होने की अवस्था । Coming to an end (of sleep)—Hass वस्तुत ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ ना० शा० का अनुसरण करके परिणाम श द का प्रयोग किया गया है । ना० शा० मे विबोध के कारणो का उल्लेख करते हुए आहार परिणाम' को सबसे पहले रक्खा गया है भारतीय स्वास्थ्य विज्ञान के अनुसार भोजन को भी निद्रा का एक कारण माना जाता है । ना० शा० (पृ० ३६७) मे निद्रा के कारणो मे 'आहार का भी निर्देश है । यह भी माना जाता है कि आहार का परिपाक हो जाने पर निद्रा टूट जाती है तथा जागरण हो जाता है जागरण के अन्य भी कारण होते है जसे तीव्र श द या स्पश इत्यादि । उनमे से परिणाम भी एक है । परिणाम=आहार परिणाम भोजन का पारिपाक ।

(२१) व्रीडा

अनुचित आचरण आदि के कारण जा धष्टता (प्रगल्भता) का अभाव होता है वह व्रीडा कहलाती है । इसे एक ओर मोडकर (साचीकृत) अङ्गो को छिपाना, रग का फीका पडना मुख नीचा कर लेना आदि (अनुभावो) के द्वारा प्रकट करना चाहिये ॥२४॥

जसे अमरुशतक (४१) मे (पति के आचरण से लज्जित होने वाली नायिका का वर्णन है)— जब पति आचल खींचता है तो वह विनय युक्त होकर मुख नीचा कर लेती है, पति बलात् आलिङ्गन करना चाहता है तो वह चुपके से अपने अङ्ग

न शक्नोत्याख्यातु स्मितमुखसखीदत्तनयना
ह्रिया ताम्यत्यन्त प्रथमपरिहासे नववधू ॥२५३॥

अथापस्मार —

(३१) आवेशोग्रहदु खाद्यरपस्मारो यथाविधि (धि)।
भूपातकम्पप्रस्वेदलालाफनोदगमादय ॥२५॥

यथा माघे—

'आश्लिष्टभूमि रसितारमुच्चर्लोलद्भुजाकारबहत्तरङ्गम् ।
फेनायमान पतिमापगानामसावपस्मारिणमाशशङ्के ॥२५४॥

हटा लेती है। इस प्रकार मुस्कराते हुए मुख वाली सखियो पर दृष्टि डालते हुए भी वह कुछ कह नहीं सकती वह नववधू इस प्रथम परिहास के अवसर पर मन ही मन मे उद्विग्न होती है।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७ ५८ ५९, दृ० ३६३ ३६४), भा० प्र० (पृ० १६) ना० दा० (३ २०७), प्रता० (पृ० १७-), सा० द० (३ १६५)। प्रता० मे व्रीडा का लक्षण अधिक स्पष्ट है—चेत सकोचन व्रीडानङ्गरागस्तवादिभि । (२) साचीकृत—मोडा हुआ, एक ओर झुकाया हुआ turned aside) दुराचार—अकाय (का यानुशासन) जो किसी अवसर पर करने योग्य न हो व्रीडा नाम—अकायकरणात्मिका (ना० शा०)।

(२२) **अपस्मार**

ग्रह (के प्रभाव) तथा आपत्ति इत्यादि से उत्प न होने वाला चित्त-विक्षेप (आवेश) ही अपस्मार कहलाता है। इसमे यथायोग्य (यथा विधि) भूमि पर गिरना, कापना पसीना आना मु ह मे लाला (राल) तथा झाग (फन) निकालना आदि अनुभाव होते है ॥२५॥

जसे माघ (५ ७२) मे—भूमि पर पडे हुए जोर से शब्द करते हुए चञ्चल भुजाओ के समान बडी बडी तरगो वाले, फेनयुक्त सागर (पतिम् आपगानाम्) को कृष्ण (असौ) ने अपस्मार रोग वाला समझा।'

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७ ७३ ७४ पृ ३६८), भा० प्र० (पृ० २३), ना०द० (३ १८५), प्रता० (पृ० १८२), सा० द० (३ १५३)। (२) आवेश=चित विक्षेप, madness (Haas) मन की ऐसी दशा जिसमे कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य का ज्ञान नही रहता, व्यक्ति पागल सा हो जाता है (मिरगी का रोग), वकल्यम=कृत्याकृत्याविवेचकत्वम (ना० द०) मन क्षेप (सा० द०)। (३) यथाविधि—(पाठा तर यथाविधि)=प्रारब्धानुसारेण (प्रभा), properly speaking (Hass) वस्तुत यथाविधि पाठ ही उचित प्रतीत होता है। यथाविधि=यथायोगम, अर्थात् भिन्न-भिन्न कारणो से उत्पन्न होने वाले अपस्मार मे यथायोग्य भूपात इत्यादि अनुभाव हुआ करते है।

अथ मोह —

(३२) मोहो विचित्तता भीतिदुःखावेशानुचिन्तनैः ।
तत्राज्ञानभ्रमाघातघूर्णनादर्शनादयः ॥ २६ ॥

यथा कुमारसम्भवे—

तीव्राभिषङ्गप्रभवेन वृत्तिं मोहेन संस्तम्भयतेन्द्रियाणाम् ।
अज्ञातभर्तृव्यसना मुहूर्तं कृतोपकारेव रतिर्बभूव ॥ २५५ ॥

यथा चोत्तररामचरिते—

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः ।
तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥२५६ ॥

अथ मतिः —

(३३) भ्रान्तिच्छेदोपदेशाभ्यां शास्त्रादेस्तत्त्वधीर्मतिः ।

---

(२३) मोह

भय दुःख आवेश (चित्त विक्षेप) तथा अनुचिन्तन आदि के कारण होने वाली मूर्छा (विचित्तता =perplexity) ही मोह कहलाता है। उसमे अज्ञान भ्रान्ति टकराना (आघात), चक्कर खाना दिखलाई न देना इत्यादि (अनुभाव) होते हैं ॥ २६ ॥

जैसे कुमारसम्भव (३ ७३) मे इन्द्रियों की वृत्ति को रोक देने वाले अचानक आने वाले तीव्र आघात (अभिषङ्ग) से उत्पन्न हुए मोह के द्वारा थोडी देर के लिये रति को अपने पति (कामदेव) की मृत्यु (व्यसन) का ध्यान न रहा। इस प्रकार मानो मोह ने उसका उपकार ही किया।

और जैसे उत्तररामचरित (१ ३५) मे (सीता को लक्ष्य करके राम कहते हैं)—'यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि यह सुख है या दुःख, यह मूर्च्छा है या निद्रा, यह विष का प्रसार है या मद। तुम्हारे प्रत्येक स्पर्श मे मेरी इन्द्रियो को बिल्कुल मूढ कर देने वाला कोई ऐसा विकार (भाव) हो रहा है जो अन्तःकरण को जड बना रहा है और संताप भी उत्पन्न कर रहा है।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७ ५२ ५३ पृ० ६२) भा० प्र० (पृ० १९) ना० द० (३ १९९) प्रता० (पृ० १७७) सा० द० (३–१५०)। (२) विचित्तता—अचेतनता, मूर्च्छा मूर्च्छन (प्रता०) अचैतन्य (ना० द०) इस अवस्था मे चेतना बिल्कुल समाप्त नही हो जाती अपितु सुध बुध नही रहा करती मोहः चित्तस्य शून्यत्वम् (भा० प्र०)।

(२४) मति

शास्त्र आदि से उत्पन्न होने वाला तत्त्वज्ञान (अर्थ का निश्चय) ही मति कहलाता है। यह भ्रान्ति नाश तथा (शिष्य के प्रति) उपदेश आदि (अनुभावो) से युक्त होती है।

यथा किराते—

'सहसा विदधीत न क्रियामविवेक परमापदा पदम् ।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धा स्वयमेव सपद ।।२५७।।

यथा च—

न पण्डिता साहसिका भवन्ति श्रुत्यापि ते सतुलयन्ति तत्त्वम् ।
तत्त्व समादाय समाचरन्ति स्वाथ प्रकुवन्ति परस्य चाथम ।।२५८।।

अथालस्यम—

(३४) आलस्य श्रमगर्भादिर्जाड्य जम्भासितादिमत ।। २७ ।।

यथा ममव—

चलति कथञ्चित्पृष्टा यच्छति वचन कथञ्चिदालीनाम ।
आसितुमेव हि मनुते गुरुगभरालसा सुतनु ।।२५९।।

जसे किराताजु नीय (२ ३०) मे बिना विचारे कोई काय न करना चाहिये, भले बुरे का विचार न करना (अविवेक) बडी बडी आपत्तियो का कारण होता है। निश्चय ही गुणों से मुग्ध हुई सम्पत्तिया विचार कर काय करने वाले व्यक्ति को स्वय ही वरण कर लेती है ।

और जसे (?) 'बुद्धिमान व्यक्ति सहसा काय करने वाले नहीं होते । वे तो किसी बात को केवल सुनकर भी तत्त्व का तुलनात्मक विचार कर लेते हैं और तत्त्व का ग्रहण करके आचरण करते हैं। इस प्रकार अपने काय की सिद्धि (अथ) कर लेते हैं और दूसरे के भी' ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७ ८२ पृ० ३७१) भा० प्र० (पृ० २३), ना० द० (३ १९३) प्रता० (तत्त्वमार्गानुसन्धानादथनिर्धारण मति पृ० १८४) सा० द० (नीतिमार्गानुसृत्यादेरथनिर्धारण मति, ३ १६३) । (२) शास्त्रादे—शास्त्र इत्यादि मति के विभाव (उत्पत्ति के कारण) माने जाते हैं। यहाँ आदि शब्द से ऊहा पोह (मनन), नीतिमाग का अनुसरण इत्यादि का ग्रहण होता है । भ्रान्ति छेद तथा उपदेश आदि इसके अनुभाव है (ना० शा०) । यहाँ 'आदि' शब्द से सन्तोष, धय इत्यादि का ग्रहण करना चाहिये । (मि०, सा० द०) ।

(२५) आलस्य

परिश्रम या गर्भ धारण आदि से उत्पन्न होने वाली शिथिलता आलस्य है। यह जम्भाई लेना, बठे रहना (आसित) आदि (अनुभावो) से युक्त होता है ।।२७।।

जसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—'वह किसी प्रकार (कठिनाई से) चलती है, सखियों के द्वारा पूछे जाने पर किसी प्रकार उत्तर भी दे देती है। किन्तु गभ के अत्यधिक भार से अलसाई हुई वह सुन्दरी बठे रहना ही पसन्द करती है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७ ४८ पृ० ३६१), भा० प्र० (पृ० १८), ना० द० (३ १९४), प्रता० (पृ० १७६), सा० द० (३ १५५) ।

अथावेग —

(३५) आवेग सम्भ्रमोऽस्मिन्नभिसरजनिते शस्त्रनागाभियोगो*
वातात्पांसूपदिग्धस्त्वरितपदगतिर्वर्षजे पिण्डिताङ्ग ।
उत्पातात्स्रस्तताङ्गेष्वहितहितकृते शोकहर्षानुभावा
वह्नेर्धूमाकुलास्य करिजमनु भयस्तम्भकम्पापसारा ॥२८॥

अभिसरो राजविद्रवादि तद्धेतुरावेगो यथा ममव—

आगच्छागच्छ सज्ज कुरु वरतुरग सन्निधेहि द्रुत मे
खड्ग क्वासौ कृपाणीमुपनय धनुषा किं किमङ्गप्रविष्टम ।
सरम्भोन्निद्रिताना क्षितिभृति गहनेऽयो यमेव प्रतीच्छन्
वाद स्वप्नाभिदृष्टे त्वयि चकितदृशा विद्विषामाविरासीत् ॥२६०॥

(२) यद्यपि 'श्रम भी एक व्यभिचारी भाव है तथापि यह आलस्य नामक व्यभिचारी भाव का विभाव हो जाता है इसमे कोई दोष नही। हा, कोई व्यभिचारी भाव एक दूसरे का व्यभिचारी भाव नही हो सकता क्योकि व्यभिचारी भाव तो किसी स्थायी भाव का ही हुआ करता है (ना० द०)।

(२६) आवेग

आवेग का अर्थ है—सम्भ्रम (हडबडाहट या घबराहट)। [यह अनेक कारणो से हुआ करता है और प्रत्येक के अनुभाव भी भिन्न भिन्न होते है, जसे] (१) किसी राजा के आक्रमण आदि (अभिसर) से उत्पन्न होने वाले आवेग मे शस्त्र तथा हाथी आदि की योजना की जाती है, (२) आधी (वात) से उत्पन्न होने वाले मे धूलि से सना (उपदिग्ध=लिप्त) व्यक्ति तेज चाल से चलता है, (३) वर्षा से उत्पन्न होने वाले आवेग मे व्यक्ति अङ्गो को समेटता है, (४) (उल्का पात आदि) उत्पात से होने वाले आवेग मे अङ्ग शिथिल हो जाते है (५) शत्रु (अहित) द्वारा उत्पन्न होने वाले (आवग) मे शोक होता है, मित्र (हित) द्वारा होने वाले मे हर्ष होता है (६) अग्नि से होने वाले मे व्यक्ति धूम से व्याकुल मुख वाला हो जाता है तथा (७) हाथी से उत्पन्न होने वाले के पश्चात भय, स्तब्धता, कम्प तथा भागना आदि अनुभाव हुआ करते है।

टिप्पणी—(१) इसमें स्रग्धरा वृत्त है। (२) ना० शा० (७ ६३–६५ पृ० ३६५–३६६) भा० प्र० (पृ० २०) ना० द० (३ १६२) प्रता० (पृ० १७६–१८०) सा० द० (३ १४३–१४५)। (३) अभिसर = आक्रमण अभियान (attack—Haa१) उत्पात=बिजली कडकना उल्का पात चन्द्र सूर्य का ग्रहण इत्यादि। (ना० शा०)।

अभिसर को अर्थ है—राजा का अभियान आदि उसके निमित्त से होने वाला आवेग यह है जसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—हे राजन् गहन पर्वत (क्षितिभृत्) पर सोये हुए तुम्हारे शत्रु जब तुम्हे स्वप्न मे देख लेते हैं तो घबराहट से उनकी निद्रा भङ्ग हो जाती है नेत्र चकित हो जाते हैं और एक दूसरे को लक्ष्य

* मायाभियोगो इति पाठान्तरम्।

इत्यादि।

तनुत्राण तनुत्राण शस्त्र शस्त्र रथो रथ ।
इति शुश्रुविरे विष्वगुद्भटा सुभटोक्तय ॥२६१॥

यथा वा—

'प्रारब्धा तरुपुत्रकेषु सहसा सत्यज्य सेकक्रिया-
मेतास्तापसकन्यका किमिदमित्यालोकयन्त्याकुला ।
आरोहन्त्युटजद्रुमाश्च वटवो वाचयमा अप्यमी
सद्यो मुक्तसमाधयो निजवृषीष्वेवोच्चपाद स्थिता ॥२६२॥

वातावेगो यथा— वाताहत वसनमाकुलमुत्तरीयम इत्यादि ।

वर्षजो यथा—

'देवे वर्षत्यशनपचन व्यापृता वह्निहेतो—
र्गेहाद् गेह फलकनिचित सेतुभि पङ्कभीता ।
नीध्रप्रान्तानविरलजला पाणिभिस्ताडयित्वा
शूर्पच्छत्रस्थगितशिरसो योषित सञ्चरन्ति ॥२६३॥

उत्पातजो यथा—

'पौलस्त्यपीनभुजसम्पदुदस्यमान—
कैलाससम्भ्रमविलोलदृश प्रियाया ।

करके उनका इस प्रकार का वार्तालाप होने लगता है – आओ, आओ, उत्तम घोडे को तयार करो शीघ्र मेरे पास आ जाओ यह खड्ग कहा है ? कटारी लाओ, धनुष से क्या (लाभ) ? अरे क्या (शत्रु) प्रविष्ट हो गया' । इत्यादि ।

इसी प्रकार कवच कवच शस्त्र शस्त्र, रथ रथ इस प्रकार की श्रेष्ठ योद्धाओ की उत्कट उक्तिया चारो ओर (विष्वक) सुनाई पडती थीं ।

अथवा जसे [तपोवन मे किसी राजा की सेना या किसी भयजनक व्यक्ति के आ जाने पर तपस्वियो के सम्भ्रम का वर्णन है]—'ये तापस कन्याएँ पुत्र-तुल्य वृक्षो मे प्रारम्भ की गई सेचन क्रिया को एक दम छोडकर 'यह क्या है' इस प्रकार व्याकुल होकर देखती है । ये ब्रह्मचारी कुटी के वृक्षो पर चढ रहे हैं । और मौनी तपस्वी (वाचयम—a sage who maintains rigid silence–Apte) भी तुरन्त समाधि को छोडकर अपने आसनो पर ही ऊचे पर करके खडे हो गये हैं ।'

आँधी से उत्पन्न होने वाला आवेग यह है, जसे—'वायु से आहत यह उत्तरीय वस्त्र इधर उधर उड रहा है (आकुलम्), इत्यादि ।

वर्षा से उत्पन्न होने वाला आवेग, मेघ बरसने पर भोजन पकाने में व्यस्त नारियाँ निरन्तर जल वाले छप्पर के छोर को हाथो से हटाकर सिर को सूप (छाज) छाते से ढके हुए कीचड से डरी हुई 'तख्तो के बने बाँधो से, आग लाने के लिये, एक घर से दूसरे घर जा रही है'

उत्पात से होने वाला आवेग है, जसे—'चन्द्रशेखर (महादेव) की ऐसी स्थिति (आसिनम्—आसनम्) तुम्हारा कल्याण करे, जिसमे रावण (पौलस्त्य)

श्रयासि वो दिशतु निह्नुतकोपचिह्न-
मालिङ्गनोत्पुलकमासितमिन्दुमौले ॥२६४॥

अहितकृतस्त्वनिष्टदर्शनश्रवणाभ्याम् तद्यथोदात्तराघवे- चित्रमाय —(ससम्भ्रमम्) भगवन् कुलपते रामभद्र परित्रायताम् परित्रायताम्। (इत्याकुलतां नाटयति) इत्यादि।

पुन चित्रमाय —

मृगरूप परित्यज्य विधाय विकट वपु ।
नीयते रक्षसाऽनेन लक्ष्मणो युधि सशयम् ॥२६५॥

राम —

वत्सस्याभयवारिधे प्रतिभय मन्ये कथ राक्षसात्
त्रस्तश्चैष मुनिर्विरौति मनसश्चास्त्येव मे सम्भ्रम ।
मा हासीर्जनकात्मजामिति मुहु स्नेहाद् गुरुर्याचते
न स्थातु न च गन्तुमाकुलमतेर्मूढस्य मे निश्चय ॥२६६॥

इत्यन्तेनानिष्टप्राप्तिकृतसम्भ्रम ।

इष्टप्राप्तिकृतो यथाऽत्रैव—(प्रविश्य पटाक्षेपेण सम्भ्रान्तो वानर) वानर महाराअ एद खु पवणणन्दणागमणेण पहरिस-' (महाराज एतत्खलु पवननन्दनागमनेन प्रहर्ष- ।) इत्यादि देवस्स हिअआणन्दजणणं विअलिद महुवणम्। (देवस्य हृदयानन्दजनन विदलित मधुवनम् ।) इत्यन्तम् ।

की पुष्ट भुजाओ के बल द्वारा कैलास पर्वत के उठाये जाने की घबराहट से चञ्चल दृष्टि वाली प्रिया (पार्वती) के कोपचिह्न छिप गये है, जो (पार्वती के) आलिङ्गन से पुलकित है ।

अहितकृत आवेग तो अनिष्ट (वस्तु) के दर्शन या श्रवण आदि से होता है, जैसा कि उदात्तराघव मे—चित्रमाय (घबराहट के साथ)—भगवन् कुल के स्वामी राम रक्षा कीजिये रक्षा कीजिये (इस प्रकार व्याकुलता का अभिनय करता है) इत्यादि। फिर चित्रमाय—मृग के रूप को छोडकर भयावना रूप बनाकर यह राक्षस युद्ध मे लक्ष्मण (के जीवन) को सशय मे डाल रहा है।

'राम—निर्भयता के सागर वत्स लक्ष्मण को राक्षस से भय हो सकता है यह कैसे मानू ? यह मुनि (चित्रमाय) डरकर चिल्ला रहा है इसलिये मेरे मन मे घबराहट है ही। दूसरी ओर गुरु (?) ने बार बार स्नेहपूर्वक यह अनुरोध किया था की जनकपुत्री को (अकेला) न छोडना। इस प्रकार मेरी बुद्धि आकुल है मैं किंकर्त्तव्यविमूढ हूँ मेरा न ठहरने का निश्चय हो रहा है न ही जाने का।

यहाँ तक अनिष्ट प्राप्ति से होने वाला सम्भ्रम है।

इष्टप्राप्ति से होने वाला सम्भ्रम, जैसे यहीं (उदात्तराघव मे ही)-(घबराया वानर पटपरिवर्तन के साथ प्रवेश करके सुग्रीव से कहता है) वानर—'पवनपुत्र (हनुमान्) के आगमन के आनन्द से इत्यादि से लेकर महाराज के हृदय मे आनन्द उत्पन्न करने वाला मधुवन उजाड दिया', यहा तक।

यथा वा वीरचरिते—

'एह्येहि वत्स रघुनन्दन पूर्णचन्द्र
चुम्बामि मूर्धनि चिरस्य परिष्वजे त्वाम् ।
आरोप्य वा हृदि दिवानिशमुद्वहामि
वन्देऽथवा चरणपुष्करकद्वयं ते ॥२६७॥

वह्निजो यथाऽमरुशतके—

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं
गृह्णन्केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण ।
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ॥२६८॥

यथा वा रत्नावल्याम्—

विरम विरम वह्ने मुञ्च धूमाकुलत्वं
प्रसरयसि किमुच्चैरर्चिषां चक्रवालम् ।
विरहहुतभुजाऽहं यो न दग्धः प्रियायाः
प्रलयदहनभासा तस्य किं त्वं करोषि ॥२६९॥

अथवा जैसे वीरचरित (१.५५) में—

'पूर्ण चन्द्रमा के समान, रघुकुल को आनन्द देने वाले वत्स राम आओ, आओ, बहुत समय के पश्चात् तुम्हारे मस्तक का चुम्बन कर लूँ तुम्हें गले लगा लूँ अथवा हृदय में रखकर रात दिन तुम्हें साथ रक्खूँ या तुम्हारे दोनों चरण कमलों की वन्दना करूँ ।

अग्नि से उत्पन्न होने वाला सम्भ्रम, जैसे अमरुशतक (२) में वह (त्रिपुर दहन के अवसर की) शिव के बाणों की अग्नि तुम्हारे पापों को भस्म करे, जिस (अग्नि) को अश्रुपूर्ण नेत्रकमल वाली त्रिपुर युवतियों के द्वारा, तत्काल अपराध करने वाले कामी के समान हाथ छूने पर झटक दिया गया (क्षिप्त), बलात् आँचल पकड़ते हुए भी ताडित किया गया, केशों को पकड़ते हुए हटाया गया, चरणों में गिरते हुए को सम्भ्रम (भय या आदर) से नहीं देखा गया तथा आलिङ्गन करते हुए दुत्कारा गया'।

अथवा जैसे रत्नावली (४.१६) में (सागरिका को बचाने के लिये अग्नि में प्रविष्ट होते हुए उदयन की उक्ति)—'हे अग्नि, शान्त हो जाओ शान्त हो जाओ, धूम की आकुलता को छोड़ दो । तुम ऊँची लपटों के समूह को क्यों फला रही हो ? जिस मुझको प्रलय काल की अग्नि के समान तेज वाली प्रिया के विरह की अग्नि ने नहीं जलाया उसका तुम क्या करोगी ?

करिजो यथा रघुवशे—

स च्छिन्नबन्धद्रुतयुग्यशून्य भग्नाक्षपर्यस्तरथ क्षणेन ।
रामापरित्राणविहस्तयोध सेनानिवेश तुमुल चकार ॥२७०॥

करिग्रहण व्यालोपलक्षणार्थम् । तेन व्याघ्रशूकरवानरादिप्रभवा आवेगा व्याख्याता ।

अथ वितर्क —

(३६) तर्को विचार सन्देहाद् भ्रूशिरोऽङ्गुलिनर्तक ।

यथा—

किं लोभेन विलङ्घित स भरतो येनतदेव कृत
सद्य स्त्रीलघुता गता किमथवा मातव मे मध्यमा ।
मिथ्यतन्मम चिन्तित द्वितयमप्यार्यानुजोऽसौ गुरु-
र्माता तातकलत्रमित्यनुचित मन्ये विधात्रा कृतम् ॥२७१॥

हाथी से उत्पन्न होने वाला आवेग है जसे रघुवश (५ ४९) मे उस (बिगडे हाथी) न क्षण भर मे सनिक शिविर मे ऐसी गडबडी मचा दी (तुमुल चकार) कि यह (शिविर) बन्धन को तोडकर भाग जाने वाले अश्वो से सूना हो गया, वहा टूटी धुरी वाले रथ इधर उधर पडे थे योद्धा लोग स्त्रियो की रक्षा मे व्याकुल (विहस्त) थे ।

(दश० की कारिका मे) करिज' (हाथी से उत्पन्न) शब्द का ग्रहण (पशुजन्य) विनाश (व्यालोप) को उपलक्षित करने के लिये है । इसके द्वारा व्याघ्र, शूकर, वानर आदि से होने वाले आवेगो को भी बतला दिया गया है ।

(२७) वितर्क

सन्देह से उत्पन्न होने वाला विचार ही तर्क कहलाता है यह भौहो, सिर तथा अङगुलियो मे चञ्चलता उत्पन्नता करने वाला होता है (अर्थात इसमे भौहे चलाना इत्यादि अनुभाव होत है) ।

जसे (?) (वनवास के निमित्त का विचार करते हुए लक्ष्मण कहते हैं)— 'क्या वह (विनय आदि से युक्त) भरत लोभ से आक्रान्त हो गया और उसने ककेयी द्वारा (मात्रा) ऐसा करा दिया ? अथवा मेरी मझली माता ही स्त्रियो की (स्वाभाविक) क्षुद्रता को प्राप्त हो गई ? नहीं मेरे ये दोनों प्रकार के विचार मिथ्या हैं, क्योकि वह मेरा ज्येष्ठ भ्राता (गुरु) भरत तो आर्य राम का अनुज है और वह मेरी माता (ककयी) पिता (महाराज दशरथ) की धमपत्नी है । इसलिये मैं समझता हू कि यह अनुचित काय विधाता ने ही किया है ।

अथवा ।

'क समुचिताभिषेकाद्राम प्रच्यावयेद् गुणज्येष्ठम् ।
मन्ये ममव पुण्य सेवावसर कृतो विधिना ॥२७२॥

अथावहित्था—

(३७) लज्जाद्यै विक्रियागुप्ताववहित्थाङ्गविक्रिया ।

यथा कुमारसम्भवे—

एववादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पावती ॥२७३॥

अथ व्याधि —

(३८) व्याधय सनिपाताद्यास्तेषाम यत्र विस्तर ॥२९॥

अथवा (राम वनवास के अवसर पर ही लक्ष्मण का तक है)— गुणो मे उत्कृष्ट राम को उचित राज्याभिषक से कौन वञ्चित कर सकता है ? मै समझता हू कि मेरे पुण्यो से ही विधाता ने मुझे (राम की) सेवा का अवसर दिया हैं ।

टिप्पणी—ना० शा० (७ ९२ पृ०३७४) भा० प्र० (पृ० २५) ना० द० (३ २०९) प्रता० (पृ० १८६), सा० द० (३ १७१) ।

(२८) अवहित्था

लज्जा आदि के कारण (मुख राग आदि) अङ्ग विकार को छिपाना ही अवहित्था कहलाती है । इसमे अन्य अङ्गो का विकार आदि (अनुभाव) होते है ।

जसे कुमारसम्भव (६ ८४) मे देवर्षि नारद के इस प्रकार कहन पर पास में बठी पावती नीचा मुख करके लीला कमल के पत्तों को गिनने लगी ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७ ८०, पृ० ३७०), भा० प्र० (पृ० २२), ना० द० (३ २१२), प्रता० (पृ० १८४), सा० द० (३ १५८) । (२) अवहित्था का अभिप्राय है आकार को छिपाना । अनुराग आदि का भाव मन मे उदित होने पर जो मुख–राग, भ्रू–विकार आदि होने लगते है उन विकारो को लज्जा भय आदि के कारण छिपाना ही अवहित्था है । लज्जा भय, गौरव, कुटिलता, धृष्टता आदि इसके विभाव होते हैं । अपने आकार को छिपाने के लिये व्यक्ति किसी अन्य काय में लग जाता है, कोई और बात कहने लगता है, किसी ओर देखने लगता है इस प्रकार की अङ्ग–विक्रिया ही अवहित्था के अनुभाव है (ना० शा० तथा ना० द०) ।

(२९) व्याधि

सन्निपात इत्यादि व्याधिया कहलाती हैं । इनका अन्य स्थलो (आयुर्वेद आदि के ग्रन्थो) मे विस्तारपूवक वणन किया गया है ॥२९॥

दिङ्मात्रं तु यथा

अच्छिन्नं नयनाम्बु बन्धुषु कृतं चिन्ता गुरुभ्योऽर्पिता
दत्तं दैन्यमशेषतः परिजने तापः सखीष्वाहितः ।
अद्य श्वः परनिर्वृतिं व्रजति सा श्वासः परं खिद्यते
विश्रब्धो भव विप्रयोगजनितं दुःखं विभक्तं तया ॥२७४॥

अथोन्मादः—

(३९) अप्रेक्षाकारितोन्मादः सन्निपातग्रहादिभिः ।
अस्मिन्नवस्था* रुदितगीतहासासितादयः ॥ ३० ॥

यथा—आः ! क्षुद्रराक्षस, तिष्ठ तिष्ठ, क्व मे प्रियतमामादाय गच्छसि' इत्युपक्रमे कथम्—

दिग्दर्शनमात्र तो यह है जैसे (अमरुशतक ११०) कोई दूती नायक के पास जाकर विरह सन्तप्ता नायिका का उपालम्भपूर्वक वर्णन करती है)— उस विरहिणी ने निरन्तर बहने वाली अश्रु धारा बन्धुजनों को अर्पित कर दी है दीनता पूर्णत परिजनों को दे दी है अपना सन्ताप सखियों के पास रख दिया है। इस प्रकार उसने वियोग से उत्पन्न होने वाला दुःख बाट दिया है। तुम निश्चिन्त रहो। वह तो आज या कल पर निर्वाण को प्राप्त हो जायेगी। उसे तो केवल श्वास ही दुःख दे रहे हैं।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७ ८३ पृ० ३७१) भा० प्र० (पृ० २३) ना० द० (३ १९४), प्रता० (पृ० १८५) सा० द० (३ १६४)। (२) सामान्यत सन्निपात का अर्थ है—साथ मिलना। किन्तु आयुर्वेद के अनुसार वात पित्त कफ तीनों के एक साथ विकृत होने को सन्निपात कहा जाता है। वात पित्त और कफ में से किसी एक के विकृत होने पर ही रोग उत्पन्न हो जाया करता है। अत तीनों के एक साथ विकृत होने से जो रोग उत्पन्न होता है वह अधिक कष्टसाध्य हुआ करता है। इस प्रकार सन्निपात आदि किसी व्याधि (रोग) के निमित्त हुआ करते हैं। उनसे उत्पन्न होने वाले ज्वर आदि व्याधि कहलाती हैं (द्र० ना० शा०, ना० द० तथा सा० द०)। दशरूपक में सन्निपात आदि से उत्पन्न होने वाली (ज्वर आदि) व्याधि के लिये सन्निपात आदि शब्द का प्रयोग कर दिया गया है।

(३०) उन्माद

सन्निपात तथा ग्रह (के प्रभाव) आदि से उत्पन्न होने वाली जो बिना सोचे समझे कार्य करने की अवस्था है, वह उन्माद कहलाती है। इसमें रोना, गाना, हसना तथा बैठे रहना (आसित) आदि अवस्थाएं (अनुभाव) हुआ करती हैं ॥३०॥

जैसे (विक्रमोर्वशीय नाटक ४ ७ उर्वशी के वियोग में उन्मत्त पुरूरवा की उक्ति)—'अरे नीच राक्षस, ठहर ठहर। मेरी प्रियतमा को लेकर कहां जाता है? इस सन्दर्भ में—'क्या? यह नवीन मेघ उमडा है यह गर्वयुक्त राक्षस नहीं है। यह

* स्थान० इति पा०।

नवजलधर सन्नद्धोऽय न दृप्तनिशाचर
सुरधनुरिद दूराकृष्ट न तस्य शरासनम् ।
अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरम्परा
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया न ममोवशी ।।२७५।। इत्यादि ।

अथ विषाद —

(४०) प्रारब्धकार्यासिद्धयादेर्विषाद सत्त्वसक्षय ।
नि श्वासोच्छ्वासहृत्तापसहायान्वेषणादिकृत ।। ३१ ।।

यथा वीरचरिते— हा आर्ये ताडके, किं हि नामतत अम्बुनि मज्जन्त्यलाबूनि, ग्रावाण प्लवन्ते ।

नन्वेष राक्षसपते स्खलित प्रताप
प्राप्तोऽद्भुत परिभवो हि मनुष्यपोतात ।
दृष्ट स्थितेन च मया स्वजनप्रमाथो
दन्य जरा च निरुणद्धि कथ करोमि ।।२७६।।

दूर तक फला हुआ इन्द्रधनुष है उसका धनुष नहीं है । यह भी तेज (पटु) धारा की वर्षा है, बाणो की धारा नहीं है । कसौटी पर कनक रेखा के समान स्निग्ध यह विद्युत् है मेरी प्रिया उवशी नहीं है । इत्यादि

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७ ८४–८५ प० ३७२) भा० प्र० (पृ० २४), ना० द० (३ २०५), प्रता० 'उन्मादस्तुल्यवर्तित्व चेतनाचेतनेष्वपि (पृ० १८५) सा० द० (३ १६०) । (२) यहाँ सन्निपात आदि उन्माद के विभाव है । इसी प्रकार इष्टजन–वियोग विभव नाश आदि भी इसके विभाव होते है । (ना० शा०) । ऊपर के उदाहरण मे इष्टजन वियोग ही इसका विभाव है । रोना आदि इसके अनुभाव हैं । असम्बद्ध प्रलाप भी इसका अनुभाव होता है (ना० शा०) ऊपर के उदाहरण मे यही अनुभाव है ।

(३१) विषाद

प्रारम्भ किये गये काय मे असफलता आदि के कारण उत्साह (सत्त्व) का क्षीण हो जाना ही विषाद कहलाता है। यह नि श्वास उच्छ्वास, हृदय का सन्ताप तथा सहायक की खोज आदि (अनुभावो) का जनक होता हैं ।। ३१ ।।

जैसे वीरचरित (१ ४०) में (रावण का विषाद है)—'हाय, आर्या ताडका यह क्या हो रहा है ? जल मे तूम्बी डूब रही है और पाषाण तर रहे है ।

सचमुच, यह राक्षसपति (रावण) का प्रताप क्षीण हो गया है, क्योंकि उसको मनुष्य के बच्चे से अद्भुत पराभव प्राप्त हुआ है मैंने यहाँ रहते हुए ही स्वजनों का नाश देख लिया और दीनता तथा बुढ़ापा मुझे (कुछ करने से) रोक रहे हैं, कैसे करू' ?

अथौत्सुक्यम्—

(४१) कालाक्षमत्वमौत्सुक्य रम्येच्छारतिसम्भ्रमैं ।
*तत्रोच्छ्वासत्वराश्वासहृत्तापस्वेदविभ्रमा ॥ ३२ ॥

यथा कुमारसम्भवे—

आत्मानमालोक्य च शोभमानमादर्शबिम्बे स्तिमितायताक्षी ।
हरोपयाने त्वरिता बभूव स्त्रीणा प्रियालोकफला हि वेष ॥२७७॥

यथा वा तत्रैव -

पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्राद्गमयदद्रिसुतासमागमोत्क ।
कमपरमवश न विप्रकुर्युर्विभुमपि त यदमी स्पृशन्ति भावा ॥२७८॥

टिप्पणी—(१) ना शा० (७ ८८—६ प ३६७) भा० प्र० (पृ० २२), ना० द० (३ २०४) प्रता० (पृ० १८१), सा० द० (३ १६७)। (२) सत्त्वसक्षय सत्त्व=चित्त (निर्मल चित्त या निर्विकार चित्त) उसकी क्षीणता चित्त का अनुत्साहित तथा सतप्त हो जाना मि० विषादस्ताति, ताति =अनुत्साहाक्रान्तश चित्तसताप' (ना० द०) तथा विषादश्चेतसो भङ्ग (प्रता०) अर्थात दिल टूट जाना।

(३२) औत्सुक्य (उत्सुकता)

रमणीय वस्तु की अभिलाषा गाढ अनुराग (रति तथा घबराहट के कारण जो समय (विलम्ब) को न सह सकना है वह औत्सुक्य कहलाता है। उसमे उच्छ्वास, जल्दबाजी दीर्घ श्वास हृदय का सताप पसीना और भ्रम आदि (अनुभाव) होते हैं ॥३२॥

जसे कुमारसम्भव (७ २२) मे 'निश्चल (स्तिमित) तथा दीर्घ नेत्रों वाली पार्वती दर्पण मे अपने सुन्दर रूप को देखकर महादेव जी के पास जाने के लिये शीघ्रता करने लगी। वस्तुत स्त्रियो की साज सज्जा का फल यही है कि प्रियतम उसको देखे।

अथवा जसे वही (कुमारसम्भव ६ ९५) 'पार्वती से मिलन के लिये उत्सुक महादेव (पशुपति) ने भी वे दिन अत्यन्त कठिनता से व्यतीत किये। ये (काम सम्बन्धी) भाव जब धीर एव सयमी (विभु) को भी प्रभावित करते है तो फिर किस दूसरे असयमी (अवश) व्यक्ति को विकृत न कर देंगे ?'

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७ ७० प० ३५७) भा० प्र० (पृ० २१), ना० द० (३ २११) प्रता० (पृ० १८१) सा० द० (३ १५९)। (२) रम्येच्छारति०—यहाँ दो प्रकार का पदच्छेद किया जा सकता है (i) रम्येच्छा+अरति (Haas) अरति=रति का अभाव (lack of the pleasures of love)। इसके कारण भी औत्सुक्य होता है। (ii) रम्येच्छा+रति, रति—अनुराग प्रेम। ना० द० मे अभिष्वङ्ग (Intence attachment, affection) औत्सुक्य का निमित्त माना गया है। इसी आधार पर यहाँ रति (=गाढ अनुराग) पदच्छेद अधिक उचित प्रतीत होता है।

---

*तत्रोच्छ्वासत्वनि श्वास० इति पाठान्तरम्।

अथ चापलम्—

(४२) मात्सर्यद्वेषरागादेश्चापलं त्वनवस्थितिः ।
तत्र भर्त्सनापारुष्यस्वच्छन्दाचरणादयः ॥ ३३ ॥

यथा विकटनितम्बायाः —

'अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग
लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु ।
बालामजातरजसं कलिकामकाले
व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः ॥२७९॥

यथा वा—

विनिकषणरणत्कठोरदंष्ट्राक्रकचविशङ्कटकन्दरोदराणि ।
अहमहमिकया पतन्तु कोपात् सममधुनैव किमत्र मन्मुखानि ॥२८०॥

अथवा प्रस्तुतमेव तावत्सुविहितं करिष्ये । इति ।

अन्ये च चित्तवृत्तिविशेषा एतेषामेव विभावानुभावस्वरूपानुप्रवेशान्न पृथग्वाच्याः ।

---

(३३) चपलता

मात्सर्य, द्वेष तथा राग आदि से होने वाली चित्त की अस्थिरता चपलता कहलाती है। उसमे डाँटना, कठोरता दिखलाना तथा स्वच्छन्द आचरण इत्यादि (अनुभाव) होते ॥ ३३ ॥

जैसे विकटनितम्बा (नामक कवयित्री) के इस पद्य मे (सुभाषितावलि ७३५) —हे भ्रमर दूसरी पुष्पलताओं पर अपने चञ्चल मन को बहलाओ जो तुम्हारे उपमर्द (मर्दन मसलन) को सहन कर सकें। इस नवमल्लिका की कली कली को जो अभी छोटी है, जिसमे पराग (रजस) नहीं उत्पन्न हुआ है बिना अवसर के ही व्यर्थ मे क्यो बिगाड रहे हो ?'

अथवा जैसे (रावण की इस उक्ति मे ?)— '(दाँत) पीसने के कारण, शब्द करती हुई कठोर दाढ रूपी आरों (क्रकच) से भीषण कन्दरा के समान मध्यभाग (उदर) वाले ये मेरे मुख 'मै खाऊँ' 'मै खाऊँ' यह कहते हुए क्या एक साथ क्रोधपूर्वक अभी इन (वानरो) पर गिर जायें' ?

अथवा प्रस्तुत कार्य को ही भली भाँति करूँगा।

टिप्पणी—ना० शा० (७ ६०, पृ० ३६४) भा० प्र० (पृ० २०), ना० द० (३ १९१) के अनुसार 'चापलं साहसम्' साहसम्=अविमृश्यकारिता (बिना विचारे काम करना), प्रता० (पृ० १७९), सा० द० (३ १६९)।

(उपर्युक्त भावो के अतिरिक्त) जो अन्य चित्तवृत्तियाँ हैं, उनका इन्हीं के विभाव तथा अनुभाव में अन्तर्भाव हो जाता है अतः उनका पृथक कथन नही करना चाहिये।

अथ स्थायी—

(४३) विरुद्धरविरुद्धर्वा भावैर्विच्छिद्यते न य ।
आत्मभाव नयत्यन्यान स स्थायी लवणाकर ॥ ३४ ॥

टिप्पणी—ना० शा० (७ ९३ पृ० ३७४) मे भी व्यभिचारी भावो की सख्या ३३ कही गई है। कि तु भानुदत्त आदि कतिपय आचार्यो ने इनके अतिरिक्त 'छल आदि को भी व्यभिचारी भाव माना है। इसी प्रकार ना० द० (३ १८२) मे क्षुधा तृष्णा मत्री मुदिता आदि का भी व्यभिचारी भाव के रूप में उल्लेख किया गया है। साथ ही जसा कि ऊपर (४ ८ टि०) कहा गया है किसी रस का स्थायी भाव भी दूसरे रस मे व्यभिचारी भाव हो जाया करता है। इसीलिये विश्वनाथ कविराज ने ३३ व्यभिचारी भावो के निरूपण को उपलक्षण मात्र बतलाया है अर्थात इन ३३ भावो के अतिरिक्त और भी व्यभिचारी भाव हा सकते है। दूसरी ओर साहित्य शास्त्र मे एक ऐसी भी परम्परा प्रतीत होती है, जिसके अनुसार व्यभिचारी भाव ३३ ही है अधिक नही। धनिक भी इसी मत के मानने वाले प्रतीत होते है। प्रस्तुत सदभ का भाव यह है कि व्यभिचारी भाव विशेष प्रकार की चित्तवृत्तियाँ हैं। निर्वेद इत्यादि ३३ भावो के अतिरिक्त इस प्रकार की और भी चित्तवृत्तिया हो सकती हैं जो रस के पोषण मे सहायक हुआ करती है। फिर भी उनका पृथक कथन करना आवश्यक नही। कारण यह है कि उनमे से कुछ चित्तवृत्तिया उक्त ३ व्यभिचारी भावो के विभाव रूप मे होगी कुछ इनके अनुभाव रूप मे ही। इसलिये उनका इन्ही मे अन्तर्भाव हो जायेगा। द्रष्टव्य—

अन्येऽपि यदि भावा स्युश्चित्तवृत्तिविशेषत ।
अन्तर्भावस्तु सर्वेषा द्रष्टव्यो व्यभिचारिषु ॥

भा० प्र० पृ० २५ प० ६७।

स्थायी भाव

जो (रति आदि) भाव अपने से प्रतिकूल अथवा अनुकूल किसी प्रकार के भावो के द्वारा विच्छिन्न नही होता और लवणाकर (नमक की खान या समुद्र) के समान अन्य सभी भावो को आत्मसात कर लेता है, वह स्थायी भाव कहलाता है ॥ ३४ ॥

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७ ८ तथा ८ से पहिले गद्य, पृ० ३४९–३५०), भा० प्र० (पृ० २६), काव्यानुशासन (२ १८) ना० द० (३ १८१ वृत्ति), प्रता० (पृ० १५७) सा० द० (३ १७४)। (२) ये भाव स्थायी इसलिये कहलाते हैं क्योकि ये स्थितिशील हैं—स्थित रहने वाले हैं (स्थायी यस्मादवस्थित ना० शा० पृ० ३७९)। साथ ही ये प्रधान भी होते हैं—बह वाश्रयत्वात स्वामिभूता स्थायिनो भावा (ना० शा०, पृ० ३४९)। इस प्रकार इनकी दो विशेषताएँ हैं—(i) स्थिति शीलता और (ii) प्रधानता। दशरूपक मे इन्हे इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—(i) स्थायी भाव वह भाव है जो प्रतिकूल या अनुकूल भावो के द्वारा विच्छिन्न नही होता है। (ii) जिस प्रकार लवणाकर मे जो भी वस्तु गिर जाती है वही तद्रूप (लवण) हो जाती है, इसी प्रकार सभी व्यभिचारी भाव आदि स्थायी भाव के रूप मे ही घुल

सजातीयविजातीयभावान्तररतिरस्कृतत्वेनोपनिबध्यमानो रत्यादि स्थायी। यथा बृहत्कथायां नरवाहनदत्तस्य मदनमञ्जूषायामनुराग तत्तदवान्तरानेकनायिकानुरागैरतिरस्कृत स्थायी। यथा च मालतीमाधवे श्मशानाङ्के बीभत्सेन मालत्यनुरागस्यातिरस्कार—मम हि प्राक्तनोपलम्भसम्भावितात्मजन्मन सस्कारस्यानवरतप्रबोधात

मिल जाते हैं। इस पर धनिक की व्याख्या है—जिस रति आदि भाव का काव्य मे इस प्रकार उपनिबन्धन किया जाता है कि वह सजातीय या विजातीय भावो के द्वारा तिरस्कृत नही होता, वही रति आदि भाव स्थायी भाव है। रति आदि से उपरक्त चित्त मे अविरोधी भावो तथा व्यभिचारियो का सम्बन्ध होता है यह सभी सहृदयो के अनुभव से सिद्ध है। इस प्रकार स्थायी भाव का स्वरूप यह है —एक तो वह काव्य मे इस प्रकार उपनिबद्ध किया जाता है कि सजातीय या विजातीत भावो मे उसके सातत्य मे विच्छेद नही होता जसे बृहत्कथा आदि के उदाहरण से स्पष्ट है। (स्थितिशीलता) दूसरे वह सहृदय के मन मे (रसास्वादन के समय) उद्बुद्ध रहता है। अन्य सभी भाव उसी मे विलीन होते रहते हैं (प्रधानता)। (३) अभिनवगुप्त के अनुसार इनकी स्थितिशीलता यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के मन मे जन्म से ही ये विशेष प्रकार के भाव रहते हैं। वासना रूप मे रहने वाले ये भाव किसी निमित्त से उदबुद्ध हो जाया करते है और अपना कार्य करके विलीन से हो जाते है किन्तु ये कभी नष्ट नही होते। इनकी प्रधानता यह है कि ये भाव पुरुषार्थ चतुष्टय से सम्बन्ध रखते हैं (द्र० अभि० भा० पृ० २८२-२८३)। (४) आगे चलकर स्थायी भाव का स्वरूप परिष्कृत हुआ तथा 'पुष्ट होकर या अभिव्यक्त होकर जो भाव रसरूपता को प्राप्त हो जाते है वे ही स्थायी भाव हैं' इस बात पर अधिक बल दिया जाने लगा जसे—प्रकृष्यमाणो यो भावो रसता प्रतिपद्यते। स एव भाव स्थायीति भरतादिभिरुच्यते॥ भा० प्र० (पृ० २६)।

किञ्च 'रसावस्थ पर भाव स्थायिता प्रतिपद्यते'। (उद्धृत सा० द० ३ १७२)। सा० द० के स्थायी भाव के लक्षण मे दश० की छाया है फिर भी इसी पहलू पर अधिक बल दिया गया है—

अविरुद्धा विरुद्धा वा य तिरोधातुमक्षमा।
आस्वादाङकुरकन्दोऽसौ भाव स्थायीति सम्मत॥

यहाँ 'आस्वादाङकुरकन्द' यह शब्द विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है।

(काव्य आदि में) वर्णित (उपनिबध्यमान) ऐसा रति आदि भाव ही स्थायी भाव कहलाता है जिसका अन्य सजातीय या विजातीय भावो से अभिभव (तिरस्कार) नहीं होता। (सजातीय भावों से अभिभव न होने का उदाहरण है) जसे बृहत्कथा में जो मदनमञ्जूषा के प्रति नरवाहनदत्त के अनुराग का वर्णन किया गया है, उसका अन्य (नायको के) अनेक नायिकाओं के प्रति वर्णित अवान्तर अनुरागों से तिरस्कार नहीं होता, अत वहा (नरवाहनदत्त निष्ठ) रति

प्रतीयमानस्तद्विमदृश प्रत्यया त रतिरस्कृतप्रवाह प्रियतमास्मृतिप्रत्ययोत्पत्तिसन्तान स्त मयमिव करोत्य तवृ त्तिसारूप्यतश्चतन्यम् इत्यादिनोपनिबद्ध । तदनेन प्रकारेण विरोधिनामविरोधिना च समावेशो न विरोधी ।

तथाहि—विरोध सहानवस्थान बाध्यबाधकभावो वा । उभयरूपेणापि न तावत्तादा म्यम्यकरूपत्वेनवाविर्भावात । स्थायिना च भावादीना* यदि विरोधस्त

स्थायी भाव है । और (विजातीय भावो से न होने का उदाहरण है) जसे मालती माधव मे श्मशान के वणन सम्ब धी (पञ्चम तथा षष्ठ) अङ्क मे बीभत्स के वणन से मालती के प्रति होने वाले (माधव के) अनुराग का तिरस्कार नहीं होता । जसा कि इस (स दभ) मे वणन किया गया है— (५ ६ के बाद) जो (स्मृति की धारा) पूव अनुभव (उपलम्भ) से उत्प न होने वाले सस्कार के निर तर प्रबुद्ध होने के कारण प्रकट हो रही है जिसका अन्य विजातीय प्रतातियों (प्रत्यय) से प्रवाह नहीं रोका जा रहा है, ऐसी यह प्रियतमा की स्मृति रूप ज्ञान की उत्पत्ति की धारा मेरी चेतना को अ त करण की वत्ति के सारूप्य से मालतीमय (त मय) बना रही है । इस प्रकार विरोधी या अविरोधी भावो का एकत्र समावेश विरोधी (स्थायीभाव का विच्छे क) नहीं होता ।

टिप्पणी—(१) विरुद्ध = विजातीय अविरुद्ध = सजातीय । एक रति भाव (अनुराग) दूमरे रति भाव का सजातीय है किन्तु जुगुप्सा आदि भाव रति भाव के विजातीय हैं जसे ऊपर के उदाहरणो मे नरवाहनदत्त का मदनमञ्जूषा के प्रति जो अनुराग है अन्य नायको के अनुराग उसके सजातीय हैं। कि तु मालती माधव मे माधव का जो मालती के प्रति अनुराग है बीभत्स (जुगुप्सा उसका विजातीय भाव है । (२) न विरोधी = विच्छेदक नही ऊपर के उदाहरणो से स्पष्ट है कि सजातीय और विजातीय भावो के द्वारा स्थायी भाव का विच्छेद नही होता । इस प्रकार सजातीय या विजातीय भावा को अगी स्थायी भाव का अग बनाकर का य मे समाविष्ट किया जा सकता है उनके समावेश मे कोई दोष नही होता ।

कसे ? यह तथा हि चाङ्गत्वायोगात्' मे बतलाया गया है—

विरोध का अभिप्राय है—(दो भावो का) साथ न रह मकना (सहानवस्थान) अथवा एक दूसरे का बाध करना (बाध्य बाधक भाव) । इन दोनो ही रूपो मे ? एक स्थायी भाव का (अस्य) किसी अ य स्थायी भाव से विरोध (तादात्म्यम् = विरुद्धत्वम् = विच्छेदकत्व विरोध नहीं हो सकता, क्योकि सभी भावो की एक (रस के) रूप मे ही प्रतीति हुआ करती है । यदि स्थायी भावो तथा व्यभिचारी भावो का परस्पर विरोध माना जाये तो वह सहानवस्थान रूप विरोध नहीं हो सकता क्योकि यह सभी सहृदयो के अनुभव से सिद्ध होता है कि रति आदि भाव से उपरक्त चित्त मे अविरोधी व्यभिचारियो का इसी प्रकार सम्ब ध हो जाता है

* विभावादीनाम् इति पाठान्तरम्

त्रापि न तावत् सहानवस्थानम्—रत्याद्यपरक्ते चेतसि स्रक्सूत्रन्यायेनाविरोधिना न्यभि चारिणा चोपनिबन्ध समस्तभावकस्वसवेदनसिद्ध । यथव स्वसवेदनसिद्धस्तथव काव्य न्यापारसरम्भेणानुकार्येप्यावेश्यमान स्वचेत सम्भेदेन तथाविधान दसविदुन्मीलनहेतु सम्पद्यते । तस्मा न तावद्भावाना सहानवस्थानम् । बाध्यबाधकभावस्तु भावान्तरभा वान्तरतिरस्कार । स च न स्थायिनामविरुद्धन्यभिचारिभि स्थायिनोऽविरुद्धत्वात् तेषा मङ्गत्वात्–प्रधानविरुद्धस्य चाङ्गत्वायोगात् ।

जिस प्रकार माला क सूत्र में अनेक पुरुषो का (स्रकसूत्रन्यायेन)। और जिस प्रकार यह अपने अनुभव से सिद्ध होता है उसी प्रकार काव्य व्यापार के उपाय (सरम्भ) द्वारा अनुकाय (राम आदि) में भी उस (रति भाव से युक्त चित्त मे अविरोधी यभिचारियो क सम्बन्ध) का वणन किया जाता है तथा (सहृदय के) अपने चित्त क साथ तन्मयता (सम्भव= मिश्रण) हो जान क कारण वह उस प्रकार की आनन्दमयी अनुभूति के आविर्भाव का निमित्त बन जाता है। इसलिये सञ्चारी भावो का (स्थायीभाव के साथ) सहानवस्थान रूप विरोध तो होता नही ।

(बाध्यबाधकभाव विरोध भी नहीं हो सकता क्यो ?) बाध्य बाधक भाव का अथ है—एक भाव क द्वारा दूसरे भाव का तिरस्कार। और स्थायीभावो का अपने अविरोधी व्यभिचारी भावो के साथ बाध्य बाधक भाव विरोध (स) हो नहीं सकता, क्योकि वे स्थायीभाव के विरोधी नहीं होते अपितु उसके अङ्ग होते ह । जो प्रधान का विरोधी होता है वह तो उसका अङ्ग ही नहीं बन सकता ।

टिप्पणी—(१) विरोध=सहानवस्थान + बाध्यबाधक भाव । (२) भावो के विरोध मे दो सम्भावनाएँ है (i) या तो दो स्थायी भावो का परस्पर विरोध हो अथवा (ii) किसी स्थायी भाव का व्यभिचारी भावो के साथ विरोध हो। ऊपर (i) तथा हि—भावात इत्यादि मे यह बतलाया है कि दो स्थायी भावो मे न तो सहानवस्थान रूप विरोध हो सकता है और न ही बाध्य बाधक भाव रूप विरोध। कारण यह है कि रस रूप से जो स्थायी भाव का आस्वादन किया जाता है उसमे एक (मिश्रित) रूप मे ही आस्वादन होता है (जिसे पानक रस न्याय भी कहा जाता है)। वहा दो भावो की पृथक प्रतीति नही होती। फिर उनका किसा प्रकार का विरोध कसे हो सकता है ? (ii) स्थायिना च चाङ्गत्वायोगात् मे यह बतलाया गया है कि किसी स्थायी भाव का अविरोधी यभिचारियो के साथ भी न तो सहानवस्थान रूप विरोध हो सकता है और नही बाध्य बाधक भाव रूप विरोध (द्र० अनवाद)। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि रस सन्दभ मे स्थायी भाव का अपने से अविरुद्ध व्यभिचारियो के साथ समावेश दिखलाया गया है। जो न्यभिचारी भाव किसी स्थायी भाव का विरोधी होता है वह तो स्थायी भाव का अङ्ग हो ही नही सकता (प्रधानविरुद्धस्य चाङ्गत्वायोगात्)। धनिक ने अङ्गी रस के साथ

आनन्तयविरोधित्वमप्यनेन प्रकारेणाऽपास्त भवति । यथा च मालतीमाधवे शृङ्गारानन्तर बीभत्सोपनिबन्धेऽपि न किञ्चिद्वैरस्यम् । तदेवमेव स्थिते विरुद्धरसकालम्बनत्वमव विरोधे हेतु । स त्वविरुद्धरसान्तर व्यवधानेनोपनिबध्यमानो न विरोधी ।

यथा—'अण्णहुणाहुमहेलिअहुजुहुपरिमलुसुअन्धु ।

मुहुक तह अगत्थणाहअङ्ग ण फिट्टइ ग धु ॥२८१॥

(नितान्तास्फटत्वादस्य श्लोकस्य च्छाया न लिख्यते ।)

इत्यत्र बीभत्सरसस्याङ्गभूतरसान्तर व्यवधानन शृङ्गारसमावेशो न विरुद्ध । प्रकारान्तरेण वकाश्रयविरोध परिहृतन्य ।

उसके समावेश का प्रकार नही बतलाया । ध्वन्यालोक (३ १४) का० प्र (७ ६३) तथा सा० द० (७ ३०) आदि से विदित होता है कि यदि विरुद्ध व्यभिचारी आदि का बाध्य रूप मे निबन्धन किया जाता है तो कोई विरोध नही होता अपितु गुण होता है ।

इस प्रकार यहा किसी स्थायी भाव का विरोधी तथा अविरोधी स्थायी भाव के साथ एव अविरोधी व्यभिचारी भावो के साथ अङ्गाङ्गिभाव से समावेश दिखलाया गया है । कि तु जिन स्थायी भावो का विरोध (बाध्य बाधक भाव) सहृदय जनो के अनुभव से सिद्ध है उनका तो अङ्गाङ्गिभाव हो नही सकता । अत अब यह दिखलाते है कि वस्तत विरोधी भावो का काव्य मे कसे उपनिबन्धन किया जाना चाहिये —

इसी प्रकार (रसो के आनन्तय विरोध का परिहार किया जा सकता है । जसे मालती माधव मे शृङ्गार के अनन्तर बीभत्स की योजना की गई है फिर भी वहाँ किसी प्रकार की विरसता नहीं होती । अब ऐसा (कि भावो मे सहानवस्थान इत्यादि विरोध नहीं हो सकता) सिद्ध हो जाने पर (स्थिते) केवल विरुद्ध रसो का एक आलम्बन होना (आलम्बनक्य) ही विरोध निमित्त हो सकता है । किन्तु वहा भी यदि किसी अविरोधी रस को बीच मे रखकर विरुद्ध रसो की योजना की जाती है तो कोई विरोध नहीं होता । जसे अण्णहु इत्यादि प्राकृत पद्य मे है (इस पद्य की व्याख्या स्पष्ट नहीं) ।

यहा पर बीभत्स रस का अङ्ग जो (?) रस है उसे बीच मे रखकर शृङ्गार रस का समावेश किया गया है अत कोई विरोध नहीं होता । अथवा आश्रयक्यविरोध (विरोधी रसों का एक आश्रय मे होना) का अन्य प्रकार से परिहार किया जा सकता है ।

टिप्पणी—(१) रस–विरोध तथा उसके परिहार के विशेष विवरण के लिये द्र० ध्वन्यालोक (३ १८–३०) काव्यप्रकाश (७ ६०–६५) सा० द० (७ २६–३१) । (२) रसो का विरोध तीन प्रकार का होता है —(१) आनन्तय या नैरन्तय विरोध—जो रस एक साथ बिना किसी व्यवधान के नही रह सकते, उनका

ननु यत्रकतात्पर्येणेतरेषा विरुद्धानामविरुद्धाना च यग्भूतत्वेनोपादान तत्र भवत्वङ्ग त्वेनाऽविरोध, यत्र तु समप्रधानत्वेनानेकस्य भावास्योपनिब धन तत्र कथम् ?

नर तय विरोध होता है, जसे शा त (शम) और शृङ्गार (रति) दोनो एक यक्ति मे अ यवहित रूप से नही रह सकते अत इनका नर तय विरोध है। इस विराध को दर करने के लिये दोनो के बीच मे किसी अन्य रस का वरणन करना चाहिये जसे नागान द मे शा त और शृङ्गार के बोच मे अद्भुत रस का उपनिब धन किया गया है। यहा धनिक ने जो शृङ्गार के अन तर बीभत्स के उपनिब धन मे अवरोध दिखलाया है वस्तुत वह आन तय विरोध का उदाहरण नही। बीभत्स और शृङ्गार का आलम्बनक्य विरोध माना जाता है आन तय विरोध नही। (11) आलम्बनक्य विरोध— जो दो रस (स्थायी भाव) एक ही आलम्बन (विभाव) के निमित्त से नही हो सकते उनका आलम्बनक्य विरोध होता है जसे शृङ्गार और बीभत्स का। अत मालती आदि किसी एक ही अलम्बन विभाव के प्रति रति तथा जुगुप्सा दोनो भाव का उप-निब धन दोषयुक्त हैं। हाँ, मालती के प्रति रति भाव और श्मशान आदि के प्रति जुगुप्सा भाव हो सकता है। इस प्रकार आलम्बन का भेद करने स आलम्बनक्य विरोध दूर हो जाता है (सा० द०)। धनिक की टीका के अनुसार इस विरोध के परिहार का उपाय है—बीच मे अविरोधी रस की योजना कर देना जो कि ऊपर प्राकृत के उदाहरण से दिखलाया गया है। (111) आश्रयैक्य विरोध—जिसमे किसी भाव की उत्पत्ति होती है वह आश्रय कहलाता है। जो दो रस (स्थायी भाव) एक ही आश्रय मे नही हो सकते उनका आश्रयक्य विरोध होता है जसे एक ही नायक मे वीर और भयानक का उपनि ब धन करना विरोधी होगा क्योकि वीर का स्थायी भाव 'उत्साह' और भयानक का स्थायी भाव भय दोनो एक जगह एक साथ नही रह सकते। ध्व यालोक आदि के अनुसार आश्रयक्य विरोध के परिहार का उपाय है—दोनो विरोधी रसो की भि न-भि न आश्रयो मे योजना करना जसे वीर और भयानक का आश्रयक्य विराध है अत वीर का नायक मे तथा भयानक का प्रतिनायक मे उपनिब धन कर देना चाहिये। धनिक ने इसके परिहार का उपाय नही बतलाया, केवल प्रकारा तरेण परिहतव्य यह कह दिया है। वस्तत आलोक टीका का यह अश अस्पष्ट सा हो गया है। (३) बीभत्सरसस्य अङ्गभूतरसा तर०—बीभत्स का अङ्ग प्राय भयानक रस हुआ करता है। प्रकारा तरेण०=अङ्गाङ्गिभावकल्पनया (प्रभा)। वस्तत आश्रयक्य विरोध के परिहार का जो उपाय अभी ऊपर बतलाया गया हैं, उसी मे टीका का तात्पय प्रतीत होता है।

(शङ्का) मान लिया कि जहाँ एक के तात्पय से (एक रस को प्रधान करके) दूसरे विरुद्ध और अविरुद्ध भावो को अङ्ग रूप मे (यग्भूतत्वेन=दबाकर, गौण रूप से) रक्खा जाता है वह तो उन (विरोधी तथा अविरोधी भावों) के अङ्ग हो जाने के कारण विरोध न होगा, कि तु जहा समान रूप में प्रधान रखकर (समप्रधानत्वेन) अनेक भावो की योजना की जाती है, वहाँ (अविरोध) कसे होगा ? जैसे (?)—

१ यथा—'एक्कत्तो रुग्रइ पिग्रा ग्रण्णत्तो सम तूरणिग्घोसो ।
पेम्मेण रणरसेन ग्र भडस्स डोलाइग्र हिग्रग्रम् ॥२८२॥
(एकतो रोदिति प्रियाऽयत समरतूयनिर्घोष ।
प्रम्णा रणरसेन च भटस्य दोलायित हृदयम् ॥)

इत्यादौ रत्युत्साहयो । २ यथा वा—

मात्सयमुत्साय विचाय कायम र्या समर्यादमिद वदन्त ।
सेव्या नितम्बा किम् भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ।२८ ॥

इत्यादौ रतिशमयो । ३ यथा च—

इय सा लोलाक्षी त्रिभुवनललामकवसति
स चाय दुष्टात्मा स्वसुरपकृत येन मम तत् ।
इतस्तीव्र कामो गुरुरयमित क्रोधदहन
कृतो वेषश्चाय कथमिदमिति भ्राम्यति मन ॥२८४॥

इत्यादौ त रतिक्रोधयो ।

४ ग्रत्र कलितमङ्गलप्रतिसरा स्त्रीहस्तरक्तोत्पल—
व्यक्तोत्तमभत पिनद्धशिरसा हृत्पुण्डरीकस्रज ।

---

१ एक ग्रोर प्रियतमा रो रही है ग्रौर दूसरी ग्रोर रणभेरी का निर्घोष हो रहा है इस प्रकार प्रेम ग्रौर समर के उत्साह मे योद्धा का दोलायित हो रहा है ।

इत्यादि में रतिभाव ग्रौर उत्साह भाव की समान रूप से प्रधानता है ।

२ ग्रथवा जसे—(शृङ्गारशतक ३) मात्सर्य को छोडकर विचार करके ग्रायजन मर्यादापूवक यह बतलायें कि पवतो के नितम्बो का सेवन करना चाहिये या काम भाव से मुसकराती हुई विलासनियो के ?

इत्यादि मे रति ग्रौर शम भाव की समान रूप से प्रधानता है। ग्रौर, जसे - (रावण की इस उक्ति मे ?)

३ इधर तो तीनो लोका के सौन्दय की एकमात्र वसति (बस्ती) यह चञ्चल नेत्रों वाली सीता (सा) है ग्रौर उधर वह दुष्ट व्यक्ति है जिसने मेरी बहिन का वह (नाक काटना ग्रादि) उपकार किया है। इधर तो तीव्र काम का भाव है ग्रौर उधर महान् क्रोध की ग्रग्नि । ग्रौर मैंने यह (सन्यासी का) वेष बनाया है। ग्रत मेरा सर चकरा रहा है कि यह सब कसे हो रहा है ।

इत्यादि मे रतिभाव ग्रौर क्रोध की समानरूप से प्रधानता है। ग्रौर जसे—

४ मालती० ५।१८ श्मशान वणन)—ये पिशाच नारियाँ—जो ग्रातो से मांगलिक माला (प्रतिसर) बनाये हुए हैं स्त्रियों के कर रूपी लाल कमलो के (कण) ग्राभूषण धारण किये हुए हैं हृदयरूपी कमलों की माला सिर पर बाधे हैं

एता शोणितपङ्ककुङ कुमजुष सभूय का त पिब—
त्यस्थिस्नेहसुरा कपालचषक प्रीता पिशाचाङ्गना ॥२८५॥

इत्यादावेकाश्रयत्वेन रतिजुगुप्सयो ।

५ एक ध्याननिमीलना मुकुलित चक्षुर्द्वितीय पुन
पावत्या वदनाम्बुजस्तनतटे शृङ्गारभारालसम् ।
अन्यद् दूरविकृष्टचापमदनक्रोधानलोद्दीपित
शम्भोर्भि नरस समाधिसमये नेत्रत्रय पातु व ॥२८६॥

इत्यादौ शमरतिक्रोधानाम् ।

६ एकेनाक्ष्णा प्रविततरुषा वीक्षते व्योमसस्थ
भानोर्बिम्ब सजललुलितेनापरेणात्मका तम् ।
अह्नश्छेदे सकीर्णौ रचयति रसौ नतकीव प्रगल्भा ॥२८७॥

इत्यादौ च रतिशोकक्रोधाना समप्राधा येनोपनिब धस्तत्कथ न विरोध ?

रुधिर की पङ्क का कुङ कुम लगाये हुए हैं—अपने प्रियतमो के साथ मिलकर कपाल के प्यालो मे अस्थि स्नेह (चर्बी) रूपी मदिरा का पान कर रही हैं' ।

इत्यादि में एक आलम्बन (=आश्रय) के निमित्त से होने वाले रति और जुगुप्सा भाव की समान रूप से प्रधानता है । और जसे— (?)

५ 'एक (नेत्र) तो ध्यान मे मुँद जाने के कारण कली के समान स्थित (मुकुलित) है, दूसरा नेत्र पावती के मुख कमल तथा स्तन छोर पर लगा हुआ शृङ्गार के भार से अलसाया है । तीसरा नेत्र दूर तक धनुष का खींचने वाले कामदेव के प्रति उत्पन्न क्रोध की अग्नि से प्रज्वलित हो रहा है । इस प्रकार समाधि के समय भिन्न भिन्न भावो से युक्त शिव के तीनो नेत्र तुम्हारी रक्षा करें ।

इत्यादि मे शम रति तथा क्रोध की समानरूप से प्रधानता है । तथा जैसे—

६ (सुभाषितावलि १९१६ शाङ्ग० ३५९६ चन्द्रक कवि का पद्य) दिन की समाप्ति पर प्रियतम के वियोग की आशङ्का करने वाली चक्रवाकी क्रोध भरे एक नेत्र के द्वारा आकाश मे स्थित सूय बिम्ब को देखती है और आँसुओ से भरे दूसरे कम्पित नेत्र के द्वारा अपने प्रियतम को देखती है । इस प्रकार एक निपुण नतकी के समान दो सकीर्ण भावों को प्रकट कर रही है ।

इत्यादि मे रति, शोक और क्रोध की समप्रधान रूप मे योजना की गई है। फिर भी इनका विरोध क्यो नहीं है ?

टिप्पणी—(१) ननु कथ न विरोध —यह पूव पक्षी की शङ्का है । आशय यह है कि जहाँ एक रस (स्थायी भाव) प्रधान होता है, अन्य उसके अङ्ग होते हैं वहां स्थायी भाव का विरोधी तथा अविरोधी भावो के साथ अविरोध हो सकता है, किन्तु जहाँ दो या अधिक भावो की समान रूप से प्रधानता होती है ।

अत्रोच्यते—अत्राप्येक एव स्थायी तथा हि—१ एक्कतो रुअइ पिआ इत्यादौ स्थायीभूतोत्साह यभिचारिलक्षणवितकभावहेतुस देहकारणतया करुणसग्रामतूययोरु पादान वीरमेव पुष्णातीति भटस्यत्यनेन पदेन प्रतिपादितम्। न च द्वयो समप्रधान योर यो यमुपकार्योपकारकभावरहितयोरकवाक्यभावो युज्यते। किञ्चोपक्रा ते सग्रामे सुभटाना कार्या तरकरणेन प्रस्तुतसग्रामौदासी यन महदनौचित्यम्। अतो भतु सग्राम करसिकतया शौयमेव प्रकाशयन् प्रियतमाकरुणो वीरमेव पुष्णाति।

(समप्राधा य) वहा उनमे अङ्गाङ्गिभाव नही हो सकता। अत वहा विरोध होगा ही। पूवपक्षी की ओर से ऐसे ६ उदाहरण प्रस्तुत किये गये है जिनमे विरोधी भावो के पर स्पर समप्राधा य की सम्भावना है। (२) **एकतात्पर्येण**=एक (भाव या रस) मे तात्पय मानकर एक की प्रधानता के अभिप्राय से। **एकाश्रयत्वेन**=एक ही निमित्त से पूव उदाहरणो मे दो भावो के आलम्बन (निमित्त) का भेद है कि तु यहा रति और जुगुप्सा दोनो का आलम्बन एक ही पिशाचाङ्गना है। **रतिशोकक्रोधानाम्**—वस्तुत यहाँ दो भावो का ही वणन है जसा कि पद्य से भी प्रकट होता है—द्वौ सङ्कीर्णौ रचयति रसौ। वे दो भाव है—रति और क्रोध। शोक को तो भावी विप्रलम्भ (रति) का ही अङ्ग कहा जा सकता है।

पूवपक्षी की शङ्का का समाधान करते हुए धनिक यह दिखलाते हैं कि उपयुक्त ६ उदाहरणो मे अनेक भावो का सम प्राधान्य नही है —

(समाधान) इस विषय मे कहना यह है कि उपयु क्त उदाहरणो मे (अत्र) भी एक एक स्थायीभाव ही (प्रधान) है। (अत यहा समप्राधान्य मानना उचित नहीं) जसे कि—

१ एकतो रोदिति प्रिया इत्यादि मे उत्साह स्थायीभाव है वितक उसका व्यभिचारी भाव है उस (वितक) का निमित्त स देह है और स देह के उत्पादक के रूप मे रुदन (करुण) तथा रण भेरी का वणन किया गया है। यह रुदन और रण भेरी का वणन वीर (उत्साह) को ही पुष्ट करता है यह बात 'भटस्य (योद्धा के) इस श द के प्र ोग से प्रकट होती है। दूसरी बात यह भी है कि जिन दो भावो का सम प्राधा य होता है उनमे परस्पर उपकाय उपकारक भाव (एक दूसरे का उपकार करना, अङ्गाङ्गिभाव) नहीं हुआ करता। अत उनकी एक वाक्यता भी नहीं बन सकती (जिन भावो मे अङ्गाङ्गिभाव होता है वे परस्पर साकांक्ष होते है अत उनका ही एकवाक्य मे वणन किया जा सकता है यहा दोनों का एकवाक्य मे वणन है इससे सिद्ध होता है कि दोनो मे अङ्गाङ्गिभाव है)। इसके अतिरिक्त सग्राम आरम्भ हो जाने पर श्रेष्ठ योद्धाओ का अन्य काय करना और प्रस्तुत (कत्तव्य) सग्राम से उदासीन रहना निता त अनुचित होगा। इसलिये यहाँ प्रियतमा का करुण विप्रलम्भ (रति भाव) पति को एकमात्र सग्राम रसिकता को दिखलाकर उसकी शूरता को ही प्रकट करता है तथा वीररस को ही पुष्ट करता है।

२ एव मात्सयम् इत्यादावपि चिरप्रवृत्तरतिवामनाया हेयतयोपादानाच्छमैक परत्वम आर्या समर्यादम इत्यनेन प्रकाशितम । ३ एवम इय सा लोलाक्षी इत्यादावपि रावणस्य प्रतिपक्षनायकतया निशाचरत्वेन मायाप्रधानतया च रौद्र यभिचारि विषादविभाववितर्कहेतुतया रतिक्रोधयोरुपादान रौद्रमव। ४ अत्र कल्पितमङ्गल

टिप्पणी—(१) स्थायीभूत० = यहा रुदन तथा रण भेरी के वर्णन से सन्देह उत्पन्न होता है जो (सन्देह) पद मे दोलायित पद द्वारा प्रकट किया गया है। सन्देह से वितक उत्पन्न होता है। इस प्रकार करुण तथा रण भरी का वर्णन सन्देह का कारण है और सन्देह है वितक का हेतु। पद का अर्थ यह है—स्थायीभूतो य उत्साहस्तस्य व्यभिचारिलक्षणो यो वितर्कभाव तस्य हेतु य सन्देह तत्कारणतया। एकवाक्यभाव = एकवाक्यता अङ्गाङ्गिभाव (प्रभा)। प्रियतमाकरुण — प्रिया मे होने वाला करुण भाव। यहा करुण का अभिप्राय करुणविप्रलम्भ है। अतो पुष्णाति—इस प्रकार यहाँ रति और उत्साह का समप्राधान्य नही है अपितु उत्साह (वीर) की प्रधानता है और रति (करुण विप्रलम्भ) उसी को पुष्ट करता है।

इसी प्रकार अग्रिम उदाहरणो मे भी दो भावो का सम प्राधान्य नही है अपितु एक भाव की ही प्रधानता है —

२ इसी प्रकार मात्सय इत्यादि मे भी चिरकाल से होने वाली रतिवासना का हेय (त्याज्य) रूप मे ग्रहण किया गया है और यहा एकमात्र शम के वर्णन मे ही तात्पय है। यह बात आर्या समर्यादम् इन दोनो शब्दो द्वारा प्रकट हो रही है।

टिप्पणी—भाव यह है कि श्रेष्ठजनो म मर्यादा का ध्यान रखते हुए यह पूछा जा रहा है रमणियो के नितम्ब सेवनीय है या पवत की उपत्यकाये अत स्पष्ट ही कवि का तात्पय पवत की उपत्यकाओ के सेवन से है। इसलिये यहा शम भाव की प्रधानता है रति और शम का सम प्राधान्य नही।

३ इसी प्रकार इय सा लोलाक्षी इत्यादि मे भी केवल रौद्र रस मे ही तात्पय है (रौद्रपरम् एव) क्योकि यहा रावण प्रतिपक्ष नायक है और वह निशाचर होने के कारण माया प्रधान है। रौद्र रस का व्यभिचारी भाव विषाद है और विषाद का विभाव (निमित्त) वितक है। उस वितक के हेतु के रूप मे रति और क्रोध दोनो का वर्णन किया गया है।

टिप्पणी—(१) भाव यह है कि परस्पर विरुद्ध रति और क्रोध दो भावो के होने से यह वितक उत्पन्न होता है कि क्या करे (कथम इदम)। इस वितक से विषाद की उत्पत्ति होती है। वह विषाद रौद्र रस का व्यभिचारी भाव है। इस प्रकार रति भाव की योजना रौद्र रस को ही पुष्ट करने के लिये है। यहाँ रौद्र रस की प्रधानता है, दोनो का समप्राधान्य नही। (२) रौद्र हेतुतया—रौद्रस्य व्यभिचारी विषादस्तस्य विभाव आलम्बनविभाव सीता तद्विषयक कथम्पदव्य

प्रतिसरा इत्यादौ हास्यरसकपरत्वमेव । ५ एक ध्याननिमीलनात् इत्यादौ सम्भोर्भा वान्तररनाक्षिप्ततया शमस्थस्यापि योग्यन्तरशमाद्वलक्षण्यप्रतिपादनेन समकपरतव समाधिसमये' इन्यनेन स्फुटीकृता । ६ एकेन क्ष्णा इत्यान्दौ तु समस्तमपि वाक्य भवि ष्याद्विप्रलम्भविषयम् । इति न क्वचिदनेकतात्पयम् ।

ङ्गघो यो वितर्कस्तद्धतुतया (प्रभा) वस्तुत रौद्रस्य यभिचारी विषाद तस्य विभाव वितक तस्य हतुतया एक न्यभिचारी भाव दूसरे का विभाव हो जाया करता है, यह ऊपर (पृ० २६१) कहा जा चुका है।

४ अन्त्र कल्पितमङ्गलपरिसरा' इत्यादि उदाहरण मे एकमात्र हास्य रस मे ही तात्पय है।

टिप्पणी—घृणित उपकरणो से सज धज कर पिशाचिनिया अपने प्रियतमो के साथ प न गोष्ठी सुख का अनुभव कर रही हैं इस वणन से पिशाचिनियो के विकृत आकार, वेष तथा चेष्टाए प्रकट होती है जो हास्य रस के विभाव हैं। अत यहा हास्य रस की ही प्रधानता है जुगुप्सा और रति दोनो हास्य रस के ही पोषक हैं। इस प्रकार इन दोनो भावो का समप्राधान्य नही।

६ एक ध्याननिमीलनात्' इत्यादि मे यह प्रतिपादन किया गया है (प्रति पादनेन) कि शम भाव मे स्थित शिव को अन्य (रति आदि) भाव विक्षिप्त नहीं कर सकते अत उनका सम भाव अन्य योगियो से विलक्षण है। इस प्रकार यहा एकमात्र शम भाव (के वणन) मे तात्पय है। यही बात समाधिसमये (समाधि के समय मे) इस पद से स्पष्ट की गई है [इस प्रकार यहा शम की प्रधानता है शम रति तथा क्रोध तीनो का सम प्राधा य नहीं है]।

६ एकेनाक्ष्णा इत्यादि उदाहरण मे तो समस्त वाक्य का (चक्रवाकी) के भावी विप्रलम्भ म ही तात्पय है [यहा क्रोध तथा शोक रतिभाव के अङ्ग है और रतिभाव की ही प्रधानता है, यहा रति, शोक तथा क्रोध का सम प्राधान्य नही]।

इस प्रकार ऊपर के उदाहरणो में कहीं भी अनेक भावो के वणन में तात्पय नहीं है (और सम प्राधा य नहीं है)।

टिप्पणी—ऊपर अश्लिष्ट पदो के प्रयोग के विषय मे यह बतलाया गया है कि वहा एक ही भाव मे तात्पय होता है अनेक मे नही। अत वहा दो अर्थों की प्रधानता ही नही हो सकती। फिर सम-प्राधान्य कसे होगा और दो भावो के विरोध की आशङ्का भी कसे होगी ?

अब यह बतलाते है कि जहा श्लेष आदि के द्वारा अनेक अर्थों मे तात्पय होता है, वहा भी अनेक भावो का सम प्राधान्य तथा परस्पर विरोध नही हुआ करता —

यत्र तु श्लेषादिवाक्येष्वनेकतात्पर्यमपि तत्र वाक्यार्थभेदेन स्वतन्त्रतया चार्थद्वयपरतेत्यदोषः। यथा—

श्लाघ्याशेषतनुं सुदर्शनकरः सर्वाङ्गलीलाजित-
त्रैलोक्यां चरणारविन्दललितेनाक्रान्तलोको हरिः।
बिभ्राणां मुखमिन्दुसुन्दररुचं चन्द्रात्मचक्षुर्दधत्
स्थाने यां स्वतनोरपश्यदधिकां सा रुक्मिणी वोऽवतात् ॥२८८॥ इत्यादौ।

किन्तु जहा श्लेष आदि से युक्त वाक्यों में अनेक अर्थों में तात्पर्य होता है वहा वाक्यार्थ का भेद करके स्वतन्त्र रूप से ही दो अर्थ हुआ करते हैं, इसलिये कोई दोष नहीं। जैसे—(१) सुन्दर हाथों वाले (अथवा हाथ में सुदर्शन चक्र धारण करने वाले) (२) चरण कमल के सौन्दर्य (ललित) से (अथवा चरण-कमल की ललित नामक गति से) लोक को आक्रान्त करने वाले (३) चन्द्रमा जैसे (अथवा चन्द्रमा रूपी) नेत्र को धारण करने वाले (अर्थात् चन्द्रमा जिनका एक नेत्र है, सूर्य तथा चन्द्र विष्णु के दो नेत्र माने जाते हैं) विष्णु ने (१) श्लाघनीय समस्त शरीर वाली (२) समस्त अङ्गों की लीला से तीनों लोकों को जीतने वाली (३) चन्द्रमा के समान सुन्दर कान्ति युक्त मुख को धारण करने वाली जिस रुक्मिणी को, उचित रूप में ही, अपने शरीर से उत्कृष्ट देखा वह रुक्मिणी तुम्हारी रक्षा करे। इत्यादि में।

टिप्पणी—(१) श्लेषादि—यहा 'आदि' शब्द के द्वारा समासोक्ति तथा अन्योक्ति इत्यादि का ग्रहण होता है। (२) श्लेष आदि के स्थल मे दो स्थितिया हुआ करती हैं—(i) कभी तो दोनो मे उपमानोपमेय भाव होता है और (ii) कभी दोनो अर्थ एक दूसरे से स्वतन्त्र होते है। पहिली स्थिति मे तो उपमेय की प्रधानता होती है अतः सम प्राधान्य का अवसर ही नही है। दूसरी स्थिति मे भिन्न भिन्न दो वाक्यार्थ होते हैं। उन दोनो का अपना अर्थ स्वतन्त्र होता है। वहाँ एक वाक्य का अर्थ दूसरे का अङ्ग नही होता। एक वाक्य मे एक ही अर्थ प्रधान होता है अनेक नही। फिर अनेक अर्थों के सम प्राधान्य का प्रश्न ही नही उठता। उदाहरणार्थ श्लाघ्याशेषतनुम् इत्यादि मे श्लेष द्वारा विष्णु के शरीर की अपेक्षा रुक्मिणी के शरीर के सौन्दर्य की उत्कृष्टता दिखलाई गई है। इसका रुक्मिणी के प्रति भक्ति भाव (रति) मे तात्पर्य है। यहाँ हरि (विष्णु) के तीन विशेषण हैं सुदर्शनकर चरणारविन्दललितेनाक्रान्तलोक, चन्द्रात्मचक्षु दधत्। इनके श्लेष द्वारा दो अर्थ होते है (द्र० अनुवाद)। एक अर्थ मे विष्णु का पराक्रम तथा वैभव आदि प्रकट होता है और दूसरे अर्थ मे विष्णु का सौन्दर्य। इस प्रकार यहाँ उत्साह और रति दो भिन्न भिन्न भावो मे तात्पर्य है तथापि इन दोनो का सम-प्राधान्य नही है, क्योंकि यहाँ वाक्य भेद के द्वारा दो अर्थ किये जाते हैं। यह नियम है कि एक बार उच्चरित शब्द एक अर्थ का बोध कराता है (सकृद् उच्चरित शब्द सकृद् अर्थं गमयति) अतः दो अर्थों को प्रकट करने के लिये वाक्य भेद की कल्पना करनी होती है। इस प्रकार यहाँ सम प्राधान्य न होने के कारण भावो का परस्पर विरोध नही होता।

तदेवमुक्तप्रकारेण रत्याद्युपनिबन्धे सर्वत्राविरोधः । यथा वाऽश्रूयमाणरत्यादिपदेष्वपि वाक्येषु तत्रैव तात्पर्यं तथाग्रे दर्शयिष्यामः ।
ते च

(४४) रत्युत्साहजुगुप्साः क्रोधो हासः स्मयो भयं शोकः ।
शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ।। ३५ ।।

इस प्रकार उपर्युक्त रीति से रति आदि भावों के वर्णन में कहीं भी विरोध नहीं होता । और जिन वाक्यों में रति आदि शब्दों का प्रयोग नहीं होता वहाँ भी उन (रति आदि) भावों के वर्णन में ही तात्पर्य होता है, यह बात आगे दिखलायेंगे ।

टिप्पणी – यथा वाश्रूयमाण०–यहाँ दो प्रकार का पदच्छेद किया जाता है—(१) यथा वा श्रूयमाण० इत्यादि भाव यह है कि यदि रति आदि पदों का काव्य में प्रयोग किया गया हो तो भी भाव वर्णन में ही तात्पर्य होता है । रति आदि शब्दों के प्रयोग का रस योजना से किसी प्रकार का विरोध नहीं है । इस प्रकार रस स्थायी और व्यभिचारी भाव के शब्द द्वारा कथन (स्वशब्दवाच्यत्व) को जो दोष माना जाता है वह धनिक को अभिमत नहीं है । ना० द० (३ १८० वृत्ति) में भी स्वशब्दवाच्यत्व को दोष नहीं माना गया है । (२) यथा वा+अश्रूयमाण० इत्यादि इस पदच्छेद के अनुसार ही अनुवाद किया गया है । अभिप्राय यह है कि रति आदि पदों का प्रयोग किया जाये अथवा न किया जाये दोनों स्थितियों में काव्य का तात्पर्य भावों के उपनिबन्धन या कहिये रस योजना में ही होता है ।

और वे स्थायीभाव हैं —

(१) रति (२) उत्साह, (३) जुगुप्सा, (४) क्रोध, (५) हास, (६) विस्मय, (७) भय तथा (८) शोक । कुछ आचार्य शम को भी (नवम) स्थायी भाव कहते हैं, किन्तु उस (शम) की पुष्टि रूपकों में नहीं होती ।। ३५ ।।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (६ १५ १७) में इन आठ भावों का निर्देश किया गया है किन्तु पाठान्तर के अनुसार वहाँ 'शम' भाव का भी निर्देश माना जाता है (अभि०) । का० प्र० (४ २९) अष्टौ नाट्ये रसा स्मृता भा० प्र० (पृ० २६) 'तस्मादष्टाविति मतं स्थायिनो नाट्यवेदिनाम्' ना० द० (३ १८१) में शम भाव का भी निर्देश किया गया है तथा अन्यत्र (३ १७७) शान्त रस का भी । साथ ही वहाँ बलपूर्वक यह कहा गया है कि नाट्य में भी शान्त रस होता है । प्रता० (पृ० १५८) में नव रस तथा भावों का उल्लेख है । इसी प्रकार सा० द० (३ १८२) में भी । (२) यहाँ धनञ्जय ने शम शब्द का प्रयोग किया है । अतः शम नामक स्थायी भाव निर्वेद (व्यभिचारी भाव २९) से भिन्न है । मम्मट ने शान्त रस स्थायी भाव निर्वेद माना है । निर्वेद का अर्थ है—अपने प्रति तिरस्कार की भावना (स्वावमानन) या विषयवैराग्य अथवा तत्त्वज्ञान (निर्वेदस्तत्त्वधी ना० द० ३ १८३) ।

इह शान्तरसं प्रति वादिनामनेकविधा विप्रतिपत्तयः तत्र केचिदाहुः–नास्त्येव शान्तो रसः तस्याचार्येण विभावाद्यप्रतिपादनाल्लक्षणाकरणात्। अन्ये तु वस्तुतस्तस्याभावं वर्णयन्ति—अनादिकालप्रवाहायातरागद्वेषयोरुच्छेत्तुमशक्यत्वात्। अन्ये तु वीरबीभत्सादावन्तर्भावं वर्णयन्ति। एवं वदन्तः शममपि नेच्छन्ति। यथा तथास्तु। सर्वथा नाटकादावभिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभिः शमस्य निषिध्यते तस्य समस्तव्यापारप्रविलयरूपस्याभिनयायोगात्।

यत्तु कैश्चिन्नागानन्दादौ शमस्य स्थायित्वमुपवर्णितम्, तत्तु मलयवत्यनुरागेणाऽऽप्रबन्धप्रवृत्तेन विद्याधरचक्रवर्तित्वप्राप्त्या विरुद्धम्। न ह्येकानुकार्यविभावालम्बनौ विषयानुरागापरागावुपलब्धौ अतो दयावीरोत्साहस्यैव तत्र स्थायित्वं तत्रैव

किन्तु शम का अर्थ है—वैराग्य दशा मे आत्मरति से होने वाला आनन्द (शमो निरीहावस्थायामात्मविश्रामजं सुखम् सा० द० ३ १८) अथवा किसी प्रकार की इच्छा का अभाव (निःस्पृहत्वं शमः ना० द० ३ १८१)। नाट्यदर्पणकार ने मम्मट के मत का खण्डन किया है (ना० द० ३ १८३ वृत्ति)। (३) धनञ्जय के मतानुसार नाट्य मे आठ ही रस होते है शान्त रस नाट्य मे नही होता क्योकि नाट्य मे शम भाव की पुष्टि नही हो सकती। इसकी व्याख्या करते हुए धनिक ने बतलाया है—

शान्त रस के विषय मे विद्वानो के भिन्न भिन्न मत हैं। उनमे से कुछ कहते है कि शान्त रस नहीं होता, क्योकि आचार्य (भरत) ने (नाट्यशास्त्र मे) न तो उसके विभाव आदि का वर्णन किया है और न ही उसका लक्षण किया है। दूसरे कहते है कि वस्तुतः शान्त रस हो ही नहीं सकता, क्योकि (शम भाव की पुष्टि ही शान्त रस है और शम भाव का आविर्भाव राग द्वेष का नाश होने पर होता है, (किन्तु) अनादि काल से धारा रूप मे चले आने वाले राग द्वेष का नाश नहीं किया जा सकता। अन्य आचार्य तो वीर तथा बीभत्स आदि रसो मे ही शान्त रस का अन्तर्भाव बतलाते हैं। और इस प्रकार कहते हुए (विद्वान् लोग) शम भाव को भी स्वीकार नहीं करते। जो कुछ भी हो (इनमे से कोई मत भी ठीक हो), हम तो यहा केवल अभिनयात्मक नाटक आदि मे शम के स्थायी होने का निषेध करते है क्योकि उस (शम की अवस्था) मे समस्त क्रियाओ (व्यापार actions) का अभाव हो जाता है इसलिये उसका अभिनय करना सम्भव नहीं है।

जो किन्हीं (आचार्यों) ने नागानन्द आदि मे शम को स्थायी भाव बतलाया है वह (कथन) तो नाटक के अन्त तक चलने वाले (जीमूतवाहन के) मलयवती के प्रति अनुराग तथा विद्याधर चक्रवर्ती पद की प्राप्ति के विरुद्ध है। क्योकि एक ही अनुकार्य का विभाव रूप से आश्रय (आलम्बन) करके (उसमे) विषयो के प्रति अनुराग (रति) तथा वैराग्य (अपराग=शम) कहीं नहीं पाये जाते, इसलिये (नागानन्द मे 'शम स्थायीभाव नहीं है, अपि तु) दयावीर का उत्साह ही वहा

शृङ्गारस्याङ्गत्वेन चक्रवर्तित्वावाप्तेश्च फलत्वेनाविरोधात् । ईप्सितमेव च सर्वत्र कर्तव्यमिति परोपकारप्रवृत्तस्य विजीगीषोर्नान्तरीयकत्वेन फलं सम्पद्यत इत्यावेदितमेव प्राक् । अतोऽष्टावेव स्थायिनः ।

ननु च—

रसनाद्रसत्वमेतेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः ।
निर्वेदादिष्वपि तत्प्रकाममस्तीति तेऽपि रसाः ॥

इत्यादिना रसान्तराणामप्यन्यैरभ्युपगतत्वात् स्थायिनोऽप्यन्ये कल्पिता इत्यवधारणानुपपत्तिः ।

स्थायी भाव है। उस (दयावीर के) उत्साह में ही शृङ्गार (रति भाव) अङ्ग रूप में आया है तथा चक्रवर्ती पद की प्राप्ति उसका फल है। इस प्रकार कोई विरोध नहीं होता। सर्वत्र कर्त्तव्य पालन करना ही अभीष्ट है इस भावना से परोपकार में तत्पर हुए विजिगीषु (विजय के इच्छुक) को आनुषङ्गिक रूप से (अथवा उसके साथ अवश्यम्भावी होने के कारण) फल भी प्राप्त हो जाता है यह पहले (२ ४ उदात्त के लक्षण में) कहा ही जा चुका है।

इस प्रकार नाट्य में आठ ही स्थायी भाव होते हैं।

टिप्पणी—(१) शान्त रस के विषय में भिन्न भिन्न वादी कौन कौन हैं? यह ज्ञात नहीं। (२) नागानन्द नाटक का नायक जीमूतवाहन धीरोदात्त है यह सिद्ध करते हुए ऊपर (२ ४) भी यह संकेत किया जा चुका है कि नागानन्द में शान्त रस नहीं। (३) तत्त विरुद्धम्—यदि नागानन्द में शम स्थायी भाव होता तो उसके नायक जीमूतवाहन में शम की प्रधानता होती। शम का अर्थ है—विषयों के प्रति निःस्पृहता फिर समस्त नाटक में जो जीमूतवाहन का मलयवती के प्रति अनुराग दिखलाया गया है वह कैसे संगत हो सकता है? इसी प्रकार फल के रूप में विद्याधरों के चक्रवर्ती पद की प्राप्ति जीवमूतवाहन को हुई है वह भी शम भाव के विरुद्ध ही होगी। (४) एकानुकार्यविभावालम्बनौ=एको योऽनुकार्यलक्षणविभावश्चेतनस्तदालम्बनौ=तदाश्रयौ विषयस्यानुरागापरागौ (प्रभा)। नान्तरीयकत्वेन=तेन सहावश्यम्भावित्वेन (प्रभा)।

इस प्रकार नाट्य में आठ ही स्थायी भाव होते हैं (किन्तु काव्य में शम नामक नवम स्थायी भाव भी हो सकता है) यह निर्धारण किया गया है। किन्तु रुद्रट आदि प्राचीन आचार्यों के मत में इनके अतिरिक्त और भी स्थायी भाव होते हैं। अतः उनकी ओर से शङ्का करके उसका समाधान करते हैं—

(शङ्का) जिस प्रकार मधुर (तिक्त) आदि आस्वाद्य होने के कारण रस कहलाते हैं इसी प्रकार इन (रति आदि) को भी आस्वाद्य होने के कारण ही रसनात् आचार्यों ने रस कहा है। यह आस्वाद्यता (रसन) निर्वेद आदि भवों में यथेष्ट रूप से (प्रकामम्) विद्यमान है। इसलिये वे भी रस हैं'। (रुद्रट काव्यालङ्कार १२ ४)

अत्रोच्यते

(४४) निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम ।
वरस्यायव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मता ॥ १६ ॥

(अताद्रूप्यात =) विरुद्धाविरुद्धाविच्छेदित्वस्य निर्वेदादीनामभावादस्थायित्वम् । अत एव त चि तादिस्वस्व्यभिचाय तरिता अपि परिपोष नीयमाना वरस्य मावहन्ति । न च निष्फलावसानत्वमेतषामस्थायित्वनिब धनम् हासाद नामप्यस्थायित्वप्रसङ्गात् । पारम्पर्येण तु निर्वेदादीनामपि फलवत्त्वात । अतो निष्फलत्वमस्थायित्वे प्रयोजक न भवति कि तु विरुद्धर्भावरतिरस्कृतत्वम् । न च त निर्वेदादीनामिति न ते स्थायिन । ततो रसत्वमपि न तेषामुच्यत । अतोऽस्थायित्वादेवतेषामरसता ॥

इत्यादि कथन के द्वारा अ य आचार्यों ने (आठ रसो से भि न) अन्य रसों को भी स्वीकार किया है । और इसलिये अ य स्थायी भावो की भी कल्पना की है । इस प्रकार आठ ही स्यायीभाव होते हैं यह अवधारणा नहीं बन सकता ।

(समाधान) इस पर कहा गया है—

निर्वेद आदि मे विरुद्ध तथा अविरुद्ध भावो से विच्छिन्न न होने का गुण (ताद्रूप्य) नही है अत वे स्थायी नही है और उनका आस्वादन भी नहीं हो सकता । यदि किसी प्रकार उनको पुष्टि भी हो जाये तो वह वैरस्य उत्प न करने के लिये ही होगी । इसलिये आठ ही स्थायी भाव माने गये है ॥ १६ ॥

(जो भाव विरोधी तथा अविरोधी भावो से विच्छि न नहीं होते वे ही स्थायी भाव कहलाते है) तद्रूपता, अर्थात विरोधी तथा अविरोधी भावो से विछि न न होना निर्वेद आदि में नहीं है । अत वे स्थायी भाव नहीं माने जा सकते (तथा उनकी रसरूपता नहीं हो सकती) । यदि (शृङ्गार आदि के) अपने अपने चिंता आदि व्यभिचारी भावो से व्यवहित होकर भी वे पुष्ट हो जाते हैं तो भा वे वरस्य ही उत्प न किया करते हैं ।

[कुछ विद्वानो का विचार था कि निर्वेद आदि का अ त फल रहित (निष्फल) होता है अत उ हे स्थायी नही माना जा सकता, इस मत का निराकरण करते हुए कहते हैं—]

अ त (अवसान) में फल रहित होना तो इनके अस्थायी होने का निमित्त (निब धन) नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस प्रकार तो हास आदि भाव भी अस्थायी होने लगगे (उनका भी मनोरञ्जन के अतिरिक्त कोई लौकिक या पार लौकिक फल नहीं होता) । यदि कहो कि परम्परा से हास आदि का फल होता है तब तो परम्परया निर्वेद आदि का भी फल होता ही है । इसलिये निष्फल होना किसी भाव के अस्थायी भाव कहलाने का निमित्त नहीं हो सकता । विरुद्ध और

अविरुद्ध भावो से तिरस्कृत न होना ही स्थायी भाव कहलाने का निमित्त है। और यह बात निर्वेद आदि भावो मे होती नहीं। अत वे स्थायी भाव नहीं हैं। इसी हेतु उनकी रसरूपता (रसत्व) नहीं मानी जाती। इस प्रकार निर्वेद आदि भाव रस का रूप नहीं होते क्योकि वे स्थायीभाव ही नहीं हैं।

टिप्पणी (१) रुद्रट ने निर्वेद आदि की भी रसरूपता स्वीकार की है (काव्यालङ्कार १२ ४)। रुद्रट के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुये नमि साधु लिखते हैं— अयमाशयो ग्रन्थकारस्य—यदुत नास्ति सा कापि चित्तवृत्तिर्या परिपोष गता न रसोभवति। भरतेन हृदयावजकत्वप्राचुर्यात सज्ञा चाश्रित्याष्टौ नव रसा उक्ता इति। (२) यहा निर्वेद नामक व्यभिचारी भाव के स्थायी होने का निषेध किया गया है। शम इससे भिन्न होता है (द्र० ४ ५ टिप्पणी)। उसे तो धनञ्जय भी (काव्य मे ही सही) स्थायी भाव मानते ही हैं। (३) अन्तरिता अपि= व्यवहिता अपि भाव यह है कि शृङ्गार आदि रस की योजना मे निर्वेद आदि भावो की तीन गतिया हो सकती हैं प्रथम तो उनका रति आदि भावो के अनन्तर उपनिबन्धन किया जाए और वे पुष्ट हो जाये। ऐसी दशा मे (शृङ्गार और शान्त का) आनन्तर्य विरोध होगा। अत वरस्य ही होगा। दूसरे शृङ्गार के चिन्ता आदि व्यभिचारी भावो के व्यवधान से उनका उपनिबन्धन किया जाये और वे पुष्ट ही जायें। ऐसी दशा मे भी निर्वेद आदि की पुष्टि विरसता ही उत्पन्न करेगी। तीसरे शृङ्गार आदि की योजना मे निर्वेद आदि भाव कदाचित व्यभिचारी रूप मे आ जाते हैं उनकी पुष्टि नही होती। इस दशा मे ही वे चमत्कारक हुआ करते है। (मि० प्रभा) अथवा यहाँ अपि का अन्वय नीयमाना के पश्चात है—परिपोष नीयमाना अपि। भाव यह है कि निर्वेद आदि विरुद्ध तथा अविरुद्ध भावो के द्वारा अविच्छिन्न होने वाले नही हैं। अत एव इनका परिपोष नही हो सकता और ये रस रूप नही हुआ करते। यदि यह मान भी लिया जाये कि इनका परिपोष हो सकता है तो इनका परिपोष विरसता को उत्पन्न करने वाला ही होगा।

स्थायी भाव तथा रस का काव्य से सम्बन्ध

काव्य तथा नाटच के द्वारा सहृदयो को रस की प्रतीति कसे होती है? इस विषय मे भारतीय साहित्य शास्त्र मे कई मत हैं। इनमे से प्रमुख ये ह—(१) प्रभाकर मिश्र के अनुयायी मीमासको के अनुसार अभिधा के दीघदीघतर व्यापार से ही रस की प्रतीति हो जाती है। (२) भाट्टमतानुयायी मीमासक मानते हैं कि तात्पय वृत्ति के द्वारा ही रस की प्रतीति होती है। (३) मुकुल भट्ट ने रस को लक्षणा का विषय भी बतलाया है—'तात्पर्यालोचन-सामर्थ्याच्च विप्रलम्भशृङ्गार स्याक्षेप इत्युपादानात्मिका लक्षणा (अभिधावृत्तिमातृका पृ० १४)। (४) व्यक्ति विवेककार महिमभट्ट के मतानुसार अनुमान द्वारा ही रस का बोध होता है। (५)

कः पुनरेतेषां काव्येनापि सम्बन्धः ? न तावद्वाच्यवाचकभावः स्वशब्दैरनावेदितत्वात्, नहि शृङ्गारादिरसेषु काव्येषु शृङ्गारादिशब्दा रत्यादिशब्दा वा श्रूयन्ते येन तेषां तत्परिपोषस्य वाभिधेयत्वं स्यात् । यत्रापि च श्रूयन्ते तत्रापि विभावादिद्वारकमेव रसत्वमेतेषां न स्वशब्दाभिधेयत्वमात्रेण ।

ध्वनिवाद को स्वीकार करने वाले रसवादी आचार्य आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ इत्यादि के मत में व्यञ्जना वृत्ति द्वारा ही रस की प्रतीति होती है। काव्य, नाट्य रस के व्यञ्जक होते हैं और रस व्यङ्ग्य होता है। रस और काव्य में व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव सम्बन्ध है। धनञ्जय से पूर्व ही आनन्दवर्धन इस मत की स्थापना कर चुके थे। धनञ्जय (तथा धनिक) को यह मत स्वीकार्य नहीं है। अतः यहाँ इस मत का खण्डन करते हुए रस प्रतीतिविषयक स्वमत की स्थापना करते हैं :—

ध्वनिवादी की युक्तियाँ (रस आदि तथा काव्य में व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव)

इन (स्थायी भाव आदि) का काव्य के साथ क्या सम्बन्ध है ? भाव आदि तथा काव्य में वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध (भाव वाच्य है और काव्य वाचक) तो हो नहीं सकता, क्योंकि (सर्वत्र ही) रति आदि शब्दों (स्वशब्द) के द्वारा (भाव या रस का) कथन नहीं किया जाता। शृङ्गार आदि रस के काव्यों में (सर्वत्र ही) शृङ्गार आदि या रति आदि शब्द नहीं सुने जाते, जिससे यह माना जा सकता कि रति आदि भाव अथवा उनके परिपुष्ट रूप (=शृङ्गार आदि रस) वाच्य होते हैं। और, जहाँ कहीं (रति आदि या शृङ्गार आदि शब्द) सुनाई भी पड़ते हैं, वहाँ भी विभाव आदि के वर्णन-द्वारा इन (रति आदि) की आस्वाद्यता (रसत्व) होती है, केवल रति आदि शब्दों के वाच्य होने से नहीं।

टिप्पणी—(१) "रस आदि व्यङ्ग्य होते हैं", यह सिद्ध करते हुए ध्वनिवादी ने बतलाया है कि वे न तो वाच्य हो सकते हैं और न लक्ष्य ही। न तावद् वाच्य-वाचक-भाव — मात्रेण' इत्यादि में यह बतलाया गया है कि रस अभिधा का विषय (=वाच्य) नहीं हो सकता। कारण यह है कि रस या शृङ्गार आदि शब्दों के द्वारा रस-बोध नहीं हुआ करता अपितु विभाव आदि के द्वारा ही रस-प्रतीति हुआ करती है, विभाव आदि के वर्णन के बिना रस की प्रतीति होती नहीं। अतः रस आदि रति या शृङ्गार इत्यादि शब्दों के वाच्य नहीं हैं अपितु विभाव आदि के द्वारा प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) हैं। (विशेष द्र० ध्वन्यालोक वृत्ति १.४)। (२) अनावेदितत्वात् =कथन न करने से, प्रतिपादन न किये जाने के कारण। शृङ्गारादिरसेषु =जिनमें शृङ्गार आदि रस हैं, (शृङ्गारादयो रसाः येषु तेषु काव्येषु) ऐसे काव्यों में। तत्परिपोषस्य—रति आदि के परिपोष का, रति आदि स्थायी भाव का परिपोष (पुष्टि) ही रस है।

नापि लक्ष्यलक्षकभाव —ततसामान्याभिधायिनस्तु लक्षकस्य पदस्याप्रयोगात्। नापि लक्षितलक्षणया तत्प्रतिपत्ति यथा गङ्गाया घोष इत्यादौ। तत्र हि स्वार्थे स्रोतोलक्षणे घोषस्यावस्थानासम्भवात्स्वार्थे स्खलद्गतिगङ्गाशब्द स्वार्थाविनाभूतत्वोपलक्षित तटमुपलक्षयति। अत्र तु नायकादिशब्दा स्वार्थेऽस्खलद्गतय कथमिवार्थान्तरमुपलक्षयेयु ?। को वा निमित्तप्रयोजनाभ्या विना मुख्ये सत्युपचरित प्रयुञ्जीत ? अत एव सिंहो माणवक इत्यादिवत् गुणवृत्त्यापि नेय प्रतीति।

भाव आदि तथा काव्य का लक्ष्य लक्षक भाव सम्बन्ध भी नहीं हो सकता [यह नहीं माना जा सकता कि रति आदि भाव लक्ष्य हैं और काव्य उनका लक्षक है]। कारण यह है कि काव्य मे सामान्य रस भाव आदि तत्) के वाचक किसी लक्षक शब्द का प्रयोग नहीं होता (जिसमे उपादान लक्षणा द्वारा विशिष्ट अर्थ की प्रतीति हो सके ?) यहाँ लक्षण लक्षणा के द्वारा भी भाव आदि (तत्) की प्रतीति नहीं हो सकती जिस प्रकार गङ्गायां घोष इत्यादि मे 'गङ्गा' शब्द से तट की प्रतीति) होती है। वहाँ तो गङ्गा शब्द का जो अपना (मुख्य) अर्थ है—गङ्गा प्रवाह उसमे घोष की स्थिति बन नहीं सकती। इसलिये गङ्गा शब्द अपने अर्थ (प्रवाह) को कहने मे असमर्थ हो जाता है (स्खलद्गति =बाधित प्रवृत्ति) तथा अपने अर्थ से सम्बद्ध (अविनाभूत) गङ्गा तट को लक्षित करता है। किन्तु यहाँ (काव्य मे) तो नायक आदि (के वाचक, शब्द (जो विभाव आदि का वर्णन करके रस की प्रतीति कराते हैं) अपने अर्थ को बतलाने मे असमर्थ नहीं है फिर वे अन्य अर्थ (भाव आदि) को कैसे लक्षित करेंगे ? अथवा निमित्त (मुख्यार्थबाध इत्यादि) तथा प्रयोजन के बिना कौन व्यक्ति मुख्य अर्थ सम्भव होने पर औपचारिक (लाक्षणिक गौण) शब्द का प्रयोग करेगा ? इसीलिये सिंहो माणवक (बालक सिंह है) इत्यादि के समान गौणी वृत्ति से भी यह (भाव आदि की) प्रतीति नहीं हो सकती।

टिप्पणी—(१) नापि लक्ष्यलक्षकभाव —रस आदि काव्य के द्वारा लक्ष्य भी नही हो सकते। जैसा कि ऊपर कहा गया है मुकुल भट्ट इत्यादि ने रस को लक्षणा गम्य भी माना है (अभिधावृत्ति० पृ० १४)। धनिक भी आगे रति आदि भाव को लक्षणा का विषय बतलाया है—लाक्षणिकी रत्यादिप्रतीति (४ ३७ अवलोक टीका)।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है—मुख्य अर्थ का बोधक जो शब्द व्यापार (वृत्ति) है वह अभिधा कहलाता है। साधारणत लोकव्यवहार मे अभिधा द्वारा बोधित मुख्य अर्थ मे ही शब्दो का प्रयोग किया जाता है। किन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि शब्द का मुख्य अर्थ प्रकरण मे ठीक नही बैठता, वहा वक्ता का तात्पर्य नही बनता (तात्पर्यानुपपत्ति)। अत वहाँ शब्द अपने से सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ का बोध

कराता है। वह अन्य अर्थ या तो लोक प्रसिद्ध (रूढ) होता है अथवा उसका बोध कराने मे कोई प्रयोजन हुआ करता है। वह अन्य अर्थ ही लक्ष्य अर्थ है। उसका बोधक शब्द लक्षक या लाक्षणिक कहलाता है और उसका बोध कराने वाला शब्द व्यापार लक्षणा। अत लक्ष्य = लक्षणागम्य = लक्षणा द्वारा बोध्य अर्थ। इस प्रकार लक्षणा के तीन हेतु होते है---मुख्यार्थ बाध मुख्यार्थ से सम्बन्ध तथा रुढि अथवा प्रयोजन (द्र० का० प्र० २ ६)। जो लक्षणा रूढि (=प्रसिद्धि) के कारण होती है वह रूढि लक्षणा कहलाती है, जसे कर्मणि कुशल इत्यादि मे कुशल शब्द का मुख्यार्थ (कुशाओ को लाने वाला) बाधित हो जाता है और उसका लक्ष्यार्थ 'चतुर लिया जाता है। जो लक्षणा किसी प्रयोजन से होती है वह प्रयोजनवती कहलाती है जसे गङ्गाया घोष' मे गङ्गा शब्द की तट मे लक्षणा होती है। वहा शत्य-पावनत्व आदि की प्रतीति कराना ही लक्षणा का प्रयोजन है।

यह स्पष्ट ही है कि रस आदि रूढि के विषय नही हो सकते। रही प्रयोजनवती लक्षणा। वह दो प्रकार की है---उपादान लक्षणा और लक्षण लक्षणा (गौणी वृत्ति का यहाँ पृथक उल्लेख किया जा रहा है) उपादान लक्षणा वहाँ होती है जहाँ कोई शब्द अपने मुख्यार्थ की सङ्गति के लिये अपने से सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ का भी ग्रहण कर लेता है। वह अपने अर्थ का त्याग न करत हुए दूसरे अर्थ को लक्षित करता है अत इसे अजहत्स्वार्था वृत्ति भी कहते हैं। इसके स्थलो पर सामान्य अर्थ के वाचक शब्द का प्रयोग किया जाता है और उसका लक्ष्यार्थ विशिष्ट अर्थ हो जाता है, जसे कुन्ता प्रविशन्ति' (भाले प्रवेश कर रहे हैं)। यहाँ कुन्त शब्द से कुन्तधारी (कुन्तविशिष्ट) पुरुष का लक्षणा द्वारा बोध होता है। इसी प्रकार काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम् इत्यादि उपादान लक्षणा के उदाहरण हैं।

दूसरी लक्षण लक्षणा है इसमे कोई शब्द अपने अर्थ को त्याग कर स्वसम्बद्ध अन्य अर्थ का उपलक्षक मात्र हुआ करता है। इसी हेतु इसे जहत्स्वार्था वृत्ति भी कहते हैं। जसे 'गङ्गाया घोष (गङ्गा पर घोसियो की बस्ती है) यहाँ गङ्गा शब्द का मुख्य अर्थ है---गङ्गा जल की धारा। उस पर घोष नही रह सकता। अत मुख्यार्थ का बाध हो जाता है। इस प्रकार शत्य पावनत्व आदि प्रयोजन की प्रतीति के लिये गगा शब्द की तट मे लक्षणा मानी जाती है।

ध्वनिवादी (पूर्वपक्षी) का आशय यह है कि उपादान लक्षणा या लक्षण लक्षणा द्वारा काव्य से रस आदि की प्रतीति नही हो सकती (द्र० अनुवाद)।

(२) **सामान्याभिधायिनस्तु**---सामान्य अर्थ का वाचक जो लक्षक शब्द है, उसका काव्य मे प्रयोग नही, अर्थात् काव्य मे ऐसे सामान्य शब्दो का प्रयोग नही होता जो सामान्यत रस आदि के वाचक हो किन्तु लक्षणा द्वारा शृङ्गार आदि विशेष रस का बोध करा सक। ऐसा प्रतीत होता है कि यहा उपादान लक्षणा की

ओर सकेत है जसा कि अभी ऊपर दिखलाया गया है। * लक्षित लक्षणा=लक्षण लक्षणा। काव्य से लक्षण लक्षणा द्वारा रस आदि का बोध इसलिये नही हो सकता क्योकि यहा लक्षणा के हेतु ही नही हैं। काव्य मे प्रयुक्त शब्दो का मुख्यार्थ बाध आदि नही होता। स्खलद्गति—स्खलिता बाधिता गति प्रवृत्ति यस्य स (शब्द) जिसकी प्रवृत्ति रुक जाती है जो अपने अर्थ का बोध कराने मे असमर्थ हो जाता है ऐसा शब्द। को वा प्रत्युञ्जीत—जब शब्द का मुख्य अर्थ बन सकता है तो उसका औपचारिक अर्थ नही लिया जाता। फलत काव्य मे प्रयुक्त नायक आदि के वाचक शब्दो की रति आदि भाव अथवा शृङ्गार आदि रस मे लक्षणा नही हो सकती। वे तो मुख्यार्थ के बोधन मे ही समर्थ हैं। (३) गुणवृत्त्यापि नैव प्रतीति—क्योकि निमित्त के बिना औपचारिक शब्द का प्रयोग नही होता। इसलिये गौणा वृत्ति से भी काव्य मे रस आदि की प्रतीति नही हो सकता। अभी कहा गया है कि उपचार का निमित्त मुख्यार्थ बाध इत्यादि) वहा नही है।

मीमासक गौणी वृत्ति को लक्षणा से भिन्न मानते हैं (गौणीवृत्ति लक्षणातो भिन्नेति प्राभाकरा। प्रता० टीका पृ० ३३।। उनके अनुसार लक्षणा और गौणी का भेद यह है कि गौणी वृत्ति मे लक्ष्य अर्थ के वाचक शब्द का भी प्रयोग हुआ करता है जसे सिंहो माणवक बालक सिंह है) यहा पर शौर्यादि विशिष्ट) माणवक लक्ष्य है। यहा माणवक शब्द का भी प्रयोग किया गया है। किन्तु गङ्गाया घोष इत्यादि मे जो तट आदि लक्ष्य है उसके वाचक शब्द का प्रयोग नही किया जाता। यही दोनो का भेद है (गौणे शब्दप्रयोगो न लक्षणायाम्)। मम्मट इत्यादि आचार्यों ने गौणी वृत्ति का लक्षणा के ही अन्तर्गत माना है। तदनुसार लक्षणा दो प्रकार की है शुद्धा और गौणी। उपर्युक्त उपादान लक्षणा तथा लक्षण लक्षणा दो भेद शुद्धा के हैं। जहा सादृश्य सम्बन्ध से लक्षणा होती है वहा गौणी लक्षणा है और जहा सादृश्य से भिन्न और किसी (सामीप्य आदि) सम्बन्ध से लक्षणा होती है वह शुद्धा है। सिंहो माणवक मे गौणी लक्षणा है। गौणी भी मुख्यार्थबाध इत्यादि तीनो हेतुओ से हुआ करती है। अत इसका लक्षणा मे ही अन्तर्भाव माना गया है। (४) रस आदि (व्यङ्ग्य अर्थ) को गौणी वृत्ति का विषय नही माना जा सकता ध्वनिकार ने इस मन्तव्य को इस प्रकार बतलाया है—

मुख्या वृत्ति परित्यज्य गुणवृत्त्याऽर्थदर्शनम्।
यदुद्दिश्य फल तत्र शब्दो नैव स्खलद्गति ॥ (१ १७)

*कुछ आचार्यों ने लक्षित लक्षणा नाम की एक अन्य प्रकार की लक्षणा भी मानी है (परमलघुमञ्जूषा पृ०६०)। लक्षित के अर्थ मे लक्षणा=लक्षित लक्षणा जसे द्विरेफ शब्द का मुख्य अर्थ है—दो रेफ (र) वाला। इसका लक्ष्यार्थ है—भ्रमर शब्द जिसमें दो रेफ हैं। उससे भौरा रूप अर्थ का बोध होता है। यहा ग्रन्थकार का तात्पर्य उस विशेष प्रकार की लक्षणा से नही है क्योकि गङ्गाया घोष उसका उदाहरण नही बन सकता।

यदि वाच्यत्वेन रसप्रतिपत्ति स्यात्तदा केवलवाच्यवाचकभावमात्र्युत्पन्न चेतसामप्यरसिकाना रसास्वादो भवेत्। न च काल्पनिकत्वम्—अविगानेन सवसहृद याना रसास्वादोद्भूते। अत केचिदभिधालक्षणागौणीभ्यो वाच्या तरपरिकल्पित शक्तिभ्यो व्यनिरिक्त यञ्जकत्वलक्षण श द यापार रसालङ्कारवस्तुविषयमिच्छन्ति।

तथा हि विभावानुभाव यभिचारिमुखेन रसादिप्रतिपत्तिरुपजायमाना कथमिव वाच्या स्यात् यथा कुमारसम्भवे—

विवृण्वती शलसुतापि भावमङ्ग स्फु द्बालकदम्बकल्प ।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पयस्तविलोचनेन ।।१८६।।

दूसरी बात यह है कि यदि वाच्य रूप से रस की प्रतीति हुआ करे तो जो यक्ति का य के रसिक नहीं है केवल वाच्य—वाचकभाव मात्र का ज्ञान रखते हैं (अर्थात् का य का अथ समझते है) उनको भी रस का आस्वादन हो जाया करे (कि तु ऐसा होता नहीं)। यह (रस आदि की प्रतीति) काल्पनिक भी नहीं है, क्योकि समान रूप से सभी सहृदय जनो को रसास्वादन हुआ करता है। इसीलिये कतिपय आचाय यञ्जना नामक श द का एक यापार मानते है जो रस, अलङ्कार तथा वस्तु की प्रतीति कराता है और जो उन अभिधा, लक्षणा तथा गौणी वत्तियों से (निता त) भि न है जिनका अ य अर्थों के बोधन मे सामथ्य निश्चित किया गया हे।

टिप्पणी—(१) अरसिकाना रसास्वादो भवेत—मि० ध्व यालोक श दाथ शासनज्ञानमात्रेणव न वेद्यते। वेद्यते स तु का्व्याथतत्त्वज्ञरेव केवलम्। (१ ७)। (२) **काल्पनिकत्वम्**—रस आदि केवल काल्पनिक नही है उनकी सत्ता वास्तविकी है वह अनुभव—सिद्ध है। यदि रस आदि काल्पनिक होते तब तो जो इनकी कल्पना करते उ ही को आस्वादन हुआ करता सभी रसिको को समान रूप से आस्वादन न होता। रस आदि ध्वनि का अभाव मानने वालो के प्रति यह कथन है। मि०—यतो लक्षणाकृतामेव स केवल न प्रसिद्ध लभ्ये तु परीक्ष्यमाणे स एव सहृदयाह्लादकारि काव्यतत्त्वम् (ध्व यालोक वृत्ति १ १३)। तथा—तदेवमनुभवसिद्धस्य तत्तद्रसादिलक्षणाथस्याशक्यापलापतया। (सा० द० ५ ४ व्यञ्जनावृत्ति का उपसहार)। (३) **वाच्या तरपरिकल्पितशक्तिभ्य**—वाच्या तरेषु परिकल्पिता शक्तयो यासा ताभ्य यह 'अभिधालक्षणागौणीभ्य का विशेषण है। वाच्य=अथ। भाव यह है कि अ य अर्थों मे जिनकी शक्ति निश्चित की गई है ऐसी अभिधा इत्यादि वृत्तियो से यञ्जना भि न है।

ध्वनिवादी (पूवपक्षी) की ओर से अभी ऊपर यह कहा गया है कि व्यङ्ग्य (यञ्जना का विषय) अथ तीन प्रकार का होता है रस वस्तु और अलङ्कार। उस तीनो प्रकार के यङ्ग्य अथ के उदाहरण इस प्रकार है —

रस व्यञ्जना—क्योकि रस आदि की प्रतीति विभाव अनुभाव और यभिचारी भाव के द्वारा हुआ करती है फिर वह वाच्य कैसे हो सकती है? जसे कुमारसम्भव (३ ६८) मे—

पवतपुत्री (पावती) भी फूले हुए बाल कदम्ब के समान (पुलकित) अङ्गो के द्वारा (प्रेम) भाव को प्रकट करती हुई चञ्चल नेत्रो से युक्त तथा अधिक सु दर हुए मुख के साथ कुछ तिरछी सी होकर खडी हो गई'।

इत्यादावनुरागजन्यावस्था विशेषानुभाववद्गिरिजालक्षणविभावोपवर्णनादेवा शब्दापि शृङ्गारप्रतीतिरुदेति रसान्तरेष्वप्ययमेव न्याय ।

न केवल रसेष्वेव यावद्वस्तुमात्रेऽपि । यथा—

भम धम्मिअ वीसद्धो सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण ।
गोलाणइकच्छकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण ॥२६०॥
(भ्रम धार्मिक विश्रब्ध स श्वाऽद्य मारितस्तेन ।
गोदावरीनदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ॥)

इत्यादौ निषेधप्रतिपत्तिरशब्दापि व्यञ्जकशक्तिमूलव

इत्यादि श्लोक मे अनुराग से उत्पन्न होने वाली जो विशेष प्रकार की अवस्था (अङ्गो का पुलकित होना नेत्रो की चञ्चलता मुख की चारुता आदि) अनुभाव के रूप मे है उस से युक्त पार्वती रूप विभाव के वर्णन से ही शृङ्गार की प्रतीति होती है जबकि यहा (रति य शृङ्गार का वाचक) कोई शब्द नहीं है (अशब्दाऽपि) । अन्य रसो की प्रतीति मे भी यही नियम है [वहा भी वाचक शब्द के प्रयोग के बिना ही विभाव आदि के वर्णन से रस की प्रतीति हुआ करती है ।

टिप्पणी—१ विवृण्वती— जिस समय महादेव पर कामबाण गिरने लगे उस समय की पार्वती की अवस्था का वर्णन है। पार्वती आलम्बन विभाव है। उसके नेत्र आदि के विकार उसके हाव (द्र० याषिद् अलङ्कार तथा सा द० ३ ९४) है जिन्हे अनुभावो के अन्तर्गत माना जाता है। इन अनुभावो से युक्त विभाव के वर्णन से शृङ्गार रस की प्रतीति हो रहा है (२) मि ध्वन्यालोक वृत्ति (१ ४) यतश्च स्वाभिधानमन्तरेण केवलेभ्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीति । केवलाच्च स्वाभिधानादप्रतीति । तस्माद् व्यतिरेकाभ्याम् अभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तत्वमेव रसादीनाम् न त्वभिधेयत्व कथञ्चन ।

वस्तु व्यञ्जना—रसो मे ही यह बात नहीं है अपितु वस्तु मात्र की) व्यञ्जना) मे भी यही बात है [अर्थात् जहा वस्तु व्यङ्ग्य होता है वहा भी उसके वाचक शब्द के प्रयोग के बिना ही उसकी प्रतीति हुआ करती है] । जैसे (गाथा० २ ७५)—[सङ्केत स्थान की ओर पुष्प चयन के लिये जाने वाले किसी धार्मिक के प्रति अभिसारिका की उक्ति] हे धार्मिक, अब निश्चित होकर भ्रमण करो क्योंकि गोदावरी नदी के कछार के कुञ्जो मे रहने वाले दर्पयुक्त सिंह ने उस कुत्ते को आज मार दिया है ।

इत्यादि मे निषेधवाचक कोई शब्द नही है केवल व्यञ्जना वृत्ति के आधार पर ही निषेध की प्रतीति होती है ।

टिप्पणी—भ्रम धार्मिक० (मि० ध्वन्यालोक १ ४)—गोदावरी के तट कुञ्ज पर किसी नायिका का सङ्केत स्थान है। वहा कोई धार्मिक (भगत) भी पुष्पचयन के लिए आ जाया करता है। नायिका के कार्य मे उसके आने से विघ्न होता है। नायिका पहिले तो एक कुत्ता साथ ले आती है कि जिससे डर कर धार्मिक उस

तथालङ्कारेष्वपि—

'लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङमुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि ।
क्षोभ यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जलराशिरय पयोधि ॥२६१॥

इत्यादिषु चन्द्रतुल्य तन्वीवदनारविन्दम् इत्याद्युपमाद्यलङ्कारप्रतिपत्तिर्व्यञ्जकत्वनिबन्धनीति ।

न चासावर्थापत्तिजन्या—अनुपपद्यमानार्थापेक्षाभावात् । नापि वाक्यार्थ व

कुञ्ज मे पुष्पचयन के लिये न आये । किन्तु धार्मिक कुत्त से डरता डरता भी वहाँ पुष्प चयन के लिए आता रहता है । इस पर नायिका ने धार्मिक को भयभीत करने के लिए उपयुक्त वचन कहा है । यहा वाच्य अर्थ है—'निश्चिन्त होकर भ्रमण करो । यह अर्थ विधिरूप है । किन्तु नायिका का अभिप्राय यह है कि कभी भूलकर भी इधर मत आना । यह अभिप्राय निषेध रूप है जो व्यञ्जना द्वारा प्रतीत होता है । यह वाच्यार्थ नही हो सकता क्योकि इसका वाचक कोई शब्द यहाँ नही है ।

अलङ्कार व्यञ्जना—इसी प्रकार अलङ्कारो (की व्यञ्जना) मे भी हुआ करता है । जसे— हे चञ्चल और विशाल नेत्रो वाली (प्रिये) इस समय लावण्य और कान्ति से दिशाओ के मुख को परिपूर्ण कर देन वाले तुम्हारे मुख के मुस्कान युक्त होने पर भी जो यह सागर तनिक भी क्षुब्ध नहीं हो रहा है इससे मै समझता हूँ कि यह स्पष्ट रूप मे ही जलराशि (जाड्यपुञ्ज) है' ।

इत्यादि मे तन्वी का मुखकमल चन्द्रमा के समान है' इस उपमा अलङ्कार की प्रतीति व्यञ्जना के निमित्त से ही होती है ।

टिप्पणी—(१) लावण्य० (मि०, ध्वन्यालोक २ २७) यहा जलराशि का श्लेष से जडराशि (जाड्यपुञ्ज) अर्थ है श्लेष की दृष्टि से ल और ड का अभेद मान लिया जाता है । भाव यह है कि यदि यह सागर जड न होता तो तुम्हारे चन्द्रतुल्य मुख को देखकर भी क्षुब्ध क्यो न हो जाता ? यहाँ श्लेष के द्वारा मुख और चन्द्रमा का साम्य (उपमा) व्यङ्ग्य है । यहा उपमा वाच्य नही हो सकती क्योकि उसका वाचक कोई शब्द नही है । (२) ध्वन्यालोक (२ २७) मे इस स्थल पर रूपक अलङ्कार को व्यङ्ग्य बतलाया है । (३)**व्यञ्जकत्वनिबन्धनी**=व्यञ्जकत्व निबन्धन निमित्त यस्या सा तथाभूता व्यञ्जना के निमित्त से होने वाली ।

यह (रस भाव आदि की प्रतीति) अर्थापत्ति से उत्पन्न होने वाली भी नहीं मानी जा सकती, क्योकि इस (रस प्रतीति के) लिये अनुपपद्यमान अर्थ की अपेक्षा नहीं होती ।

टिप्पणी—भाट्ट मीमासक तथा वेदान्ती अर्थपत्ति नामक एक प्रमाण मानते हैं । जब कोई बात ठीक नही बठती—अनुपपद्यमान होती है—तो उसे ठीक बठाने के लिये अन्य बात की कल्पना कर ली जाती है । वह बात अर्थत उत्पन्न हो

व्यङ्ग्यस्य—तृतीयकक्षाविषयत्वात् । तथा हि—भ्रम धार्मिक इत्यादौ पदाथ विषयाभिधालक्षणप्रथमकक्षातिक्रा तत्क्रियाकारकससर्गात्मकविधिविषयवाक्याथकक्षाति क्रान्ततृतीयकक्षाक्रान्तो निषधात्मा व्यङ्ग्यलक्षणोऽर्थो व्यञ्जकशक्त्यधीन स्फुटमेवाव भासते अतो नासौ वाक्याथ ।

जाया करती है (अर्थात् आपद्यते) इसलिये अर्थापत्ति का विषय कहलाती है। और उसका ज्ञान कराने वाला प्रमाण अर्थापत्ति कहलाता है। उदाहरणाथ हम देखते या सुनते है कि देवदत्त पुष्ट है किन्तु दिन मे नही खाता (पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते)। यहाँ देवदत्त की पुष्टता बिना खाये तो बन नही सकती (अनुपपद्यमान है)। किन्तु यह भी सत्य है कि वह दिन मे नही खाता इसलिये यह कल्पना की जाती है कि वह रात्रि मे खाता होगा। दिन मे न खाने वाले देवदत्त की पुष्टता रात्रि भोजन क बिना नहा बन सकती (अनुपपद्यमान है) अत रात्रि भोजन की कल्पना कर ली जाती है, जो अर्थापत्ति का विषय हे।

कुछ विद्वानो (?) का मत है कि रस आदि की प्रतीति भी अर्थापत्ति के द्वारा ही हो सकती है, इनकी प्रतीति के लिये यञ्जना आदि को मानने की आवश्यकता नही। ध्वनि आदि के अनुसार यह मत ठीक नही। क्यो? जिस प्रकार ऊपर के उदाहरण मे दिन मे भोजन न करने वाले देवदत्त की पुष्टता रात्रि भोजन के बिना अनुपपद्यमान है उसी प्रकार काव्य मे रस आदि की प्रतीति के बिना कोई अथ अनुपपद्यमान नही होता। काव्य मे रस आदि की प्रतीति क बिना भी अथ ठीक बन ही जाता है। फिर अर्थापत्ति द्वारा रस आदि की प्रतीति कसे मानी जा सकती है?

व्यङ्ग्य (रस आदि) को वाक्य का अथ भी नहीं कह सकते, क्योकि यह (शब्दजन्य बोध मे) तृतीय कक्षा का विषय है। उदाहरणाथ भ्रम धार्मिक इत्यादि श्लोक मे अभिधा नामक वत्ति जो पदार्थों (पद के वाच्यार्थों) का बोध कराती है यह प्रथम कक्षा है इसके पश्चात क्रिया और कारक का अन्वय (ससग) रूप जो वाक्याथ है जिसमे (हे धार्मिक, तुम स्वच्छन्द भ्रमण करो इत्यादि) विधि का बोध होता है (विधिविषया), यह द्वितीय कक्षा है फिर इसके पश्चात (तुम यहाँ कभी न आना इत्यादि) निषेध रूप जो व्यङ्ग्य अथ जाना जाता है वह तृतीय कक्षा का विषय है। यह व्यञ्जना वत्ति के निमित्त से होता है यह स्पष्ट ही भासित हो रहा है। इसलिये यह (रस आदि रूप व्यङ्ग्य अथ) वाक्य का अथ नही हो सकता।

टिप्पणी—(१) धनञ्जय तथा धनिक रस आदि की प्रतीति को वाक्याथ (तात्पर्याथ) के रूप मे मानते है, यह आगे (४ ३७) बतलाया जायेगा। ध्वनिवाद की स्थापना से पूव भी इस मत के मानने वाले कतिपय आचाय थे (द्र० ध्वन्या लोक ३ ३३ वृत्ति)। ध्वनिवाद की ओर से उस मत का खण्डन किया गया था,

ननु च तृतीयकक्षाविषयत्वमश्रूयमाणपदार्थतात्पर्येषु विष भुङ्क्ष्व इत्यादि वाक्येषु निषेधार्थविषयेषु प्रतीयत एव वाक्यार्थस्य। न चात्र व्यञ्जकत्ववादिनापि वाक्यार्थत्वं नेष्यते तात्पर्यादन्यत्वाद् ध्वनेः। तन्न स्वार्थस्य द्वितीयकक्षायामविश्रान्तस्य तृतीयकक्षाभावात् सैव निषेधकक्षा। तत्र द्वितीयकक्षाविधौ क्रियाकारकसंसर्गानुपपत्तेः प्रकरणात्पितरि वक्तरि पुत्रस्य विषभक्षणनियोगाभावात्।

जिसे यहा पूर्वपक्ष के रूप मे रक्खा गया है (२) वाक्यार्थ का बोध कैसे होता है? इस विषय मे दो प्रसिद्ध मत है—अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद। भाट्ट मीमांसक अभिहितान्वयवादी है। उनके अनुसार प्रथमतः वाक्य मे आये हुए शब्द अभिधा वृत्ति के द्वारा अपने अपने अर्थ (पदार्थ) का बोध कराते है (यही प्रथम कक्षा है)। इसके पश्चात् अभिधा द्वारा अभिहित पदार्थों का आकाक्षा योग्यता और सन्निधि के आधार पर अन्वय (संसर्ग) होता है (अभिहितानाम् अन्वय = अभिहितान्वय) और एक ऐसे अर्थ का बोध हो जाता है, जो पदो का अर्थ नही अपि तु वाक्य का अर्थ होता है। वह पदार्थ से भिन्न होता है तथा तात्पर्य वृत्ति का विषय होता है (यही दूसरी कक्षा है)। इस प्रकार अभिहितान्वयवादी के अनुसार वाक्यार्थ का बोध दूसरी कक्षा मे होता है। किन्तु प्रभाकर (मीमांसक) अभिहितान्वयवाद को नही मानते वे अन्विताभिधानवादी है। उनके अनुसार अभिधा वृत्ति द्वारा परस्पर सम्बद्ध (=अन्वित) अर्थ की ही प्रतीति होती है। शब्द अन्वित अर्थ का ही बोध कराते है (अन्वितानाम् अभिधानम्)। उनके मत मे तात्पर्य वृत्ति को पृथक मानने की आवश्यकता ही नही (विशेष द्र० का० प्र० २ ७ तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्)। (३) ध्वनिवादि का कथन है कि अभिहितान्वयवादी के मत मे द्वितीय कक्षा मे वाक्यार्थ की परिसमाप्ति हो जाती है, व्यङ्ग्यार्थ उसके पश्चात् हुआ करता है वह तृतीय कक्षा मे होता है। फिर वह वाक्यार्थ या तात्पर्यार्थ कैसे हो सकता है? तृतीय कक्षा मे तो वाक्यार्थ जाता ही नही।

इस पर वाक्यार्थ (तात्पर्यार्थ) मे ही तथाकथित व्यङ्ग्य अर्थ का समावेश मानने वाला ध्वनिविरोधी प्रश्न करता है—ननु च इत्यादि—

(प्रश्न) जिन वाक्यो का तात्पर्य वाक्य मे अप्रयुक्त (अश्रूयमाण) शब्द के अर्थ मे होता है, वहा वाक्य का अर्थ तृतीय कक्षा का ही विषय प्रतीत होता है, जैसे विष खालो इत्यादि निषेधात्मक वाक्य का तात्पर्य (इसके घर कदापि न खाओ इत्यादि) निषेध मे है। और, इस स्थल पर व्यञ्जनावादी को भी निषेध को वाक्यार्थ मानना पडेगा, क्योकि उसके अनुसार ध्वनि तो तात्पर्य से (सर्वथा) भिन्न है (अतः यह निषेध ध्वनि का विषय नहीं हो सकता)।

(उत्तर) यह कथन ठीक नहीं। कारण यह है कि जब तक द्वितीय कक्षा मे वाक्य के अर्थ की परिसमाप्ति नहीं हो जाती तब तक तृतीय कक्षा होती ही नहीं। अतः यहा निषेध अर्थ को प्रकट करने वाली वही अर्थात् द्वितीय कक्षा ही है। विष भुङ्क्ष्व यहा पर (तत्र) द्वितीय कक्षा मे (विष खालो इस प्रकार का) विधि

रसवद्वाक्येषु च विभावप्रतिपत्तिलक्षणद्वितीयकक्षाया रसानवगमात ।
तदुक्तम्— अप्रतिष्ठमविश्रान्त स्वार्थे यत्परतामिदम् ।
वाक्य विगाहते तत्र न्याय्या तत्परताऽस्य सा ।

परक अथ लने पर क्रिया और कारक का अन्वय ही नही बनता, क्योंकि प्रकरण के अनुसार यहा वक्ता पिता है और पिता (अपने) पुत्र को विष खाने का आदेश (नियोग) नहीं दे सकता ।

टिप्पणी—ध्वनि विरोधी के प्रश्न का आशय यह है —कही कही वाक्याथ की समाप्ति तृतीय कक्षा मे ही होती है अत यह नियम नही बन सकता कि वाक्याथ या तात्पर्याथ तृतीय कक्षा मे नही जाता । और जब तात्पर्याथ का विषय तृतीय कक्षा भी है तो व्यङ्ग्य अथ भी तात्पर्याथ ही है उससे भिन्न नही । यदि कहो कि वाक्याथ तृतीय कक्षा मे कहा जाता है तो विष भुङक्ष्व इत्यादि उदाहरण को देखिये । यहा दो वाक्य है—(१) विष भुङ क्ष्व (२) मा चास्य गृहे भुङ क्था (विष खाओ इसके घर न खालो) । विष भुङ क्ष्व का तात्पय भी दूसरे वाक्य के अथ मे ही है अर्थात् कदाचित भी इसके घर न खाओ यह तात्पर्याथ है । यह तात्पय तृतीय कक्षा मे परिसमाप्त होता है —

प्रथम कक्षा से विषम् तथा भुङ क्ष्व पदो के अथ (पदाथ) का बोध होता है द्वितीय कक्षा मे विष खालो यह विधि रूप वाक्याथ जाना जाता है । तृतीय कक्षा मे—जब विष खालो यह वाक्याथ ठीक नही बठता तो कदापि इसके घर न खाओ इस निषेध रूप अथ मे तात्पय का निश्चय किया जाता है ।

ध्वनिवादी के उत्तर का आशय यह है – विष भुङ क्ष्व आदि मे भी दो कक्षाओ मे ही वाक्याथ की परिसमाप्ति हो जाती है । प्रथम कक्षा मे पदाथ बोध होता है । द्वितीय कक्षा मे प्रथमवत (विष खालो इस) विधि रूप अथ का बोध होता है । किन्तु यह अथ उपपन्न नही होता कोई पिता अपने पुत्र को विष खाने के लिये नही कह सकता । अत 'मा चाऽस्य गृहे भुङक्था' की एकवाक्यता से कदापि इसके घर न खाओ' इस निषेध मे वाक्य का अथ (तात्पर्याथ) समझ लिया जाता है । जब तक वक्ता का तात्पय नही प्रकट होता तब तक तात्पयवृत्ति का काय अर्थात वाक्याथ पूरा ही नही होता । इस प्रकार सभी जगह द्वितीय कक्षा मे ही वाक्याथ की परिसमाप्ति हो जाती है ।

किन्तु जो रस की प्रतीति कराने वाले (रसवद) वाक्य हैं वहा तो द्वितीय कक्षा मे विभाव आदि का बोध होता है उस कक्षा मे रस की प्रतीति नहीं होती (अपि तु तृतीय कक्षा में रस की प्रतीति होती है, जो वाक्याथ नहीं कही जा सकती) । जसा कि कहा है (?)—

जब वाक्य अपने अथ में ठीक नही बठता और परिसमाप्त (विश्रान्त) नहीं होता तब वह जिस अथ में पहुँचकर विश्रान्त होता है उस वाक्य का (अस्य) उसी अथ मे तात्पय (तत्परता) मानना उचित है । किन्तु जब वाक्य अपने अथ

यत्र तु स्वार्थविश्रा त प्रतिष्ठा तावदागतम् ।
तत्प्रसपति तत्र स्यात्सवत्र ध्वनिना स्थिति ॥

इत्येय सवत्र रसाना यङ्गचत्वमेव । वस्त्वलङ्कारयोस्तु क्वचिद्वाच्यत्व क्वचिद् यङ्गचत्वम ।

तत्रापि यत्र यङ्गचस्य प्राधा येन प्रतिपत्तिस्तत्रव ध्वनि अयत्र गुणीभूतयङ्गचत्वम । तदुक्तम--

में विश्रा त हो जाता है और ठीक बठ जाता है फिर जो उससे आगे (किसी अथ में पहुचता है (प्रसपति) तो उस (अग्रिम अथ) में उस वाक्य की ध्वनि (व्यञ्जना) से ही स्थिति होती है।'

इस प्रकार सभी जगह रस व्यङ्गच ही होते हैं। वस्तु और अलङ्कार तो कहीं वाच्य होते हैं कहीं व्यङ्गच ।

टिप्पणी--(१) द्र० ध्व यालोकवृत्ति तथा ध्वयालोक लोचन (१ ४) का प्र० उ० ५ व्यञ्जनासिद्धि का आरम्भ । (२) यद्यपि ध्वनि अनेक प्रकार की होती है तथापि सक्षेप मे सभी ध्वनियो का समावेश वस्त अलङ्कार तथा रस ध्वनि मे किया जा सकता है क्योकि वस्त अलङ्कार और रस आदि तीन प्रकार के ही यङ्गध अथ हुआ करते है । अथवा कहिये कि का यप्रतिपाद्य अथ तीन प्रकार का होता है। प्रथमत उसके दो भेद हैं---वाच्यता सह औ वाच्यता असत । जो अथ वाच्य भी हो सकता--अभिधावृत्ति से भी जाना जा सकता है वह वाच्यतासह है। यह भी दो प्रकार का है अविचित्रि तथा विचित्र । जो अलङ्कार रूप अथ है वह विचित्र कहलाता है। जो अलङ्कार से भिन्न वस्तु मात्र अथ है वह अविचित्र कहा जाता है। ये वस्तु तथा अलङ्कार कही वाच्य होते हैं और कही व्यङ्गथ । जहा ये प्रधान रूप से व्यङ्गथ होते है वही वस्तुध्वनि तथा अलङ्कार ध्वनि कही जाती है अयत्र नही । तीसरा जो रस आदि अथ है, वह तो वाच्यता असह है रस आदि कभी भी वाच्य नही हो सकते । वे तो विभाव आदि के द्वारा यङ्गच ही हुआ करते है । इस तीनो प्रकार के व्यङ्गचाथ की प्रतीति तृतीय कक्षा मे हुआ करती है प्रथम कक्षा मे पदाथ का बोध द्वितीय कक्षा मे वाक्याथ (तात्पर्याथ) का बोध और तृतीय कक्षा मे व्यङ्गचार्थ बोध होता है।

रस आदि के व्यङ्गय होने पर भी (तत्रापि) जहा व्यङ्गच अथ की प्रधान रूप में प्रतीति होती है वहीं ध्वनि (काव्य) कहलाता है। अय स्थलो में (जहाँ व्यङ्गच अथ प्रधान नहीं होता गौण हो जाता है) तो गुणीभूतव्यङ्गच (काव्य) माना जाता है। जसा कि (ध्वनिकार ने) कहा है —

यत्राथ श दो वा यमथमुपसजनीकृतस्वाथौं ।
 यडक्त का यविशेष स ध्वनिरिति सूरिभि कथित ।
प्रधानेऽयत्र वाक्यार्थे यत्राङ्ग तु रसादय ।
 का ये तस्मि नलङ्कारो रसादिरिति मे मति ।
यथा— उपोढरागेण इत्यादि ।

जहा अथ अपने आपको (स्व) तथा शब्द अपने अथ को गुणीभूत करके उस (प्रतीयमान) अथ को अभि यक्त करते है उस काव्य विशेष को विद्वानो ने ध्वनि कहा है' । (ध्व यालोक १ १३)

जहा अ य (अङ्गभूत रस आदि से भिन्न वाच्य या यङ्गच) अथ प्रधान रूप से वाक्याथ होता है और रस आदि उसमे अङ्ग होते हैं वहा अङ्गभूत रस आदि अलङ्कार (रसवदलङ्कार आदि) के विषय होते हैं (अर्थात् वहा गुणीभूत व्यङ्गच होता है) यह मेरा विचार है। (ध्व यालोक २ ५) ।

जसे उपोढरागेण इत्यादि मे (गुणीभूतव्यङ्गच) है।

टिप्पणी—(१) द्र० ध्व यालोक तथा ध्व य लोकलोचन (१ १३ तथा २ ५) का० प्र० १ ४ ५) सा० द० (४ १ १३) । (२) ध्वनिवाद के अनुसार काव्य के तीन भेद हैं (ध्वन्यालोक ३ ४२७ तथा का० प्र० १ ४ ५)—ध्वनि (उत्तम) गुणीभूतव्यङ्गच (मध्यम) और चित्र (अधम)। यङ्गच अथ की दृष्टि से ही ये तीन भेद किये गये है। ध्वनि काव्य मे यङ्गच अथ की प्रधानता होती है अर्थात् वह वाक्याथ की अपेक्षा अधिक चमत्कारक होता है। इसके उदाहरण आगे दिये जायेंगे। गुणीभूतव्यङ्गच मे व्यङ्गचाथ होता तो है किन्तु वह वाच्याथ से दबा रहता है, वाच्याथ की अपेक्षा गौण होता है। अथवा कोई एक यङ्गचाथ दूसरे व्यङ्गच अथ का अङ्ग हुआ करता है। जसे (ध्व यालोक वृत्ति १ १३)—

उपोढरागेण विलोलतारक तथा गृहीत शशिना निशामुखम् ।
यथा समस्त तिमि ांशुक तया पुरोऽपि रागाद् गलित न लक्षितम् ॥

(उदय काल मे) राग को धारण किये हुए च द्रमा ने निशा के चञ्चल तारो से युक्त मुख को इस प्रकार ग्रहण किया कि राग (लालिमा या नायिका के हृदय मे उत्प न अनुराग) के कारण समस्त अ धकार रूपी वस्त्र गिर जाने पर भी उसने नही देखा।'

यहा च द्रमा का वर्णन प्रस्तुत है, जो वाच्याथ है। कि तु यङ्गच रूप मे नायक नायिका के व्यवहार की प्रतीति हो रही है। यहा समासोक्ति अलङ्कार है। गुणीभूत व्यङ्गच का य है ध्वनि नहीं, क्योकि वाच्याथ (च द्रोदय वर्णन) की प्रधानता

तस्य च ध्वनेर्विवक्षितवाच्याविवक्षितवाच्यत्वेन द्वैविध्यम् । अविवक्षितवाच्योऽप्यत्यन्ततिरस्कृतस्वार्थोऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यश्चेति द्विधा । विवक्षितवाच्यश्च असंलक्ष्यक्रमः क्रमद्योत्यश्चेति द्विविधः तत्र रसादीनामसंलक्ष्यक्रमध्वनित्वं प्राधान्येन प्रतिपत्तौ सत्यां अङ्गत्वेन प्रतीतौ रसवदलङ्कार इति ।

है, व्यङ्ग्यार्थ गौण ही है। काव्य का तीसरा भेद जो चित्रकाव्य है। वह किसी विशेष व्यङ्ग्यार्थ के प्रकाशन की शक्ति नहीं रखता उसमें शब्द और अर्थ का चमत्कार ही विशेषकर होता है। जैसे—(काव्यप्रकाश उ० १ उदा० ५)—

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद् भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयाऽपि यम् ।
ससम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियाऽमरावती ॥

अर्थात् (शत्रुओं का) मान मर्दन करने वाले जिस (हयग्रीव) को अपने भवन से बिना किसी उद्देश्य के (यों ही इच्छानुसार) ही निकला हुआ सुनकर घबराहट के साथ जिसकी अर्गला गिरा दी गई थी ऐसी अमरावती (मानो) भय के कारण आंख बन्द की हुई सी प्रतीत होती थी।

यहां उत्प्रेक्षा अलङ्कार वाच्य है उसी में कवि का तात्पर्य है और वही चमत्कारक है। यद्यपि हयग्रीव की वीरता भी झलकती है तथापि वह स्फुटतया प्रतीत नहीं होती। अतः यह चित्रकाव्य है।

उस ध्वनि के दो भेद हैं—(१) विवक्षितवाच्य और (२) अविवक्षितवाच्य अविवक्षितवाच्य ध्वनि भी दो प्रकार की है—अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य और अर्थान्तर संक्रमित वाच्य। विवक्षितवाच्य ध्वनि भी दो प्रकार की है—असंलक्ष्यक्रम और संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य। जब रस आदि की प्रधान रूप से प्रतीति होती है तो असंलक्ष्य क्रम ध्वनि होती है। किन्तु जब इनकी (किसी वाच्य या व्यङ्ग्य अर्थ के) अङ्ग रूप में प्रतीति होती है तो रसवद अलङ्कार होता है।

टिप्पणी—(१) ध्वन्यालोक तथा लोचन (२ १ २) का० प्र० (४ २४,२५) सा० द० (४ २ ३ ४)। (२) ध्वनि काव्य के अनेक प्रकार हैं। यहां उनमें से चार मुख्य भेदों का उल्लेख किया गया है। प्रथमतः ध्वनि के दो भेद होते हैं—(i) अविवक्षितवाच्य और (ii) विवक्षितवाच्य (१) अविवक्षितवाच्य वह ध्वनि है जहां वक्ता का तात्पर्य वाच्यार्थ में नहीं होता। वाच्यार्थ बाधित हो जाता है तथा लक्ष्यार्थ का बोध कराता हुआ व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति कराता है। इस ध्वनि को लक्षणामूलक ध्वनि भी कहते हैं। यह अविवक्षितवाच्य ध्वनि दो प्रकार की होती है—(क) अर्थान्तरसंक्रमित तथा (ख) अत्यन्ततिरस्कृत।

(क) **अर्थान्तरसंक्रमित** में वाच्यार्थ अपने रूप में बाधित होकर अपने अर्थ की सिद्धि के लिये दूसरे अर्थ में परिणत हो जाता है। वह अर्थ का त्याग न करते हुए ही दूसरे अर्थ में संक्रमित होता है अतः यह ध्वनि उपादानलक्षणा के स्थलों पर होती है। जैसे—

त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति ।
आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत् ॥

अर्थात् मैं तुम्हे यह बतलाता हूँ कि यहा पण्डितो का समुदाय उपस्थित है इसलिये तुम अपनी बुद्धि का आश्रय लेकर सावधानी से व्यवहार करना । यहा पर वच्मि का अर्थ है कहना किन्तु जब वह कह ही रहा है तो कहता हूँ (वच्मि) यह कथन व्यथ है और इसका लक्ष्यार्थ लिया जाता है—(वच्मि = उपन्दिशामि) उपदेश करता हूँ । इस लक्ष्यार्थ के द्वारा हितकारिता व्यङ्गय है। (ख) **अत्यन्त-तिरस्कृत** वाच्य ध्वनि मे वाच्यार्थ बाधित होकर तिरस्कृत हो जाता है उसका त्याग कर दिया जाता है और वह लक्ष्यार्थ का बोध कराता हुआ व्यङ्गय अर्थ की प्रतीति कराता है। ऐसा उपादानलक्षणा से भिन्न लक्षणा के स्थल पर होता है जसे—

उपकृत बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम् ।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्व तत शरदा शतम् ।।

अर्थात् हे मित्र आपने बहुत उपकार किया है। इस विषय मे क्या कहा जाये आपने तो केवल सज्जनता दिखलाई है। इसलिये ऐसा ही करते हुए सकडो वर्षों तक सुखपूर्वक रहो। अनेक अपकारो से पीडित किसी व्यक्ति की अपने अपकारी के प्रति यह उक्ति है अत **उपकृतम्** इत्यादि का वाच्यार्थ बाधित होकर विपरीत अर्थ को लक्षित करता है अर्थात् उपकृतम् का लक्ष्यार्थ होता है—अपकृतम् । इसी प्रकार सुजनता' इत्यादि का लक्ष्यार्थ दुर्जनता आदि हो जाता है। और यहा अपकार की अधिकता व्यङ्गयार्थ होता है।

(ii) **विवक्षितवाच्य अथवा विवक्षितान्यपरवाच्य** ध्वनि—यहाँ वाच्यार्थ विवक्षित (=तात्पर्य का विषय) तो होता है किन्तु वह अपने से अधिक रमणीय व्यङ्गय अर्थ की प्रतीति कराने मे तत्पर हो जाता है। यहाँ अभिधामूला व्यञ्जना द्वारा व्यङ्गय अर्थ की प्रतीति हुआ करती है अत इस ध्वनि को अभिधामूलक ध्वनि भी कहते है। यह भी दो प्रकार की होती है—(क) असलक्ष्यक्रमव्यङ्गय (ख) सलक्ष्यक्रमव्यङ्गय ।

(क) **असलक्ष्यक्रमव्यङ्गय**—इसमे वाच्यार्थ से व्यङ्गयार्थ तक पहुचने का क्रम लक्षित नही हुआ करता। जहा रस आदि व्यङ्गय होते है वहा यह ध्वनि होती है। जसे आगे (उदा० २९२ इत्यादि) शृङ्गार आदि रसो के उदाहरणो मे, ध्वनिवादी की दृष्टि से रसध्वनि है।

(ख) **सलक्ष्यक्रमव्यङ्गय**—यह ध्वनि अनेक प्रकार की होती है। इसमे वाच्यार्थ से व्यङ्गयार्थ तक पहुचने का क्रम स्पष्टत लक्षित हुआ करता है। जसे—

निरुपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते ।
जगच्चित्र नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने ।।

अर्थात बिना तूलिका आदि उपकरण सामग्री के तथा बिना आधार के विविध आकार के ससार का निर्माण करने वाले उस चन्द्रकला से शोभायमान शिव के लिये प्रणाम है। यहा कलाकार उपमान है तथा शिव उपमेय है। उपमान की अपेक्षा उपमेय का उत्कर्ष प्रकट हो रहा है (व्यङ्गय है)। अत यहा व्यतिरेक अलङ्कार व्यङ्गय है। (विशेष द्र० का० प्र० तथा सा० द०)।

अत्रोच्यते—

(४६) वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।
वाक्याथ कारकैयुक्ता स्थायी भावस्तथेतर ॥३७॥

(३) प्राधान्येन प्रतीतौ रसवदलङ्कार—जहा रस आदि की प्रतीति प्रधान रूप से होती है वहा रस ध्वनि आदि हुआ करती है कि तु जब रस आदि किसी वाच्य या व्यङ्ग्य अथ के अङ्ग होकर आत हैं तो रसवत अलङ्कार आदि कहलाते है जसे (महा० स्त्रीपव अ० २४)—

अय स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमदन ।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रसन कर ॥

यहा रणभूमि मे कट कर गिरे हुए भूरिश्रवा के हाथ को लेकर उसकी पत्नी विलाप कर रही है। यहाँ करुणरस की प्रधानता है। पूर्वानुभूत शृङ्गार का वह स्मरण कर रही है। शृङ्गार रस करुण का अङ्ग है। अत यहा रसवत अलङ्कार है। मम्मट ने गुणीभूत यङ्ग्य के स दभ मे इसका निर्देश किया है (का० प्र० ५ अपरस्याङ्ग गुणीभूत यङ्ग्य)।

इस प्रकार ध्वनिवादी के मत मे रस आदि व्यङ्ग्य है और का य उनका व्यञ्जक है। काव्य से व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा ही रस आदि की प्रतीति होती है। कि तु धनञ्जय तथा धनिक इस मत को स्वीकार नही करते। अत ध्वनिवादी के बल को पूवपक्ष मे रखकर अपना सिद्धा त बतलाते है—

दशरूपककार का सिद्धा त (रस आदि तथा काव्य मे भा य भावक सम्ब ध)

इस विषय मे कहते हैं—

जिस प्रकार (शब्दो द्वारा) वाच्य अथवा प्रकरण आदि के द्वारा बुद्धि मे स्थित क्रिया ही कारको से युक्त होकर वाक्य का अथ हुआ करती है उसी प्रकार अ यो (विभाव आदि) से युक्त होकर स्थायो भाव भी वाक्याथ होता है ॥३७॥

टिप्पणी—यहा धनञ्जय ने यह दिखलाया है कि रति आदि भाव या रस काव्य के वाक्याथ ही होते है रति आदि भाव और का य मे व्यङ्ग्य- यञ्जक भाव सम्ब ध नही होता। का य से भि न लौकिक वाक्यो के दृष्टा त द्वारा इस म तव्य को स्पष्ट किया गया है। मीमासक के अनुसार वाक्य के अथ मे क्रिया की प्रधानता होती है। कारको से अ वित क्रिया ही वाक्य का अथ होती है। श्रोता को क्रिया का ज्ञान दो प्रकार से हो सकता है। कही तो वाक्य मे क्रियावाचक पद का प्रयोग होता है, जसे गामभ्याज' (गाय लाओ)। यहा क्रिया 'अभ्याज (लाओ) पद की वाच्य है। कही क्रियावाचक पद का प्रयोग तो नही होता फिर भी प्रकरण के द्वारा वा सकेत आदि से श्रोता को क्रिया का बोध हो जाता है, जसे किसी ने कहा द्वार द्वारम् (द्वार को द्वार को)। यहा प्रकरण से या सकेत से श्रोता 'बन्द करो इस

यथा लौकिकवाक्येषु श्रूयमाणक्रियेषु गामभ्याज इत्यादिषु अश्रूयमाणक्रियेषु च— द्वार द्वारम इत्यादिष स्वशब्दोपादानात्प्रकरणादिवशाद् बुद्धिसंनिवेशिनी क्रियव कारकोपचिता वाक्यार्थस्तथा काव्येष्वपि क्वचित स्वश दोपादानात प्रीत्य नवोढा प्रिया इत्येवमादौ क्वचिच्च प्रकरणादिवशान्नियताभिहितविभावाद्यविनाभावाद्वा साक्षाद्भावक

क्रिया को समझ लेता है। इन दोनो ही स्थलो मे कारको से अन्वित होकर क्रिया ही वाक्यार्थ मानी जाती है। अथवा कहिये कि प्रथमत कारक पदो तथा क्रिया पद का पदार्थ बोध हो जाता है फिर कारक–पद के अर्थों से अन्वित क्रिया पद का अर्थ जाना जाता है। यही वाक्यार्थ है जसा कि अभिहितान्वयवादी मीमासक मानते है।

काव्य मे भी यही बात है। प्रथमत काव्य के वर्णनो द्वारा विभाव आदि का पृथक पृथक बोध होता है। वह पदार्थ बोध के समान है। फिर विभाव आदि से ससृष्ट स्थायी भाव का बोध होता है। वह वाक्यार्थ बोध के समान है। उपर्युक्त क्रिया बोध के समान स्थायी भाव के बोध म भी दो अवस्थाए हो सकती हैं – (क) कभी तो स्थायी भाव को शब्दो द्वारा कहा जाता है जसे प्रीत्य नवोढा प्रिया यहा प्रीति शब्द के द्वारा 'रति भाव' का बोध होता है। (ख) कभी स्थायी भाव को शब्दो द्वारा नही कहा जाता अपितु (i) या तो अनुराग आदि के वर्णन के प्रकरण से श्रोता के मन मे रति आदि भाव प्रस्फुरित हो जाता है अथवा (ii) किसी रति आदि भाव के साथ नियम से रहने वाले (नियत) जो विभाव अनुभाव तथा सञ्चारी भाव हैं उनका काव्य मे वर्णन होता है। श्रोता यह जानता है कि ये विभाव आदि तो रति भाव के बिना नही रहते। अत उसके मन मे रति आदि भाव स्फुरित हो जाता है। काव्यो के शब्दो के द्वारा या प्रकरण आदि से श्रोता के चित्त मे स्फुरित्त हो जाने वाला वह स्थायी भाव काव्य मे वर्णित विभाव आदि से पुष्ट हो जाया करता है। पुष्ट हुआ रति आदि स्थायी भाव ही शृङ्गार आदि रस कहलाता है। इस प्रकार काव्य मे विभाव आदि का बोध पदार्थ स्थानीय है। और विभाव आदि से अन्वित स्थायी भाव की प्रतीति वाक्यार्थ के रूप मे है। धनिक ने बतलाया है कि वाक्यार्थ बोध के समान तात्पर्य वृत्ति से ही विभाव आदि से स्थायी भाव (=रस) की प्रतीति हो जाती है। रस बोध के लिये व्यञ्जना वृत्ति की कल्पना आवश्यक नही है। इसका युक्ति युक्त वर्णन आगे किया जा रहा है।

जिस प्रकार 'गाय लाओ' इत्यादि जिनमे (अभ्याज=लाओ क्रिया का प्रयोग किया जाता है तथा द्वार को द्वार को इत्यादि जिनमे (बन्द करो आदि) क्रिया का प्रयोग नहीं होता— दोनो प्रकार के लौकिक वाक्यों मे क्रमश क्रिया वाचक शब्द के प्रयोग से अथवा प्रकरण आदि के कारण बुद्धि मे स्थित होने से क्रिया ही कारको से अन्वित होकर वाक्य का अर्थ हुआ करती है उसी प्रकार काव्य के विषय मे भी होता है। कहीं तो 'प्रीत्य नवोढा प्रिया इत्यादि मे स्थायी भाव के वाचक (प्रीति आदि) पद का प्रयोग होने से और कहीं प्रकरण आदि के

चेतसि विपरिवतमानोरत्यादि स्थायी स्वस्वविभावानुभाव यभिचारिभिस्तत्तच्छ ब्दोपनीत सस्कारपरम्परया पर प्रौढिमानीयमानोरत्यादिर्वाक्याथ ।

न चाऽपदाथस्य वाक्याथत्व नास्तीति वाच्यम–कायपयवसायित्वात्तात्पय शक्ते । तथा हि पौरुषेयमपौरुषय वाक्य सव कायपरम अतत्परत्वेऽनुपादेयत्वादु म त्तादिवाक्यवत । का यश दाना चा वय यतिरेकाभ्या निर तिशयसुखास्वाद यतिरकेरा प्रतीपाद्यप्रतिपादकयो प्रवृत्तिविषययो प्रयोजना तरानुपल धे स्वान दोद्भूतिरेव

द्वारा अथवा का य मे वर्णित (अभिहित) नियत विभाव आदि के साथ अविनाभाव सम्ब ध होने के कारण सहृदय जनो के चित्त म रति आदि स्थायीभाव साक्षात रूप से स्फरित होने लगता है (विपरिवतमान) । वह स्थायी भाव (का य के) भि न भि न श दा द्वारा प्रकट किये गये अपने अपने विभाव अनुभाव और यभिचारी भावो के द्वारा सस्कार परम्परा से अत्य त पुष्ट हो जाता है और वही (का य मे) वाक्याथ होता है ।

टिप्पणी—स्वश दोपादानात्—क्रियावाचक श द (=स्वश द) के प्रयोग से । बुद्धिसनिवेशिनी—बुद्धि मे स्थित । स्वश०दोपादानात—रति आदि स्थायी भाव के वाचक श द (स्वश द) के प्रयोग से । नियताभिति० किसी रस क साथ नियत तथा का य श०दो द्वारा अभिहित जो विभाव आदि उनके साथ अविनाभाव सम्ब ध होने क कारण । सस्कारपरम्परया—विभाव आदि के ज्ञान से उत्प न हाने वाले सस्कारो की परम्परा से । भाव यह है कि का य श दो के द्वारा जो विभाव आदि का ज्ञान होता है वह तो तृतीय क्षण मे नष्ट हो जाता है । फिर विभाव आदि स्थायी भाव को पष्ट कसे कर सकते है ? इसलिये यह मानना चाहिये कि विभाव आदि के ज्ञान के पश्चात भी उस ज्ञान के सस्कारो की परम्परा चलती रहती है । उसी सस्कार परम्परा स रति आदि भाव पुष्ट हुआ करता है । वाक्याथ =साक्षात रूप से का य के वाक्यो का अथ है जो तात्पय वृत्ति से जाना जाता है ।

(शङ्का) यदि कोई कहे कि रस आदि पदों के अथ (पदाथ नहीं है अत वे वाक्य के अथ (वाक्याथ) भी नहीं हो सकते (क्योंकि पदार्थों के समग से ही वाक्याथ बनता है) । (समाधान) यह कथन ठीक नहीं क्योकि तात्पय शक्ति की विश्रा त काय (प्रवत्ति या निवत्ति रूप प्रयोजन) मे ही हुआ करती है । भाव यह है कि दो प्रकार के वाक्य होते है—पौरुषेय तथा अपौरुषय । उन सबका तात्पय काय मे ही होता है । यदि किसी वाक्य का तात्पय काय मे न हो तो वह ग्राह्य ही न होगा, जसे पागलो की बात ग्राह्य नहीं होती । और काव्य के शब्दों की प्रवत्ति का विषय जो प्रतिपादक (विभाव आदि) तथा प्रतिपाद्य (रति आदि स्थायी भाव) हैं उनका अ वय यतिरेक के द्वारा निरतिशय आन दानुभूति के अतिरिक्त कोई अ य प्रयोजन दिखलाई नहीं देता । इसलिये अपने आन द की अनुभूति कराना ही उनका प्रयोजन (काय) निश्चित किया जाता है (उसमे ही

कार्यत्वेनावधार्यते। तदुद्भूतिनिमित्तत्वं च विभावादिसंसृष्टस्य स्थायिन एवावगम्यते, अतो वाक्यस्याभिधानशक्तिस्तेन तेन रसेनाऽऽकृष्यमाणा तत्तत्स्वार्थापेक्षितावान्तरविभावादिप्रतिपादनद्वारा स्वपर्यवसायितामानीयते। तत्र विभावादयः पदार्थस्थानीयास्तत्संसृष्टो रत्यादिर्वाक्यार्थः। तदेतत्काव्यवाक्यं यदीयं ताविमौ पदार्थवाक्यार्थौ।

काव्य शब्दों का तात्पर्य है)। और विभाव आदि के संसर्ग से युक्त स्थायी भाव को ही उस आनन्दानुभूति का निमित्त माना जाता है। इस प्रकार काव्य वाक्यों की जो अर्थ कथन की शक्ति (तात्पर्य शक्ति) है वह भिन्न भिन्न रसों के द्वारा अपनी ओर आकृष्ट कर ली जाती है तथा अपने भिन्न भिन्न अर्थ के लिए अपेक्षित जो विभाव आदि हैं उनके प्रतिपादन के द्वारा उस (तात्पर्य शक्ति) की परिसमाप्ति अपने (भिन्न भिन्न रस के) स्वरूप में कर ली जाती है (अर्थात् काव्य के वाक्यों की तात्पर्य शक्ति भिन्न भिन्न रस के प्रतिपादन में विश्रान्त हुआ करती है)। इस प्रक्रिया में विभाव आदि तो पदार्थों (पद के अर्थों) के स्थान में हैं और उनसे अन्वित (तत्संसृष्ट) रति आदि भाव वाक्यार्थ है। यह ऐसा काव्य वाक्य ही है जिसके ये (विभाव आदि) पदार्थ हैं तथा (रति आदि स्थायी भाव) वाक्यार्थ हैं।

टिप्पणी (१—) कार्यपरम्—कार्य का अर्थ है—भाव भावना तथा अपूर्व। वैयाकरण भाट्टमीमांसक तथा प्रभाकरमतानुयायी मीमांसक तीनों के अनुसार ही वाक्य कार्यपरक है। किन्तु प्रथम मत में कार्य=क्रिया (भाव) वाक्य में क्रिया की प्रधानता होती है। द्वितीय मत में कार्य=मुख्य विधेय (भावना) में ही तात्पर्य होता है वही वाक्य का अर्थ होता है। तृतीय मत में कार्य=अपूर्व इसमें वाक्य का तात्पर्य होता है। यहाँ भाट्टमीमांसक के मत से कार्य=मुख्य प्रयोजन (भावना) को वाक्यार्थ कहा गया है (भावनैव वाक्यार्थः तन्त्रवा० पृ० ४४५)। मि० प्रकरण पञ्चिका पृ० ३७६ टि०।

(२) अतत्परत्वे—कार्यपरक न होने पर। काव्यशब्दानां प्रवृत्तिविषययोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः० इत्यादि अन्वय है। काव्ये स्थायी वा रसो वा प्रतिपाद्यो विभावादिश्च प्रतिपादकः (प्रभा)।

स्वानन्दोद्भूतिरेव०—अपने आनन्द की अनुभूति कराना ही काव्य के शब्दों का प्रयोजन है। यही काव्य वाक्य का कार्य है जो तात्पर्य का विषय है तथा वाक्यार्थ ही है। यह आनन्दानुभूति ही रस है। विभाव आदि से अन्वित स्थायी भाव उसका निमित्त है। अतः विभाव आदि पदार्थ के समान हैं और विभाव आदि से संसृष्ट स्थायी भाव वाक्यार्थ है। स्वानन्द=आत्मानन्द द्र० आगे (४४३) स्वाद का पार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः।

न चव सति गीतादिवत्सुखजनकत्वेऽपि वाच्यवाचकभावानुपयोग विशिष्ट विभावादिसामग्रीविदुषामेव तवाविधरत्यादिभावनावतामव स्वानन्दोद्भूते । तदनेनातिप्रसङ्गोऽपि निरस्त ।

(प्रश्न) यदि काव्य आनन्दोदभूति का निमित्त है (एव सति) तब तो वह भी गीत आदि के समान (अर्थ जाने विना ही) आनन्द का जनक हो सकता है फिर उसमे वाच्य वाचक भाव का कोई उपयोग न होगा। (उत्तर) यह कथन ठीक नहीं, क्योकि जो व्यक्ति विशेष प्रकार की विभाव आदि सामग्री को जानते हैं तथा उस प्रकार की रति आदि की भावना से युक्त है उन्हे ही काव्य के आनन्द की अनुभूति हुआ करती है। इस प्रकार इस कथन से (अरसिक जनो को भी काव्य से वाच्य वाचक भाव के द्वारा रसास्वाद होने लगेगा इस अतिप्रसङ्ग का भी निराकरण हो गया।

टिप्पणी (१)—यहा रसास्वाद के दो निमित्त बतलाये गये हैं—(i) किसी रस के विभाव आदि का ज्ञान और (ii) सहृदय के चित्त मे रसास्वादन योग्य रति आदि की भावना होना। भाव यह है कि विभाव आदि का ज्ञान काव्य से होता है काव्य के शब्द ही विभाव आदि को बतलाते हैं अत वे वाचक है और विभाव आदि उनके वाच्य है। इसलिए रसानुभूति मे वाच्य वाचक भाव का उपयोग है। जिस प्रकार किसी शास्त्रीय सगीत मे राग लय आदि से ही सामाजिको को आनन्द की प्राप्ति हो जाती है वहाँ वाच्य वाचक भाव का कोई उपयोग नही होता उस प्रकार की बात काव्य मे नही है। दूसरी बात यह है कि शृङ्गार आदि रस का आस्वादन उन्ही होता है जिनके हृदय मे उस प्रकार की रति आदि भावना होती है। इसलिये जो केवल काव्य का अर्थ समझते हैं किसी रसास्वादन योग्य रति आदि की भावना से युक्त नही हैं उन्हे काव्य का रसास्वादन नही हो सकता (मि० न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनाम् सा० द० ३ ८)। इस प्रकार दोनो समुदित रूप से (मिलकर) रसास्वादन के कारण हैं। (२) विशिष्टविभावादिसामग्री—प्रत्येक रस मे नियत विभाव आदि सामग्री। तथाविध०—रस के आस्वादन के योग्य, भाव यह है कि यदि किसी के चित्त मे रति आदि की भावना दब रूप मे है तो उसे रसास्वादन नही हो सकता। यदि वह भावना रसास्वादन के योग्य होगी तभी रसास्वादन हो सकेगा (मि० स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटववताम् का० प्र० वृत्ति ४ २८)। अनेन—इस नियम से कि उस प्रकार की रति आदि भावना से युक्त जनो को ही काव्य से आनन्द की अनुभूति होती है। अतिप्रसङ्ग—अनिष्ट की प्राप्ति अरसिक जनो को रसास्वादन होता है यह मानना अभीष्ट नही। किन्तु यदि केवल वाच्य वाचक भाव के द्वारा ही रसास्वादन होगा तो उन्हे भी होने लगेगा, यही अतिप्रसङ्ग है।

ईदशि च वाक्यार्थनिरूपणे परिकल्पिताभिधादिशक्तिवशेनैव समस्तवाक्यार्थावगते शक्त्य तरपरिकल्पन प्रयास यथावोचाम का्यनिर्णये—

तात्पर्यानतिरेकाच्च व्यञ्जनीयस्य न ध्वनि ।
किमुक्त स्यादश्रुतार्थतात्पर्येऽन्योक्तिरूपिणि ॥१॥
विष भक्षय पूर्वो यश्चैव परसुतादिषु ।
प्रसज्यते प्रधानत्व द् ध्वनित्व केन वार्यते ॥२

इस प्रकार के वाक्यार्थ का निर्णय हो जाने पर स्वीकृत (परिकल्पित) अभिधा (तात्पर्य, लक्षणा) शक्ति के द्वारा ही सब प्रकार के वाक्यार्थ का बोध हो जाता है। इसलिये अन्य शक्ति (व्यञ्जना) की कल्पना केवल (व्यर्थ का) प्रयास ही है। जैसा कि हमने काव्यनिर्णय नामक ग्रन्थ मे बतलाया है—

व्यङ्ग्य कहा जाने वाला अर्थ (व्यञ्जनीय) तात्पर्य अर्थ से भिन्न नहीं होता। अत कोई व्यञ्जना नामक वृत्ति (ध्वनि) नहीं होती (न ही ध्वनि नामक काव्य ही होता है)।

टिप्पणी (१)—ईदृशि—सभी वाक्य कार्यपरक होते है कार्य (प्रवृत्ति निवृत्ति रूप प्रयोजन) का बोध तात्पर्य शक्ति से ही हो जाया करता है और तात्पर्य शक्ति द्वारा बोध्य अर्थ वाक्यार्थ ही होता है। रस (आनन्दोद्भूति) भी काव्य वाक्यो का कार्य है उसका बोध तात्पर्य शक्ति से ही हो सकता है अत वह वाक्यार्थ ही है—इस प्रकार के वाक्यार्थ का निरूपण करने पर। **परिकल्पित**—सकलप्रसिद्ध (प्रभा) सबके द्वारा जानी गई। **अभिधादि**—अभिधा तात्पर्य तथा लक्षणा। **समस्तवाक्यार्थावगते**—सब प्रकार के वाक्यार्थ का बोध हो जाने से अर्थात् रस आदि भी वाक्यार्थ हैं और उनका बोध भी मानी गई शक्तियो के आधार पर ही हो सकता है। (२) **काव्यनिर्णय०**—यह धनिक का काव्य शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ अब अनुपलब्ध है। (३) **तात्पर्या०**—इस पंक्ति मे धनिक ने अपने मत का स्थापना की है। व्यङ्ग्य कहे जाने वाले अर्थ का तात्पर्यार्थ मे ही अन्तर्भाव हो जाता है अत उसके बोध के लिये व्यञ्जना वृत्ति को मानने की आवश्यकता नही। **ध्वनि**—व्यञ्जना अथवा वह काव्य जिसमे व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता होती है।

(धनिक की स्थापना मे ध्वनिवादी की शङ्का)—यदि ध्वनि (व्यञ्जना) नहीं होती तो जहाँ प्रयुक्त (श्रुत) शब्दो के (वाच्य) अर्थ मे तात्पर्य नहीं हो सकता उस अन्योक्ति रूप वाक्य के विषय मे आप क्या कहेगे ? [जैसे कस्त्वं भो

मा विद्धि शाखोटकम्' ऊपर उदा ९१६, इत्यादि] ॥१॥ इसी प्रकार जब पिता आदि एक व्यक्ति (पूर्व) दूसरे व्यक्ति (पर) पुत्र आदि से कहता है कि विष खालो' वहा (इसके घर खाना विष खाने से भी बुरा है इत्यादि) प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता के कारण वह (वाक्य) ध्वनि होगा उसे कौन रोक सकता है ॥२॥ इस प्रकार (ध्वनि और तात्पर्यार्थ का स्पष्ट भेद है) यदि वाक्य अपने अर्थ मे

ध्वनिश्चेत्स्वार्थविश्रान्त वाक्यमर्थान्तराश्रयम् ।
तत्परत्व त्वविश्रान्तौ
त न विश्रान्त्यसम्भवात् ।।३।।
एतावत्येव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किंकृतम् ।
यावत्कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्य न तुलाधृतम् ।।४।।
भ्रम धार्मिक विश्रब्ध धर्मिति भ्रमिकृतास्पदम् ।
निर्व्यावृत्ति कथ वाक्य निषेधमुपसर्पति ।।५।।

परिसमाप्त (विश्रान्त) होकर भी अन्य अर्थ का बोधक होता है तो वह द्वितीय अर्थ ध्वनि (व्यङ्ग्य) होता है, किन्तु यदि वाक्य अपने अर्थ मे विश्रान्त नही होता और (अपनी विश्रान्ति के लिये) किसी अन्य अर्थ का भी बोध करा देता है तो वह अन्य अर्थ तात्पर्यार्थ होता है ।

टिप्पणी—धनिक की स्थापना के विरोध मे ध्वनिवादी की युक्तिया इस प्रकार हैं—(i) तात्पर्य का अर्थ है वक्ता की इच्छा। तात्पर्य किसी चेतन का होता है जड का नही। अत जहा जड वस्तु को सम्बोधित करके अन्योक्ति रूप वाक्य कहा जाता है और उससे किसी अन्य अर्थ की प्रतीति होती है वहा प्रतीयमान अर्थ को तात्पर्यार्थ नही कहा जा सकता जसे ऊपर उदा० २१९ मे शाखोटक वृक्ष के प्रति जो सवाद है उसमे निर्वेद की प्रतीति हो रही है वह तात्पर्यार्थ कसे होगी ? (ii) विष भुङ्क्ष्व इत्यादि (ऊपर पृ० ३२६) मे प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) अर्थ है—'इसके घर भोजन करना विष खाने से भी बुरा है' और, यही अर्थ प्रधान है। जहा व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता होती है वह काव्य ध्वनि होता है। यह व्यङ्ग्य अर्थ तात्पर्यार्थ हो नही सकता यह ऊपर कहा जा चुका है। (iii) ध्वनि और तात्पर्यार्थ मे स्पष्ट भेद भी है (द्र० अनुवाद)। अत ध्वनि का तात्पर्यार्थ मे अन्तर्भाव नही हो सकता।

[ध्वनिवादी की शङ्का का समाधान तन्न इत्यादि]—यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि वाक्य के अर्थ की (तब तक) विश्रान्ति नहीं हो सकती (जब तक कि समस्त तात्पर्य का बोध न हो जाये) ।।३।। केवल इतने (नियत) अर्थ मे ही तात्पर्य की विश्रान्ति हो जाती है इसका नियम किसने बना दिया ? वस्तुत कार्य (प्रवृत्ति निवृत्ति रूप प्रयोजन) के बोध पर्यन्त तात्पर्य शक्ति का प्रसार होता है वह तराजू पर तौला नहीं गया (कि यहीं तक तात्पर्य का विषय है आगे नहीं) ।।४।।

और (ध्वनिवादी का जो यह प्रश्न है कि) हे धार्मिक निश्चिन्त होकर भ्रमण करो यहाँ भ्रमण क्रिया का ही प्रतिपादन किया गया है, इस वाक्य मे निषेधवाचक कोई पद नहीं (निर्व्यावृत्ति) है फिर यह वाक्य भ्रमण के निषेध अर्थ मे कसे जा सकता है ? (ध्वनिवादी के मत मे तो निषेध अर्थ व्यञ्जना द्वारा प्रतीत हो जाता है) ।।५।।

प्रतिपाद्यस्य विश्रान्तिरपेक्षापूरणाद्यदि ।
वक्तुर्विवक्षिताप्राप्तेरविश्रान्ति न वा कथम् ॥६॥
पौरुषेयस्य वाक्यस्य विवक्षापरतन्त्रता ।
वक्त्रभिप्रततात्पर्यमत काव्यस्य युज्यते ॥७॥ इति ।

(इस पर धनिक का उत्तर है) यदि 'भ्रम धार्मिक इत्यादि मे (श्रोता की) आकाक्षा पूर्ण हो जाने के कारण (ध्वनिवादी के अनुसार) तात्पर्य (प्रतिपाद्य) अर्थ की परिसमाप्ति (विश्रान्ति) मानी जाती है तो वक्ता के विवक्षित अर्थ की प्राप्ति न होने के कारण यहा तात्पर्य की अविश्रान्ति क्यो नहीं मानी जा सकती ? ॥६॥

किञ्च मनुष्यो के सभी वाक्य विवक्षा के अधीन होते हैं (कुछ कहने की इच्छा से ही मनुष्य वाक्य का प्रयोग करता है)। इसलिये वक्ता के अभिप्रेत अर्थ मे ही वाक्य का तात्पर्य मानना उचित है ॥७॥

टिप्पणी—(१) धनिक का आशय यह है—(i) विवक्षित अर्थ का पूर्णतया बोध कराये बिना तात्पर्यार्थ की विश्रान्ति नही होती। और, वाक्य के द्वारा जो कुछ भी प्रतिपादन किया जाता है वह उसके तात्पर्यार्थ के ही अन्तर्गत है। यह नही कहा जा सकता कि वाक्य का तात्पर्य यही तक है आगे नही (तन्न तुलाधृतम्)। (ii) भ्रम धार्मिक इत्यादि मे जो ध्वनिवादी ने कहा है कि श्रोता की आकाक्षा विधि अर्थ (निश्चित होकर भ्रमण करो) मे पूर्ण हो जाती है उसके पश्चात् होने वाला जो निषेध अर्थ (यहा कभी न आना) है वह व्यङ्ग्य है। यह कथन भी ठीक नही क्योकि वक्ता का विवक्षित अर्थ तो पूर्ण नही होता। वहाँ वक्ता है एक कुलटा स्त्री उसका विवक्षित अर्थ है—तुम यहा कभी न आना। इस निषेध अर्थ की प्रतीति के बिना वक्ता के विवक्षित अर्थ की परिसमाप्ति नही होती। अत यह निषेध अर्थ तात्पर्यार्थ ही है। तात्पर्य अर्थ की विश्रान्ति न होने पर जो अन्य अर्थ जाना जाता है वह तात्पर्यार्थ (तथा वाक्यार्थ) ही होता है यह ध्वनिवादी ने भी स्वीकार किया है। इस प्रकार यहा भ्रमण निषेध तात्पर्यार्थ ही होगा व्यङ्ग्य नही। (iii) वस्तुत वक्ता का विवक्षित अर्थ ही तात्पर्यार्थ होता है श्रोता की आकाक्षा के पूर्ण हो जाने से तात्पर्य परिसमाप्त नही हो जाता। तथ्य यह है कि वक्ता को जब कुछ कहने की इच्छा (विवक्षा) होती है तभी वह वाक्य का प्रयोग करता है। अत मनुष्यो के वाक्य विवक्षा के अधीन होते हैं और जो विवक्षित अर्थ होता है उसी मे वाक्य का तात्पर्य होता है। काव्य वाक्यो के विषय मे भी यही बात है। काव्य का तात्पर्य भी वक्ता (कवि) के अभिप्रेत अर्थ मे ही होता है। इस प्रकार रस आदि तात्पर्यार्थ ही है व्यङ्ग्य नही। (२) **भ्रमिकृतास्पदम्**=भ्रमणप्रतिपादकम् (प्रभा) **निवृत्ति**=भ्रमणव्यावृत्ति रहितम्=भ्रमणनिषेधबोधकपदरहितम् (प्रभा)। **अपेक्षापूरणात्**=वक्ता की आकाक्षा पूर्ण हो जाने के कारण।

अतो न रसादीना का॒येन सह ॒यङ्ग्य यञ्जकभाव । किं तर्हि ? भा॒यभावक सम्ब॒ध । का॒य हि भावक, भा या रसादय । ते हि स्वतो भव त एव भावकेषु विशिष्टविभावादिमता का॒येन भा य ते ।

न चा॒यत्र श द। तरेषु भा यभावकलक्षणसम्ब॒धाभावात का यश देष्वपि तथा भा॒यमिति वाच्यम्–भावनाक्रियावादिभिस्तथाङ्गीकृतत्वात । किञ्च मा चा॒यत्र तथास्तु ग्र॒वय॒यतिरकाभ्यामिह तथाऽवगमात । तदुक्तम्—

भावाभिनयसम्ब धा भावय॑ति रसानिमान् ।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञय नाट्ययोक्तृभि ॥ इति ।

धनिक के मत का उपसहार—

इस प्रकार रस आदि का काव्य के साथ व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव सम्ब ध नहीं है। फिर इनमे क्या सम्ब॒ध है ? भा य भावक सम्ब ध है। काव्य (रस आदि का) भावक (भावना या आस्वादन कराने वाला) है और रस आदि भाव्य (जिनकी भावना या आस्वादन कराया जाये) है। वे (रति आदि भाव) सहृदयो के चित्त मे स्वत (स्वभावत) विद्यमा॒न रहते हैं। भि न भि॒न रसो के विशष प्रकार के विभाव आदि का वणन करने वाले काव्य के द्वारा उनकी भावना करा दी जाती है।

टिप्पणी—(१) अत इत्यादि मे धनिक ने अपने इस मत का उपसहार किया है कि रस आदि तथा का य मे भा य भावक सम्ब॒ध है। (२) स्वतो भवत = सहृदयो के चित्त मे स्वभावत रहते हुये। इससे विदित होता है कि अभिनवगुप्त से पहिले ही धनिक ने यह स्पष्ट कर दिया था कि सहृदयो के चित्त मे रति आदि भाव विद्यमान रहा करते हैं। का यो के द्वारा भावित होकर उ॒ही का आस्वादन किया जाया करता है। (३) भावकेषु—सहृदयो मे सहृदय को भी भावक कहा है। काव्य तो भावना (चवणा आस्वादन) कराने वाला है अत भावक है कि॒तु सहृदय जन भावना करने वाले हैं इसलिये भावक कहलाते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि दूसरे स्थलो पर (व्याकरण आदि के) अन्य शब्दो मे तो भाव्य भावक रूप सम्ब॒ध नहीं होता अत काव्य के शब्दो मे भी वह सम्ब ध नहीं माना जा सकता। कि तु यह ठीक नहीं क्योकि भावना के रूप मे क्रिया को मानने वालो (मीमासको) ने अ यत्र भी (श॒दो मे) भाव्य भावक सम्ब॒ध स्वीकार किया है। दूसरी बात यह भी है कि चाहे अ॒यत्र भाव्य भावक सम्ब॒ध न भी हो तथापि यहाँ (का॒य मे) अ॒वय व्यतिरेक के द्वारा यह सम्ब॒ध माना जाता है। जैसा कि कहा गया है —(नाटयशास्त्र ७ ३) क्योकि ये (चिन्ता आदि) सामाजिको को (इमान) भाव तथा अभिनय (अथवा भाव के अभिनय) से सम्ब॒ध रखने वाले रसों की भावना कराते हैं इसलिये नाटय प्रयोक्ता जन इ॒हें भाव मानते हैं ।

कथं पुनरगृहीतसम्बन्धेभ्यः पदेभ्यः स्थाय्यादिप्रतिपत्तिरिति चेत् ? लोके तथाविधचेष्टायुक्तस्त्रीपुंसादिषु रत्याद्यविनाभावदर्शनादिहापि तथोपनिबन्धे सति रत्याद्यविनाभूतचेष्टादिप्रतिपादकशब्दश्रवणादभिधेयाऽविनाभावेन लाक्षणिकी रत्यादिप्रतीतिः । यथा च काव्यार्थस्य रसभावकत्वं तथाऽग्रे वक्ष्यामः ।

टिप्पणी (१) भावनाक्रियावादिभिस्तदङ्गीकारात्—भाट्ट मीमांसक के अनुसार क्रिया का अर्थ है—भावना। यह भावना दो प्रकार की होती है—शाब्दी भावना तथा आर्थी भावना। शाब्दी भावना का अर्थ है किसी पुरुष को क्रिया में प्रवृत्त कराने वाला विशेष प्रकार का व्यापार जो वक्ता का अभिप्राय रूप व्यापार होता है तथा शब्दों में लिङ् लकार आदि के द्वारा प्रकट होता है (वेद में वह शाब्दी भावना शब्द निष्ठ ही होती है)। किसी कार्य में प्रवृत्त होकर जब कर्ता फल की इच्छा से उसके साधनों का अनुष्ठान करता है तो यह कर्ता का प्रयत्न ही आर्थी भावना है जो आख्यात (तिङ् प्रत्यय) की वाच्य होती है। इस प्रकार शाब्दी भावना =प्रवर्तना आर्थी भावना=प्रयत्न। जैसे 'स्वर्गकामो यजेत'=स्वर्ग की कामना वाला याग से स्वर्ग को भावित करे इस वाक्य के द्वारा याग में प्रवृत्त हुआ पुरुष याग से स्वर्ग को भावित करता है। यहाँ याग क्रिया भावक है और स्वर्ग भाव्य है। इसी प्रकार काव्य में भी काव्य भावक है और रस आदि भाव्य हैं। (२) अन्वयव्यतिरेकाभ्याम्—जहाँ काव्यरस की चर्वणा होती है वहाँ काव्य शब्द अवश्य हुआ करते हैं (अन्वय) यदि काव्य के शब्द नहीं होते तो काव्य रस की चर्वणा भी नहीं होती (व्यतिरेक)। इस अन्वय व्यतिरेक से काव्य के शब्दों (=काव्य) को रस आदि का भावक माना जाता है और रस आदि को काव्य का भाव्य। (३) भावाभिनयसम्बद्धान्—नाट्यशास्त्र (७ ३) में 'नानाभिनयसम्बद्धान्' पाठ है। यद्यपि ना० शा० के इस श्लोक में (चिन्ता आदि) भावों को रस का भावक कहा गया है तथापि भावों का बोध कराने वाले काव्य के शब्द भी रस के भावक होते हैं यह समझना चाहिये। इस प्रकार काव्य के शब्द तथा अर्थ दोनों मिलकर रस आदि के भावक होते हैं।

(प्रश्न) [जिन शब्दों का जिन अर्थों के साथ सम्बन्ध ग्रहण (सङ्केत ग्रह) होता है उन शब्दों से उन्हीं अर्थों का बोध हुआ करता है यह नियम है] किन्तु रति आदि के साथ काव्य के शब्दों का सम्बन्ध ग्रहण नहीं किया गया है फिर उन शब्दों से (रति आदि) स्थायी भावों का बोध कैसे हो सकता है? (उत्तर) लोक में रति आदि से उत्पन्न होने वाली (तथाविध) चेष्टाओं से युक्त स्त्री पुरुषों में (उन चेष्टाओं का) रति आदि स्थायी भाव के साथ नियत सम्बन्ध (=अविनाभाव) देखा जाता है। जब काव्य में भी उसी प्रकार का वर्णन होता है तो रति आदि भाव के बिना न रह सकने वाली जो चेष्टायें हैं उनके वाचक शब्द सुने जाते हैं और उन शब्दों के वाच्य अर्थ (चेष्टाओं) के साथ नियत रूप से रहने के कारण लक्षणा द्वारा रति आदि भाव की प्रतीति हो जाती है। काव्यार्थ रस की भावना कैसे कराता है यह आगे बतलायेंगे।

(४७) रस स एव स्वाद्यत्वाद्रसिकस्यैव वर्तनात ।
नानुकार्यस्य वृत्तत्वात्काव्यस्यातत्परत्वत ॥३८॥
द्रष्ट प्रतीतिर्व्रीडेर्ष्यारागद्वेषप्रसङ्गत ।
लौकिकस्य स्वरमणीसंयुक्तस्येव दर्शनात ॥३९॥

टिप्पणी—तथाविधचेष्टा —रति आदि भाव से उत्पन्न होने वाली चेष्टा अनुभाव इत्यादि । **रत्याद्यविनाभावदर्शनात०**—इत्यादि मे मीमासक की प्रक्रिया के अनुसार यह दिखलाया गया है कि का य के श दो से लक्षणा द्वारा रति आदि भावो की प्रतीति होती है । कुमारिल भट्ट के अनुसार अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिलक्षणोच्यते (मि० का० प्र० २ १२) यह लक्षणा का स्वरूप है । प्रथमत रति आदि से उत्पन्न होने वाली चेष्टाओ से युक्त स्त्री पुरुषो मे इस प्रकार के अविनाभाव सम्बन्ध (व्याप्ति) का ग्रहण किया जाता है कि ये चेष्टाए रति आदि भाव के बिना नही हुआ करती (अथवा जहा जहाँ उस प्रकार की चेष्टाए होती है वहा रति आदि भाव अवश्य होता है) । फिर काव्य मे रति आदि की अविनाभावी चेष्टाओ के वाचक शब्द सुनकर उनका अर्थ समझ लिया जाता है और उन अर्थों (चेष्टाओ) के साथ रति आदि का अविनाभाव सम्बन्ध है अत रति आदि की प्रतीति हो जाती है रत्याद्यविनाभूत चेष्टादि० इस कथन से व्याप्ति स्मरण और पक्ष धर्मता दिखलाई गई है, काव्यप्रकाश २ १२ के अनुसार कुमारिल के वचन मे अविनाभाव का अर्थ व्याप्ति नही है] । **लाक्षणिकी**—काव्य के शब्दो द्वारा अभिधा से चेष्टा आदि (अनुभाव इत्यादि) का बोध होता है चेष्टा आदि अभिधेय हैं । उस चेष्टा आदि के साथ नियत रूप से रहने वाले रति आदि भाव का बोध लक्षणा द्वारा होता है वह प्रतीति लाक्षणिकी (लक्षणाजन्य) है ।

रस का आश्रय

वह (काव्यार्थ से भावित रति आदि स्थायी भाव) ही रस है, क्योकि उसका आस्वादन किया जाता है (रस्यते स्वाद्यते इति रस) । यह (रस) रसिक के हृदय मे रहता है, क्योकि रसिक ही (रस प्रतीति के समय) विद्यमान होता है । अनुकार्य (राम, दुष्यन्त आदि) के हृदय मे यह नही होता, क्योकि वे तो अतीत काल मे थे (काव्य या नाटक के समय नही है) । और, काव्य उनके (रसास्वादन के) लिये रचा भी नही जाता ॥३८॥ (यदि अनुकार्य राम आदि मे रस माना जाये तो) जिस प्रकार अपनी रमणी से युक्त किसी लौकिक पुरुष को देखकर हुआ करता है उसी प्रकार अभिनय के दर्शक (या काव्य के श्रोता अथवा पाठक) को (इसमे रति भाव है इस प्रकार की) प्रतीति मात्र होगी (रसास्वादन न होगा) अथवा लज्जा ईर्ष्या राग द्वेष आदि होने लगेगे ॥३९॥

टिप्पणी—भा० प्र० (पृ० १५२), ना० द० (३ ६३ वृत्ति, सा० द०, अनुकार्यस्य रत्यादेरुद्बोधो न रसो भवेत (३ १८) ।

का-यार्थोपप्लावितो रसिकवर्ती रत्यादि स्थायी भाव स इति प्रतिनिर्दिश्यते, स च स्वाद्यता निभरान दसविदात्मतामापाद्यमानो रसो रसिकवर्तीति वतमानत्वात्, नानुकायरामादिवर्ती वत्तत्वात्तस्य ।

अथ शब्दोपहितरूपत्वेनावतमानस्यापि वतमानवदवभासनमिष्यत एव तथापि तदवभासस्यास्मदादिभिरनुभूयमानत्वादसत्समतवाऽऽस्वाद प्रति विभावत्वेन तु रामादे वतमानवदवभासनमिष्यत एव । किञ्च न का-य रामादीना रसोपजननाय कविभि प्रवत्यते, अपि तु सहृदयानान दयितुम् । स च स स्तभावकस्वसवेद्य एव ।

यदि चानुकायस्य रामदे शृगार स्यात्ततो नाटकादौ तद्दशनेन लौकिके इव नायके शृङ्गारिणि स्वका तासयुक्ते दृश्यमाने शृङ्गारवानयमिति प्रेक्षकाणा प्रतीतिमात्र भवेन्न रसाना स्वाद सत्पुरुषाणा च लज्जा इतरेषा त्वसूयानुरागाप-

---

यहा (रस स एव इत्यादि कारिका से) स (वह) शब्द से उस रति आदि स्थायी भाव का निर्देश किया गया है जो रसिको के हृदय मे रहता और का याथ (विभाव आदि) के द्वारा उदभाविन हुआ करता है। वह रति आदि भाव ही आस्वादन का विषय होकर अर्थात् पूण आनन्दानुभूति के रूप मे आकर रस कहलाता है। वह (रस) रसिक हृदय मे रहता है, क्योकि (रस प्रतीति के समय) रसिक ही विद्यमान होता है। अनुकाय (राम आदि) मे वह नहीं रहता, क्योकि (रस प्रतीति के समय) वे तो हो चुके होते हैं।

यद्यपि यह ठीक है कि अनुकाय राम आदि विद्यमान न होकर भी विद्यमान के समान प्रतीत हुआ करते हैं क्योंकि (का-य के) श-दो द्वारा उनका रूप उपस्थित हो जाता हैं तथापि हम लोगो (सामाजिको) को ही उनका विद्यमान के समान आभास होता है, वस्तुत रसास्वादन के लिये तो वे अविद्यमान ही होते है। हा विभाव रूप मे तो राम आदि की विद्यमान के समान प्रतीति अभीष्ट ही है। दूसरी बात यह भी है कि कवियो ने राम आदि को रसास्वादन कराने के लिये काव्य रचना नही की है अपि तु सहृदय जनो को आनन्दित करने के लिये ही। और वह रस समस्त सहृदय जनो की अपनी अनुभूति का विषय हुआ करता है।

किञ्च यदि यह माना जाये कि अनुकाय राम आदि को शृङ्गार (रति भाव) आदि की प्रतीति होती है तो जिस प्रकार किसी लौकिक व्यक्ति को अपनी प्रिया से युक्त देखकर केवल यह शृङ्गार युक्त है इस प्रकार की प्रतीति हुआ करती है, उसी प्रकार नाटक के दशको (अथवा काव्य के पाठको) को भी 'यह शृङ्गारी है यही प्रतीति हुआ करेगी रस का आस्वादन न होगा। और (राम आदि रति भाव से युक्त हैं) इस प्रकार की प्रतीति से सत्पुरुषो को लज्जा होगी तथा अन्य जनो को (स्वभाव के अनुसार) ईर्ष्या राग एव (नायिका के) अपहरण की इच्छा आदि होने लगेंगे।

हारेच्छादय प्रमज्येरन् । एव च सति रसादीना व्यङ्ग्यत्वमपास्तम् । अ यतो लब्ध सत्ताक वस्त्वन्येनापि यज्यते प्रदीपेनेव घटादि, न तु तदानीमेवाभि यञ्जकत्वाभि मतरापाद्यस्वभावम् । भा य ते च विभावादिभि प्रक्षकेषु रसा इत्यावेदितमेव ।

और ऐसा सिद्ध हो जाने पर (कि का य के द्वारा रसिक के हृदय मे भावित रति आदि भाव ही रस हैं) रस आदि व्यङ्ग्य होते हैं इस मत का भी निराकरण हो गया । जो वस्तु पहिले किसी अ य कारण से उत्पन्न हो चुकती है (लब्धसत्ताकम =लब्धा सत्ता येन तत्) वह किसी दूसरे निमित्त के द्वारा यङ्ग्य हुआ करती है जसे घट आदि (जो पहले से ही विद्यमान होता है) दीपक के द्वारा व्यङ्ग्य (व्यञ्जनीय) हुआ करता है । दूसरी ओर वह वस्तु तो यङ्ग्य नहीं कहलाती जिसका स्वरूप (स्वभाव) अभिव्यञ्जक रूप मे माने गये कारणो क द्वारा उसी (यञ्जना क) समय उत्प न किया जाता है । और (रस क स्थल मे यही बात है क्योकि) विभाव आदि के द्वारा सामाजिको के चित्त मे रस की भावना कराई जाती है यह पहिले ही बतलाया जा चुका है ।

टिप्पणी—(१) अभिनय से सम्बन्ध रखने वाले तीन प्रकार के व्यक्ति हो सकते हैं—एक अनुकाय (राम दुष्यन्त आदि जिनका अभिनेता लोग अनुकरण करते हैं) दूसरे अनुकरता (नट नतक) और तीसरे सामाजिक (दशक श्रोता आदि) । इनमे से रस का आस्वादन किसे होता है ? इस विषय मे साहित्य शास्त्र के ग्र थो मे विचार किया गया है । यह भी ध्यान रखने योग्य है कि इस स दर्भ मे रस का अथ है नाट्य का का य से भावित आन द । इस रस का आस्वादन सहृदय सामाजिक (रसिक) को हुआ करता है इसमे प्राय सभी एक मत है । वस्तुत नाट्य की योजना या काव्य की रचना दशक या पाठक (श्रोता) के रसास्वादन के लिये ही की जाती है । वही अभिनय आदि के समय विद्यमान होता है अत उसको रस का आस्वादन होता है । अनुकाय राम आदि को रस का आस्वादन नही होता । क्यो ? इसके लिये दशरूपक मे तीन हेतु प्रस्तुत किये गये हैं—(i) अनुकायस्य वृत्तत्वात् (ii) क व्यस्यातत्परत्वत, (iii) द्रष्टु दर्शनात् (द्र० अवलोक टीका तथा अनुवाद) । हाँ दशरूपक के अनुसार नट (अभिनेता) को भी रस का आस्वादन हो सकता है यदि वह काव्याथ की भावना करता है । जसा कि सा० द० (३ १९) मे बतलाया गया है उस समय नट भी सहृदय (रसिक) की श्रेणी मे ही आ जाता है । अत रसिक को ही रस का आस्वादन होता है (रसिकस्यव) यह निर्विवाद है । (२) **काव्यार्थोपप्लाविन**—काव्याथ के द्वारा भावित । **शब्दोपहित रूपत्वेन**—द्र० ऊपर ४ २, अवलोक टीका तथा टिप्पणी । **आपाद्यस्वभावम्**= लब्ध्य सत्ताकम् (प्रभा) वह वस्तु जो तथाकथित अभिव्यञ्जको के द्वारा अपना रूप प्राप्त करती है अर्थात् जो उनसे अभिव्यक्त नही होती अपितु उत्प न होती है । **भाव्यन्ते च०**—भाव यह है कि विभाव आदि के सयोग से रसिक के चित्त मे स्थित रति आदि स्थायी भाव आस्वादन के योग्य हो जाता है वही रस कहलाता है । ऐसा नही होता कि रस नामक वस्तु पहिले से रसिक के चित्त मे विद्यमान होती है और विभाव आदि के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति हुआ करती है । इसलिये रस को व्यङ्ग्य नही कहा जा सकता ।

ननु च सामाजिकाश्रयेषु रसेषु को विभाव कथ च सीतादीना देवीना विभावत्वेनाऽविराधी ? उच्यते—

(४८) धीरोदात्ताद्यवस्थाना रामादि प्रतिपादक ।
विभावयति रत्यादी स्वद न्त रसिकस्य त ॥४०॥

नहि कवयो योगिन इव ध्यानचक्षुषा ध्यात्वा प्रातिस्विकी रामादीनामवस्थामितिहासवदुपनिबध्नन्ति किं तर्हि ? सवलोकसाधारण स्वोत्प्रेक्षाकृतसन्निधी धीरोदात्ताद्यवस्था क्वचिदाश्रयमात्रदायिनी (वि) दधति ।

(४९) ता एव च परित्यक्तविशेषा रसहेतव ।

तत्र सीतादिशब्दा परित्यक्तजनकतनयादिविशेषा स्त्रीमात्रवाचिन किमिवानिष्ट कुर्यु ?

(प्रश्न) सामाजिको मे रहने वाले रसो का विभाव क्या होता है ? और सीता आदि (पूज्य) देवियो को (सामाजिकों के रतिभाव का) आलम्बन विभाव मानने मे दोष (विरोध) क्यो नहीं होता ? इस पर कहा जाता है—(उत्तर)

(नाटक आदि मे अभिनीत) राम इत्यादि धीरोदात्त आदि अवस्थाओ को दिखलाने वाले होते है। व रति आदि भावो को (सामाजिक के चित्त मे) भावित करते है और उन रति आदि भावो का (=ते) सहृदय सामाजिक के द्वारा आस्वादन किया जाता है ॥४०॥

भाव यह है कि कविजन योगियो के समान ध्यानचक्षु से देखकर काव्य मे इतिहास आदि की भाति राम आदि की यक्तिगत अवस्था का वर्णन नहीं करते। तो फिर कवि क्या करते हैं ? वे ऐसी धीरोदात्त आदि अवस्थाओ का वर्णन करते हैं (विदधति) जो सभी (धीरोदात्त आदि) जनो मे साधारण होती हैं और जिनकी योजना कवि अपनी कल्पना से करता है केवल किसी (राम आदि) व्यक्ति को उनका आश्रय बना लेता है।

और, (राम आदि की) निजी विशेषताओ से रहित वे (उदात्त आदि अवस्थाए=ता) ही रस के निमित्त हुआ करती हैं।

इस प्रकार (काव्य मे) सीता आदि शब्द जनकपुत्री होना इत्यादि विशेषताओ को छोडकर केवल स्त्रीमात्र के वाचक होते हैं। फिर क्या दोष (=अनिष्ट) हो सकता है ? (अर्थात् सीता आदि पूज्य देविया सामाजिको का आलम्बन विभाव कसे होंगी, यह दोष नहीं होता)

टिप्पणी—(१) प्रश्न है कि सीता आदि देविया तो पूज्य हैं वे सामाजिक की रति का आलम्बन नही हो सकता। इसका उत्तर दशरूपक (४ ४० ४१) तथा टीका मे दिया गया है। भाव यह है कि कविजन जा राम आदि का वर्णन करते हैं वह इतिहास आदि के समान राम आदि का व्यक्तिगत वर्णन नही होता अपितु धीरोदात्त आदि अवस्था के प्रतीक रूप मे उनका वर्णन होता है। जब कवि को धीरोदात्त

किमथ तह्य ुपादीय त इति चेत् ? उच्यते—

(५०) क्रीडता म मयय द्वदबालाना द्विरदादिभि ॥४१॥

स्वोत्साह स्वदते तद्वच्छोतणामजुनादिभि ।

एतदुक्त भवति–नात्र लौकिकश्रृङ्गारादिवत्स्त्र्यादिविभावादीनामुपयोग , कि तर्हि प्रतिपादितप्रकारेण लौकिकरसविलक्षणत्व नाट्यरसानाम् । यदाह— अष्टौ नट्यरसा स्मृता इति ।

अवस्था के किसी नायक का वणन करना होता है तो वह इतिहास आदि तथा लोकवृत्त से प्राप्त अनुभव के आधार पर अपनी उवरा कल्पना से धीरोदात्त नायक के भावो तथा कार्यो की उद्भावना कर लेता है और उसका चरित्र चित्रण कर देता है। वह चित्रण राम यक्ति का नही अपितु साधारणत किसी भी धीरोदात्त नायक का हुआ करता है। राम आदि को तो उसका आश्रय बना लिया जाता है, क्योकि किसी यक्तिविशेष का आश्रय लिये बिना सामा य अवस्था का तो चित्रण किया नही जा सकता। इसी प्रकार का यगत या नाट्यगत सीता आदि भी केवल प्रतीक मात्र होती हैं वहाँ वे जनक पुत्री सीता या राम की पत्नी सीता के रूप मे नही होती। वे अपनी यक्तिगत विशेषताओ को छोडकर (परित्यक्तविशेषा) स्त्रीमात्र के रूप मे रस का निमित्त हुआ करती है तथा कोई दोष नही आता। (२) **स्वद त**=आस्वादन के विषय होते है। **प्रातिस्विकीम्**=किसी एक यक्ति से सम्ब ध रखने वाली व्यक्तिगत अवस्था को। **सवलोकसाधारणा**=सभी व्यक्तियो मे हो सकने वाली सभी धीरोदात्त आदि नायको मे समान रूप से रहने वाली (अवस्थाओ को)। **ता**=सीताद्या (प्रभा) वस्तुत ऐसा प्रतीत होता है कि ता=धीरोदत्ताद्यवस्था क्योकि पहिली कारिका मे धीरोदात्तादि अवस्थाओ का वणन है। **परि यक्तविशेषा**=साधारणीकृता सामा यतो नायिकादिरूपेणो पस्थिता (प्रभा), वस्तुत यक्तिगत विशेषताओ से रहित केवल धीरोदात्त इत्यादि अवस्थाए। ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार के कथन से काव्य द्वारा विभाव आदि का साधारणीकरण बतलाया गया है [मि० विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण—भट्टनायक, का० प्र०]।

(प्रश्न) [जब काव्य मे सीता आदि यक्तिविशेष के वाचक नहीं अपितु स्त्रीमात्र के वाचक हैं] तब सीता आदि का ग्रहण क्यो किया जाता है ? उत्तर है—

श्रोतागण को अजु न आदि (पात्रो) के द्वारा उसी प्रकार अपने उ साह का आस्वादन होता है जिस प्रकार खेलने वाले बालको को मिट्टी से बने हाथी इत्यादि के द्वारा अपने उत्साह का) ॥४१॥

यह कहा जा सकता है कि काव्य नाटय के रसास्वादन मे (अत्र) लौकिक रतिभाव के समान स्त्री आदि विभावो का उपयोग नहीं होता, प्रत्युत, जसा कि बतलाया जा चुका है, नाटय रस लौकिक रस से विलक्षण होते हैं। (भरत ने ना० शा० ६ १५ मे) कहा भी है—'नाटय मे आठ रस माने जाते हैं'।

(५१) काव्यार्थभावनास्वादो नर्तकस्य न वार्यते ॥४२॥

नर्तकोऽपि न लौकिकरसेन रसवान् भवति तदानीं भोग्यत्वेन स्वमहिलादेरग्रहणात् काव्यार्थभावनया त्वस्मदादिवत्काव्यरसास्वादोऽस्यापि न वार्यते ।

टिप्पणी—स्वोत्साह स्वदते—अपने उत्साह का आस्वादन होता है। जब रसिक जन काव्य मे अर्जुन आदि वीरो का वर्णन सुनते है तो उनकी बुद्धि मे उत्साहयुक्त अर्जुन आदि का रूप उपस्थित हो जाया करता है (द्र० शब्दोपहित रूपास्तान् ऊपर ४ २ टीका) और अर्जुन आदि के सम्बन्ध मे वर्णित विभाव आदि से ससृष्ट उत्साह (स्थायी भाव) के साथ सामाजिक के चित्त की तन्मयता (=सभेद) हो जाती है। इस प्रकार रसिक जन अपने ही उत्साह का आस्वादन किया करते हैं। सामाजिक के रसास्वादन मे उस व्यक्ति के लौकिक रूप की अपेक्षा नही होती जिसके प्रति अर्जुन का उत्साह भाव है (=विभाव) अपि तु शब्दो द्वारा सामाजिक की बुद्धि मे उपस्थित होने वाले विभाव ही रसास्वादन के निमित्त हो जाया करते है। श्रृङ्गार मे भी यही बात है। वहा भी लौकिक श्रृङ्गार के समान स्त्री आदि आलम्बन विभाव इत्यादि नही हुआ करते अपि तु शब्दो द्वारा सामाजिक की बुद्धि स्थित विभाव आदि ही रसास्वादन के निमित्त हुआ करते है। **लौकिकरसविलक्षणत्वम्**—भाव यह है कि काव्य रस लौकिक रस से विलक्षण होते हैं इसलिये वहाँ नायिका इत्यादि की अपने रूप से उपस्थिति अपेक्षित नही होती।

इस प्रकार मुख्य रूप से रसिक (सहृदय सामाजिक) को ही रस का आस्वादन हुआ करता है उसको रसास्वादन कराने के लिये ही काव्य रचना की जाती है किन्तु—

काव्यार्थ की भावना से नर्तक (नट=अभिनेता) को भी रस का आस्वादन हो सकता है इसका निषेध नही किया जा सकता ॥४२॥

भाव यह है कि नर्तक (नट) को भी लौकिक रस (रति भाव आदि) से रस युक्त नहीं माना जा सकता, क्योकि उस समय वह भोग्य रूप मे अपनी स्त्री आदि का ग्रहण नहीं करता। किन्तु नर्तक को भी सामाजिक के समान (अस्मदादिवत=हमारे समान) काव्यार्थ की भावना से रस का आस्वादन हुआ करता है इस बात से नकार नही किया जा सकता।

टिप्पणी—(१) रस का आस्वादन किसे होता है? इस विषय मे विशेष द्रष्टव्य अभि०भा०(ना०शा०६ ३३) भा०प्र० षष्ठ अधिकार (पृ० १५२–१५४), ना० द० (३ १६३ वृत्ति), सा० द० (३ १८—)। (२) **काव्यार्थभावनया**—काव्यार्थ के साथ तन्मयता होने से भाव यह है कि यदि नट रसिक है तो उसे भी रसास्वादन हो सकता है, अन्यथा नही।

कथ च का यात्स्वान दोद्भूति किमात्मा चासाविति युत्पाद्यते—

(५२) स्वाद काव्याथ सम्भेदादात्मान दसमूद्भव ।
विकासविस्तरक्षोभविक्षप स चतुर्विध ॥ ४३ ॥
शृङ्गारवीरबीभत्सरौद्रष मनस क्रमात ।
हास्य।द्भुतभयोत्कषकरुणाना त एव हि ॥ ४४ ॥
अतस्तज्ज यता तेषामत एवावधारणम ।

काव्यार्थेन = विभावान्सिसृष्टस्थाय्यात्मकेन भावकचेतस सम्भेदे = अ यो । सवलने प्र यस्तमिस्वपरविभागे सति प्रबलतरस्वान दोदभूति स्वाद । तस्य च सामा यात्मकत्वेऽपि प्रतिनियतविभावादिकारणज येन सम्भेदेन चतुर्धा चित्तभूमयो भवन्ति । तद्यथा—शृङ्गारे विकास वीरे विस्तर बीभत्से क्षोभ, रौद्रे विक्षेप इति । तद येषा चतुर्णां हास्याद्भुतभयानककरुणाना स्वसामग्रील धपरिपोषाणा त एव चत्वारो विकासाद्याश्चेतस सम्भेदा अत एव—

रस की प्रक्रिया तथा स्वरूप

अब यह प्रतिपादित किया जाता है कि काव्य से किस प्रकार अपने ही आनन्द की अनुभूति (रसास्वादन) होती है और उस (रस) का स्वरूप क्या है।

काव्याथ के साथ त मयता (सभेद = एकतानता) के द्वारा जो अपने आन द का अनुभव होता है, वही स्वाद (रस) कहलाता है। वह स्वाद चार प्रकार का होता है—चित्त का विकास विस्तार क्षोभ और विक्षप, जो क्रमश शृङ्गार वीर, बीभत्स और रौद्र मे हुआ करते है। हास्य अद्भुत, भयानक (= भयोत्कष) और करुण रस मे भी क्रमश ये (विकास आदि) चारो ही होते है ॥ ४३–४४ ॥ इसीलिये हास्य आदि रसो को (क्रमश) करुण आदि से उत्प न होने वाला (जन्य) कह दिया जाता है। और इसी हेतु से (आठ ही रस है, इसी प्रकार का) नियम भी किया जाता है।

काव्याथ का अभिप्राय है—विभाव आदि से सयुक्त स्थायी भाव। उसके साथ सहृदय (भावक) के चित्त का सभेद होता है। सभेद का अथ है—एक दूसरे का परस्पर घुल मिल जाना (एकात्मता त मयता एकतानता), अर्थात् (काव्य मे वर्णित विभाव आदि से सयुक्त स्थायी भाव के विषय मे) सहृदय का यह मेरा है या पराया इस प्रकार का भेद ही नष्ट हो जाता है। ऐसा होने पर जो उत्कृष्ट आत्मान द की प्राप्ति होती है वही स्वाद कहलाता है। यद्यपि वह स्वाद (सभी रसो मे) समान रूप से होता है तथापि प्रत्येक रस मे अपने अपने विभाव आदि कारणो से उत्प न चित्त का सभेद (त मयता) हुआ करता है इसलिये चित्त की चार प्रकार की अवस्थाए हो जाती है। जैसे कि शृङ्गार रस मे चित्त का विकास होता है, वीर रस मे विस्तार, बीभत्स मे क्षोभ और रौद्र मे विक्षप। इनसे भिन्न

शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रस ।
वीराच्चवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानक ॥

इति हेतुहेतुमद्भाव एव सम्भे-ापक्षया दर्शितो न क यकारणभावाभिप्रायेण तेषा कारणा तरज यत्वात् ।

शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्य इति कीर्तित ।

इत्यादिना विकासादिसम्भेदक वस्यव स्फु ीकरणा त् । अवधारणमप्यत एव अष्टौ' इति सम्भदा तराणामभावात ।

जो हास्य अदभूत भयानक और करुण रस है जिनकी पुष्टि अपनी अपनी कारण सामग्री (विभाव आदि) से होती है उनमें भी विकास आदि चित्त की चार अवस्थाएँ हुआ करती हैं। इसीलिये (भरतमुनि ने ना० शा० ६ ६) कहा है— शृङ्गार से हास्य होता है और रौद्र से करुण रस। वीररस से अदभत रस की उत्पत्ति होती है और बीभत्स से भयानक की ।

यहा चित्त सभेद की अपेक्षा से ही शृङ्गार आदि को हेतु तथा हास्य आदि को हेतुमान (काय) कहा गया है कायकरणभाव के अभिप्राय से नहीं [ऐसा नहीं कि शृङ्गार आदि कारण हैं और हास्य आदि उनके काय], क्योंकि वे हास्य आदि तो अ य कारणो (अपने विभाव आदि) से उत्प न हुआ करते हैं (शृङ्गार आदि से नहीं)। दूसरे स्थल (ना० शा० ६ ४०) पर भी शृङ्गार की अनुकृति है वह हास्य कहा जाता है इत्यादि कथन के द्वारा (शृङ्गार तथा हास्य आदि मे) विकास आदि चित्त सभेद की एकता को ही स्पष्ट रूप में बतलाया गया है। और (चित्त के सभेद की चार अवस्थाए हैं तथा एक एक अवस्था का दो दो रसो से सम्ब ध है) इसीलिये आठ ही रस है इस प्रकार का अवधारण किया गया है इन चार से भि न तो चित्त की त मयता (सभेद) की अवस्थाएँ नहीं होती ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (६ ३९–४१)।

(२) स्वाद=रस। का याथ=विभाव अनुभाव यभिचारी भाव से ससृष्ट स्थायी भाव का य मे विभाव आदि पदाथ के समान हैं और उनसे सयुक्त स्थायी भाव वाक्याथ के समान अत सयुक्त स्थायी भाव ही का याथ है (द्र० ऊपर ४ ३७)। सभेद=अ यो यसवलन=प्रत्यस्तमितस्वपरविभाग—एक दूसरे मे घुल मिल जाना यह मैं हूँ यह दूसरा है इस प्रकार के भेद का समाप्त हो जाना, त मयता। आत्मान दसमुदभव=आत्मान द की उत्पत्ति या अनुभूति, आत्मा=स्व (Self) अपने चित्त मे विद्यमान रति आदि भाव के आन द की प्राप्ति । इस प्रकार सक्षेप मे रस प्रक्रिया यह है—काव्य के प्रतिपाद्य विभाव आदि से सयुक्त रति आदि स्थायी भाव के साथ रसिक जनो के चित्त मे विद्यमान रति आदि भाव की त मयता (सभेद) हो जाती है और रसिक जन अपने ही रति आदि भाव का आस्वादन करने लगते है (विशेष द्र० आगे ४ ४६)। (कारिका मे) अतत्सज्ज यता—

ननु च युक्तं शृङ्गारवीरहास्यादिषु प्रमोदात्मकेषु वाक्यार्थसम्भेदात् आनन्दोद्भव इति करुणादौ तु दुःखात्मके कथमिवासौ प्रादुष्यात ? तथाहि—तत्र करुणात्मककाव्यश्रवणाद् दुःखाविर्भावोऽश्रुपातादयश्च रसिकानामपि प्रादुर्भवन्ति न चैतदानन्दात्मकत्वे सति युज्यते। सत्यमेतत् किन्तु तादृश एवासावानन्दः सुखदुःखात्मको यथा प्रहरणादिषु सम्भोगावस्थायां कुट्टमिते स्त्रीणाम् अन्यश्च लौकिकात्करुणात्काव्यकरुणः तथा ह्यत्रोत्तरोत्तरा रसिकानां प्रवृत्तयः। यदि च लौकिककरुणवद् दुःखात्मकत्वमेवेह स्यात्तदा न कश्चिदत्र प्रवर्तेत ततः करुणैकरसानां रामायणादिमहाप्रबन्धानामुच्छेद एव भवेत्। अश्रुपातादयश्चेतिवृत्तवर्णनाकर्णनेन विनिपातितेषु लौकिकवैक्लव्यदर्शनादिवत् प्रेक्षकाणां प्रादुर्भवन्तो न विरुध्यन्ते तस्माद्रसान्तरवत्करुणस्याप्यानन्दात्मकत्वमेव।

क्योंकि जिस प्रकार शृङ्गार में चित्त का विकास होता है उसी प्रकार हास्य में भी इसलिये हास्य को शृङ्गार से उत्पन्न (शृङ्गाराद् हि भवेद् हास्यः इत्यादि) कह दिया जाता है। अत एव=क्योंकि चित्त की विकास इत्यादि चार भूमियां होती हैं तथा प्रत्येक के साथ दो दो रसों का सम्बन्ध है इसलिये आठ ही रस हैं यह अवधारण किया गया है। तस्य०—आस्वाद के। यद्यपि वह आस्वाद सभी रसों में समान रूप से हुआ करता है तथापि प्रत्येक रस के विभाव आदि पृथक् पृथक् होते हैं अतः रसिक के चित्त की तन्मयता (सभेद) भी भिन्न भिन्न प्रकार की हो जाती है। इसलिये भिन्न भिन्न रस माने जाते हैं। हेतुहेतुमद०— हेतुहेतुमदभावः सम्भेदापेक्षया एव दर्शितः' यह अन्वय है।

सभी रसों की आनन्दरूपता

(शङ्का) शृङ्गार वीर तथा हास्य आदि के स्थलों पर वाक्यार्थ के साथ सहृदय के चित्त की तन्मयता (सभेद) होने से आनन्द की उत्पत्ति हो सकती है यह तो ठीक है क्योंकि वे (शृङ्गार आदि) सुखात्मक हैं किन्तु करुण आदि में आनन्द की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? वे तो दुःखात्मक है, क्योंकि करुण रस का काव्य सुनने से सहृदयों (के चित्त) में दुःख उत्पन्न होता है तथा अश्रुपात आदि होते है। यदि करुण रस सुखात्मक होता तो ऐसा न हुआ करता।

(समाधान) यह ठीक है (कि करुण रस का काव्य सुनने से सहृदयों को दुःख होता है और अश्रुपात आदि हो जाते है) किन्तु काव्य से उत्पन्न होने वाला यह आनन्द (रस) उसी प्रकार सुखदुःखात्मक होता है जिस प्रकार सुरतावस्था में प्रहार आदि होने पर स्त्रियों के कुट्टमित (आनन्दपूर्वक कोप) में होने वाला आनन्द सुखदुःखात्मक होता है। दूसरी बात यह भी है कि लौकिक करुण से काव्य का करुण रस भिन्न होता है। इसीलिये काव्य के करुण रस में सहृदयों की पुनः पुनः प्रवृत्ति हुआ करती है। यदि लौकिक करुण के समान काव्य में (इह) भी करुण रस दुःखात्मक ही होता तो कोई भी (सहृदय जन) इसमें प्रवृत्त न होता।

इस प्रकार जिनमे करुण रस की प्रधानता है ऐसे रामायण आदि महाकाव्यो का उच्छेद ही हो जाता। जहा तक अश्रुपात आदि की बात है) जिस प्रकार दु खित व्यक्तियो को देखकर (विनिपातितेषु=दलित) लोक मे हृदय का द्रवित होना (वैक्लव्य) देखा जाता है उसी प्रकार कथा के वर्णन को सुनने से दर्शको (या श्रोताओ) को अश्रुपात आदि हो जाते हैं, इनमे कोई विरोध नहीं है। इस प्रकार अन्य रसो के समान करुण भी आनन्दात्मक ही है।

टिप्पणी—(१) द्र० अभि भा० (पृ० २७६ तथा सर्वेऽमी सुखप्रधाना, पृ० २८९) ना० द० (३ १६३) सा० द० (३ ५—७) शृङ्गारप्रकाश तथा रस कलिका इत्यादि। (२) सभी रस सुखात्मक है या नही इस विषय मे मुख्य रूप से चार मत हैं —

(i) सभी रस सुखात्मक हैं—साहित्यदर्पण आदि।

(ii) सभी रस सुखात्मक है—अभि० भा० (पृ० २७६ अज्ञात आचार्य का मत रसा हि सुखदुःखरूपा शृ० प्र० भाग २ पृ० ५६६ तथा रस कलिका।

(iii) शृङ्गार हास्य वीर अद्भुत तथा शान्त रस सुखात्मक है किन्तु रौद्र बीभत्स, भयानक और करुण रस दु खात्मक हैं—नाट्यदर्पण (३ १६३)।

(vi) शृङ्गार आदि रस सुखात्मक है किन्तु करुण आदि सुख दु खात्मक है।

आचार्य विश्वेश्वर का विचार है कि वस्तुत नाट्यदर्पणकार इस चतुर्थ मत को ही मानते होगे (ना० द० भूमिका पृ० ९५)। धनिक ने सभी रसो को आनन्दात्मक माना है अत करुण आदि को भी आनन्दात्मक बतलाया है। किन्तु करुण मे होने वाले आनन्द को सुखदु खात्मक कहा है— तादृश एवासावानन्द सुखदु खात्मक। इस प्रकार धनिक उपर्युक्त मतो मे से चतुर्थ मत को मानने वाले प्रतीत होते हैं। करुण आदि सुखदु खात्मक होते हुए भी आनन्दात्मक होते हैं। इस कथन से लौकिक सुख तथा काव्यानन्द का अन्तर प्रकट होता है। वस्तुत रसात्मक स्वाद लौकिक सुख दु ख की अपेक्षा विलक्षण ही होता है। (३) साहित्यदर्पणकार ने भी प्राय इसी प्रकार की युक्तियो के आधार पर करुण आदि को सुखात्मक कहा है। साथ ही यह भी बतलाया है—सचेतसामनुभव प्रमाण तत्र केवलम्, सहृदयो का अनुभव ही इसमे प्रमाण है कि करुण आदि रस सुखात्मक होते हैं। (४) **कुट्टमितेषु**—कुट्टमित युवतियो का सात्त्विक अलङ्कार है (द्र० ऊपर २४०)। **विनिपातितेषु**=दु ख प्राप्तेषु (प्रभा) गिराये हुओ, सताये हुओ के विषय मे, **वैक्लव्यम्**=शोकावेग (प्रभा)।

शा तरसस्य चाऽनभिनयत्वात् यद्यपि नाट्य ऽनुप्रवेशो नास्ति तथापि सूक्ष्मा तीतादिवस्तूना सर्वेषामपि श दप्रतिपाद्यताया विद्यमानत्वात का यविषयत्व न निवा यते अतस्तदुच्यते—

(५३) शमप्रकर्षोऽनिर्वाच्यो मुदितादेस्तदात्मदा ।।४५।।

शान्तो हि यदि तावत—

'न यत्र दु ख न सूख न चिन्ता न द्वषरागौ न च काचिदिच्छा ।
रसस्तु शा त कथितो मुनीन्द्र सर्वेषु भावेषु शमप्रधान ।।'

इत्येवलक्षणस्तदा तस्य मोक्षावस्थायामेवात्मस्वरूपापत्तिलक्षणाया प्रादुर्भावात्, तस्य च स्वरूपेणानिवचनीयता श्रुतिरति— स एस नति नेति इत्य यापोहरूपे णाह । न च तथाभूतस्य शान्तरसस्य सहृदया स्वादयितार सन्ति अथापि तदुपाय भूनो मुदितामत्रीकरुणोपेक्षादिलक्षणस्तस्य च विकासविस्तारक्षोभविक्षपरूपतवेति तदु क्त्यव शा तरसास्वादो निरूपिन ।

शान्त रस का भी विकास इत्यादि चार अवस्थाओ मे अन्तर्भाव —

शा त रस का अभिनय नहीं किया जा सकता इसलिये यद्यपि नाटय मे शान्त रस का प्रवेश नहीं होता (पुष्टिर्नाटयेषु नतस्य ४ ३५) तथापि सूक्ष्म तथा अतीत आदि सभी वस्तुओ का शब्द द्वारा प्रतिपादन किया जा सकता है अत शान्त रस भी काव्य का विषय होता है इस (तथ्य) का निषध नहीं किया जा सकता। इसीलिये यह कहा गया है—

यदि शम नामक स्थायी भाव का प्रकष शान्त रस होता है तो वह अनिवचनीय है (उसका स्वरूप नही बतलाया जा सकता) । कि तु (उसको प्रकट करने के उपाय) जो मुदिता (मत्री, करुणा तथा उपेक्षा) आदि है वे उन (विकास विस्तार क्षोभ तथा विक्षप नामक चित्त की अवस्थाओ) के स्वरूप मे ही होते है । [अत शा त रस का भी उपयुक्त चित्त की चार अवस्थाओ मे ही समावेश हो जाता है] ।

भाव यह हे कि यदि शा त रस का यह लक्षण माना जाये—'जहा न दु ख है न सुख है, न चिन्ता है न राग द्वष हैं और न ही कोई इच्छा है समस्त भावो मे शम की प्रधानता है, उसे श्रेष्ठ मुनिजनो ने शा त रस कहा है । तब तो उस (शा त रस) का प्रादुर्भाव उस मोक्ष अवस्था मे ही हो सकता है, जहा आत्म स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है । और, वह (आत्मा) स्वरूपत अनिवचनीय है यह बात श्रुति ने भी अन्याव्यावत्ति के रूप मे कही है कि वह (आत्म स्वरूप) यह नहीं है यह नहीं है । और उस प्रकार के (अनिवचनीय) शा त रस का सहृदय जन आस्वादन नहीं कर सकते । किन्तु यदि (अथापि) उस (शम) के उपाय होने वाले मुदिता मत्री करुणा तथा उपेक्षा ही उस (शान्त) का स्वरूप है तब तो वह (शा त रस) भी विकास, विस्तार, क्षोभ तथा विक्षेप के रूप मे ही होगा । इसलिये उस (विकास आदि) के कथन द्वारा ही शान्त रस के आस्वादन का निरूपण कर दिया गया ।

टिप्पणी—(१) शान्त रस के विषय मे द्र०, ना० शा० तथा अभि० भा० (६ ८२ से आगे) का० प्र० (४ ३५) ना० द० (३ १७६), प्रता० (पृ० १६८) सा० द० (३ २४५ २५०)। (२) अभी० (कारिका ४३) यह बतलाया गया है कि काव्यार्थ से उत्पन्न होने वाला स्वाद (रस) चित्त के विकास आदि भेद से चार प्रकार का होता है। चित्त की इन चार अवस्थाओ म ही आठो रसो का समावेश हो जाता है। किन्तु प्रश्न यह है कि चार अवस्थाओ मे शान्त रस का समावेश कैसे होगा। यद्यपि नाट्य मे शान्त रस सम्भव नही है तथापि श्रव्य काव्य म तो वह होता ही है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए दो विकल्प किये गये है—वह शान्त रस शम भाव का प्रकर्ष (पुष्टि है अथवा शम के उपायभूत मुदिता आदि भावो का प्रकर्ष है ? यदि शम का प्रकर्ष शान्त रस है तो कहना यह है कि शम तो समस्त सुख दुःख आदि भावो के अभाव का नाम है। ऐसी अवस्था तो तभी प्राप्त हो सकती है जब मनुष्य आत्मरूप या ब्रह्मरूप म स्थित हो जाये—मुक्त हो जाये। उस स्थिति का वर्णन नही किया जा सकता। उसे तो श्रुति ने भी अनिर्वचनीय कहा है। फिर न तो लोक म ऐसे शम भाव का अनुभव करने वाले हो सकते हैं, न यह काव्य का विषय हो सकता है और न ही इसका आस्वादन करने वाले रसिक जन ही हो सकते है। इसलिये यदि दूसरा विकल्प माना जाये अर्थात् शम भाव के जो उपाय है मुदिता मैत्री करुणा तथा उपेक्षा (मि० योग सूत्र १ ३३), उनकी पुष्टि ही शान्त रस है तब तो कोई दोष नही आता क्योकि मुदिता आदि चारो भावो का क्रमश विकास आदि चित्त की चार अवस्थाओ मे समावेश हो ही जाता है। (यहा ग्रन्थ का अनुसरण करके ऐसी व्याख्या ही उचित प्रतीत होती है विद्वज्जन तथ्यातथ्य का स्वय निर्णय करेगे) (३) **तदात्मता**=तस्य शान्तरसस्यात्मलाभो जायते (प्रभा) वस्तुत मुदितादे विकासविस्तारक्षोभविक्षेपरूपता एव यह अर्थ प्रतीत होता है (द्र० अवलोक टीका तथा अनुवाद)। **तस्य १**=इत्येवलक्षणस्य शमप्रकर्ष रूप शान्त का। **तस्य २**=आत्मस्वरूपापत्तिलक्षणस्य आत्मस्वरूप प्राप्ति रूप का। **तस्य ३**=मुदितादिलक्षणस्य,मुदिता आदि रूप वाले का। **अन्यापोहरूपेण**—अन्य व्यावृत्ति के रूप मे अर्थात् आत्मस्वरूप को इस प्रकार नही बतलाया जा सकता है कि जिसे तुम आत्मा समझते हो वह आत्मा नही है, इससे भिन्न है, विलक्षण है। **तदुक्त्यैव**—विकास आदि के कथन द्वारा ही।

इदानी विभावादिविषयावान्तरकाव्यव्यापारप्रदर्शनपूर्वकं प्रकरणेनोपसंहारः प्रतिपाद्यते—

(५४) पदार्थैरिन्दुनिर्वेदरोमाञ्चादिस्वरूपकैः ।
काव्याद्विभावसञ्चार्यनुभावप्रख्यतां गतैः ॥४६॥
भावितः स्वदते स्थायी रसः स परिकीर्तितः ।

अतिशयोक्तिरूपकाव्यव्यापाराहितविशेषैश्चन्द्राद्यैरुद्दीपनविभावैः प्रमदाप्रभृतिभिरालम्बनविभावैर्निर्वेदादिभिर्व्यभिचारिभावैः रोमाञ्चाश्रुभ्रूक्षेपकटाक्षाद्यैरनुभावैरवान्तरव्यापारतया पदार्थीभूतैर्वाक्यार्थः स्थायीभावो विभावितः=भावरूपतामानीतः स्वदते स रस इति प्राक्प्रकरणे तात्पर्यम् ।

रस प्रक्रिया तथा रसस्वरूप का उपसंहार

अब विभाव आदि के विषय मे जो काव्य का अवान्तर व्यापार होता है उसको दिखलाते हुए प्रकरण का उपसंहार किया जाता है—

काव्य मे विभाव, सञ्चारी भाव तथा अनुभाव की संज्ञा को प्राप्त करने वाले क्रमशः चन्द्रमा, निर्वेद तथा रोमाञ्च आदि पदार्थों के द्वारा भावित रति आदि स्थायी भाव का जो आस्वादन किया जाता है, वही रस कहलाता है ॥४६॥

काव्य का व्यापार है अतिशयोक्ति=चमत्कारोत्पादक कथन । उसके द्वारा विशेषता (अलौकिकता या चमत्कार) प्राप्त करके चन्द्रमा आदि ही उद्दीपन विभाव कहलाते है, प्रमदा आदि ही आलम्बन विभाव, निर्वेद आदि ही व्यभिचारी भाव तथा रोमाञ्च, अश्रु, भ्रू विक्षेप और कटाक्ष इत्यादि ही अनुभाव कहलाते है । वे (विभाव आदि) काव्य के अवान्तर व्यापार के वाच्य होते हे अतएव वे पदार्थ के समान हुआ करते है (पदार्थीभूत) । उनसे भावित=भावना का विषय बनाया गया रति आदि स्थायी भाव ही (काव्य मे) वाक्यार्थ हुआ करता है जो आस्वाद्य होकर रस कहलाता है । इस प्रकार ऊपर के प्रकरण मे (इस कारिका का) तात्पर्य है ।

टिप्पणी—(१) रस प्रक्रिया तथा रसस्वरूप के लिये विशेष द्र० ना० शा० तथा अभि० भा० (६ ३१ ४५) का० प्र० (४ २७—३५) भा० प्र० (षष्ठोऽधिकार, पृ० १५२—१५४) ना० द० (३ १ ३—१६५), प्रता० (रसप्रकरण, पृ० १५५—१५८), सा० द० (३ १—२८) रसगङ्गाधर (रसप्रकरण) इत्यादि । (२) **अतिशयोक्तिरूपकाव्यव्यापार** =चमत्कारोत्पादक वर्णन करना ही काव्य का कार्य है मि० 'लोकोत्तर वर्णनानिपुणकविकर्म (का० प्र० १ २)। **आहितविशेष** =आहिता विशेषा अतिशया येषु तै, जिनमे विशेषता उत्पन्न कर दी गई है उनके द्वारा, विशिष्ट रूप मे हो जाने वालो के द्वारा । **अवान्तरव्यापार**=जिस प्रकार व्यवहार मे भाट्ट मीमासक की दृष्टि से वाक्यार्थ बोध मे दो प्रकार का व्यापार होता है एक अवान्तर व्यापार दूसरा प्रधान व्यापार। प्रथमत शब्द अभिधा वृत्ति से अपने अपने अर्थ (पदार्थ) का बोध कराते है यही

अवान्तरव्यापार है। फिर आकांक्षा आदि से अन्वित होकर शब्दसमुदाय या वाक्य से तात्पर्य वृत्ति द्वारा अन्वित अर्थ (=वाक्यार्थ) का बोध होता है यही प्रधान व्यापार है। इसी प्रकार काव्य मे भी अवान्तर व्यापार द्वारा विभाव आदि का बोध होता है जो पदार्थ के समान है तथा प्रधान व्यापार द्वारा विभाव आदि से ससृष्ट स्थायी भाव का बोध होता है जो वाक्यार्थ के समान है। **भावित** = विभावित = भावरूपताम आनीत, भावना का विषय बनाया गया आस्वादन के योग्य हुआ।

(३) **प्राकप्रकरण तात्पर्यम**—भाव यह है कि रस प्रक्रिया का यहा उपसहार किया जा रहा है। चतुर्थ प्रकाश के आरम्भ मे कारिका ४७ तक रस प्रक्रिया तथा रस स्वरूप का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया गया है। सक्षेप मे इनम से कुछ कारिकाओ मे ही रस प्रक्रिया तथा रस स्वरूप स्पष्ट हो जाते है जैसे—विभाव ४१, वाच्या प्रकरणादिभ्यो० ४ ३७ रस स एव स्वाद्यत्वात् (४ ४८) धीरोदात्ताद्यवस्थानाम ४ ४० ता एव ३ ४१ स्वाद काव्यार्थसम्भेदाद् आत्मानन्दसमुद्भव ४ ४५, पदार्थै ४ ४६, अभेदाद् रसभावयो ४ ४७।

इसके आधार पर यह कहा जा सकता है—सहृदयो के चित्त म रति आदि स्थायी भाव विद्यमान रहा करता है। जब सहृदय जन अभिनय देखते है या काव्य सुनते हैं तो वहा किसी नायक नायिका आदि के अनुराग आदि का चित्रण उनके समक्ष आता है। उदाहरणार्थ शकुन्तला नाटक का अभिनय देखते समय शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त के अनुराग का वर्णन सहृदय जन के समक्ष होता है। यह वर्णन काव्य के लोकोत्तर व्यापार (अतिशयोक्ति) द्वारा किया गया होता है इसलिये लोक की शकुन्तला आदि काव्य तथा नाट्य मे एक विशेष रूप मे हुआ करती है अर्थात् काव्य मे शकुन्तला आदि आलम्बन विभाव के रूप मे होती है लौकिक प्रेम के उद्दीपन करने वाले निमित्त चन्द्रिका इत्यादि उद्दीपन विभाव के रूप म होते है। इसी प्रकार चिन्ता आदि भाव व्यभिचारी भाव के रूप मे तथा दुष्यन्त की भुजा फडकना रोमाञ्च इत्यादि चेष्टाए अनुभाव के रूप मे होती है। इन विभाव आदि का काव्य के अवान्तर व्यापार द्वारा सहृदयो को बोध हुआ करता है। ये काव्यशब्दो के वाच्य है। अत इनकी काव्यार्थ मे वही अवस्था होती है जो वाक्यार्थ के बोध मे पदार्थ की। साथ ही ये शकुन्तला आदि काव्य मे साधारण रूप मे चित्रित किये जाया करते है। उनका अपना व्यक्तिगत रूप न होकर केवल नायिका (स्त्री) रूप ही होता है। इसलिये ये सभी सहृदयो के आलम्बन विभाव आदि हो जाते है और यह दोष नही आता कि वे पूज्य देवियां सहृदयो का आलम्बन विभाव कैसे होगी। अथवा कहिये कि सहृदयो के आलम्बन विभाव होने मे शकुन्तला आदि के लौकिक रूप का कोई उपयोग नही होता। होता यह है कि इनका शब्दो द्वारा उपस्थित बुद्धिगत रूप ही सहृदय का आलम्बन विभाव आदि हो जाया करता है। काव्य शब्दो के वाच्यार्थ इन विभाव आदि के द्वारा लक्षणा से रति आदि स्थायी भाव की प्रतीति हो जाती है (लाक्षणिकी रत्यादिप्रतीति ४ ३७

टीका)। तब तात्पय वृत्ति द्वारा विभाव आदि से समृष्ट रति आदि स्थायी भाव का बाध होता है यही का याथ कहलाता हे जो काव्य वाच्य का अथ हे (तत्र विभावादय पदाथ स्थानीया तत्ससृष्ट। रत्यादिर्वाक्याथ ४ ३७ टीका)।

भाट्टमीमासक के मत स व्यवहार मे भी वाक्य का अथ तात्पय वृत्ति द्वारा ही जाना जाता है। इसी प्रकार विभाव आदि से ससृष्ट रति आदि स्थायी भाव (जो काव्य वाक्य का अथ होता है) भी तात्पय वृत्ति से ही प्रतीत हो जाता है। इस काव्याथ के साथ सहृदय के चित्त की तन्मयता (सम्भेद) हो जाती हे। और उसके चित्त मे विकास विस्तार, क्षोभ या विक्षप के रूप मे एक विलक्षण आनन्द का उद्भव हुआ करता है। यही स्वाद या रस कहलाता है। काव्य इसका भावक होता हे और यह काव्य का भाव्य। इस प्रकार रस भाव आदि तथा काव्य मे भाव्य भावक सम्बन्ध है, व्यङ्ग्य व्यञ्जक सम्बन्ध नही जसा ध्वनिवादियो ने माना है।

यह आनन्द या स्वाद बाहर से नही आता अपितु रसिक जन दुष्यन्त आदि के चित्रण द्वारा अपने चित्त मे स्थित रति आदि भाव का आस्वादन किया करते है, जिस प्रकार बालक मिट्टी के हाथी इत्यादि के द्वारा अपने उत्साह का आनन्द लिया करते है। इस प्रकार रसिकवर्ती रति आदि स्थायी भाव ही आस्वाद्य होकर रस कहलाता है क्योकि उसका आस्वादन किया जाता है (रस्यते इति रस)— रस स एव स्वाद्यत्वात्। या कहिये कि स्थायी भाव तथा रस मे कोई मौलिक अन्तर नही है, स्थायी भाव का प्रकष ही रस है (अभेदाद् रसभावयो)।

ग्रन्थ के अनुशीलन से दशरूपक का रस सिद्धान्त यही प्रतीत होता है। इस रस सिद्धान्त के मुख्य तत्त्व है — (i) रति आदि स्थायी भाव सहृदय के चित्त मे पहिले से विद्यमान होते है। इस मन्तव्य को अभिनवगुप्त आदि ने भी स्वीकार किया है। (ii) विभाव अनुभाव, सात्त्विक तथा व्यभिचारी भाव के द्वारा वह स्थायी भाव भावित हो जाता है, आस्वादन योग्य हो जाता है (४ १)। यहाँ सात्त्विक भावो का पृथकश ग्रहण किया गया है, जो भरत के रस सूत्र आदि मे नही है। स्थायी भाव की पुष्टि की बात भट्टलोल्लट ने भी कही थी। किन्तु वह अनुकाय गत रति आदि भाव (लौकिक रस) की लौकिक विभाव (प्रमदा आदि) इत्यादि से पुष्टि है अत इससे नितान्त भिन्न है। वस्तुत दशरूपक का यह मन्तव्य अभिनवगुप्त द्वारा स्थापित मत से बहुत साम्य रखता हे, किन्तु रस की प्रक्रिया मे अन्तर हे। (iii) लौकिक प्रमदा आदि काव्य के अतिशयोक्ति रूप व्यापार से विभाव आदि कहलानेलगते हैं (मि० का प्र०)। काव्य मे उनके साधारण स्वरूप का चित्रण होता है विशेष व्यक्तिगत स्वरूप का नही। सहृदय के रति आदि भाव का पोषण करने मे उसका शब्द से उपस्थित बुद्धिगत रूप ही अपेक्षित होता है, बाह्य रूप नही। यह मन्तव्य अत्यन्त महत्त्वपूण है भट्टनायक के विभावादि साधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण (का० प्र०) तथा अभिनवगुप्त के त्रासकस्यापारमार्थिकत्वात (अभि० भा० पृ० २७६) से इसकी तुलना की जा सकती है।

विशेषलक्षणायुच्यन्ते तत्राचार्येण स्थायिना रत्यादीना शृङ्गारादीना च पृथग्लक्षणानि विभावादिप्रतिपादनेनोदितानि । अत्र तु—

(५५) लक्षणक्य विभावक्यादभेदाद्रसभावयो ॥४७॥

क्रियत इति वाक्यशेष ।

(iv) विभाव आदि से ससृष्ट स्थायी भाव ही काव्याथ है। उसके साथ सहृदय के चित्त की तन्मयता हो जाती है और आत्मानन्द का उद्भव होता है यही रस है। इस मन्तव्य की अभिनवगुप्त के रति आदि भाव के साधारणीकरण (विशेष रूपत्वाभावाद् भीत इति अभि० भा० पृ० २८६ तथा साधारण्येन गोचारीकृत का० प्र०) से तुलना की जा सकती है। साहित्य दपण (३ ६–१) मे जो अनुकाय के साथ सामाजिक का तादात्म्य बतलाया है वह भी इससे समानता रखता है। (v) काव्य से तात्पय वृत्ति द्वारा रस की प्रतीति होती है। विभाव आदि का बोध पदाथ के समान है तथा विभाव आदि से ससृष्ट स्थायी भाव का बोध वाक्याथ के समान है। काव्य रस का भावक (=भावना कराने वाला) है किन्तु तात्पय वृत्ति द्वारा ही। यहा भट्टनायक का विशेष प्रकार का भावना व्यापार नही माना गया न ही ध्वनिवादियो के समान काव्य मे व्यञ्जना व्यापार माना गया है।

इस प्रकार दशरूपक का रसविषयक मन्तव्य भट्टलोल्लट, श्रीशङ्कुक भट्टनायक तथा अभिनवगुप्ताचाय के रस सम्बन्धी चार प्रसिद्ध मतो से भिन्न है। इसका अपना विशिष्ट रूप है। रस सम्बन्धी मतो के लिये द्र० अभि० भा० रससूत्र व्याख्या तथा का० प्र० चतुथ उल्लास आदि।

इस प्रकार सामान्य रूप से रस तथा स्थायी भाव आदि का विवेचन करके अब शृङ्गार आदि आठ रसो के विशेष लक्षण इत्यादि बतलाते है।

रसो के लक्षण, भेद तथा उदाहरण

अब (रसों के) विशेष लक्षण बतलाये जाते है। आचाय (भरत) ने तो विभाव आदि का प्रतिपादन करते हुए रति आदि स्थायी भावो के तथा शृङ्गार आदि रसो के पृथक पृथक लक्षण बतलाये हैं, किन्तु यहा—

(शृङ्गार आदि) रस तथा (रति आदि) स्थायी भाव का एक ही लक्षण बतलाया जा रहा है, क्योकि रस और स्थायी भाव के विभाव एक ही होते है अत दोनो मे अभेद होता है (स्थायी भाव का प्रकष ही रस कहलाता है) ॥४७॥

(कारिका मे) लक्षणक्यम्' के साथ क्रियते' (किया जाता है) यह वाक्य का शेष अश समझना चाहिये।

टिप्पणी—आचाय भरत ने षष्ठ अध्याय (श्लोक ४५ से आगे गद्य) मे तत्र शृङ्गारो नाम रतिस्थायिभावप्रभव' इत्यादि प्रकार से विभाव आदि का निर्देश करते हुए शृङ्गार आदि रसो के लक्षण किये है। दूसरी ओर सप्तम अध्याय (श्लोक ८ से

तत्र तावच्छङ्गार —

(५६) रम्यदेशकलाकालवेषभोगादिसेवन ॥
प्रमोदात्मा रति सव यूनोरयोन्यरक्तयो ।
प्रहृष्यमाणाश्शृङ्गारो मधुराङ्गविचेष्टित ॥४८॥

इत्थमुपनिवध्यमान वा य शृङ्गारास्वादाय प्रभवतीति का युपदेशपरमेतत ।

आग गद्य) मे रतिर्नाम ्रमादात्मिका इत्यादि के द्वारा फिर विभाव आदि का निर्देश करते हुए रति आ्रि स्थायी भावा के लक्षण किये है । कि तु शृङ्गार रस तथा रति भाव के विभाव एक ही हे । धनञ्जय की दृष्टि से विभाव आदि के द्वारा अस्वादन योग्य किया गया रति स्थायी भाव ही शृङ्गार रस हे या कहिये कि आस्वाद्यमान रति ही शृङ्गार है । अत स्थायी भाव और रस म कोई तात्त्विक भेद नही इसलिये दोनो का पृथक पृथक लक्षण करने की आवश्यकता नही ।

शृङ्गार रस का लक्षण, भेद तथा उदाहरण

उन (रसो) मे शृङ्गार का लक्षण है —

रमणीय दश, कला, काल, वेष तथा भोग आदि के सेवन के द्वारा, परस्पर अनुरक्त युवक युवति को जो प्रमोद होता वह रति भाव कहलाता है, वही मधुर अङ्ग चेष्टाओ से पुष्ट होकर (प्रहृष्यमाणा) शृङ्गार रस कहलाता है ॥४८॥

भाव यह है कि इस प्रकार के वर्णन करने वाला काव्य शृङ्गार रस का आस्वादन कराने मे समथ होता है । इसका अभिप्राय कवि को उपदेश (शिक्षा) देता है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (अ० ६ श्लोक ४५ से आगे गद्य) का० प्र० (४ २६) भा० प्र० (चतुथ अधिकार) ना० द० (३ १६६) प्रता० (पृ० १६३), सा० द० (३ १७६ १८३–१८६) रसगङ्गाधर (१ पृ० १३६) (२) यहा का य मे वणनीय शृङ्गार का स्वरूप दिखलाया गया हे वह लौकिक शृङ्गार है। उसके काव्यगत वणन द्वारा जो सहृदयो क चित्त मे विशेष प्रकार का आन द होता है वस्तुत वही शृङ्गार रस है । इसी प्रकार अ य रसो मे भी समझना चाहिये । (३) **प्रमोदात्मा**—प्रमोद ही है स्वरूप (आत्मा) जिसका एक विशेष प्रकार की आ ादात्मक चित्तवत्ति रति कहलाती हे इस पद द्वारा रति का स्वरूप बतलाया गया है मि० 'रतिप्रमोदात्मिका' (ना० शा० अ० ७ श्लोक ८ से आगे पृ० ३५०) तथा रतिमनोनुकूलेऽर्थे मनस प्रवणायितम (सा० द० ३ १७६) । **रम्यदेश०**—रमणीय देश आदि शृङ्गार के उद्दीपन विभाव है । युवक तथा युवति (नायक नायिका) आलम्बन विभाव है । **अन्यो यरक्तयो**—परस्पर अनुरक्त युवक युवति का । अभिप्राय यह है कि जहाँ नायक, नायिका एक दूसरे के प्रति अनुराग रखत हैं, वही शृङ्गार रस हुआ करता है । यदि एक में अनुराग होता है दूसरे मे नही तो शृङ्गाराभास हो जाता है द्र० साहित्यदपण (रतौ तथानुभयनिष्ठायाम ३ २६३) । मधुर अङ्ग चेष्टाए इसके अनुभाव है मि०, 'ललितमधुराङ्गहारवाक्यादिभिर अनुभाव ना० शा० अ० ६ श्लो० ४५ से आगे, पृ० ३०५) तथा मधुराङ्गविहार (ना० शा० ७ ४८) । शृङ्गार के व्यभिचारी भावो का आगे (४ ४६) निरूपण किया जायेगा ।

तत्र देशविभावो यथोत्तररामचरिते—

'स्मरसि सुतनु तस्मिन्पर्वते लक्ष्मणेन
प्रतिविहितसपर्यासुस्थयोस्तान्यहानि ।
स्मरसि सरसतीरां तत्र गोदावरीं वा
स्मरसि च तदुपान्तेष्वावयोर्वर्तनानि ॥२९२॥

कलाविभावा यथा—

'हस्तैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासैर्लयमुपगतस्तन्मयत्वं रसेषु ।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयः षड्विकल्पोऽनुवृत्तै—
र्भावे भावे नुदति विषयान् रागबन्धः स एव ॥२९३॥

यथा च—

'व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना दशविधेनाप्यत्र लब्धामुना
विस्पष्टो द्रुतमध्यलम्बितपरिच्छिन्नस्त्रिधाऽयं लयः ।
गोपुच्छप्रमुखाः क्रमेण यतयस्तिस्रोऽपि सम्पादिता—
स्तत्त्वौघानुगताश्च वाद्यविधयः सम्यक् त्रयो दर्शिताः ॥२९४॥

प्रत्येक देश विभाव आदि के उदाहरण इस प्रकार है —

उनमे देश विभाव जैसे उत्तररामचरित (१ २६) मे—(राम सीता से कहते हैं) हे सुन्दर शरीर वाली (सीता), क्या तुम उस पर्वत पर लक्ष्मण के द्वारा की गई सेवा से आनन्दपूर्वक रहते हुए अपने (दोनो के) उन दिनो का स्मरण करती हो ? या तुम्हे सरस तट वाली गोदावरी याद है ? और उसके निकट हम दोनो के विहार करने का स्मरण होता है ?

टिप्पणी—देश विभाव वहा होता है जहा किसी रमणीय स्थल नदीतीर इत्यादि के निमित्त से रति भाव के उद्बोध का वर्णन किया जाता है। यहा पर्वत तथा गोदावरी के रमणीय तटो के निमित्त से होने वाली राम की रति का वर्णन किया गया है।

कला-विभाव, जैसे (?)—

'जिनके भीतर (मानो) वचन छिपे हैं ऐसे हाथो ने अर्थ को भली भाति प्रकट कर दिया, पाद विक्षेपो के द्वारा लय प्राप्त हो गई तथा रसो मे तन्मयता भी, अनुवृत्तों (?) के द्वारा शाखा (विचित्र प्रकार का हस्तचालन) से उत्पन्न होने वाला ६ प्रकार का कोमल अभिनय हो गया। यह प्रत्येक भाव मे विषयो को प्रेरित करता है, यही रागबन्ध (?) है'।

और जैसे (नागानन्द १ १५)—यहाँ इस (सङ्गीत) ने दश प्रकार की व्यञ्जन धातु के द्वारा व्यक्तता प्राप्त कर ली है, द्रुत, मध्य तथा विलम्बित रूप से विभक्त यह तीन प्रकार का लय भी स्पष्ट हो गया है, गोपुच्छ इत्यादि तीनो यतियाँ भी क्रमश की गई हैं तथा तत्त्व, ओघ और अनुगत तीनो वाद्य विधिया भली भाँति दिखला दी गई हैं'।

कालविभावो यथा कुमारसम्भवे—

असूत सद्य कुसुमान्यशोक स्कन्धात्प्रभृत्येव सपल्लवानि ।
पादेन नापक्षत सुन्दरीणा सम्पकमाशिञ्जितनूपुरेण ॥२६५॥

इत्युपक्रमे—

'मधु द्विरेफ कुसुमकपात्रे पपौ प्रिया स्वामनुवर्त्तमान ।
शृङ्गेण सस्पर्शनिमीलिताक्षी मृगीमकण्डूयत कृष्णसार ॥२६६॥

टिप्पणी—(१) कला विभाव वहा होता है जहा नृत्य सगीत आदि कला के निमित्त से रति भाव के उद्भव का वर्णन होता है। यहा 'हस्त इत्यादि में नृत्य के निमित्त से उदबुद्ध होने वाली रति का वर्णन है तथा 'व्यक्ति० इत्यादि म सङ्गीत के निमित्त से उद्बुद्ध होने वाली रति का। (३) **लय**—क्रिया के अनन्तर विश्राम ही लय है यह तीन प्रकार का हाता है—द्रुत मध्य और विलम्बित, जैसा कि सङ्गीतरत्नाकर (अ० ५) मे बतलाया है—

क्रियानन्तरविश्रान्तिलय स त्रिविधो मत ।
द्रुतो मध्यो विलम्बश्च द्रुत शीघ्रतमो मत ।
द्विगुणद्विगुणौ ज्ञेयौ तस्मान मध्यविलम्बितौ ॥

शाखा—विचित्र प्रकार से हस्तचालन जसा कि सङ्गीतरत्नाकर (७) मे कहा है—तत्र शाखेति विख्याता विचित्रा करवर्तना । **शाखायोनि** =शाखा से उत्पन्न होने वाला (शाखा योनिर यस्य तादृश अभिनय) षडविकल्प =६ प्रकार का अभिनय ६ प्रकार का होता है—तीन प्रकार (शारीर मुखज और चेष्टाकृत) का १ ३ आङ्गिक तथा ४ वाचिक, ५ आहार्य और ६ सात्त्विक (ना० शा० अ० ८)। (४) **व्यञ्जनधातुना** ना० शा (अ० २९) में वीणा मे दस व्यञ्जन धातुओ का प्रयोग बतलाया गया है उनके द्वारा सङ्गीत व्यक्तता हो जाती है। वे दस व्यञ्जन धातु है पुष्प, कल, तल, निष्कोटित उद्घष्टम, रेफ अनुबन्ध, अनुस्वनित बिन्दु तथा अपमृष्ट। **यतय**—सङ्गीत मे लय की प्रवृत्ति का नियम यति कहलाता हे जसा कि सङ्गीतरत्नाकर (अ० ५) मे कहा है—लयप्रवृत्तिनियमो यतिरित्यभिधीयते । समा स्रोतोगता गोपुच्छा त्रिविधेति सा । **वाद्यविधय**—वादन के प्रकार ये तीन होते है—तत्त्व, अनुगत और ओघ (सङ्गीतरत्नाकर अ० ६)।

काल विभाव, जसे कुमारसम्भव (३ २६) मे—(वसन्त के आगमन से) अशोक वृक्ष ने तत्काल ही तने से लेकर ऊपर तक पल्लव सहित कुसुमो को उत्पन्न कर दिया और उसने झङकृत नूपुरो वाले सुन्दरियो के चरण के स्पर्श (प्रहार) की भी अपेक्षा न की।

इससे आरम्भ करके (कुमारसम्भव ३ ३६) 'भ्रमर अपनी प्रिया का अनुवर्तन करते हुए एक ही पुष्प पात्र मे मकरन्द पीने लगा। काला हरिण अपने सींग से हरिणी को खुजलाने लगा जो उसके स्पर्श से आखें मूद रही थी।

टिप्पणी—काल विभाव वहाँ होता है जहा कालविशेष वसन्त आदि के निमित्त से रतिभाव के उदबुद्ध होने का वर्णन होता है। यहाँ वसन्त के आगमन से वृक्षो तथा पशुओ आदि मे भी रतिभाव के उदभव का वर्णन किया गया है अत वसन्त ऋतु (काल) विभाव है।

वेषविभावो यथा तत्रव—

अशोकनिर्भर्त्सितपद्मरागमाकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम ।
मुक्ताकलापीकृतसिन्दुवार वसन्तपुष्पाभरण वहन्ती ॥२९७॥

उपभोगविभावो यथा—

चक्षुर्लुप्तमषीकरण कवलितस्ताम्बूलरागोऽधरे
विश्रान्ता कबरी कपोलफलके लुप्तेव गात्रद्युति ।
जाने सम्प्रति मानिनि प्रणयिना कर्य्युपायक्रम—
भग्नो मानमहातरुस्तरुणि ते चेत स्थलीवर्धित ॥२९८॥

प्रमोदात्मा रतिर्यथा मालतीमाधवे—

जगति जयिनस्ते ते भावा नवेन्दुकलादय
प्रकृतिमधुरा सन्त्येवान्ये मनो मदयन्ति ये ।
मम तु यदियं याता लोके विलोचनचन्द्रिका
नयनविषय जन्मन्येक स एव महोत्सव ॥२९९॥

वेषविभाव, जसे (कुसारसम्भव ३ ५३)—(महादेव के निकट जाती हुई) पावती वसन्त ऋतु के पुष्पो के आभूषण धारण कर रही मी, जिनमे स्थित अशोक (पत्रो) के द्वारा पदमराग मणि तिरस्कृत हो रही थी, कर्णिकार के द्वारा सुवरण की कान्ति आकृष्ट की जा रही थी, सिन्दुवार (के पुष्पो) को मोतियो की माला के समान किया गया था ।

टिप्पणी—वेषविभाव वहा होता है जहा रमणीय वेष विन्यास के निमित्त से रति के उद्भव का वणन किया जाता है । यहा पावती के वेष से शिव के चित्त मे रतिभाव का उदभव दिखलाया गया है ।

उपभोग विभाव जसे (?)—(नायिका मे उपभोग के चिह्नो को देखकर कोई सखी उससे कहती है) हे सखी, तुम्हारे नेत्रो का काजल करण कुछ छूट गया है, अधर मे पान की लालिमा भी चाट ली गई है केशपाश (कबरी) कपोल तल पर बिखरा है, शरीर की कान्ति लुप्त सी हो गई है । हे मानिनी, ऐसा जान पडता है कि इस समय प्रियतम ने किन्हीं उपायो से तुम्हारे चित्त की भूमि मे बढे हुए मान रूपी वक्ष को तोड डाला है ।

टिप्पणी—उपभोग विभाव वहाँ होता है जहा नायक नायिका के उपभोग चिह्नो के द्वारा रति भाव लक्षित होता है । यहा तरुणी क काजल की लुप्तता आदि उपभोग चिह्नो के द्वारा नायक का रतिभाव लक्षित होता है ।

प्रमोदात्मक रति, जसे मालतीमाधव (१ ३९) मे—'ससार मे नवीन चन्द्रकला इत्यादि पदाथ विजयी (उत्कृष्ट) है । स्वभाव से मधुर दूसरे भी पदाथ है जो मन को प्रफुल्लित कर देते हैं । किन्तु ससार मे नेत्र कौमुदी यह (मालती) जो मेरे नेत्रो का विषय हुई है, मेरे लिये जीवन मे एक यही महान उत्सव है ।

टिप्पणी—अभी ऊपर रति भाव का स्वरूप बतलाते हुए उसे प्रमोदात्मा कहा गया है । प्रमोद = विशेष प्रकार का आनन्द । जगति इत्यादि मे आनन्द-रूप रति भाव दिखलाया गया है । यहा मालती को देखकर माधव के प्रमोद का वणन है । यही प्रमोद रति भाव का स्वरूप है ।

युवतिविभावो यथा मालविकाग्निमित्रे—

दीर्घाक्ष शरदिन्दुकान्तिवदन बाहू नतावसयो
सक्षिप्त निबिडोन्नतस्तनमुर पार्श्वे प्रमृष्टे इव ।
मध्य पाणिमितो नितम्बि जघन पादावरालाङ्गुली
छन्दो नतयितुर्यथैव मनस स्पष्ट तथाऽस्या वपु ॥३००॥

यूनोर्विभावो यथा मालतीमाधवे—

भूयो भूय सविधनगरीरथ्यया पर्यटन्त
दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलभीतुङ्गवातायनस्था ।
साक्षात्काम नवमिव रतिमालती माधव यद्—
गाढोत्कण्ठालुलितललितैरङ्गकैस्ताम्यतीति ॥३०१॥

अन्योन्यानुरागो यथा तत्रैव—

यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमानन त—
दावृत्तवृन्तशतपत्रनिभ वहन्त्या ।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या
गाढ निखात इव मे हृदये कटाक्ष ॥३०२॥

युवतिविभाव, जैसे मालविकाग्निमित्र (२ ३) से—'(राजा अग्निमित्र मन ही मन मालविका के विषय मे सोच रहे हैं) इसका मुख विशाल नेत्रो वाला तथा शरद् के चन्द्रमा के समान कान्ति वाला है, भुजाए कन्धो पर झुकी हैं, वक्ष स्थल घने तथा उभरे स्तनो से कसा (सक्षिप्त) है, दोनो पार्श्व भाग मानो परिमार्जित किये हुए हैं, मध्य भाग मुट्ठी भर (पाणि मित = हाथ से मापा गया) है, जघाएँ सुन्दर नितम्बो से युक्त है, चरण थोडी झुकी हुई (अराल) अङगुलियो से युक्त है । इस प्रकार नृत्य कराने वाले (नृत्याचार्य) की जैसी इच्छा होती है उसी प्रकार का इसका शरीर गढा गया है ।

टिप्पणी—युवतिविभाव वहा होता है जहा किसी युवति के यौवन का वर्णन रति भाव का निमित्त हुआ करता है । यहा मालविका का यौवन अग्निमित्र के रति भाव के उद्भव का निमित्त दिखलाया है ।

युवक तथा युवति दोनो का विभाव, जैसे मालतीमाधव (१ १८) मे—(कामन्दकी कहती है) 'महल की अटारी के ऊचे वातायन मे बैठी रति जैसी मालती बार बार अपने समीप की नगर की गली से घूमने वाले साक्षात नवीन कामदेव के समान माधव को देख देखकर गाढ उत्कण्ठा से युक्त हुई कम्पित सुन्दर अङ्गो से पीडित हो रही है ।

टिप्पणी—जहा युवक और युवति दोनो के यौवन को पारस्परिक रति भाव के निमित्त रूप मे वर्णित किया जाता है वहाँ दोनो ही विभाव होते हैं । 'भूयो भूय' इत्यादि मे मालती तथा माधव दोनो ही शृङ्गार के विभाव है ।

(नायक नायिका का) परस्पर अनुराग, जैसे वहीं (मालतीमाधव १ ३२), (माधव अपने मित्र मकरन्द से कह रहा है) जाते हुए बार बार (मुझे देखने के लिए),

मधुराङ्गविचेष्टित यथा तत्र व—

'स्तिमितविकसितानामुल्लसदभ्रू लताना
मसृणमुकुलिताना प्रा तविस्तारभाजाम
प्रतिनयननिपाते किञ्चिदाकुञ्चिताना
विविधमहमभूव पात्रमालोकितानाम ॥३०३॥

(५७) ये सत्त्वजा स्थायिन एव चाष्टा
त्रिंशत्त्रयो ये व्यभिचारिणश्च ।
एकोनपञ्चाशदमी हि भावा
युक्त्या निबद्धा परिपोषयन्ति । (स्थायिनम)
आलस्यमौग्र्य मरण जुगुप्सा
तस्याश्रयाद्व तविरुद्धमिष्टम ॥४६॥

घूमी हुई ग्रीवा वाले अतएव झुके व त से युक्त कमल के सदृश मुख को धारण करती हुई सु दर लोगो से युक्त (पक्ष्मल) नेत्रो वाली मालती ने अमत तथा विष से बुझा हुआ कटाक्ष मानो मेरे हृदय मे गहरा गाड दिया है ।

टिप्पणी—शृङ्गार के लक्षण मे जा 'अ योन्यरक्तयो यह पद दिया गया है, उसका उदाहरण है 'या त्या इत्यादि । यहा मालती और माधव दोनो के परस्पर अनुराग का वणन किया गया है ।

अङ्गो की मधुर चेष्टाए, जैसे वहीं (मालतीमाधव १ ३०)—(माधव मकर द से कह रहा हे) उस समय निश्चल तथा विकसित, ऊपर को चलती भ्रूलताओ से युक्त, अनुरागपूण (मसृण = अनुराग कषायित) तथा मुकुलित, अपाङ्ग (नेत्र-छोर) तक विस्तार वाली, तथा मेरी दृष्टि पडने पर कुछ सङ्कुचित हुई (मालती की) विविध दृष्टियो का मै पात्र बन गया' ।

टिप्पणी—मधुर अङ्ग चेष्टाए अनुभाव है । ना० शा० मे नायिका के नयन चातुय, भ्रूक्षेप कटाक्ष के साथ नेत्र सञ्चार आदि को मधुर अङ्ग चेष्टा कहा गया है । स्तिमित आदि मे मालती की मधुर अङ्ग चेष्टाओ का वणन है ।

शृङ्गार के पोषक भाव

जो आठ सात्त्विक भाव तथा आठ स्थायी भाव और तैंतीस व्यभिचारी भाव है वे सभी मिलकर ४६ होते है । उनको युक्तिपूवक योचना शृङ्गार रस का परिपोष करती है । आलस्य, उग्रता, मरण और जुगुप्सा—इन भावो का शृङ्गार के साथ (तस्य) आलम्बनक्य विरोध माना गया है ॥४६॥

त्रयस्त्रिंशद्वयभिचारिणश्चाष्टौ स्थायिन अष्टौ सात्त्विकाश्चेत्येकोनपञ्चाशत। युक्त्या=अङ्गत्वेनोपनिबध्यमाना शृङ्गार सम्पादयन्ति। आलस्यौग्र्यजुगुप्सामरणादी न्येकालम्बनविभावाश्रयत्वेन साक्षादङ्गत्वेन चोपनिबध्यमानानि विरुध्यन्त। प्रकारान्तरेण चाऽविरोध प्राक प्रतिपादित एव।

---

३३ व्यभिचारी भाव, आठ स्थायीभाव तथा आठ सात्त्विक भाव ये उनचास (४६) भाव है। युक्ति के साथ अर्थात् अङ्ग रूप मे आकर ये (भाव) शृङ्गार रस को भावित करते हैं। आलस्य, उग्रता, जुगुप्सा और मरण इत्यादि भावो की यदि एक (अर्थात् रति भाव के) आलम्बन विभाव का ही आश्रय लेकर साक्षात् रूप से या अङ्ग रूप से योजना की जाती है तो विरोध हो जाता है। अन्य प्रकार से इनकी योजना करने मे तो कोई विरोध नही होता, यह पहिले (४ ३४) ही बतलाया जा चुका है।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (६ ४५ के पश्चात गद्य तथा ७ १०८ और १०६ से पूव का पाठान्तर) का० प्र० (४ २६) भा० प्र० (चतुथ अधिकार) ना० द० (३ १६६) प्रता० (पृ० १६३), सा० द० (३ १८३–१८६)। (२) ना० शा० मे आलस्यौग्र्यजुगुप्सावर्ज्या यह कहा गया हे। वहा मरण को विप्रलम्भ के, व्यभिचारी भावो मे भी गिनाया गया हे। किन्तु व्याख्याकारो का विचार हे कि वस्तुत मरण का शृङ्गार मे वणन नही किया जाता। हा मरणासन्नता का वणन किया जा सकता है। सम्भवत इसी हेतु दश० मे मरण' नामक व्यभिचारी भाव को शृङ्गार का विरोधी बतलाया गया है। सा० द० (३ १६३—१६४) मे इसकी स्पष्ट व्याख्या की गई है—

रसविच्छेदहेतुत्वान्मरण नव वण्यते।
जातप्राय तु तद वाच्य चेतसा काङ क्षित तथा।
वण्यतेऽपि यदि प्रत्युज्जीवन स्याददूरत ॥

(३) **स्थायिन एव चाष्टौ**—आठ स्थायी भावो मे से रति तो शृङ्गार के स्थायी भाव के रूप मे रहता है और शेष सात भाव इसके सञ्चारी हो जाते है। **ऐकोनपञ्चाशत०**—यहा परिपोषयन्ति=सम्पादयन्ति (धनिक)=(उद्भावयन्ति ना० शा० १०६)। ये सभी भाव शृङ्गार रस को उद्भावित करते है। आगे कहे गये ४ भावो को छोडकर शष ४५ भाव शृङ्गार रस के उदभावक है। ना० शा० (७ १०८ से पहले) मे ४६ भाव बतलाये गये है क्योकि वहाँ वर्जित भावो मे मरण को नही गिना गया। **आश्रयाद्वतविरुद्धम**=एकालम्बनविभावाश्रयत्वेन विरुद्धयन्ते (धनिक, टीका) भाव यह है कि जो प्रमदा आदि रति भाव का आलम्बन होता है उसी को आलम्बन करके आलस्य उग्रता या घृणा आदि का वणन नही करना चाहिये। इसका रति भाव से विरोध है। अत रस विच्छेद हो जाता है (आलस्यादि च स्व विभावप्रमदादिविषयमेव निषिद्धम, अभि० भा० पृ० ३०६)। **प्रकारान्तरेण**=भावान्तरव्यवधानेन (प्रभा), वस्तुत अन्यालम्बनाश्रयत्वेन—दूसरे आलम्बन विभाव का आश्रय लेकर आलस्य आदि का वणन किया जा सकता है।

विभागस्तु (शृङ्गारस्य)—

(५८) अयोगो विप्रयोगश्च सम्भोगश्चेति स त्रिधा ।

अयोगविप्रयोगविशेषत्वाद्विप्रलम्भस्यतत्सामान्याभिधायित्वेन विप्रलम्भशब्द उपचरितवर्त्तिर्मा भूदिति न प्रयुक्त तथा हि—दत्वा सङ्केतमप्राप्तेऽवध्यतिक्रमे साध्येन नायिकान्तरानुसरणाच्च विप्रलम्भशब्दस्य मुख्यप्रयोगा वञ्चनार्थत्वात् ।

शृङ्गार के भेद—

वह (शृङ्गार रस) तीन प्रकार का होता है—अयोग, विप्रयोग और सम्भोग ।

विप्रलम्भ शब्द औपचारिक न हो जाये' इस हेतु से यहा दोनो (अयोग + विप्रयोग) को सामान्य रूप से बतलाने के लिये (दोनो के वाचक रूप मे) 'विप्रलम्भ' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया । वस्तुत विशेष प्रकार का अयोग तथा विप्रयोग ही विप्रलम्भ होता है । जब (किसी स्थान पर जाने का) सकेत देकर नायक वहा नहीं पहुचता (अप्राप्ते), समय की अवधि बीत जाती है और नायक के द्वारा (साध्येन) दूसरी नायिका का अनुसरण कर लिया जाता है, उस अर्थ मे विप्रलम्भ शब्द का मुख्यत प्रयोग होता है, क्योकि इसका अर्थ है—वञ्चना ।

टिप्पणी (१) शृङ्गार भेद के लिये द्र० ना० शा० तथा अभि० भा० (अ० ६, पृ० ३०३) ध्वन्यालोक वृत्ति (२ १३) का० प्र० (४ २६) भा० प्र० (वियोगायोग सभोग शृङ्गारो भिद्यत त्रिधा प० ८५) ना० द० (३ १६६) सा० द० (३ १८६) रसगङ्गाधर (१ पृ० १३८)। (२) भा० प्र० तथा दश० के अतिरिक्त प्राय सभी ने शृङ्गार के दो भेद माने है—सम्भोग तथा विप्रलम्भ । सम्भोग के लिये 'सयोग' शब्द का भी प्रयोग किया गया है तथा विप्रलम्भ के लिये वियोग का भी । (३) धनिक की टीका का आशय यह प्रतीत होता है —प्रश्न उठ सकता है कि आचार्य भरत ने शृङ्गार के दो भेद किये है सम्भोग तथा विप्रलम्भ । वहा विप्रलम्भ शब्द के द्वारा अयोग तथा विप्रयोग दोनो को कहा गया है, फिर धनञ्जय ने ऐसा क्यो नही किया । इसके उत्तर मे धनिक का कथन है कि वस्तुत विप्रलम्भ शब्द का अर्थ है वञ्चना । जहा किसी नायिका को सकेत देकर भी कोई नायक समय पर नही आता और दूसरी नायिका के पास चला जाता है उस वञ्चना को साहित्यशास्त्र मे विप्रलम्भ कहते है । यही विप्रलम्भ का मुख्य अर्थ है । इस प्रकार विशेष प्रकार का अयोग तथा विप्रयोग ही विप्रलम्भ है । सभी प्रकार का (सामान्य) अयोग तथा विप्रयोग तो विप्रलम्भ है नही फिर सभी प्रकार के अयोग तथा विप्रयोग को सामान्य रूप से बतलाने के लिये यदि विप्रलम्भ शब्द का प्रयोग किया जायेगा तो वह मुख्य अर्थ मे नही होगा । अपि तु औपचारिक होगा । किन्तु मुख्य अर्थ के सम्भव होने पर औपचारिक अर्थ मे प्रयोग करना दोष माना जाता है ।

अन्य आचार्यों ने विप्रलम्भ शब्द को पारिभाषिक माना है अत उन्होने अयोग तथा वियोग दोनो के लिये इस शब्द का प्रयोग किया है—परस्परानुरक्तयोरपि विलासिनो पारतन्त्र्यादेरघटन चित्तविश्लेषो वा विप्रलम्भ (ना० द० ३ १६६)

(५६) तत्रायोगोऽनुरागे पि नवयोरेकचित्तयो ॥५०॥
पारत न्त्र्येण दवाद्वा विप्रकर्षादसङ्गम ।

योगोऽ यो यस्वीकारस्तदभावस्त्वयोग, पारत न्त्र्येण विप्रकर्षाद्दैवपित्राद्याय त्तत्वात् सागरिकामालत्योर्वत्सराजमाधवाभ्यामिव दवाद गौरीशिवयोरिवासमागमो ऽयोग ।

(ग्र न्थ क अनुशील ा से यही आशय प्रतीत होता है, इसके त थ्यातथ्य का निर्णय विद्वान स्वय करगे) । (३) अयोगविप्रयोगविशेषत्वात—क्योकि विप्रलम्भ तो अयोग विशेष तथा विप्रयोगविशष होता है । एतत्सामान्याभिधायित्वेन—सामान्य अयोग तथा विप्रयोग के वाचक रूप से । उपचरितवृत्ति —उपचरिता वृत्ति यस्य औपचारिक । विशेष अर्थ का वाचक शब्द सामान्य अर्थ मे औपचारिक (लाक्षणिक) हो जाया करता है जसे 'काकेभ्या दधि रक्ष्यताम यहा काक शब्द दध्युपघातक के अर्थ मे लाक्षणिक माना जाता है । साध्येन = नायकेन (प्रभा) ।

अयोग—

उनमे अयोग वह होता है कि जब नवयौवन से युक्त एक चित्त वाले (समान रूप से अनुरक्त) नायक तथा नायिका मे अनुराग तो होता है किन्तु दूसरे (माता पिता आदि) के अधीन होने के कारण या दववश दोनो एक दूसरे से दूर रहते हे अत मिलन नही होता ॥५०॥

योग का अर्थ है नायक और नायिका द्वारा एक दूसरे को स्वीकार कर लेना । उसका अभाव ही अयोग कहलाता है । पराधीनता के कारण दूर रहने से जो अयोग होता है उसका उदाहरण है, जैसे दव (?) तथा पिता आदि के अधीन होने के कारण सागरिका का वत्सराज के साथ तथा मालती का माधव के साथ मिलन नहीं होता । दैववश होने वाला अयोग है, जसे पार्वती और शिव का (बहुत समय तक) मिलन नहीं होता ।

टिप्पणी–(१) का० प्र० (४ २६) मे अभिलाष हेतुक विप्रलम्भ के रूप मे तथा सा० द० (३ १८८) मे पूर्वराग विप्रलम्भ के रूप मे अयोग का वर्णन किया गया है । (२) **विकर्षात**—दूरी होने से इसका पारतन्त्र्येण तथा दवात दोनो से सम्बन्ध है । **दवपित्राद्यायत्तत्वात्**–दव तथा पिता आदि के अधीन होने से । सागरिका देवी वासवदत्ता के अधीन है और दव भी उसके अयोग मे निमित्त है ही, इसी प्रकार मालती माता-पिता के अधीन है और दव भी वहाँ निमित्त है । दूसरी ओर पार्वती और शिव का अयोग केवल दैववश है, वहा माता पिता आदि निमित्त नही । अथवा उदाहरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि 'देवीपित्राद्यायत्तत्वात् यह पाठ रहा होगा (?) ।

(६०) दशावस्थ स तत्रादावभिलाषोऽथ चिन्तनम ॥ ५१ ॥
स्मृतिगु णकथोद्वेगप्रलापोन्मादसज्वरा ।
जडता मरण चेति दुरवस्थ यथोत्तरम ॥ ५२ ॥
(६१) अभिलाष स्पृहा तत्र कान्ते सर्वाङ्गसुन्दरे ।
दृष्टे श्रुते वा तत्रापि विस्मयानन्दसाध्वसा ॥ ५३ ॥
साक्षात्प्रतिकृतिस्वप्नच्छायामायासु दशनम ।
श्रुतिव्याजात्सखीगीतमागधादिगुणस्तुते ॥ ५४ ॥

अयोग शृङ्गार की अवस्थाए —

उस (अयोग) की दश अवस्थाए होती है। उनमे प्रथम अभिलाषा है। फिर (क्रमश) चिन्तन, स्मृति गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, सज्वर, जडता और मरण की अवस्थाए होती है। इनमे बाद वाली अवस्था पहली पहली से दु खदायिनी होती है ॥५२॥

टिप्पणी—(१) वशिकशास्त्रकारश्च दशावस्थोऽभिहित ना० शा० (६ ४५ से आगे गद्य प० ३०६ तथा अ० २२), भा० प्र० (प० ८५) प्रता० (प० १९४) मे १२ दशाओ का वणन हे उनके नाम तथा क्रम मे भी भेद है सा० द० (३ १८९–१९४)। इनके अतिरिक्त रसमञ्जरी आदि साहित्यशास्त्र के ग्रथो मे तथा कामसूत्र आदि मे भी कामदशाओ का वणन किया गया है। इन अवस्थाओ का स्वरूप तथा उदाहरण आदि आगे दिखलाते है—

१ अभिलाष

उन (दश अवस्थाओ) मे से अभिलाषा वह है जो सर्वाङ्ग-सुन्दर प्रिय का दशन होने पर या उसके विषय मे सुनकर उसके प्रति इच्छा (चाह) होती है। उसमे विस्मय, आनन्द तथा सम्भ्रम (साध्वस) (ये तीन अनुभाव) हुआ करते है। (प्रिय का) दशन १ साक्षात रूप से, २ चित्र मे, ३ स्वप्न मे ४ छाया मे अथवा ५ माया (इन्द्रजाल आदि) मे हुआ करता है। उसका श्रवण (श्रुति) १ सखी, २ गीत, तथा, ३ मागध आदि द्वारा गुण-कीर्तन से हुआ करता ॥५३–५४॥

टिप्पणी—(१) ना० शा (२२ १५७–१५८) का० प्र० (४ २९ वृत्ति) मे अभिलाषा को विप्रलम्भ के पाच भेदा मे दिखलाया गया है। वहा अभिलाष=पूर्वराग =अयोग विप्रलम्भ। भा० प्र० (प० ८८), ना० द० (३ १६६ वत्ति) सा० द० (अभिलाष स्पहा ३ १९१)। (२) **प्रतिकृति** =चित्र। **व्याजात**=द्वारा (प्रभा), उपाय से सखीगीतमागधादिगुणस्तुते व्याजात्—यह अन्वय है, स्तुते, मे षष्ठी विभक्ति है।

अभिलाषो यथा शाकुन्तले—

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदायमस्यामभिलाषि मे मनः ।
सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ।।३०४।।

विस्मयो यथा—

स्तनावालोक्य तन्वङ्ग्या शिरः कम्पयते युवा ।
तयोरन्तरनिमग्नां दृष्टिमुत्पाटयन्निव ।।३०५।।

आनन्दो यथा विद्धशालभञ्जिकायाम्—

सुधाबद्धग्रासैरुपवनचकोरैः कवलितां
किरञ्ज्योत्स्नामच्छां लवलिफलपाकप्रणयिनीम् ।
उपप्राकाराग्रं प्रहिणु नयने तर्कय मनाक्—
अनाकाशे कोऽयं गलितहरिणः शीतकिरणः ।।३०६।।

साध्वसं यथा कुमारसम्भवे—

'तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टि—
निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती ।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ।।३०७।।

अभिलाष, जैसे अभिज्ञानशाकुन्तल (१.२३) में (कण्व के आश्रम में शकुन्तला को देखकर राजा दुष्यन्त सोचते हैं)—निस्सन्देह, यह क्षत्रिय के द्वारा ग्रहण करने योग्य है तभी तो मेरा पवित्र मन इसके प्रति अभिलाषा करता है। सन्देहास्पद विषयों में सज्जनों के अन्तःकरण की प्रवृत्ति ही प्रमाण होती है।

विस्मय, जैसे (?) कृशाङ्गी के स्तनों को देखकर युवक सिर हिलाने लगता है। मानो उन स्तनों के बीच गड़ी हुई अपनी दृष्टि को उखाड़ रहा हो।

आनन्द, जैसे विद्धशालभञ्जिका (१.३१) में (राजमहल के परकोटे के समीप नायिका के मुख को देखकर नायक कहता है)—तनिक परकोटे के अग्रभाग पर दृष्टि तो डालो और विचार करो कि आकाश के बिना ही, मृग (के लाञ्छन) से रहित यह कौनसा चन्द्रमा है, जो लवली फल के पाक में प्रणयिनी (?) अमृत के ग्रसन में तत्पर (?) उपवन के चकोरों द्वारा पान की जाती हुई निर्मल चाँदनी को छिटका रहा है।

साध्वस (सम्भ्रम), जैसे कुमारसम्भव (५.८५) में 'उस (शिव) को देखकर पर्वतराज (हिमालय) की पुत्री (पार्वती) का कोमल कृश शरीर काँपने लगा। आगे रखने के लिये उठाये हुए पग को लिये हुए वह मार्ग में पर्वत के आ जाने से क्षुब्ध हुई नदी के समान न चल सकी न ठहर सकी'।

यथा वा—

व्याहृता प्रतिवचो न सन्दधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका ।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः ॥३०८॥

(६२) सानुभावविभावास्तु चिन्ताद्याः पूर्वदर्शिताः ।

गुणकीर्तनं तु स्पष्टत्वान्न व्याख्यातम् ।

(६३) दशावस्थत्वमाचार्यैः प्रायोवृत्त्या निदर्शितम् ॥५५॥
महाकविप्रबन्धेषु दृश्यते तदनन्तता ।

दिङ्मात्रं तु—

(६४) दृष्टे श्रुतेऽभिलाषाच्च किं नौत्सुक्यं प्रजायते ॥५६॥
अप्राप्तौ किं न निर्वेदो ग्लानिः किं नातिचिन्तनात् ।

अथवा जैसे (कुमारसम्भव ८.२) कुछ कहा जाने पर उत्तर नहीं दिया, आँचल पकड़ लिया जाने पर चलने के लिये उद्यत हो गई। वह (पार्वती) शय्या पर दूसरी ओर मुख करके सोई। फिर भी शङ्कर के आनन्द का निमित्त बनी।

टिप्पणी—अभिलाषा (=प्राप्त करने की इच्छा) होने पर (i) विस्मय आनन्द तथा (ii) साध्वस (सम्भ्रम) हुआ करते हैं। ये अभिलाषा के अनुभाव हैं। ऊपर (i) 'स्तना०' इत्यादि में कृशाङ्गी के विशाल स्तनों को देखकर युवक के विस्मय का वर्णन है। (ii) 'सुधा०' इत्यादि में नायिका को देखकर नायक के आनन्द का वर्णन है। (iii) (क) 'तं वीक्ष्य' इत्यादि में विवाह से पूर्व शङ्कर को देखकर पार्वती के सम्भ्रम का वर्णन है तथा (ख) व्याहृता इत्यादि में विवाह के पश्चात् शङ्कर के समक्ष पार्वती के सकोच का वर्णन किया गया है इस उदाहरण से यह प्रकट होता है कि अयोग की अभिलाष नामक अवस्था (विवाह के पश्चात् भी) मिलन पर्यन्त रहती है।

अनुभाव तथा विभाव सहित चिन्ता आदि तो पहिले ही दिखलाये जा चुके हैं।

यहाँ गुणकीर्तन (गुणकथा) की व्याख्या नहीं की गई, क्योंकि वह स्पष्ट ही है।

टिप्पणी—पूर्वम्-व्यभिचारी भावों के प्रकरण में (४ ६-३३)। गुण कथा—प्रिय के गुणों का वर्णन।

आचार्यों ने (अयोग की) दश ही अवस्थाएं इसलिए दिखलाई हैं कि प्रायः ये ही अवस्थाएं हुआ करती हैं। वस्तुतः महाकवियों की कृतियों में उन अवस्थाओं के अनन्त प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं ॥५५॥

केवल दिग्दर्शन के लिये यह बात है—

प्रिय को देखकर या उस (के गुणों) का श्रवण कर जब अभिलाषा उत्पन्न होती है तो उस अभिलाषा से क्या (मिलन की) उत्सुकता नहीं होती, फिर प्रिय के न मिलने पर क्या निर्वेद नहीं होता और अत्यधिक चिन्ता से क्या ग्लानि नहीं हो जाती? ॥५६॥

शेप प्रच्छन्न कामितादि कामसूत्रादवगन्तव्यम ।

अथ विप्रयोग —

(६५) विप्रयोगस्तु विश्लेषो रूढविस्रम्भयोर्द्विधा ॥५७॥

मानप्रवासभेदेन, मानोऽपि प्रणयेर्ष्ययो ।

प्राप्तयोरप्राप्तिर्विप्रयोगस्तस्य द्वौ भेदौ—मान प्रवासश्च । मानविप्रयोगोऽपि द्विविध —प्रणयमान ईर्ष्यामानश्चेति ।

(६६) तत्र प्रणयमान स्यात *कोपावसितयोर्द्वयो ॥५८॥

प्रेमपूर्वको वशीकार प्रणय, तद्भङ्गो मान प्रणयमान स च द्वयोर्नायकयोर्भवति । तत्र नायकस्य यथोत्तररामचरिते—

छिपकर प्रेम करना आदि (अयोग की) अवस्थाएं कामसूत्र से जानी जा सकती है ।

टि०—प्रायोवृत्त्या—प्राय इन्ही का वर्णन (या व्यवहार) होने के कारण । **तदानन्त्या—**कामावस्था की अनन्तता ।

विप्रयोग

जिनका गाढ अनुराग (विस्रम्भ) होता है ऐसे नायक तथा नायिका का पृथक हो जाना (विश्लेष) ही विप्रयोग कहलाता है । यह दो प्रकार का है—मान विप्रयोग और प्रवास विप्रयोग । मान भी दो प्रकार का होता है—प्रणय मे और ईर्ष्या मे ॥५७॥

एक दूसरे को प्राप्त कर लेने वाले नायक, नायिका का अलग होना ही विप्रयोग है । उसके दो भेद है—मान और प्रवास । मानविप्रयोग भी दो प्रकार का होता है—प्रणयमान और ईर्ष्यामान ।

टिप्पणी—का० प्र० (४ २९ वृत्ति) मे अभिलाष, विरह, ईर्ष्या, प्रवास और शाप के हेतु से होने वाला पाँच प्रकार का विप्रलम्भ शृङ्गार बतलाया गया है । ना० द० (३ १६६) मे मान, प्रवास, शाप, ईर्ष्या और विरह– ये पाच भेद हैं तथा सा० द० (३ १८७) मे पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण विप्रलम्भ–ये चार भेद हैं । का० प्र० का अभिलाष तथा सा० द० का पूर्वराग दश० के अयोग के स्थान मे रक्खा जा सकता है । (२) रूढविस्रम्भयो —दृढ अनुराग वालो (नायक-नायिका) का विस्रम्भ=प्रणय 'विस्रम्भ प्रणय पि च' (अमरकोष) ।

प्रणयमान

उनमे नायक नायिका मे से किसी एक या दोनो के कोपयुक्त होने पर प्रणय मान होता है ।

प्रेम के द्वारा (प्रिय को) वश मे करना प्रणय कहलाता है । उसको भङ्ग करने वाला मान प्रणयमान है । वह नायक तथा नायिका दोनो मे हुआ करता है । उनमे से नायक का प्रणयमान है, जसे उत्तररामचरित (३ ३७) मे—

---

*कोपावेशितयो इत्यपि पाठ ।

अस्मिन्नेव लतागृहे त्वमभवस्तन्मार्गदत्तेक्षण
सा हंसै कृतकौतुका चिरमभूद् गोदावरीसैकते ।
आयान्त्या परिदुर्मनायितमिव त्वां वीक्ष्य बद्धस्तया
कातर्यादरविन्दकुड्मलनिभो मुग्ध प्रणामाञ्जलि ॥३०९॥

नायिकाया यथा श्रीवाक्पतिराजदेवस्य—

प्रणयकुपिता दृष्ट्वा देवी ससम्भ्रमविस्मित-
स्त्रिभुवनगुरुर्भीत्या सद्य प्रणामपरोऽभवत् ।
नमितशिरसो गङ्गालोके तया चरणाहता-
ववतु भवतस्त्र्यक्षस्यैतद्विलक्षमवस्थितम् ॥३१०॥

उभयो प्रणयमानो यथा—

'पणअकुविआण दोह्णवि अलिअपसुत्ताण माणइत्ताणम् ।
णिच्चलणिरुद्धणीसासदिण्णकण्णाण को मल्लो ॥३११॥
(प्रणयकुपितयोर्द्वयोरप्यलीकप्रसुप्तयोर्मानवतो ।
निश्चलनिरुद्धनिश्वासदत्तकर्णयो को मल्ल ॥)

(वन देवी वासन्ती राम से कहती है) इसी लतागृह मे आप उस (सीता) के आने के मार्ग मे दृष्टि लगाये हुए थे, और वह हंसो के साथ क्रीडा करती हुई गोदावरी के बालुकामय तट पर बहुत समय तक ठहरी रही। जब वह आई तो आपको कुपित सा देखकर उसने कातरतापूर्वक कमल की कली के समान सुन्दर (मुग्ध) प्रणामाञ्जलि बाँधी ।

नायिका का प्रणयमान, जैसे श्री वाक्पतिराज देव के पद्य मे—

'देवी (पार्वती) को प्रणय से कुपित देखकर सम्भ्रम और आश्चर्य मे भरे हुए तीनो लोको के गुरु शिव प्रणाम करने लगे। किन्तु प्रणाम मे सिर झुकाये हुए शिव के सिर पर गङ्गा को देखकर पार्वती ने (तया) पाद प्रहार कर दिया। त्रिलोचन शिव की यह अनोखी (विलक्षम = strange) दशा आपकी रक्षा करे ।'

दोनो को प्रणयमान, जैसे (गाथा० २७)—

'(दोनो को प्रणयमान से युक्त देखकर सखियां आपस मे कह रही हैं) दोनो प्रणय से कुपित है, मानयुक्त हैं सोने का बहाना कर रहे हैं बिना हिले डुले साँस रोके हुए (सोता है या जागता है, यह जानने के लिये) एक दूसरे की ओर कान लगाये हुए है। देखो तो इनमे कौन वीर (मल्ल = पहलवान) है' ?

टिप्पणी—(१) भा० प्र० (पृ ८६) सा० द० (३ १९८–१९९)। (२) भा० प्र० मे कोपाहतयाद्वयो पाठ है। सा० द० मे इसे अधिक स्पष्ट किया गया है। नायक और नायिका के बहुत अधिक प्रेम युक्त होने पर भी यह अकारण कोप हुआ करता है, क्योकि प्रेम की गति ही निराली है अहेरिव गतिः प्रेम्णः कुटिलगामित्वात् ।

(६७) स्त्रीणामीर्ष्या कृतो मान कोपो यासङ्गिनि प्रिये।
श्रुते वाऽनुमिते दृष्टे, श्रुतिस्तत्र सखीमुखात ॥५९॥
उत्स्वप्नायितभोगाङ्कगोत्रस्खलनकल्पित ।
त्रिधाऽनुमानिको, दृष्ट साक्षादिन्द्रियगोचर ॥६०॥

ईर्ष्यामान पुन स्त्रीणामेव नायिका तरसङ्गिनि स्वकान्ते उपलब्धे सति । अन्यासङ्ग श्रुतो वानुमितो दृष्टो वा स्यात् ।
तत्र श्रवण सखीवचनात् तस्या विश्वास्यत्वात । यथा ममव—

'सुभ्रु त्व नवनीतकल्पहृदया कापि दुर्मन्त्रिणा
मिथ्यव प्रियकारिणा मधुमुखेनास्मासु चण्डीकृता ।
किं त्वेलद्विमश क्षण प्रणयिनागणाक्षि कस्ते हित
कि धात्रीतनया वय किमु सखी किंवा किमस्मत्सुहृत ॥३ २॥

ईर्ष्यामान

अपने प्रिय को अन्य नायिका मे आसक्त सुनकर, अनुमान करके या देखकर जो स्त्रियो को कोप होता है वह ईर्ष्यामान कहलाता है इनमे से सुनना तो सखी के मुख से होता हे । अनुमान तीन प्रकार से हुआ करता है—स्वप्न की बडबडाहट (उत्स्वप्नायित) से, सम्भोग के चिह्नो (भोगाङ्क) से या भूल से दूसरी नायिका का नाम लेने (गोत्र स्खलन) से । साक्षात् इन्द्रियो का विषय होने पर देखा हुआ कहा जाता है ॥५९ ६०।

टिप्पणी—द्र०, भा० प्र० (पृ० ८६) प्रता० (पृ० २०), सा० द० (३ १९९ २००)।

अपने प्रिय को किसी दूसरी नायिका मे आसक्त जानकर ईर्ष्यामान होता है। वह केवल स्त्रियों को ही हुआ करता है। प्रिय की अन्य नायिका मे आसक्ति सुनी हुई अनुमान से जानी गई या आँखो देखी हो सकती है।

(१) इनमे से सुनना सखी के वचन से होता है, क्योकि वह (सखा) विश्वसनीय हुआ करती है। जसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—

'(ईर्ष्यामान से युक्त नायिका से नायक कह रहा है) हे सुन्दर भौहो वाली तुम मक्खन के समान (मदु) हृदय वाली हो अत किसी दुष्ट मन्त्रणा देने वले, झूठे ही तुम्हारा हितकारी बनने वाले, मीठी बात कहने वाले (मधुमुख) व्यक्ति ने तुम्हे हम पर कुपित कर दिया हे । कि तु क्षणभर को यह तो विचारो कि इन सभी प्रिय जनो मे तुम्हारा (सच्चा) हितषी कौन है, यह धाय की पुत्री, या यह सखी, या हमारे मित्र अथवा हम ।'

टिप्पणी—यहा सखी वचन से प्रिय की अन्यासक्ति को सुनकर किये जाने वाले ईर्ष्यामान का वर्णन है। इन शब्दो के द्वारा नायक मानवती को समझा रहा है।

(२) अनुमान से अन्यासक्ति का ज्ञान होने के उदाहरण इस प्रकार हैं—

उत्स्वप्नायितो यथा रुद्रस्य—

निमग्नेन मयाऽम्भसि स्मरभरादाली समालिङ्गिता
केनालीकमिद तवाद्य कथित राधे मुधा ताम्यसि ।
इत्युत्स्वप्नपरम्परासु शयने श्रुत्वा वच शार्ङ्गिण
स्याज शिथिलीकृत कमलया कण्ठग्रह पातु व ॥३१३॥

भोगाङ्कानुमितो यथा—

नवनखपदमङ्ग गोपयस्यशुकेन
स्थगयसि पुनरोष्ठ पाणिना दन्तदष्टम ।
प्रतिदिशमपरस्त्रीसङ्गशसी विसर्पन
नवनपरिमलगन्ध केन शक्यो वरीतुम ॥३१४॥

गोत्रस्खलनकल्पितो यथा—

केलीगोत्तक्खलरगे विकुप्पए केअव अआणन्ती ।
दुट्ठ उअसु परिहास जाआ सच्च विअ परुण्णा ॥३१५॥
केलीगोत्रस्खलने विकुप्यति कतवमजानन्ती ।
दुष्ट पश्य परिहास जाया सत्यमिव प्ररुदिता ॥)

(क) स्वप्न की बडबडाहट से होने वाला, जसे रुद्र (?) का पद्य है—

'जल मे डुबकी लगाये मैने काम वश सखी का आलिङ्गन कर लिया, यह झूठी बात आज किसने तुमसे कह दी । हे राधा तुम तो व्यर्थ ही कुपित हो रही हो' इस प्रकार स्वप्न की बडबडाहट मे शय्या पर सोये (विष्णु) के वचन को सुनकर लक्ष्मी (रुक्मणी) ने किसी बहाने से (कृष्ण के) कण्ठग्रहण को शिथिल कर दिया ।

(ख) भोग के चिह्न से अनुमित (अन्यासक्ति) यह है जसे (माघ ११ ३४ कोई नायिका नायक से कहती है)—'नवीन नख क्षत से युक्त अङ्ग को तो वस्त्र से छिपा रहे हो दष्ट (कटे) अधर को हाथ से ढक रहे हो । किन्तु अन्य स्त्री के समागम को प्रत्येक दिशा मे बतलाने वाला सवत्र फलता हुआ यह नव परिमल गन्ध किस प्रकार छिपाया जा सकता है ?

(ग) गोत्र स्खलन से अनुमित (अन्यासक्ति), (हाल ९६७ नायिका की सखी नायक से कह रही है)—'हे दुष्ट परिहास मे तुम्हारे द्वारा अन्य स्त्री का नाम लिया जाने पर छल कपट (कतव) को न जानने वाली वह वधू (जाया) सचमुच ही रोने लगी । अपने परिहास को देखो तो' ।

टिप्पणी—(१) उत्स्वप्नायित=स्वप्न की बडबडाहट, उससे प्रिय की अन्यासक्ति का अनुमान होता है, जिससे ईर्ष्यामान हुआ करता । निमग्नेन इत्यादि में नीद मे बडबडाते हुए कृष्ण राधा से कह रहे है । उनके कथन को सुनकर कमला कृष्ण की राधा मे आसक्ति का अनुमान करती है । यही ईर्ष्यामान का निमित्त है । (२) भोगाङ्कानुमित=भोग के चिह्नो से अनुमित अन्यासक्ति, उसके द्वारा ईर्ष्यामान

दृष्टो यथा श्रीमुञ्जस्य—

प्रणयकुपितां दृष्ट्वा देवीं ससम्भ्रमविस्मित-
स्त्रिभुवनगुरुर्भीत्या सद्यः प्रणामपरोऽभवत् ।
नमितशिरसो गङ्गालोके तया चरणाहता-
ववतु भवतस्त्र्यक्षस्यैतद्विलक्षमवस्थितम् ॥३१९॥

एषाम् —

(६८) यथोत्तरं गुरुः षड्भिरुपायैस्तमुपाचरेत् ।
साम्ना भेदेन दानेन नत्युपेक्षारसान्तरैः ॥६९॥

एषाम्=श्रुतानुमितदृष्टान्यासङ्गप्रयुक्तानामुक्तानां मानानां मध्ये उत्तरोत्तरः मानो गुरुः=क्लेशेन निवार्यो भवतीत्यर्थः । तम्=मानम् । उपाचरेत्=निवारयेत् ।

होता है । द्र० नवनख० इत्यादि । (२) गोत्रस्खलन०=गोत्रस्खलन द्वारा अनुमित भूल से अन्य नायिका का नाम ले देना गोत्रस्खलन कहलाता है । उससे अन्यासक्ति का अनुमान हो जाता है जिससे ईर्ष्यामान हुआ करता है (द्र० केली इत्यादि) ।

(३) प्रत्यक्ष से देखा गया (दृष्ट), जैसे श्री मुञ्ज (?) का पद्य है—
'प्रणयकुपिताम्' इत्यादि (ऊपर, उदा० ३१०) ।

टिप्पणी—दृष्ट—अन्य नायिका में आसक्त देखा गया, उससे ईर्ष्यामान हुआ करता है । **प्रणयकुपिताम्०**=यहाँ पहले तो पार्वती प्रणय मान मे युक्त थी बिना कारण के ही रूठ बैठी थी अतः छन्द के पूर्वार्द्ध में प्रणयमान का वर्णन है । किन्तु जब प्रणाम करते हुए शिव के सिर पर पार्वती ने अपनी सपत्नी गङ्गा को देख लिया तो पार्वती मे ईर्ष्यामान उत्पन्न हो गया । इस प्रकार छन्द का उत्तरार्ध ईर्ष्यामान का उदाहरण है ।

इन (श्रुत, अनुमित तथा दृष्ट अन्यासक्ति से होने वाले ईर्ष्या मानो) मे—

क्रमशः पूर्ववर्ती की अपेक्षा उत्तरवर्ती (उत्तरोत्तर) अधिक कष्टसाध्य (गुरु) हुआ करता है । इन मानो का इन ६ उपायो के द्वारा प्रतिकार करना चाहिये—साम, भेद, प्रणति, उपेक्षा तथा अन्य रस (रसान्तर) ।

इनमे अर्थात् सुनी गई, अनुमान से जानी गई तथा देखी गई अन्यासक्ति के द्वारा होने वाले मानो मे बाद बाद मे वाला (पहले पहल की अपेक्षा) भारी (गुरु) अर्थात् कठिनाई से दूर करने योग्य हुआ करता है । तम (उसको) का अर्थ है—मान को । 'उपाचरेत्' का अर्थ है—निवारण करे, दूर करे ।

(६९) तत्र प्रियवच साम, भेदस्तत्सख्युपाजनम ।
दान व्याजेन भूषादे, पादयो पतन नति ॥६२॥
सामादौ तु परिक्षीणे स्यादुपेक्षावधीरणम ।
रभसत्रासहर्षादे कोपभ्रंशो रसान्तरम ॥६३॥
कोपचेष्टाश्च नारीणा प्रागेव प्रतिपादिता ।

तत्र प्रियवच साम यथा ममैव—

स्मितज्योत्स्नाभिस्ते धवलयति विश्व मुखशशी
दृशस्ते पीयूषद्रवमिव विमुञ्चन्ति परित ।
वपुस्ते लावण्य किरति मधुर दिक्षु तदिद
कुतस्ते पारुष्य सुतनु हृदयेनाद्य गुणितम् ॥३१७॥

यथा वा—

इन्दीवरेण नयन मुखमम्बुजेन
कुन्देन दन्तमधर नवपल्लवेन ।

इनमे प्रिय वचन कहना साम कहलाता है। उस (नायिका) की सखियो को अपनी ओर मिला लेना (उपाजन) भेद है। किसी बहाने आभूषण आदि देना दान कहलाता है और चरणो मे गिरना नति (प्रणति) है। साम आदि (चार उपायो) के विफल (क्षीण हो जाने पर (नायिका के प्रति) उदासीनता रखना उपेक्षा है। रभस (उद्विग्नता, शीघ्रता, जल्दबाजी), भय तथा हर्ष आदि से (नायिका के) कोप का नाश हो जाना ही रसान्तर (अन्य रस का आ जाना) कहलाता है। नारियो की जो कोप-चेष्टाए हुआ करता है, उनका तो पहले ही प्रतिपादन किया जा चुका है।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२३ ६२ ६५) भा० प्र० ८६) सा० द० (३ २०१-२०३) इत्यादि। (२) रसान्तर—अन्यभाव का उत्पन्न हो जाना, अकस्मात् किसी भय हर्ष आदि का प्रसङ्ग आ जाने से नायिका का कोप दूर हो जाया करता है (द्र० आगे उदा० ३२३)। प्रागेव—पहिले ही (दश० २ २५ २६ २८)।

प्रिय वचन कहना साम है, जसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—(कोई नायक नायिका की मनौती करता हुआ कहता है) हे सुन्दर शरीर वाली (सुतनु), तेरा मुख चन्द्र अपनी मुसकराहट रूपी चन्द्रिका से विश्व को धवलित कर रहा है, तेरी दृष्टियाँ चारो ओर अमृत रस बरसा रही है, तेरा शरीर समस्त दिशाओ मे मधुर लावण्य बिखेर रहा है। फिर आज तेरे हृदय ने यह कठोरता वहाँ से बटोर ली है' ?

अथवा जैसे (शृङ्गारतिलक ३) 'हे प्रिये विधाता ने नीलकमल द्वारा तुम्हारे नेत्रों को बनाया है, लाल कमल द्वारा मुख को, कुन्द पुष्पो स दातो को नई (लाल) कोपल से अधर को चम्पा की पखुड़ियो म अङ्गो को बनाया है। फिर हृदय को पाषाण से क्यों बना दिया' ?

अङ्गानि चम्पकदल स विधाय वेधा
का ते कथ रचितवानुपलेन चेत ॥११८॥

नायिकासखीसमावजन भेदो यथा ममव—

कृतेऽप्याज्ञाभङ्गे कथमिव मया ते प्रणतयो
धृता स्मित्वा हस्ते विसृजसि रुष सुभ्रु बहश ।
प्रकोप कोऽप्यन्य पुनरयमसीमाद्य गुणितो
वृथा यत्र स्निग्धा प्रियसहचरीणामपि गिर ॥३१६॥

दान व्याजेन भूषादेयथा माघे—

मुहुरुपहसितामिवालिनाद—
वितरसि न कलिका किमथमेनाम ।
अधिरजनि गतेन धाम्नि तस्या
शठ कलिरेव महास्त्वयाद्य दत्त ॥३२०॥

पादयो पतन नतियथा—

णेउरकोडिविलग्ग चिहुर दइग्रस्स पाग्रपडिग्रस्स ।
हिग्रग्र माणपउत्थ उम्मोग्र त्ति च्चिग्र कहेइ ॥३२१॥
(नूपुरकोटिविलग्न चिकुर दयितस्य पादपतितस्य ।
हृदय मानपदोत्थमुन्मुक्तमित्येव कथयति ॥)

नायिका की सखियो को अपनी ओर मिला लेना भेद कहलाता है जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—

(नायक नायिका से कह रहा है) 'हे सुन्दर भौहो वालो अनेक बार आज्ञा का भङ्ग करके भी जब मै तम्हार सामने नत हो जाता था तो तुम मुस्कराकर मुझे हाथ से उठाकर कोप को छोड देता थीं। किन्तु आज यह कसा (अनोखा) असीमित कोप तुमने धारण किया है जिस पर प्रिय सखियो के स्नेह पगे वचन भी व्यथ हो रहे है ।

किसी बहाने से आभूषण आदि देना ही दान है, जैसे माघ (७ ५५) मे—

(कोई मानवती नायिका नायक से कहती है) जिसका मानो भ्रमरो के गुञ्जार से बार बार उपहास किया जा रहा है, उस कलिका (छोटी सी कली) को हमे क्यो दे रहे हो ? हे शठ, उस (नायिका) के घर रात्रि मे जाकर आज तुमने बड़ी कलि (१ क्लेश २ कली) ही हमे दे दी है ।

(नायिका के) चरणो मे गिरना नति कहलाती है, जसे (गाथा १८८)—

प्रिया के चरणो मे गिरे हुए प्रियतम के केश उसके नूपुरो के कोनो मे लगे हैं । वे मानो यह कह रहे हैं कि मान की अवस्था से उठा हुआ हृदय उन्मुक्त हो गया है(?)' ।

उपेक्षा तदवधीरण यथा—

'किं गतेन नहि युक्तमुपेतु नेश्वरे परुषता सखि साध्वी।
आनयनमनुनीय कथं वा विप्रियाणि जनयन्ननुनेय ॥३२२॥

रभसत्रासहर्षादे रसान्तरात्कोपभ्रंशो यथा ममैव—

'अभिव्यक्तालीक सकलविफलोपायविभव—
श्चिर ध्यात्वा सद्य कृतकृतकसरम्भनिपुणम।
इत पृष्ठे पृष्ठे किमिदमिति सन्त्रास्य सहसा
कृताश्लेषा धूर्त स्मितमधुरमालिङ्गति वधूम ॥३२३॥

अथ प्रवासविप्रयोग —

(७०) कार्यत सम्भ्रमाच्छापात्प्रवासो भिन्नदेशता ॥ ६४ ॥
द्वयोस्तत्राश्रुनिश्वासकार्श्यलम्बालकादिता।
(७१) स च भावी भवन भूतस्त्रिधाद्यो बुद्धिपूर्वक ॥ ६५ ॥

उपेक्षा का अर्थ है उस (नायिका) के प्रति उदासीनता, जैसे (?)—

[जब बार बार मानने पर नायिका नहीं मानती तो नायक उपेक्षा करके चला जाता है, इस पर पश्चात्ताप करती हुई नायिका सखी से कहती है] हे सखी, उसके पास जाने से क्या (लाभ)? जाना ठीक नहीं है। किन्तु स्वामी के प्रति कठोरता भी ठीक नहीं, तुम उसको अनुनय करके ले आओ। अथवा (छोडो) अप्रिय कार्य करने वाले व्यक्ति से अनुनय भी कैसे किया जा सकता है?

शीघ्रता, भय तथा हर्ष आदि अन्य भाव (रस) की उत्पत्ति के कारण कोप का नाश हो जाता है, जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—अभिव्यक्तालीक इत्यादि (ऊपर २,५० उदा० १७६)।

प्रवास विप्रयोग

अब प्रवास विप्रयोग का स्वरूप बतलाते है —

किसी कार्य से, सभ्रम (घबराहट) से या शाप से दोनो (नायक और नायिका) का अलग अलग प्रदेश मे रहना ही प्रवास कहलाता है। उसमे अश्रुपात, निश्वास, दुर्बलता, बालो का बढ जाना इत्यादि (अनुभाव) हुआ करते है॥ ६४–६५॥

टिप्पणी—(१) सर० क० (परिच्छेद ५), का० प्र० (४ २९), भा० प्र० (पृ० ८६), ना० द० (३ १९९), प्रता० (पृ० २०१), सा० द० (३ २०४–२०५)। (२) का० प्र० तथा ना० द० मे प्रवास और शाप को भिन्न भिन्न माना गया है। भा० प्र० तथा सा० द० का निरूपण प्राय दश० के समान ही है। (३) प्रवास से होने वाले वियोग मे नायिका प्रोषितप्रिया या प्रोषितपतिका कहलाती है।

इनमे से प्रथम (कार्य से होने वाला) प्रवास बुद्धिपूर्वक (समझबूझ कर) होता है। वह तीन प्रकार का है—आगे होने वाला (भावी), वर्तमान समय का (भवन) और बीता हुआ (भूत)॥ ६५॥

आद्य कायज समुद्रगमनसेवादिकार्यवशप्रवृत्तौ बुद्धिपूर्वकत्वात् भूतभविष्यद्वर्तमानतया त्रिविध ।

तत्र यास्यत्प्रवासो यथा—

होन्तपहिग्रस्स जाग्रा ग्राउच्छणजीग्रधा णरहस्सम ।
पुच्छन्ती भमइ घर घरसु पिग्रविरहसहिरीगा ॥३२४॥
(भविष्यत्पथिकस्य जाया ग्रायुःक्षणजीवधारणरहस्यम ।
पृच्छन्ती भ्रमति गृहाद गृहेषु प्रियविरहसह्रीका ॥)

गच्छत्प्रवासो यथाऽमरुशतके—

प्रहरविरतौ मध्ये वाह्नस्ततोऽपि परेऽथवा
दिनकृति गते वास्त नाथ त्वमद्य समेष्यसि ।
इति दिनशतप्राप्य देश प्रियस्य यियासतो
हरति गमन बालालापै सबाष्पगलज्जलै ॥३२५॥

यथा वा तत्रैव—

देशैरन्तरिता शतैश्च सरितामुर्वीभृता काननै
यत्नेनापि न याति लोचनपथ कान्तेति जानन्नपि ।
उदग्रीवश्चरणार्धरुद्धवसुध कृत्वाऽश्रुपूर्णे दृशौ
तामाशा पथिकस्तथापि किमपि ध्यात्वा चिर तिष्ठति ॥ ३२६॥

प्रथम = काय से होने वाले प्रवास मे समुद्र यात्रा तथा सेवा (नौकरी) आदि आदि काय के लिये बुद्धिपूवक प्रवत्ति होती है, अत वह तीन प्रकार का होता है— भूत, भविष्यत तथा वतमान। उनमे से भविष्य मे जाने वाले (पुरुष) का प्रवास है, जैसे (गाथा० ४७)—

'यात्रा के लिये उद्यत पथिक की पत्नी प्रियतम के विरह की आशङ्का (ह्रीका = भय) से युक्त होकर (विरहकालीन) आयु के क्षणो मे कसे जीवन धारण किया जाता है इस रहस्य को पूछती हुई घर घर घूम रही है'।

(वतमान काल मे) जाते हुए (पुरुष) का प्रवास यह है जसे अमरुशतक (१२) मे—(परदेश जाते हुए प्रिय से प्रिया कहती है) 'हे प्रिय एक पहर बीतने पर या मध्याह्न मे या उसके बाद अथवा सूय के अस्त हो जाने तक तो तुम आज यहाँ लौट आओगे न ? बाला इस प्रकार की अपनी बातो से सौ दिन मे पहुचने योग्य देश को जाने के इच्छुक प्रिय का जाना रोक रही है।

अथवा जसे वहाँ (अमरुशतक ९९) ही—

(किसी विरही पुरुष का वणन है)— प्रिया सकडो प्रदेशो नदी तथा पर्वतों के जङ्गलो से अन्तर्हित है, वह यत्न करने पर भी दृष्टिपथ मे नहीं आ सकती, यह बात पथिक जानता है, तथापि वह गदन उठाकर, आधे पग से भूमि को रुद्ध करके, नेत्रों को अश्रुयुक्त करके, उस दिशा की ओर कुछ सोचकर (देखकर) बहुत देर तक खड़ा रहता है।'

गतप्रवासो यथा मेघदूते—

'उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणा
मद्गोत्राङ्क विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा ।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथञ्चिद्
भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥३२७॥

आगच्छदागतयोस्तु प्रवासाभावात्प्यत्प्रवासस्य च गतप्रवासोऽविशेषात्त्रैविध्य मेव युक्तम् ।

(७२) द्वितीयः सहसोत्पन्नो दिव्यमानुषविप्लवात् ।

उत्पातनिर्घातवातादिजन्यविप्लवात् परचक्रादिजन्यविप्लवाद्वाऽबुद्धिपूर्वकत्वादेक रूप एव सम्भ्रमजः प्रवासः । यथोर्वशीपुरूरवसोर्विक्रमोर्वश्यां यथा च कपालकुण्डलाप हृताया मालत्या मालतीमाधवयोः ।

(भूतकाल में) चले गये (पुरुष) का प्रवास यह है, जैसे मेघदूत (उत्तरमेघ २३) में—(यक्ष मेघ से कह रहा है) अथवा, हे सौम्य, मलिन वस्त्रों वाली गोदी में वीणा रखकर मेरे नाम से युक्त रचे गये पदों वाले गीत को गाने की इच्छुक किन्तु नेत्र जल से गीले तार को किसी प्रकार ठीक करके बार बार स्वरचित मूर्च्छना को भी भूलती हुई (मेरी प्रिया तेरी दृष्टि में पड़ेगी)' ।

(प्रियतम) लौटकर आ रहा हो (आगच्छत्) या आ गया हो (आगत) तब तो प्रवास ही नहीं रहता । और जब (प्रियतम) लौटकर आने वाला हो (एष्यत्) तब गतप्रवास से कोई भेद नहीं होता । इसलिये (प्रवास विप्रयोग को) तीन प्रकार का मानना ही युक्तियुक्त है ।

टिप्पणी—(१) भा० प्र० (पृ० ८६) सा० द० (३ २०८) । (२) विद्या, धन या धर्म आदि का संग्रह करना ही कार्य है । उसके लिये विचारपूर्वक देशान्तर गमन ही कार्य प्रवास कहलाता है । यदि कार्य के लिये देशान्तर गमन हो चुका हो तो गतप्रवास, कार्यार्थ बाहर जाते हुए पुरुष का गच्छत्प्रवास तथा जो अभी आगे जाने वाला है उसका यास्यत् प्रवास कहलाता है । (३) कुछ (?) साहित्यशास्त्रियों ने आगच्छत् प्रवास आगतप्रवास तथा एष्यत्प्रवास भी माने थे । उनके मत का निराकरण करते हुए धनिक ने बतलाया है कि इनमें से पहिले दो तो प्रवास ही नहीं हैं । जब प्रियतम लौटकर आ रहा है या आ गया है तो उसका प्रवास कहां रहा ? हां प्रियतम लौटकर आने वाला है तब प्रवास अवश्य है किन्तु उसका गतप्रवास में ही अन्तर्भाव हो जाता है ।

सम्भ्रम से होने वाला प्रवास

द्वितीय अर्थात् सम्भ्रम से उत्पन्न होने वाला प्रवास वह है जो दैवी या मनुष्यकृत उपद्रवों से सहसा (यकायक) हो जाता है ।

भूकम्प आदि आपत्तियाँ (उत्पात), बिजली गिरना (निर्घात), आँधी (वात) इत्यादि से उत्पन्न होने वाले (दिव्य) उपद्रव के कारण अथवा शत्रु द्वारा घेरा डालना (चक्र) आदि से उत्पन्न होने वाले (मानुष) उपद्रव के कारण होने वाला सम्भ्रमजन्य प्रवास एक प्रकार का ही होता है, क्योंकि वह सभी अबुद्धिपूर्वक (पूर्व विचार के

(७३) स्वरूपा यत्वकरणाच्छापज सन्निधावपि ।। ६६ ।।

यथा कादम्बर्यां वशम्पायनस्येति ।

(७४) मते त्वेकत्र यत्रा य प्रलपेच्छोक एव स ।

*व्याश्रयत्वा न शृङ्गार, प्रत्यापन्ने तु नेतर ।। ६७ ।।

यथे दुमतीमरणादजस्य करुण एव रघुवशे, वादम्बया तु प्रथम करुण आकाशसरस्तीवचनादूध्व प्रवासशृङ्गार एवेति ।

विना ही सहसा) हुआ करता है । जसे विक्रमोवशीय नाटक मे उवशी और पुरूरवा का (दवी उपद्रव से किया गया) तथा मालतीमाधव मे कपालकुण्डल द्वारा मालती का हरण कर लिया जाने पर मालती और (माधव मनुष्यकृत उपद्रव से किया गया) प्रवास होता हे ।

टिप्पणी—(१) भा० प्र० (प० ८६) सा० द० (३ २०८ से आगे गद्य) । (२) सभ्रम का अथ है–घबराहट आवेग । यह दवी या मानवीय उपद्रवो से उत्पन्न हुआ करता है । और उससे नायक या नायिका दूसरे प्रदेश म चले जाते हे तथा प्रवास हो जाता हे ।

शाप से होने वाला प्रवास

नायक तथा नायिका दानो के समीप रहने पर भी जो स्वरूप बदल जाने के कारण देशा तर गमन (का भान) होता है, वह शापज प्रवास है ।। ६६ ।।

जसे कादम्बरी मे वशम्पायन का प्रवास है ।

टिप्पणी—(१) भा० प्र० (प० ८६) सा० द० (३ २०८ से आगे गद्य) इत्यादि (२) दश० का शापज प्रवास का लक्षण अपूरण सा प्रतीत होता है । वस्तुत, शाप के कारण जो नायक या नायिका का देशा तरगमन है वही शापज प्रवास है । मेघदूत मे यक्ष का प्रवास इसका उदाहरण है । इसी लक्षण के अनुसार कादम्बरी मे वशम्पायन का प्रवास भी शापज प्रवास होगा क्योकि स्वरूप बदल जाने के कारण समीप मे स्थित होता हुआ भी वशम्पायन देशा तर मे गया सा ही प्रतीत होता है ।

प्रवास विप्रयोग तथा करुण का अ तर

(नायक, नायिका मे से) एक के मर जाने पर जहाँ दूसरा विलाप करता है, वहा तो करुण (शोक) रस ही होता है, शृङ्गार नही, क्योकि वहाँ शृङ्गार का आलम्बन (आश्रय) ही समाप्त हो चुका होता है और यदि पुनर्जीवित हो जाता है तो करुण (इतर) नही होता (अपितु शृङ्गार) ही होता है) ।। ६७ ।।

जसे रघुवश मे इ दुमती की मृत्यु पर अज का विलाप करुण ही है (प्रवास विप्रयोग नहीं) । कादम्बरी में भी पहिले तो पुण्डरीक के (परलोक गमन पर) करुण ही है । आकाशवाणी होने के पश्चात् वहाँ प्रवास विप्रयोग (शृङ्गार) ही है ।

---

*निराश्रयात' इत्यपि पाठ ।

टिप्पणी—(१) सर० क० (परि० ५) भा० प्र० (पृ० ८६ ८७) सा० द० (२ २०६) । रसार्णवसुधाकर (उल्लास २) इत्यादि । (२) कुछ आचार्य करुण विप्रलम्भ नामक पृथक भेद मानते है । भोजराज का कथन है—

भावा यदा रतिनाम प्रकर्षमधिगच्छति ।
नाधिगच्छति चाभीष्ट विप्रलम्भस्तदोच्यते ॥
पूर्वरागो मानश्च प्रवास करुणश्च स ।
पुरुषस्त्रीप्रकाण्डेषु चतु काण्ड प्रकाशते ॥ (सर० क० परि० ५)

रसार्णवसुधाकर (उल्लास २) मे इसे करुण का भ्रम उत्पन्न करने वाला (करुण सा भासित होने वाला) वियोग शृङ्गार बतलाया है—

द्वयोरेकस्य मरणे पुनरुज्जीवनावधौ ।
विरह करुणोऽयस्य सङ्गमाशानिवर्तन ।
करुणभ्रमकारित्वात् सोय करुण उच्यते ॥

सा० द० [३ २०९] मे करुणविप्रलम्भ का कुछ अधिक विशद विवेचन है—

यूनोरेकतरस्मिन् गतवति लोका तर पुनलभ्ये ।
विमनायते यदकस्ततो भवेत् करुणविप्रलम्भाख्य ॥

इस प्रकार नायक और नायिका मे से किसी एक के परलोक चले जाने पर कि तु पु [इसी ज म मे] मिलन की आशा होने पर जो दूसरा शोक करता है वहाँ [रति भाव का मिश्रण होने से] करुण विप्रलम्भ होता है । यदि परलोक गये व्यक्ति के फिर मिलने की आशा नही रहती अथवा दूसरे ज म मे मिलने की आशा होती है तो करुण ही होता है । सा० द० के अनुसार कादम्बरी मे पुण्डरीक और महाश्वेता के वृत्ता त मे करुणविप्रलम्भ है ।

इस स दभ मे दशरूपककार का म तव्य है कि पुण्डरीक तथा महाश्वेता के वृत्ता त मे आकाशवाणी से पूव करुण ही है, क्योकि वहा रतिभाव का आलम्बन ही समाप्त हो जाता है अत रति भाव का उद्भव ही नही हो सकता । हा, आकाश वाणी होने पर महाश्वेता के हृदय मे पुण्डरीक के पुर्नमिलन की आशा हो जाती है अत रतिभाव का उद्भव होता है तथा वहाँ विप्रयोग नामक शृङ्गार है जिसका शापजन्य प्रवास मे अ तर्भाव हो जाता है । इस प्रकार दशरूपक के अनुसार करुण विप्रलभ्भ नाम का कोई एक रस नही होता । सा० द० [३ २०९ वृत्ति] में 'इत्यभियुक्ता म यन्ते' कहकर दश० के मत को प्रस्तुत किया गया है ।

[३] व्याश्रयत्वात—आलम्बन रूप आश्रय के न रहने से । एक के मरण के बाद आलम्बन के समाप्त हो जाने से रति भाव का उद्भव नही हो सकता है । कि तु शोक का आलम्बन तो 'इष्टनाश होता है अत करुण हो सकता है । प्रत्याप ने= पुनरुज्जीवित, फिर जीवित हो जाने पर, फिर जीवित होने की आशा हो जाने पर तो रति भाव हो सकता है ।

तत्र नायिका प्रति नियम —

(७५) प्रणयायोगयोरुत्का, प्रवासे प्रोषितप्रिया ।
कलहान्तरितेर्ष्यायां विप्रलब्धा च खण्डिता ॥६८॥

अथ सम्भोग —

(७६) अनुकूलौ निषेवेते यत्रान्योन्य विलासिनौ ।
दर्शनस्पर्शनादीनि स सम्भोगो मुदान्वित ॥६९॥

यथोत्तररामचरिते—

किमपि किमपि मन्द मन्दमासत्तियोगा
दविरलितकपोल जल्पतोरक्रमेण ।
सपुलकपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो—
रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरसीत् ॥३२८॥

उन (अयोग तथा विप्रयोग के भेदो) मे नायिका (की अवस्था) के विषय मे यह नियम है—

प्रणयमान (विप्रयोग) मे तथा अयोग मे उत्किण्ठता (विरहोत्कण्ठिता) नायिका होती हे, प्रवास विप्रयोग मे प्रोषितप्रिया, ईर्ष्यामान (से होने वाले विप्रयोग) मे कलहान्तरिता, विप्रलब्धा और खण्डिता नायिका होती है ॥६८॥

टिप्पणी— ऊपर [२ २३ २७] नायिका की आठ अवस्थाए बतलाई गई है। उनमे ही उत्कण्ठिता इत्यादि प्रकार है।

सम्भोग शृङ्गार

वह आनन्दपूर्ण अवस्था सम्भोग शृङ्गार है, जब दो विलासी जन अनुकूल होकर परस्पर दर्शन, स्पर्श आदि का उपभोग करते है ॥ ६९ ॥

टिप्पणी—(१) ना० शा० तथा अभि० भा० (६ ४८ के बाद गद्य), ध्वन्यालोक तथा लोचन (२ १२ वृत्ति), का० प्र० (४ २९ वृत्ति), भा० प्र० (पृ० ८७), ना० द० (३ १६६), प्रता० (पृ० १९९), सा० द० (३ २१० २१३), रसगङ्गाधर (१ पृ० १३८)। (२) प्राय सभी ने इसे सम्भोग शृङ्गार नाम से कहा है किन्तु रसगङ्गाधर तथा वाग्भटालङ्कार मे सयोग नाम से कहा गया है।

जैसे, उत्तररामचरित (१ २७) मे—

(राम सीता से कह रहे है कि हे सीता, तुम्हें याद है यह वही स्थल है जहाँ) 'एक दूसरे के साथ कपोलो को सटाये धीरे धीरे बिना किसी क्रम के कुछ बातें करते हुए, अपने एक एक बाहु को गाढ आलिङ्गन मे लगाये हुए हम दोनों की वह रात्रि बीत गई थी, उसके बीतते हुए प्रहरो का पता ही न चला था।'

अथवा । 'प्रिये किमतत—

विनिश्चेतु शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा ।
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः ।
तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥३२९॥

यथा च ममैव—

लावण्यामृतवर्षिणि प्रतिदिशं कृष्णागुरुश्यामले
वर्षाणामिव ते पयोधरभरे तन्वङ्गि दूरानते ।
नासावंशमनोज्ञकेतकतनुभ्रूपत्रगर्भोल्लसत्—
पुष्पश्रीस्तिलकः सहेलमलकभृङ्गैरिवापीयते ॥३३०॥

(७९) चेष्टास्तत्र प्रवर्तन्ते लीलाद्या दश योषिताम् ।
दाक्षिण्यमार्दवप्रेम्णामनुरूपाः प्रियं प्रति ॥ ७० ॥

ताश्च सोदाहृतयो नायकप्रकाशे दर्शिताः ।

(७८) रमयेच्चाटुकृत्कान्तः कलाक्रीडादिभिश्च ताम् ।
न ग्राम्यमाचरेत् किञ्चिन्नर्मभ्रंशकरं न च ॥ ७१ ॥

ग्राम्यः सम्भोगो रङ्गे निषिद्धोऽपि काव्येऽपि न कर्तव्य इति पुनर्निषिध्यते ।

अथवा—प्रिया यह क्या है ? विनिश्चेतुम् इत्यादि (उत्तर० १ ३५, ऊपर उदा० २५६)।

और, जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—

(कोई नायक, नायिका के सौन्दर्य का वर्णन करता है) 'हे कृशाङ्गी, वर्षा ऋतु की घनघटा के समान प्रत्येक दिशा मे अमृत बरसाने वाला, काले अगरु (की पत्र रचना) से श्यामल तुम्हारा स्तन भार अत्यधिक उभर आया है। उसके उभर आने पर तुम्हारे नासिका वंश (उठा हुआ अस्थि भाग) रूपी सुन्दर केतकी के भौंहों रूपी पत्तो मे से निकलते हुए पुष्प की शोभा वाले तिलक का तुम्हारे केशरूपी भ्रमरों द्वारा पान किया जा रहा हुँ'।

सम्भोग शृङ्गार की चेष्टाए ।

उस (सम्भोग शृङ्गार) मे युवतियो की प्रिय के प्रति लीला आदि दश चेष्टाए हुआ करती है, जो दाक्षिण्य, मृदुता तथा प्रेम के अनुरूप होती है ॥७०॥

वे चेष्टाए उदाहरण सहित नायकविषयक द्वितीय प्रकाश (३०—४२) में दिखला दी गई है।

नायक को प्रिय वचन कहते हुए (काम सम्बन्धी) कला तथा क्रीडा आदि के द्वारा उस (नायिका) के साथ रमण करना चाहिये। कोई भी ग्राम्य या नर्म को भ्रष्ट करने वाला आचरण न करना चाहिये ॥ ७१ ॥

ग्राम्य सम्भोग का रंगमञ्च पर (दिखलाने का) तो निषेध किया ही जा चुका है। यहाँ फिर इसलिये निषेध किया जा रहा है कि काव्य मे भी इसका वर्णन न करना चाहिये।

यथा रत्नावल्याम—

'स्पृष्टस्त्वयैष दयिते स्मरपूजाव्यापृतेन हस्तेन ।
उद्भिन्नापरमृदुतरकिसलय इव लक्ष्यतेऽशोकः ॥३३१॥ इत्यादि ।

नायकनायिकाकैशिकीवृत्तिनाटकनाटिकालक्षणाद्युक्तं कविपरम्परावगतं स्वयमौचित्यसम्भावनानुगुण्येनोत्प्रेक्षितं चानुसंदधानः सुकविः श्रृङ्गारमुपनिबध्नीयात् ।

(नायक के समुचित आचरण का उदाहरण है), जैसे रत्नावली (१ २१) मे [राजा वासवदत्ता से कहते है] 'हे प्रिया, तुम्हारे द्वारा कामदेव की पूजा मे तत्पर हाथ से जिसका स्पर्श किया गया है वह अशोक ऐसा प्रतीत होता है मानो उसमें दूसरा अधिक कोमल नूतन पल्लव फूट आया है ।'

इस प्रकार (१) नायक, नायिका, कैशिकी वृत्ति नाटक, नाटिका आदि के लक्षणो मे बतलाये गये, (२) कवि परम्परा से जाने गये तथा (३) औचित्य की सम्भावना के अनुकूल स्वयं कल्पित (तत्त्वो) का ध्यान रखते हुए श्रेष्ठ कवि को श्रृङ्गार रस का निबन्धन (योजना) करना चाहिये ।

टिप्पणी—(१) चाटुकृत—चाटुकारी करने वाला प्रिय वचन कहने वाला । ग्राम्यम—असंस्कृत जनो का आचरण, अविदग्ध जनो का कार्य ग्राम्य शब्द प्रयोग या अर्थ को साहित्यिक दोष भी माना गया है (द्र० का० प्र० तथा सा० द०) । नर्म—वदग्ध्यक्रीडित नर्म इत्यादि ऊपर (२ ४८) । नर्मभ्रंशकरम्—नर्म को भ्रष्ट करने वाला क्रोध आदि । (२) इस प्रकार भेद प्रभेदो सहित श्रृङ्गार का निरूपण किया गया है । श्रृङ्गार के भेद प्रभेदो के विषय मे कतिपय प्रमुख मत इस प्रकार है —

	ना० शा०	ध्वन्यालोक	दशरूपक	काव्यप्रकाश	साहित्यदर्पण
श्रृङ्गार भेद	सम्भोग, विप्रलम्भ ।	सम्भोग, विप्रलम्भ,	सम्भोग तथा अयोग + विप्रयोग, (= विप्रलम्भ)	सम्भोग विप्रलम्भ ।	सम्भोग, विप्रलम्भ ।
सम्भोग	—	—	—	—	—
विप्रलम्भ भेद		१ अभिलाष २ ईर्ष्या ३ विरह ४ प्रवास ।	(विप्रयोग)— १ मान = (प्रणयमान, ईर्ष्यामान) २ प्रवास = (कार्य, सम्भ्रम तथा शाप से होने वाला) ।	१ अभिलाष २ विरह, ३ ईर्ष्या, ४ प्रवास ५ शाप से होनेवाला	१ पूर्वराग, २ मान, ३ प्रवास = (कार्य, शाप तथा सम्भ्रम) ४ करुण— विप्रलम्भ ।

अथ वीर—

(७९) वीर प्रतापविनयाध्यवसायसत्त्व
मोहाविषादनयविस्मयविक्रमाद्यै ।
उत्साहभू स च दयारणदानयोगात
त्रेधा किलात्र मतिगर्वधृतिप्रहर्षा ॥७२॥

प्रतापविनयादिभिर्विभावित करुणायुद्धदानाद्यैरनुभावितो गर्वधृतिहर्षामर्षस्मृतिमतिवितर्कप्रभृतिभिर्भावित उत्साह स्थायी स्वदते—भावकमनोविस्तारानन्दाय प्रभवतीत्येष वीर । तत्र दयावीरो यथा नागानन्दे जीमूतवाहनस्य युद्धवीरो वीरचरिते रामस्य, दानवीर परशुरामबलिप्रभृतीनाम्—'त्याग सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधि इति ।

वीर रस

प्रताप, विनय, अध्यवसाय सत्त्व, मोह अविषाद नय विस्मय पराक्रम इत्यादि (विभावो) के द्वारा होने वाले उत्साह (स्थायी भाव) से वीर रस होता है । वह दया युद्ध और दान (अनुभावो) के योग से तीन प्रकार का हो जाता है । और उसमे मति गर्व, धृति तथा प्रहर्ष (व्यभिचारी भाव) हुआ करते है ॥७२॥

टिप्पणी—(१) ना० शा० (६ ६६ से आगे गद्य तथा ६७–६८ ७–२१, ११३, ११४), का प्र० (४ २९ वृत्ति), भा० प्र० (पृ० ५, ६०) ना० द० (३ १७२), सा० द० (३ २३२ २३४) रसगङ्गाधर (१ पृ० १५०) । (२) हर्ष के स्थान पर प्रहर्ष शब्द का प्रयोग छन्द पूर्ति के लिये किया गया है यह वसन्ततिलका छन्द है । (३) प्रताप आदि का विवरण नायक के गुणो के प्रसङ्ग मे (प्रकाश २) दिया जा चुका है ।

प्रताप, विनय आदि (विभावों) के द्वारा विभावित होकर दया युद्ध, दान आदि (अनुभवों) के द्वारा अनुभावित होकर तथा गर्व, धृति, हर्ष, अमर्ष स्मृति, मति, वितर्क इत्यादि (व्यभिचारी भावो) के द्वारा भावित होकर उत्साह नामक स्थायी भाव का आस्वादन होता है, अर्थात् वह सहृदयों के चित्त का विस्तार करते हुए आनन्द प्रदान करता है, यही वीर रस है । (वह तीन प्रकार का होता है दयावीर युद्धवीर और दानवीर), उनमे से दयावीर (का उदाहरण) है जैसे नागानन्द नाटक मे जीमूतवाहन का (उत्साह), युद्धवीर का उदाहरण है महावीर चरित मे राम का उत्साह तथा दानवीर का उदाहरण है परशुराम तथा बलि आदि का दान विषयक उत्साह । जैसे (महावीरचरित २ ३५ में परशुराम के प्रति राम कहते हैं)— 'सातों समुद्रो से सीमित भूमि को निष्कपट भाव से दान करने पर्यन्त आपका त्याग है ।

खवग्रंथिविमुक्तसंधि व विकसद्वक्ष स्फुरत्कौस्तुभ
निय नाभिसरोजकुड्मलकुटीगम्भीरसामध्वनि ।
पात्रावाप्तिसमुत्सुकेन बलिना सान दमालोकित
पायाद्व क्रमवधमानमहिमाश्चर्य मुरारेर्वपु ॥३३२॥

यथा च ममव—

लक्ष्मीपयोधरोत्सङ्गकुङ्कुमारुणितो हरे ।
बलिरष स येनास्य भिक्षापात्रीकृत कर ॥३३३॥

विनयादिषु पूर्वमुदाहृतमनुसन्धेयम् । प्रतापगुणावजनादिनापि वीराणा भावा न्न ध प्रायोवाद । प्रस्वेदरक्तवदननयनादिक्रोधानुभावरहितो युद्धवीरोऽन्यथा रौद्र ।

[दानवीर का दूसरा उदाहरण है]—(बलि से दान लेते समय वामन के विराट रूप का वर्णन) जिस (विराट) शरीर मे छोटी (खव) ग्रंथियो से सन्धि स्थलों के मुक्त हो जाने के कारण वक्षस्थल विकसित हो रहा था तथा कौस्तुभ मणि चमक रही थी, नाभि कमल की कली रूपी कुटी से गम्भीर साम गान की ध्वनि निकल रही थी, जिसे दान पात्र को प्राप्त करने के लिये उत्सुक बलि ने आनन्दपूर्वक देखा था वह क्रमश बढते हुए गौरव एव आश्चर्य से भरा हुआ विष्णु का शरीर तुम्हारी रक्षा करे ।'

[दानवीर का ही अन्य उदाहरण]—और जसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—

'यह वही राजा बलि है जिसने लक्ष्मी के स्तनमण्डल के कुकुम से लाल हुए विष्णु के हाथ को भिक्षा का पात्र बनाया था ।'

विनय आदि के विषय मे पहिले (नायक प्रकरण मे) दिये गये उदाहरण ही समझने चाहियें । प्रताप, गुण तथा आवजन (आकषण) इत्यादि के भेद से भी (प्रताप वीर इत्यादि) वीर हुआ करते हे । इसलिए (दयावीर इत्यादि) तीन प्रकार के ही वीर बतलाना प्रायिक कथन हे (अर्थात् प्राय तीन प्रकार के वीर हुआ करते है, इसलिये यहाँ तीन ही प्रकार कहे गये है)। किञ्च प्रस्वेद, मुख तथा नेत्रो का लाल होना इत्यादि जो क्रोध के अनुभाव है, जब वे नहीं होते तब युद्धवीर हुआ करता है, जब वे होते है (अन्यथा) तब रौद्र रस हुआ करता है ।

टिप्पणी——(१) यहाँ प्रताप आदि को सामान्य रूप से विभाव कहा गया है । ना० शा० तथा ना० द० मे भी इसी प्रकार कुछ गुणो को विभाव कहा गया है । इससे यह प्रतीत होता है कि इन ग्रंथो के समय रसो के आलम्बन तथा उद्दीपन विभावो के पृथकश निरूपण की परम्परा नहीं थी । सा० द० (३ २३२–२३४) आदि के अनुसार विजेतव्य (जिस पर विजय प्राप्त करना होता है) आदि व्यक्ति ही वीर रस का आलम्बन विभाव होता है—आलम्बनविभावास्तु विजेतव्यादयो मता । इस प्रकार ये प्रताप आदि वीर रस के उद्दीपन विभाव हैं । (२) उपर्युक्त परशुराम

अथ बीभत्स—

(८०) बीभत्स कृमिपूतिर्गा धवमथुप्रायजु गुप्सैकभू
रुद्वगी रुधिरा त्रकीकसवसामासादिभि क्षोभण ।
वैराग्याज्जघनस्तनादिषु घणाशुद्धोऽनुभावव तो ।
नासावक्त्रविकूणनादिभिरिहावेगार्तिशङ्कादय ।।७३।।

के उदाहरण म परशुराम का दान के प्रति उत्साह स्थायी भाव है, दान के पात्र ब्राह्मण आलम्बन विभाव है सत्त्व, अध्यवसाय इत्यादि उद्दीपन विभाव है तथा सवस्व त्याग इत्यादि अनुभाव हे । हृष धति इत्यादि सञ्चारी भाव है । इनसे पुष्ट होकर सहृदय के चित्त मे स्थित उत्साह नामक स्थायी भाव आस्वादन का विषय होता है तथा दानवीर रस कहलाता है । (मि०, सा० द० ३ २३२ २३४-वृत्ति) । (३) सा० द० (३ २३४) मे वीर के चार भेद माने गये है–दानवीर धमवीर, युद्धवीर तथा दयावीर । युधिष्ठिर आदि धमवीर के उदाहरण है। हेमचन्द्र ने (काव्यानुशासन मे) वीर रस के तीन ही भेद माने है तथा० भा० प्र० (पृ० ६५) मे भी । ना० द० (३ १७२ वत्ति, मे युद्ध दान आदि उपाधियो के द्वारा वीर के अनेक भेद मान गये है इसमे धनिक की टीका के साथ बहुत समानता है । (४) युद्धवीर तथा रौद्र का अ तर— (i) रौद्र का स्थायी भाव क्रोध है तथा युद्धवीर का उत्साह (ii) रौद्र मे मुख तथा नेत्रो का लाल हो जाना इत्यादि अनुभावो का वणन हाता है युद्धवीर मे नही (धनिक तथा सा० द०) (iii) युद्धवीर मे मोहरहित तत्त्वनिश्चय (अध्ययसाय) की प्रधानता रहती है, किन्तु रौद्र मे तमोगुण की अधिकता के कारण मोह और विस्मय की प्रधानता रहती है । (मि०, अभि० भा० ६ ६८ तथा काव्यानुशासन । (iv) रौद्र मे शत्रु का सिर काटने के बाद भी क्रोधवश उसकी भुजा आदि को काटने का वर्णन होना है, युद्धवीर मे नही यह अनुभाव भेद है (अभि० भा० ६ ६५) । (v) युद्धवीर मे उत्साह तथा न्याय की प्रधानता होती है रौद्र मे मोह, अहङ्कार अन्याय की (ना० द० ३ १७२ वत्ति) ।

बीभत्स रस

बीभत्स रस जुगुप्सा नामक स्थायी भाव से होता है। (यह तीन प्रकार का है) (क) कीडे दुग ध वमन आदि (विभावो) से होने वाला उद्वेगी बीभत्स होता है, (ख) रुधिर, अँतडिया, हडडी (कीकस) मज्जा (वसा) माँस आदि (विभावो) से होने वाला क्षोभण बीभत्स तथा [ग] जघन, स्तन आदि के प्रति वराग्य से होने वाला घृणाशुद्ध बीभत्स होता है। यह नाक सिकोडना मुह फेरना [विकूणन] आदि अनुभावो से युक्त होता है तथा इसमे आवेग, व्याधि [आर्ति], शङ्का आदि [व्यभिचारी भाव] हुआ करते है ।।७३।।

अत्यन्ताहृद्य क्रिमिपूतिगन्धिप्रायविभावरुद्भूतो जुगुप्सास्थायिभावपरिपोषण लक्षण उद्वेगी बीभत्स । यथा मालतीमाधवे—

उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूच्छोपभूयांसि मासा—
यसस्फिक्पृष्ठपिण्डाद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा ।
आर्त पर्यस्तनेत्र प्रकटितदशन प्रेतरङ्क करङ्का
दङ्कस्थादस्थिसस्थ स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ॥३३४॥

रुधिरान्त्रवसाकीकसमासादिविभाव क्षोभणो बीभत्सो यथा वीरचरिते—

अन्त्रप्रोतबृहत्कपालनलकक्रूरक्वणत्कङ्कण
प्रायप्रेङ्खितभूरिभूषणरवराघोषयन्त्यम्बरम् ।

टिप्पणी– (१) ना० शा० (६ ७२ से आगे गद्य तथा ७३ ७४ ७ २६ ११६), का० प्र० (४ २६ वृत्ति) भा० प्र० (पृ० ६ ६३) ना० द० (३ १७४) प्रता० (पृ० १६) सा० द० (३ २३६ २४१) रसगङ्गाधर (१ पृ० १७०) । (२) यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है (३) जुगुप्सा नामक स्थायी भाव का परिपोष ही बीभत्स रस है । मानसिक अवस्था के आधार पर इसके तीन भेद किये गये हैं। उद्वेग, क्षोभण और शुद्ध घृणा तीनो मानस अनुभाव हैं । कभी उद्वेग से मिश्रित घृणा (जुगुप्सा) होती है कभी क्षोभ से मिश्रित और कभी शुद्ध घृणा जैसा कि आगे उदाहरणो से स्पष्ट है। (४) यहाँ भी सभी विभावो को समान रूप से कहा गया है । सा० द० के अनुसार दुर्गन्ध मांस रुधिर आदि इसके आलम्बन विभाव हैं । उनमे कीडे पडना आदि उद्दीपन है ।

(क) हृदय को बिल्कुल अच्छे न लगने वाले कीडे तथा दुर्गन्ध आदि से होने वाला जो जुगुप्सा नामक स्थायी भाव है उसका परिपोष ही उद्वेगी बीभत्स रस होता है। जैसे मालतीमाधव (५ ४६) मे—

'क्षुधा से पीडित सभी ओर ताकता हुआ, दाँत निकाले हुए यह दरिद्र प्रेत पहले चमं (कृत्ति) को उधेड उधेडकर तब कन्धे (अस), उरुमूल (स्फक) तथा जघा के ऊपरी भाग (पृष्ठपिण्ड) आदि मे सुलभ, बहुत पुष्टि के कारण पर्याप्त (पृथुना महता उच्छोपेन उच्छिततया भूयांसि) तीव्र दुर्गन्ध वाले मांस को खाकर (जग्ध्वा) अपनी गोद मे पडे अस्थिपञ्जर (करङ्क) मे से अस्थियों के ऊंचे नीचे भागों (स्थपुट) मे स्थित कच्चे मांस को (क्रव्य) धीरे धीरे खा रहा है । मि० का० प्र० उदा० ४२) । [पृथूच्छोफ पाठ युक्त प्रतीत होता है]

(ख) रुधिर अंतड़ियाँ, हडडी, मज्जा, माँस आदि विभावो से क्षोभण बीभत्स रस होता है, जैसे महावीरचरित (१ ३५) मे—

'अंतडियों मे पिरोये बडे बडे कपाल तथा जघा की हड्डियो (नलक) से बने हुए, भयानक शब्द करने वाले कङ्कण आदि बहुत से चञ्चल (प्रेङ्खित) आभूषणो की ध्वनि से आकाश को प्रतिध्वनित करती हुई, पीकर उगले हुए रुधिर की कीचड से लिपटे शरीर के ऊपरी भाग पर भयङ्कर रूप से दिखाई देने वाले

पीतोच्छर्दितरक्तकदमघनप्राग्भारघोरोल्लस-
द्वयालोलस्तनभारभरववपुब धोद्धत धावति ॥३३५॥

रम्येष्वपि रमणीजघनस्तनादिषु वराग्याद् घणाशुद्धो बीभत्सो यथा —

लाला वक्त्रासव वेत्ति मासपिण्डौ पयोधरौ ।
मासास्थिकूट जघन जन कामग्रहातुर ॥३३६॥

न चाय शा त एव विरक्त यतो बीभत्समानो विरज्यते ।

अथ रौद्र —

(८१) क्रोधो मत्सरववरिवकृतमय पोषोऽस्य रौद्रोऽनुज
क्षोभ स्वाधरदशकम्पभकुटिस्वेदास्यरागैयु त ।

(उल्लसत्, वेग से हिलते हुए स्तन भार से भयावने शरीर वाली यह कौन है जो बध के कारण उद्धत रूप से भाग रही है' । [का० प्र० उदा० २६८ वहा दर्पोद्धत पाठ है (दप से उद्धत), वही शद्ध प्रतीत होता है]

रमणी के सु दर जघा स्तन आ द के प्रति भी वराग्य के निमित्त होने वाली घृणा शुद्ध बीभत्स ह, जसे (?)—

'काम ग्रह से याकुल जन लार को मुख मदिरा समझता है, माँस के पिण्डों को स्तन और हाड मास के उठ भागो को जघा ।

यहाँ (वर्णित) विरक्त जन को शा त (शा त रस से युक्त) नहीं कहा जा सकता, क्योकि जब कोई (रमणीय विषयों से) घृणा करता है तब विरक्त होता है [अत यहाँ या घृणा बीभत्स ही है जो वराग्य का कारण है] ।

टिप्पणी—(१) उत्कृत्य० इत्यादि मे शव आलम्बन विभाव है, शव को बार-बार काटना आदि उद्दीपन है । देखने वाले का थूकना, नाक सिकोडना आदि (जो कल्पना से जाने गये है) अनुभाव है तथा आवेग, शङ्का आदि व्यभिचारी भाव है। इनसे पुष्ट होकर जुगुप्सा भाव ही उद्वगी बीभत्स रस कहलाता है । इसी प्रकार अन्य उदाहरणो मे भी समझना चाहिये । (२) बीभत्समानो विरज्यते—रमणीय विषयो मे घृणा करता हुआ व्यक्ति विरक्त होता है तथा विरक्ति के पश्चात शम युक्त (शान्त) होता है इस प्रकार यहाँ शा तरस नही है, क्योकि यहा तो केवल वराग्य के निमित्त शुद्ध घृणा (बीभत्स) का वणन है (?) (मि० प्रभा) ।

रौद्र रस

मात्सय तथा शत्रु द्वारा किये गये अपकार आदि (विभावो) से होने वाला जो क्रोध है उसकी पुष्टि रौद्र रस कहलाता है। इसके पश्चात् (मानस, अनुभाव) क्षोभ उत्पन्न होता है, जो ओठ चबाना काँपना, भौहें टेढ़ी करना, पसीना, मुख लाल होना आदि तथा शस्त्र उठाना, डींग मारना (विकत्थन = आत्मश्लाघा), (हाथ से) अपने कन्ध पर तथा

शस्त्रोल्लासविकत्थनांसधरणीघातप्रतिज्ञाग्रहै—
रत्रामर्षमदौ स्मृतिश्चपलतासूयौग्र्यवेगादय ।।७४।।

मात्सर्यविभावो रौद्रो यथा वीरचरिते—

त्व ब्रह्मवर्चसधरो यदि वर्तमानो
यद्वा स्वजातिसमयेन धनुर्धर स्या ।
उग्रेण भोस्तव तपस्तपसा दहामि
पक्षान्तरस्य सदृश परशु करोति ।।३३७।।

वैरिवैकृताद्यिथा वेणीसहारे—

लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेश
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च न प्रहृत्य ।

(पर से) भूमि पर चोट करना प्रतिज्ञा करना इत्यादि (आङ्गिक वाचिक अनुभावो तथा सात्त्विक भावो) से युक्त होता है। इसमे अमर्ष मद स्मृति, चपलता असूया उग्रता तथा वेग आदि अनुभाव हुआ करते हे ।।७४।।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (६ ६३ के आगे गद्य तथा ६४-६६, ७ १५ ११२) का० प्र० (४ २६ वृत्ति) भा० प्र० (पृ० ६ ६६ आदि) ना० द० (३ १७१) सा० द० (३ २२७-२३१) रसगङ्गाधर (१ पृ० १४६)। (२) यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है। (३) भा० प्र० (पृ० ३५, अधिकार २) मे क्रोध तीन प्रकार का बतलाया गया है—क्रोध कोप और रोष। सा० द० के अनुसार रौद्र का आलम्बन विभाव शत्रु होता हे तथा उसकी चेष्टाए उद्दीपन विभाव होती है। (४) वैरिवैकृतम्—वैरिकृतापकारम् तन्मय तत्प्रधान, विभाव (प्रभा) वैरी के द्वारा किये अपकार हैं मुख्य जिनमे ऐसे विभावो से क्रोध उत्पन्न होता है। अनुज क्षोभ—क्रोध के अनन्तर क्षोभ उत्पन्न होता हे। यह क्रोध का मानसिक अनुभाव है जो कि वाचिक तथा आङ्गिक अनुभावो के साथ हुआ करता है। 'स्वाधर०' तथा 'शस्त्रोल्लास०' इत्यादि पदो के द्वारा वाचिक एव आङ्गिक अनुभाव बतलाये गये है। इनमे स्वेद आदि सात्त्विक भाव भी है।

मात्सर्य (किसी के गुणो मे दोष देखना) विभाव से होने वाला रौद्र, जैसे महावीरचरित (३ ४४) मे—

(परशुराम विश्वामित्र से कह रहे है) तुम इस समय ब्रह्मतेज को धारण करके उपस्थित हो (वर्तमान) अथवा अपनी जाति के नियम के अनुसार (समयेन) धनुर्धारी हो सकते हो। फिर भी मै अपने उग्र तप से तुम्हारे तप को जला दूँगा और दूसरे पक्ष (धनुर्धारी होने) के अनुकूल मेरा परशु कार्य करेगा।'

शत्रु द्वारा किये गये अपकार आदि (विभाव) से होने वाला रौद्र यह है जैसे— वेणीसहार (१ ८) मे—(नेपथ्य मे भीम कहता है) 'लाक्षागृह मे आग, विष युक्त भोजन और सभा मे प्रवेश के द्वारा हमारे प्राणो तथा धन पर प्रहार करके तथा

आकृष्टपाण्डववधूपरिधानकेशाः
स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः ॥३८॥

इत्येवमादिविभावैः प्रस्वेदरक्तवदननयनाद्यनुभावैरमर्षादिव्यभिचारिभिः क्रोधपरिपोषो रौद्रः परशुरामभीमसेनदुर्योधनादिव्यवहारेषु वीरचरितवेणीसंहारादिष्वनुगन्तव्यः ।

अथ हास्यः—

(८२) विकृताकृतिवाग्वेषैरात्मनोऽथ परस्य वा ।
हासः स्यात्परिपोषोऽस्य हास्यस्त्रिप्रकृतिः स्मृतः ॥७५॥

आत्मस्थान् विकृतवेषभाषादीन् परस्थान् वा विभावानवलम्बमानो हासस्तत्परिपोषात्मा हास्यो रसो द्व्यधिष्ठानो भवति स चोत्तममध्यमाधमप्रकृतिभेदात्षड्विधः ।

पाण्डवों की वधू (द्रौपदी) के वस्त्र एवं केशों को खींचकर भी धृतराष्ट्र के पुत्र मेरे (भीम के) जीवित रहते कुशलपूर्वक रह सकते हैं ?'

इस प्रकार (मात्सर्य आदि) के विभावों से प्रस्वेद, मुख कान्ति लाल होना इत्यादि अनुभावों से तथा अमर्ष आदि व्यभिचारी भावों से जो क्रोध का परिपोष होता है, वही रौद्र रस है। इसे परशुराम, भीमसेन तथा दुर्योधन आदि के व्यवहारों में महावीरचरित तथा वेणीसंहार आदि नाटकों में खोजा जा सकता है।

टिप्पणी—लाक्षागृह० इत्यादि में धृतराष्ट्र के पुत्र क्रोध के आलम्बन हैं, उनके किये गये लाक्षागृह में आग लगाना इत्यादि अपकार ही उद्दीपन विभाव हैं। 'स्वस्था भवन्तु' में काकु द्वारा प्रकट किया गया कौरवों के नाश का संकल्प ही अनुभाव है। इस कथन के द्वारा जाने गये अमर्ष, गर्व आदि ही व्यभिचारी भाव हैं। इनसे पुष्ट हुआ क्रोध नामक स्थायी भाव रौद्र रस कहलाता है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी समझना चाहिये।

हास्य रस

अपने या दूसरे के विकारयुक्त (बिगड़े हुए) आकार, वचन तथा वेष आदि (विभावों) से जो हास (स्थायी भाव होता है उसका परिपोष हास्य रस कहलाता है। इसे (हास को) त्रिप्रकृति (तीन प्रकार के आश्रयों में होने वाला) कहा गया है ॥७५॥

अपने (आत्मस्थ) अथवा दूसरे के (परस्थ) विकृत वेष तथा भाषा आदि विभावों का आलम्बन करके उत्पन्न होने वाला हास (नामक स्थायी भाव) है। उसका परिपोष ही हास्य रस है। इस (हास) के दो निमित्त होते हैं (आत्मस्थ और परस्थ) और वह उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति के भेद से ६ प्रकार का हो जाता है।

आत्मस्थो यथा रावण —

'जात मे परुषेण भस्मरजसा तच्चन्दनोद्धलन
हारो वक्षसि यज्ञसूत्रमुचित क्लिष्टा जटा कुन्तला ।
रुद्राक्ष सकल सरत्नवलय चित्राशुक बल्कल
सीतालोचनहारि कल्पितमहो रम्य वपु कामिन ॥३३६॥

परस्थो यथा—

भिक्षो मासनिषेवण प्रकुरुषे ? किं तेन मद्य विना
किं ते मद्यमपि प्रियम ? प्रियमहो वाराङ्गनाभि सह ।

टिप्पणी—(१) द्विविधश्चायम आत्मस्थ परस्थश्च । यदा स्वय हसति तदाऽऽत्मस्थ । यदा तु पर हासयति तदा परस्थ नाο शाο (६, ४८ से आगे गद्य) तथा नाο शाο ६ ४६ ६१ ७ १०) काο प्रο (४ २६ वत्ति) भाο प्रο (पृο ५ ६४ आदि) नाο दο (२ १६८ १६६) पताο (पृο १६४) साο दο (३ २१४ २२१) रसगङ्गाधर (१ पृο १६८) । (२) साο दο के अनुसार विकृत आकार, वाणी तथा चेष्टा वाला व्यक्ति हास का आलम्बन विभाव होता है उसकी चेष्टाए उद्दीपन विभाव । (३) हास का अर्थ है वाणी आदि की विकृति को देखकर चित्त का विकास (साο दο ३ १७६) । जिसके चित्त मे हास नामक भाव (लौकिक रस) होता है यदि उसका कही साक्षात वर्णन नही किया जाता तो भी उसको विभाव आदि के वर्णन से समझ लिया जाता है । (मिο साο दο ३ २२० २२१) । इसी प्रकार बीभत्स आदि रसो के सन्दर्भ मे भी जानना चाहिये । (४) द्व्यधिष्ठान =दो है अधिष्ठान जिसके भाव यह है कि विकृत आकार, चेष्टा आदि ही हास के निमित्त है, वे कही तो आत्मस्थ (=हसने वाले के अपने भीतर स्थित) होते हैं और कही परस्थ (=किसी अन्य जन में स्थित) होते है। षडविध =६ प्रकार का, जिनके चित्त मे हास नामक भाव होता हे (=हास का आश्रय) वे तीन प्रकार के होते है उत्तम मध्यम तथा अधम। इस प्रकार आत्मस्थ तथा परस्थ निमित्तो से होने वाला प्रत्येक हास तीन प्रकार का होता है और कुल ६ प्रकार हो जाते हैं, जसे १ आत्मस्थ उत्तम प्रकृति २ आत्मस्थ मध्यम प्रकृति ३ आत्मस्थ अधम प्रकृति ४ परस्थ उत्तम प्रकृति ५ परस्थ मध्यम प्रकृति ६ परस्थ अधम प्रकृति ।

अपने विकृत वेष आदि से होने वाला हास जसे (?) (रावण—अपने आपको देखकर हस रहा है)— कठोर भस्म की धूलि से मेरे शरीर मे यह चन्दन का लेप हो गया है ब्राह्मण योग्य (उचित) यज्ञोपवीत ही वक्ष स्थल पर हार है उलझी जटाए ही (कोमल) केश है समस्त रुद्राक्षो के द्वारा रत्नयुक्त वलय (कडे) बन गये हैं, वल्कल वस्त्र ही रग बिरगे रेशमी वस्त्र (=अशुक) हैं। अहो यह सीता के नेत्रो को लुभाने वाला ऐसा सुन्दर कामी का रूप बन गया है।'

दूसरे के विकृत वष आदि से होने वाला हास जैसे (?)—'हे भिक्षुक, क्या तुम मांस का सेवन करते हो ? (उत्तर) मदिरा के बिना मास से क्या (लाभ ? (प्रश्न) क्या तुम्हे मदिरा भी प्रिय है ? (उत्तर) अहो, वेश्याओ के साथ ही मदिर·

वेश्या द्रव्यरुचि कुतस्तव धनम् ? द्यूतेन चौर्येण वा
चौर्यद्यूतपरिग्रहोऽपि भवतो नष्टस्य कान्या गति ? ।।३४०।।

(८३) स्मितमिह विकासिनयनम किञ्चिल्लक्ष्यद्विज तु हसित स्यात
मधुरस्वर विहसितम सशिर कम्पमिदमुपहसितम् ।।७६।।
अपहसित सास्राक्षम विक्षिप्ताङ्ग भवत्यतिहसितम ।
द्वे द्वे हसिते चषा ज्यष्ठे मध्यऽधमे क्रमश ।।७७।।

उत्तमस्य स्वपरस्थविकारदर्शनात् स्मितहसिते मध्यमस्य विहसितोपहसिते, अधमस्याऽपहसितातिहसिते । उदाहृतय स्वयमुत्प्रेक्ष्या ।

प्रिय होती है । (प्रश्न) वेश्या तो धन मे रुचि रखने वाली होती है और तुम्हारे पास धन कहा ? (उत्तर) धन तो द्यूत या चोरी से आता है। (प्रश्न) क्या आप जुआ और चोरी भी करते है ? (उत्तर) जो नष्ट हो चुका है उसकी और गति ही क्या है ?'

टिप्पणी—(१) जात मे इत्यादि आत्मस्थ निमित्त से होने वाले हास का उदाहरण है । यहा विकृत वेष वाला रावण स्वय ही अपने हास का आलम्बन है उसका विकृत वेष उद्दीपन है, अपने को देखकर नेत्र विकास, मुस्कराहट आदि होना अनुभाव है तथा शङ्का ग्लानि आदि व्यभिचारी भाव है। इनसे परिपुष्ट हुआ सहृदय के चित्त का हास नामक स्थायी भाव हास्य रस कहलाता है। (२) 'भिक्षो' इत्यादि परस्थ निमित्त से होने वाले हास का उदाहरण है। यहा भिक्षु तथा उसकी विकृत वाणी आदि ही प्रश्नकर्त्ता के हास के निमित्त हैं ।

उत्तम आदि प्रकृति मे होने वाले हास के भेद

इस हास मे (इह) (१) वह स्मित कहलाता है जिसमे (केवल) नेत्र विकसित होते है, (२) वह हसित है जिसमे दाँत कुछ कुछ दिखलाई देते है, (३ वह विहसित है जिसमे मधुर स्वर होता है (४) वह विहसित जब सिर हिलाने के साथ होता है तो उपहसित कहलाता है, (५) वह अपहसित है जिसमे नेत्र अश्रु युक्त हो जात है और (६) वह अतिहसित है जिसमे अङ्गो को (इधर उधर) फैंका जाता है । इन (६) मे से क्रमश दो दो उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति के हुआ करते है ।।७६-७७।।

अर्थात् अपने या दूसरे के (आकार आदि) विकार को देखकर उत्तम जन को स्मित और हसित हुआ करते हैं, मध्यम को विहसित और उपहसित तथा अधम को अपहसित और अतिहसित । इनके उदाहरण स्वय देखने चाहियें ।

व्यभिचारिणश्चास्य—

(८४) निद्रालस्यश्रमग्लानिमूर्च्छाश्च सहचारिण व्यभिचारिण)।

अथाद्भुत —

(८५) अतिलोक पदार्थै स्याद्विस्मयात्मा रसोऽद्भुत ॥७८॥
कर्मास्यसाधुवादाश्रु वेपथुस्वेदगद गदा ।
हर्षावेगधतिप्राया भवन्ति व्यभिचारिण ॥७९॥

लोक सीमातिवृत्तपदाथवर्णनादिविभावित साधुवादाद्यनुभावपरिपुष्टो विस्मय स्थायिभावो हर्षावेगादिभावितो रसोऽद्भुत । यथा—

दोर्दण्डाञ्चितच द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्धत—
ष्टङ्कारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिम ।
द्राक्पर्यस्तकपालसम्पुटमिलद्ब्रह्माण्डभाण्डोदर—
भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमसौ नाद्यापि विश्राम्यति ॥३४१॥

इत्यादि ।

इस (हास्य रस) के व्यभिचारी भाव ये है—

निद्रा, आलस्य, श्रम, ग्लानि तथा मूर्च्छा (हास्य रस के) व्यभिचारी भाव होते है।

टिप्पणी—यहाँ सभी व्यभिचारी भावो का उल्लेख नही किया गया है । ना० शा० (७ ११०) मे शङ्का आदि तथा ना० शा० एव सा० द० आदि मे नेत्र सङ्कोच, मुस्कराना (स्मेरता) आदि का भी उल्लेख है ।

अद्भुत रस

अलौकिक पदार्थो (के दशन श्रवण आदि) से उत्पन्न होने वाला विस्मय (स्थायी भाव) ही जिसका जीवन (आत्मा) है, यह अद भूत रस है। साधुवाद (सराहना करना), अश्रु, कम्पन, प्रस्वेद तथा गद् गद होना आदि उसके काय (अनुभाव) है, हष आवेग और धति इत्यादि व्यभिचारी भाव हे। ॥७८-७९॥

भाव यह है कि लोक सीमा का अतिक्रमण करने वाले पदार्थों के वर्णन आदि से विभावित होकर, साधुवाद आदि अनुभावो से परिपुष्ट होकर तथा हर्ष, आवेग आदि (व्यभिचारी भावो) से भावित होकर विस्मय नामक स्थायी भाव ही अदभुत रस कहलाता है।

जैसे (महावीरचरित १ ५४)—

(धनुभङ्ग के पश्चात उसकी टङ्कारध्वनि का वर्णन है) '(राम के) भुजदण्डों से खींचे गये शिव के धनुदण्ड के टूटने से उत्पन्न होने वाली टकार की यह ध्वनि आज भी क्यो नहीं विश्रान्त हो रही है जो (ध्वनि) मानो आर्य राम के बालचरित की प्रस्तावना का डिण्डम घोष है (अदभुत बालचरित को सूचित करती है) दूर तक फैले कपाल सम्पुटो के मिलने से बने हुए ब्रह्माण्ड रूपी पात्र के उदर मे घूमने से जिसकी प्रचण्डता घनीभूत हो गई।'

अथ भयानक —

(८६) विकृतस्वरसत्त्वादेभयभावो भयानक ।
सर्वाङ्गवेपथुस्वेदशोषववण्यलक्षण ॥
द यसम्भ्रमसमोहत्रासादिस्तत्सहोदर ॥८०॥

रौद्रश दश्रवणाद्रौद्रसत्त्वदशनाच्च भयस्थायिभावप्रभवो भयानको रस, तत्र सर्वाङ्गवेपथुप्रभृतयोऽनुभावा द य।दयस्तु यभिचारिण ।

भयानको यथा—

शस्त्रमेतत्समुत्सृज्य कु जीभूय शन शन ।
यथातथागतेनव यदि शक्नोषि गम्यताम् ॥३४२॥

यथा च रत्नावल्या प्रागुदाहृताम्—'नष्ट वषवर इत्यादि ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (६ ७४ से आगे गद्य तथा ७५ ७६ ७ २७, ११७), का० प्र० (४ २९ वृत्ति) भा० प्र० (पृ० ४ ३५ ६६) ना० द० (३ १७५) प्रता० पृ० १६८) सा० द० (३ २४२ २४५) रसगङ्गाधर (१ पृ०१६५) । (२) सा० द० के अनुसार लोकातिक्रा त वस्तु इसका आलम्बन विभाव है, उस वस्तु के अदभुत गुण या काय उद्दीपन विभ।व है । (३) अतिलोक =लोकसीमाति क्रा त, अलौकिक । साधुवाद—साधु इति वदनम् बहुत अच्छा' इस प्रकार कहना' वाह वाही करना शाबाशी देना सराहना । (४) दोदण्ड० इत्यादि उदाहरण मे राम द्वारा धनुष तोडा जाना आलम्बन विभाव है उसकी टङ्कार ध्वनि उद्दीपन विभाव हे, उसकी सराहना करना अनुभाव है हष आवेग आदि यभिचारी भाव है ।

भयानक रस

विकृत (डरावने) शब्द अथवा सत्त्व (पराक्रम, प्राणी, पिशाच आदि) आदि (विभावो) से उत्पन्न होने वाला भय नामक स्थायी भाव ही (परिपुष्ट होकर) भयानक रस होता हे । सारे शरीर का कापना, पसीना छूटना, मुँह सूख जाना, रग फीका पड जाना (ववण्य) आदि इसके चिह्न (काय, अनुभाव) होते है । दीनता सम्भ्रम सम्मोह त्रास आदि इसके व्यभिचारी भाव हे ॥८०॥

भयावने शब्द को सुनने या भयानक सत्त्व को देखने से उत्प न होने वाले भय स्थायी भाव से (परिपुष्ट होकर) भयानक रस होता है । इसमे अङ्गो मे कम्पन इत्यादि अनुभाव होते है तथा द य इत्यादि व्यभिचारी भाव होते है ।

भयानक (शब्द) जसे (?)—'इस शस्त्र को छोडकर कुबडे से होकर (झुक कर) जिस किसी प्रकार से भी यदि जा सकते हो तो चले जाओ ।'

और (भयानक सत्त्व के दशन से होने वाला भय), जसे रत्नावली (२ ३) मे नष्ट वषवर ' इत्यादि (वानर को देखकर अ त पुर के भय का वणन है) जिसका उदाहरण पहले (२ ५६ उदा० १८५) दिया जा चुका है ।

यथा—

स्वगेहात्पन्थानं ततः उपचितं काननमथो
गिरिं तस्मात्सा द्रद्रुमगहनमस्मादपि गुहाम् ।
तदन्वङ्गान्यङ्गैरभिनिविशमानो न गणय—
त्यराति क्वालीये तव विजययात्राचकितधीः ॥३४३॥

अथ करुणः—

(८७) इष्टनाशादनिष्टाप्तौ* शोकात्मा करुणोऽनु तम् ।
निश्वासोच्छ्वासरुदितस्तम्भप्रलपितादयः ॥८१॥
स्वापापस्मारदैन्याधिमरणालस्यसम्भ्रमाः ।
विषादजडतोन्मादचिन्ताद्या व्यभिचारिणः ॥८२॥

अथवा जैसे (कोई कवि किसी राजा की स्तुति करते हुए कहता है —आपकी विजय-यात्रा से चकित बुद्धि वाला शत्रु अपने घर से भागकर मार्ग में गया, वहाँ से घने वन में और फिर पर्वत पर, वहाँ से घने वृक्षों से गहन स्थान में गया और वहाँ से भी गुफा में चला गया। इसके पश्चात् भी अपने अङ्गों में ही प्रविष्ट होता हुआ वह (शत्रु) यह नहीं सोच पाता कि कहाँ छिपूँ ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (६ ६८ से आगे गद्य तथा ६९-७२ ७ २२-२५, ११५) का० प्र० (४ २९ वृत्ति), भा० प्र० (पृ० ५ ३६, ६७), ना० द० (३ १७३), प्रता० (पृ० १६७) सा० द० (३ २३५-२३८) रसगङ्गाधर (१ पृ० १७०)। (२) सा० द० के अनुसार जिस व्यक्ति से भय उत्पन्न होता है वह भयानक रस का आलम्बन विभाव है, उसकी भयावनी चेष्टाएं उद्दीपन विभाव हैं। (३) स्वगेहात्०' इत्यादि मे विजेता राजा ही आलम्बन विभाव है, उसके पराक्रम आदि उद्दीपन विभाव है, भयभीत शत्रु का इधर उधर भागना छिपना आदि अनुभाव है, दैन्य, सम्भ्रम, सम्मोह आदि व्यभिचारी भाव हैं। इनसे पुष्ट होकर भय नामक स्थायी भाव भयानक रस होता है। (४) सत्त्वदर्शनम्=सत्त्वानां पिशाचानां दर्शनम् (अभि० भा०) अथवा सत्त्व=प्राणी, भयोत्पादक प्राणी, या सत्त्व=पराक्रम, बल (मि० ना० द०)।

करुण रस

करुण रस का स्थायी भाव शोक है जो इष्ट के नाश तथा अनिष्ट की प्राप्ति से उत्पन्न होता है। उसके पश्चात् निःश्वास, उच्छ्वास, रुदन, स्तम्भ अथा प्रलाप आदि (अनुभाव) होते है। निद्रा, अपस्मार, दैन्य, व्याधि, मरण, आलस्य सम्भ्रम विषाद, जडता, उन्माद तथा चिन्ता इत्यादि इसके व्यभिचारी भाव है। ॥८१-८२॥

* 'आप्ते' इति पाठान्तरम्।

इष्टस्य बन्धुप्रभृतेर्विनाशादनिष्टस्य तु बन्धनादे प्राप्त्या शोकप्रकर्षज करुण, तमन्विति तदनुभावनि श्वासादिकथनम् यभिचारिणश्च स्वापापस्मारादय । इष्टनाशात्करुणो यथा कुमारसभवे—

अयि जीवितनाथ जीवसीत्यभिधायोत्थितया तया पुर ।
ददृशे पुरुषाकृति क्षितौ हरकोपानलभस्म केवलम् ॥३४४॥

इत्यादि रतिप्रलाप । अनिष्टावाप्ते सागरिकाया बन्धनाद्यथा रत्नावल्याम् ।

(८८) प्रीतिभक्त्यादयो भावा मृगयाक्षादयो रसा ।
हर्षोत्साहादिषु स्पष्टमन्तर्भावान्न कीर्तिता ॥८३॥

प्रिय बन्धु आदि के नाश से तथा अनिष्ट कार्य बन्धन (बन्दी होना) आदि से उत्पन्न होने वाले शोक के परिपोष से करुण रस उत्पन्न होता है । (कारिका मे) तम् अनु (=उसके पश्चात्) आदि के द्वारा उसके अनुभाव निःश्वास आदि का कथन किया गया है । निद्रा अपस्मार आदि उसके व्यभिचारी भाव हैं ।

इष्टनाश से होने वाला करुण, जसे कुमारसम्भव (४ ३) मे—'हे प्राणनाथ, तुम जीवित हो ? वह कहकर उठती हुई उस रति को अपने सामने भूमि पर पडी हुई केवल पुरुष की आकृति वाली शिव की कोपाग्नि की भस्म दिखलाई पडी।' इत्यादि रति का प्रलाप है ।

अनिष्ट की प्राप्ति से होने वाला करुण, जसे रत्नावली नाटिका मे बन्धन के कारण होने वाला सागरिका का (शोक) है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (६ ६१ के आगे गद्य तथा ६२, ६३, अ० ७ ११ १४, १११) का० प्र० (४ २९ वृत्ति), भा० प्र० (पृ० ४ ४७, ४६, ६६ ६७ आदि) ना० द० (३ १७०,, प्रता (पृ० १६५), सा० द० (३ २२२ २२६) रसगङ्गाधर (१ पृ० १४३ । (२) सा० द० के अनुसार करुण रस का आलम्बन विभाव वह विनष्ट बन्धु बान्धव आदि है जिसके प्रति शोक किया जाता है उसकी दाह आदि अवस्था उद्दीपन विभाव है। (३) करुण तथा विप्रलम्भ का भेद द्र० ऊपर (४ ६७) तथा सा० द० (३ २२६) । (४) अपि जीवितनाथ, इत्यादि मे नष्ट हुआ कामदेव आलम्बन विभाव है उसकी भस्म आदि उद्दीपन विभाव हैं, रति का प्रलाप आदि अनुभाव हैं तथा दैन्य, ग्लानि आदि व्यभिचारी भाव हैं। इनसे पुष्ट होकर शोक नामक स्थायी भाव सहृदय सामाजिको को करुण रस के रूप मे आस्वादनीय होता है ।

अन्य भाव आदि का उक्त भावो मे ही अन्तर्भाव

स्नेह (प्रीति), भक्ति आदि भावो का, शिकार खेलना (मृगया), द्यूत (अक्ष) इत्यादि रसो का हर्ष तथा उत्साह आदि मे ही स्पष्ट रूप से अन्तर्भाव हो जाता है । इसलिये उनका पृथक निरूपण नही किया गया ॥८३॥

स्पष्टम् ।

(८६) षटत्रिंशद भूषणादीनि सामादी येकविंशति ।
*लक्ष्यस ध्य तराख्यानि सालङ्कारेषु तेषु च ॥८४॥

'विभूषण चाक्षरसहतिश्च शोभाभिमानौ गुणकीर्तिन च इत्येवमादीनि षटत्रिंशत् (विभूषणादीनि) का यलक्षणानि साम भेद प्रदान च' इत्येवमादीनि स ध्य तराण्येकविंशतिरुपमादिष्वलङ्कारेषु हर्षोत्साहादिषु चा तर्भावा न पृथगुक्तानि ।

यह (कारिका) स्पष्ट ही है ।

टिप्पणी—(१) रुद्रट का यालङ्कार (१५ १७ १६), सर० क० (५ २५२), रसतरङ्गिणी (६) सा० द० (३ २५१) । (२) कुछ आचार्यों ने स्ने० तथा भक्ति आदि को पृथक भाव के रूप मे माना था जसे रुद्रट ने प्रेयान् नामक रस माना है जिसका स्थायी भाव स्नेह है । स्नेह का अथ है समान प्रकृति वाले जनो का परस्पर निश्छल मधुर भाव, जसा दो मित्रो मे हुआ करता हे (का या० १५ १७ १६) । इसी प्रकार कि हीं ने (?) मृगया और द्यूत को भी पृथक रस बतलाया था । उनको लक्ष्य करके ही धनञ्जय ने यह कहा है । (३) रूपगोस्वामी ने 'भक्तिरसामृतसि धु मे भक्ति रस का विस्तारपूवक विवेचन किया है तथा विश्वनाथ कविराज (सा० द० ३ २५१) ने वात्सल्य रस को भरतमुनि सम्मत बतलाया हे ।

(इसी प्रकार) ३६ भूषण इत्यादि जो (नाट्य काव्य के) लक्षण कहलाते है तथा २१ सम इत्यादि जो स ध्य तर कहलाते है उनका भी (उपमा आदि) अलङ्कारो तथा उन (हष उत्साह आदि) भावो मे ही अ तर्भाव हो जाता है ॥८४॥

विभूषण अक्षरसहति, शोभा, अभिमान तथा गुणकीतन इत्यादि ३६ काव्य लक्षण कहे गये हैं तथा साम, भेद और दान इत्यादि २१ स ध्यान्तर नाम से कहे गये हैं । उनका उपमा आदि अलङ्कारो मे तथा हष उत्साह आदि भावो मे ही अ तर्भाव हो जाता हे । इसलिये वे यहाँ पृथकश नही बतलाये गये ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (अ० १६) म तथा सा० द० (६ १७१ १६४) मे भी विभूषण अक्षर सहति इत्यादि का य लक्षण या नाट्यलक्षण बतलाये गये है । इ हे भूषण भी कहा जाता है । भरत मुनि का कथन है कि इनकी प्रत्येक रस के अनुसार का य मे योजना करनी चाहिये । अभिनवगुप्त ने गुण तथा अलङ्कारो से भेद दिखलाते हुए इन लक्षणो के स्वरूप और महत्त्व का भी निरूपण किया है । ये लक्षण महापुरुषो के पदम आदि चिह्नों के समान काव्य के सौ दय वद्धक होते हैं । उदाहरणाथ विचित्र अथ वाले नपे तुले श दो द्वारा वस्तु वणना ही अक्षरसघात कहलाता है, जसे अभिज्ञानशाकुन्तल मे 'राजा—कच्चित् सखीं वो नातिबाधते शरीर सताप ? प्रियवदा—साम्प्रत लब्धौषधमुपशम गमिष्यति' । प्रियवदा के इस उत्तर मे एक विशेष लावण्य आ गया है जो शृङ्गार रस के निता त अनुरूप ही है ।

---

* 'लक्ष्मस ध्य तराख्यानि इति पाठा तरम्

(६०) रम्य जुगुप्सितमुदारमथापि नीच—
मुग्र प्रसादि गहन विकृत च वस्तु ।
यद्वाप्यवस्तु कविभावकभाव्यमान
तन्नास्ति यन्न रसभावमुपति लोके ॥८५॥
(६१) विष्णो सुतेनापि धनञ्जयेन विद्व मनोरागनिबन्धहेतु ।
आविष्कृत मुञ्जमहीशगोष्ठीवदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत ॥८६॥
इति श्रीविष्णुसूनोधनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके
रसविचारो नाम चतुथ प्रकाश समाप्त।
समाप्तश्चाऽय ग्र थ

(२) स ध्य तर—रूपको की मुख आदि स धिया के समान ही स ध्य तर भी काव्य शरीर की शोभा बढाते है (स ध्यन्तराणि स धीना विशेष,स्त्वेकविंशति) । इनका ना० शा० (अ० १६) मे निरूपण किया गया है।

चतुथ प्रकाश का उपसहार

रमणीय या घणित, उत्तम या अधम, उग्र या आह्लादक, और गम्भीर या विकृत ऐसी कोई भी (मूलकथा मे वर्णित) वस्तु या (कविकल्पित) अवस्तु लोक मे नही है जो कवि तथा भावक के द्वारा भावित होकर रस-रूपता (रसभावम) को प्राप्त नही होती ॥८५॥

टिप्पणी–(१)वस ततिलका वृत्त है । (२) कविभावकभाव्यमानम् = भावकेन कविना भाव्यमानम् (प्रभा) । वस्तुत कविभावकाभ्या भाव्यमानम् (कवि तथा भावक के द्वारा भावित), यह अथ उचित प्रतीत होता है।

ग्र थ का उपसहार

राजा मुञ्ज की सभा मे विदग्धता को प्राप्त करने वाले विष्णु के पुत्र धनञ्जय ने विद्वानो के हृदय मे आन द उत्पन्न करने के लिये इस दशरूपक (नामक ग्र थ) की रचना की है ॥८६॥

टिप्पणी—इस कथन से धनञ्जय के जीवनवृत्त पर कुछ धुधला सा प्रकाश पडता है। विशेषकर यह प्रतीत होता है कि धनञ्जय के पिता का नाम विष्णु था धनञ्जय राजा मुञ्ज की सभा मे प्रतिष्ठित विद्वान् था । इससे धनञ्जय के काल निर्णय मे भी सहायता मिलती है जिसका भूकिका मे विशद विवेचन किया गया है।

इस प्रकार यह ग्र थ (दशरूपक) समाप्त होता है।

— ० —

उत्तरप्रदेशस्थमयराष्ट्रमण्डला तगत—रसूलपुरजाहदग्रामनिवासिनां
श्री च द्रभानुनम्बरदारमहोदयानाम् आत्मजेन
विविधबुधजनचरणाधिगतविद्यन
श्रीनिवासशास्त्रिणा कृता हि दी याख्या समाप्ता।

परिशिष्टम् १

दशरूपकावलोके समुपन्यस्ताना ग्रन्थानां ग्रन्थकाराणां चानुक्रमणिका

*ग्रन्थकृता पुष्पाङ्किताना नामोल्लेखो न विहित ।

परिशिष्टम् २

उदाहृतपद्यानुक्रमणिका

—०—

